

विषयानुक्रमणिका.



प्रथमाध्यायः—

सूत्रसङ्ख्या.

| | | | |
|--------------------|-----|------|---------------------------|
| वर्णसमाधानम् | ... | | 1—14 |
| उपसर्गाः | ... | | 15 |
| वर्णनामधेयानि | ... | | 16—21 |
| परिभाषाः | ... | | 22—30 |
| ह्रस्वदीर्घभ्रुताः | ... | | 31—37 |
| उदात्तादिस्वराः | ... | | 38—47 |
| इत्तपदिर्लक्षणम् | ... | | 48—53 ¹ . |
| अष्टकलक्षणम् | ... | | 54—55 |
| परिभाषाः | ... | | 56—61 |

द्वितीयाध्यायः—

| | | |
|-----------------------------------|------|------------|
| वर्णोत्पत्तिप्रकारनिर्वचनम् | | 1—11 |
| अकारादिस्वरोच्चारणक्रमः | | .. 12—19 |
| अनुनासिकस्वरूपनिर्वचनम् | ... | 30 |
| स्वरव्यञ्जनभेदनिरूपणम्... | | 31—34 |
| स्पर्शोच्चारणनिरूपणम् .. | ... | 35—39 |
| अन्तस्थोच्चारणप्रकारः ... | | 40—43 |
| उष्मोच्चारणप्रकारः .. | ... | .. 44—48 |
| विसर्जनीयानुनासिकादिस्थाननिरूपणम् | | 49—52 |

तृतीयाध्यायः—

| | | |
|--|------|-------|
| पदादिपदान्तदीर्घाकारस्य विभागसमये ह्रस्वत्वापादनम् | ... | 1—6 |
| एवमीकारस्य ऊकारस्य च | ... | 7 |
| पदान्तदीर्घाकारस्य ह्रस्वविधिः | | 8—12 |
| एवमीकारस्य ऊकारस्य च | .. | 13—14 |
| एव पदादिदीर्घाकारस्य .. | ... | 15 |

चतुर्थाध्यायः—

| | | |
|---------------|-----|------|
| प्रह्निरूपणम् | ... | 1—54 |
|---------------|-----|------|

पञ्चमाध्यायः—

| | | |
|---------------------------------------|------|-------|
| संहिताविषयत्वमस्य शास्त्रस्य | | 1 |
| प्रकृतिस्वरूपनिर्वाचनम् | ... | 2 |
| विधिप्रश्रुतिप्रकारः | | 3 |
| शकारागमविधिः | ... | 4—7 |
| दकारागमविधिः | ... | 8 |
| अरादेशविधिः | ... | 9 |
| रेफ्यादेशविधिः | ... | 10 |
| मकार वकार सकार विसर्जनीययाकारलोपविधिः | ... | 11—19 |
| पदान्त नकार तकारयोश्चाद्यादेशविधिः | ... | 20—26 |
| मकारस्य सस्थानानुनासिकविधिः | .. | 27—31 |
| ढणनाना ककारतकारागमविधिः | ... | 32—33 |
| शकारस्य छकारादेशः | . | 34—37 |
| टकारस्य स्थाने चतुर्थादेशविधिः | . | 38—41 |

षष्ठाध्यायः—

| | | |
|--------------------------------|-----|------|
| मकारविसर्जनीययोश्चादेशविधिः | . | 1—5 |
| तदपवादः | .. | 6—13 |
| पदान्तप्रकृतनकारस्य मादेशविधिः | ... | 14 |

सप्तमाध्यायः—

| | | |
|------------------------------------|-----|-------|
| नकारस्य णत्वविधिः | ... | 1—12 |
| तथयोः टठादेशविधिः | ... | 13—14 |
| नकारस्य णत्वाप्राप्तिस्थलनिर्वचनम् | ... | 15 |

अष्टमाध्यायः—

| | | |
|----------------------------|-----|-------|
| उत्तमपरप्रथमस्योत्तमादेशः | ... | 1—4 |
| विसर्जनीयस्य रेफादेशविधिः | ... | 5—15 |
| विसर्जनीयलोपादिविधिः | ... | 16—22 |
| विसर्जनीयस्य सत्वपत्वावधिः | ... | 23—35 |

नवमाध्यायः—

| | | |
|---|-----|-------|
| विसर्जनीयस्य लोपादेशविधिः | ... | 1—10 |
| अयवाद्यादेशविधिः | ... | 11—15 |
| अपृक्तोकारस्य प्रकृत्या स्थानं वकारागमश्च... | ... | 16—17 |
| डनकारयोर्द्वित्वम् | ... | 18—19 |
| प्रहोल्यादिषु ईकारोकारपूर्वनकारस्य रेफायाद्यादेशविधिः | .. | 20—24 |

दशमाध्यायः—

| | | |
|------------------------------------|-----|-------|
| स्वरसन्धिः | ... | 1—9 |
| सन्धिनिमित्तोदात्तादिव्यत्ययः | ... | 10—12 |
| कचिदाकारस्य प्रकृतिभावः | ... | 13 |
| अकाराकारयोर्लोपः | .. | 14 |
| यणादेशसन्धिस्तात्रिमित्तस्वरभेदश्च | ... | 15—17 |
| ईकारस्य प्रकृतिभावः | ... | 18 |
| पदान्तयवकारयोर्लोपः | ... | 19—23 |
| प्रकृतिभावः | ... | 24—25 |

एकादशाध्यायः—

| | | | |
|------------------------|----|-----|------|
| अकारलोपविधिः | .. | ... | 1 |
| अकारस्य लोपमात्रः | .. | ... | 2—18 |
| अलोपविषये मतान्तरकथनम् | .. | ... | 19 |

द्वादशाध्यायः—

| | | | |
|-----------------------------|----|-----|------|
| अकारस्य लोपालोपौ | .. | ... | 1—8 |
| तन्निमित्तोदात्तादिस्वरभेदः | . | ... | 9—11 |

त्रयोदशाध्यायः

| | | | |
|-------------------------------|----|-----|------|
| अकारस्य लोपालोपौ | .. | ... | 1—4 |
| नस्य णत्वविधिः प्राकृतणकारश्च | .. | ... | 5—15 |
| छस्य ङदेशः | .. | ... | 16 |

चतुर्दशाध्यायः—

| | | | |
|--------------------------------|----|-----|-------|
| द्वित्वविधिः | .. | ... | 1—8 |
| भागमविधिः | .. | .. | 9—11 |
| ऊष्मवर्णस्य सवर्गीयद्वितीयदेशः | .. | ... | 12—13 |
| पूर्वोक्तविध्यपवादः मतान्तरं च | .. | ... | 14—28 |
| स्वरितादिविधिः | .. | ... | 29—38 |

पञ्चदशाध्यायः—

| | | | |
|---------------------------|----|-----|-----|
| अनुस्वारविधिः | .. | ... | 1—3 |
| स्तादिध्वनुस्वारविधिः | .. | ... | 4—5 |
| समानाक्षरेष्वनुनासिकविधिः | .. | ... | 6—8 |
| एक्यमविधिः | .. | ... | 9 |

षोडशाध्यायः—

| | | |
|--|-----|------|
| पदमध्यवर्तुष्वभ्यः पूर्वमनुस्वारागमविधिः | ... | 1—31 |
|--|-----|------|

सप्तदशाध्यायः—

| | | |
|---|-----|------|
| मृतभेदमवलम्ब्यतीव्रतराद्यानुनासिकभेदकथनम् | ... | 1— 4 |
| तीव्रतरोच्चारणे व्यञ्जनकालाधिक्यम् | .. | 5 |
| दृढप्रयत्नतरविधिः | .. | 6 |
| सुच्चारणप्रकारः | .. | 7— 8 |

अष्टादशाध्यायः—

| | | |
|------------------------------|----|------|
| प्रणवौच्चारणे मृतभेदप्रकथनम् | .. | 1— 7 |
|------------------------------|----|------|

एकोनविंशाध्यायः—

| | | |
|-----------------------|----|------|
| विक्रमस्वरूपनिर्वचनम् | .. | 1— 2 |
| कम्पविधिः | .. | 3— 5 |

विंशाध्यायः—

| | | |
|--|-----|------|
| क्षेप्रप्रतिहृताभिनिहतप्रक्षिष्टपादवृत्तैरोव्यञ्जननिरूपणम् | ... | 1— 8 |
| तेषामुच्चारणप्रकारः | .. | 9—12 |

एकविंशाध्यायः—

| | | |
|-----------------------------------|----|-------|
| अङ्गसंहितादिकार्यनिरूपणम् | .. | 1— 9 |
| प्रचयस्वरूपनिरूपणम् | .. | 10—11 |
| यमनासिक्यस्वरभक्तिस्वरूपनिर्वचनम् | .. | 12—16 |

द्वाविंशाध्यायः—

| | | |
|--|-----|-------|
| वर्णान्यत्ननिर्वचनम् | .. | 1— 2 |
| एतच्छास्त्रप्रयुक्तपारिभाषिक शब्दविवरणम् | ... | 3— 8 |
| उच्चैःकरनीचैःकरस्वरूपनिरूपणम् | .. | 9—10 |
| मन्द्रादिस्थाननिरूपणम् | .. | 11—12 |
| विरामस्वरूपकथनम् | .. | 13 |
| गुरुलघुस्वरूपनिरूपणम् | .. | 14—15 |

अथोर्विंशोऽध्यायः—

| | |
|------------------------------|-------|
| वर्णविशेषोत्पत्तिकथनम् . . . | 1— 3 |
| सप्त वाचस्स्थानानि | 4—13 |
| कुष्ठादिस्वरनिरूपणम् . .. | 14—15 |
| आङ्गारकस्वरतदुच्चारणनिरूपणम् | 16—24 |

चतुर्विंशोऽध्यायः—

| | |
|----------------------------------|------|
| सहिताचतुष्टयस्वरूपनिर्वचनम् .. | 1— 4 |
| वेदाध्येतृविशेषविषयप्रकथनम् | 5— 6 |



श्रीरस्तु तैत्तिरीयप्रातिशाख्यस्य भूमिका.



सुविदितमेव खल्विदं प्रायस्सर्वस्यापि यदखिलपुमर्थसार्थ-
साधनवेदनेदंपरो वेदः ऋग्यजुस्सामाथर्वात्मना चतुर्धा प्रविभ-
क्तः प्रत्येकमप्युच्चावचशाखासमाहारात्मेति ॥ तत्र शाखाविशेष-
माधिकृत्य तद्वतशब्दस्वरसन्ध्यादीनामनुशासनाय प्रवृत्तं शाखं
प्रातिशाख्यमित्यभिधीयते । प्रातिशाख्यपदं चैवं व्युत्पादयन्ति
शाब्दिकाः । यथा माधवीयायां धातुवृत्तौ भ्वाद्यन्तर्गते शाख-
धातौ—“शाखायां शाखायां प्रतिशाखम् । प्रतिशाखं भवं प्राति-
शाख्यम् । “अव्ययीभावाच्च” इति भवार्थे ज्यः” इति ॥ स्पष्टं
चेदं—‘अव्ययीभावाच्च’ इति सूत्रतत्त्वबोधिण्यादावपि ॥ यद्य-
पीदं प्रातिशाख्यं नाम शाखं न ताद्रूप्येण वेदाङ्गविभागे वा
विद्यास्थानविभागे वा समुल्लिख्यते—

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषं तथा ।

छन्दश्चेति षडङ्गानि वेदस्याहुर्मनीषिणः ॥

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्वरः ।

पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या स्नेताश्चतुर्दश ॥

आशुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वं चेति ते जयः ।

अर्थशास्त्रं चतुर्थं तद्विद्या षष्ठादश स्मृताः ॥

इत्यादौ । तथाऽपि व्याकरणाशिक्षयोर्धेयपय एवास्यापि विषयो
नेतर इति विषयविमर्शतोऽवगम्यते व्याकरणाशिक्षाऽन्यतरात्मतया

वेदाङ्गमेवेदमिति ॥ तथा च शुक्लयजुःप्रातिशाख्ये “वृद्धं वृद्धिः”
इति प्रथमाध्यायान्तिमसूत्रे—“वृद्धमिदं शास्त्रमन्यानि शास्त्रा-
ण्यपेक्ष्य । शिक्षाविहितं व्याकरणविहितं चास्मिन् शास्त्रे उभयं
यतः प्रक्रियते अत एव हेतोर्दिशप्याणामेतच्छास्त्राविणां वृद्धि-
र्भवति” इत्युद्धटमाख्यम् ॥ वैदिकाभरणे च प्रथमाध्याये
अधोविंशमूर्ते—

शिक्षाव्याकरणानां यदयं विवरणात्मकः ।

ग्रन्थस्ततोऽत्र नातीव शब्दसङ्कोच इष्यते ॥

वर्णात्कार इतीदं च ध्यास्यातव्यं तु वार्तिकम् ।

शिक्षास्थाश्च ककारादिशब्दा इति तदागयः ॥

इत्यभिहितम् ॥

परे पुनर्ध्याकरण एव चेदमेतन्निर्भावयन्ति । प्रमाणयन्ति
‘चात्र वैदिकाभरणगतमेवोपान्त्यसूत्रावतारिकास्थं—“शिक्षागणो-
पदिष्टं तु कार्यं नात्र सङ्गृहीतं व्याकरणप्रधानत्वात्प्रातिशाख्यस्य”
‘त एवमयम् । शिक्षाध्यायान्तरार्थ—“अत्र शास्त्रस्य
मूलभूतं व्याकरणं पूर्वशास्त्रमित्युच्यते । तस्मिन् कल्पो न विधी-
यते । साक्षाच्छिक्षायां तु विधीयते । व्याकरणप्रधानं ह्येत-
च्छास्त्रम् । तस्माद्व्याकरणेभ्योऽन्ये शिक्षाकारा इहैक इति व्यप-
दिश्यन्ते” इति च वाक्यम् । त्रिमाप्यरत्नकारस्तु—प्रातिशाख्यं
नाम शास्त्रमुपाङ्गेषु परिगणितमनुमेने ॥ उक्तं हि त्रिमाप्यरत्न-
स्योपसंहारे—वेदाङ्गान्युच्यन्ते—

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषं तथा ।

छन्दसां लक्षणं चेति षडङ्गानि विदुर्मुधाः ॥

प्रतिपदं चानुपदं छन्दोभाषासमन्वितम् ।

मीमांसान्यायतर्काश्च उपाङ्गानि विदुर्नृणाः ॥ इति ॥

अत्र हि उपाङ्गपरिगणनपरे प्रमाणे—“छन्दोभाषा” इत्यनेन वेदलक्षणं प्रातिशाख्यापरपर्यायमभिसंहितम् । अत एव च “गुरुत्वं लघुता.....एतत्सर्वं तु विज्ञेयं छन्दोभाषामधी-
यता” इत्युपान्त्यसूत्रव्याख्याने छन्दोभाषापदं वेदलक्षणपरतया व्याचख्यौ त्रिभाष्यरत्नकारः ॥ यद्यपि—“शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति षडङ्गानि । तथा प्रतिपदमनुपदं छन्दोभाषा धर्मो मीमांसा न्यायस्तर्क इत्युपाङ्गानि” इति शौनकीयचरणव्यूहद्वितीयकण्डिकावाक्यव्याख्यावसरे—“छन्द-
दशाखं पिङ्गलोकमष्टाध्यायात्मकम् । भाषाशब्देन भाष्यतेऽर्थः पर्या-
यशब्दैरेति निघण्टुरध्यायपञ्चकः । त्रयोदशाध्यायात्मकं निरुक्तम् ।
धर्मशाखं मन्वाधनेकमहर्षिप्रणीतम् । मीमांसा जैमिनिमहर्षिकृत-
मध्यायद्वादशकम् । न्यायशब्देन कणादसूत्रम् । तर्कशब्देन गौत-
मसूत्रमिति षडुपाङ्गानि” इति महिदासकृते व्याख्याने “छन्दो
भाषा” इति विभज्य छन्ददशाखपरं छन्दःपदं भाषापदं च
निघण्टुपरमुपवाणितमिति वेदलक्षणरूपस्य प्रातिशाख्यस्य नोपा-
ङ्गेष्वन्तर्भावस्ततोऽवगम्यते । तथाऽपि महिदासकृतं व्याख्यान-
मिदं तत्कर्तुरेव प्रमादेन वा लेखकप्रमादेन वा कलुषमिति न
तत्किञ्चिदर्थस्य साधनाय बाधनाय वा प्रभवति ॥ चरणव्यूह-
द्वितीयकण्डिकाव्याख्यानोपक्रम एव हि—“शिक्षादीनि षडङ्गानि
भवन्ति । षडुपाङ्गान्यपि प्रतिपदादितर्कान्तानि भवन्ति” इति
महिदासव्याख्यानमुपलभ्यते प्रतिपदमनुपदमित्येतयोरपि उपाङ्गे-
ष्वन्तर्भावं विधाय उपाङ्गानां षट्त्वं प्रतिपादयमानम् । द्वितीय-
कण्डिकाव्याख्यानान्तिमवाक्येऽपि आगुपदर्शिते अङ्गानां षट्त्वं

निगमितं दृश्यते । प्रतिपदानुपदयोरुपाङ्गान्तर्भावे “छन्दो भाषा”
इत्यस्य विभज्य व्गारयाने च उपाङ्गान्यष्टैव भविष्यन्ति । न
तु पट् । एवं छन्दश्शास्त्रनिघण्टुनिरुक्तानां अङ्गेष्वन्तर्भूतानामु-
पाङ्गेषु पुनः परिगणनमपि न साम्प्रतम् । तस्मादुपक्रमोपसंहा-
रयोर्महिदास्तेनैव व्याख्याते उपाङ्गानां सङ्कीर्तितं पदत्वं यथाप-
पद्येत यथा चाऽङ्गोपाङ्गयोर्न साङ्कर्यं तथैवोपदर्शितं चरणव्यूहवा-
क्यं व्याख्येयम् । तथा च—“छन्दोभाषा” इत्येकं पदं वेदल-
क्षणपरम् । ‘धर्मोमीमांसा’ इति चैकं पदम् । ‘धर्मो मीमांसा’ इति तु
लेखकप्रमादः । अत्रमादत्वे वा मोमांस्यमीमांसयोरभेदीविवक्षया
“धर्मो मीमांसा” इत्येतदेव जैमिनीयमीमांसापरमित्येवं व्याख्या-
तं सर्वान्वद्यम् । भवति चैवं व्याख्याने—

प्रतिपदं चातुपदं छन्दोभाषासमन्वितम् ।

मीमांसान्यायतर्काश्च उपाङ्गानि त्रिदशधाः ॥

इत्येतेन त्रिमाष्यरत्नधृतप्रमाणेनापि संवाद इत्यास्तामेतत् ॥

तदिदं प्रातिशाख्यमितरेषु वेदेषु साम्प्रतमेकैकमेवोपलभ्यते ।
यथा—ऋग्वेदप्रातिशाख्यं शौनकायम् । सामवेदप्रातिशाख्यं पुष्प-
कृतम् । अथर्ववेदप्रातिशाख्यं शौनकायमिति । यजुर्वेदे तु शुक्ल-
यजुःप्रातिशाख्यं तैत्तिरीयप्रातिशाख्यमिति द्वे प्रातिशाख्ये उपल-
भासहे । यजुर्वेदे हि द्वेधा विभागो दृश्यते शुक्लकृष्णभेदात् ।
कृष्णयजुर्वेदस्तैत्तिरीयकमित्येतन्नु अनर्थान्तरम् । तथा च शुक्लयजुः
प्रातिशाख्यपरिशिष्टव्याख्यायां प्रतिशास्त्रपरिशिष्टव्याख्यानावसरे
“तस्मिन् शुक्लं यजुःशास्त्राय” इति सूत्रे “यजुर्हि द्विविधं शुक्लं
कृष्णं च । शुक्लं कृष्णमिति द्वेधा यजुस्तु समुदाहृतम् । शुक्लं
पाञ्चमर्गं ज्ञेयं कृष्णं स्थान्तित्तिरीयकम्” इति ॥ अत्र वक्तव्यविशे-
षमग्रसाम्तरे विशदीकरिष्यामः ॥

तदेतस्मिन् कृष्णयजुःप्रातिशाख्यापराभिधाने तैत्तिरीयप्राति-
शाख्ये प्रातिशाख्यान्तरेभ्यस्सन्ति कतिपये विशेषाः । यथा—
इतरेषु हि प्रातिशाख्येषु तत्तत्कर्तारः शौनकाः पुष्पः कात्यायन
इति नामतो निर्दिश्यन्ते । अस्मिन्स्तु प्रातिशाख्ये नास्य कर्ता
कचिदपि नामतस्सङ्कीर्त्यते । तत् कस्य हेतोरिति न वयमवधा-
रयितुं साम्प्रतं प्रभवामः । एवं—यथाऽस्मिन् प्रातिशाख्ये बहू-
नामाचार्याणां नामानि गृह्यन्ते न तथेतरेषु प्रातिशाख्येषु ।
तथा चात्र प्रातिशाख्ये गृहीतानि नामानि यथा—

| | | | |
|-------------------|---------------------|-----------------------|---------|
| अभिवेश्यः ... | 9-1. | वाङ्मीरारः . | 14-13. |
| अभिवेश्यायनः ... | 14-32. | भट्टाजः .. | 5-10. |
| अग्निः | 5-31, 17-8 | भाट्टाजः ... | 17-3. |
| उख्यः | 8-22, 10-20, 26-24. | मानाक्यः (मैत्रिकायः) | 10-22. |
| उत्तमोत्तरीयः ... | 8-20. | वात्सप्रः ... | 10-23. |
| काण्डमायनः .. | 9-1, 15-7. | वाल्मीकिः ... | 5-36. n |
| कौण्डिन्यः .. | 5-38. | गण्डायनः ... | 15-7. * |
| गौतमः .. | 5-38. | शैत्यायनः ... | 5-10. |
| पौष्करसादिः .. | 5-37. | साङ्क्यः ... | 8-21. |
| प्राक्षायणः .. | 9-6. | स्थविरकौण्डिन्यः | 5-10. |
| प्राक्षिः .. | 5-38. | हारीतः ... | 14-18. |

एवं—यथाऽत्र वेदभागा विशेषाभिधाभिर्निर्दिश्यन्ते न तथा प्राति-
शाख्यान्तरे । यथाऽत्र प्रातिशाख्ये—

अग्निः (3-9) ४ काण्डः ।

इष्टिः (4-52) २ काण्डे २-३-४. प्रभवयम् ।

उख्यम् (9-20) ४ काण्डे १-२. प्रभवयम् ।

ग्रहः (9-20) १ काण्डे ४. प्रभः (अन्तिमात्रवाकचतुष्कवर्जम्.)

पृथयः (9-20) (अनेकत्र स्थिताः भवात्रवाकाः.)

महापृष्ठयः (11-3) (पट्टनुवाका अनेकत्र स्थिताः.)

याज्या (3-9) आदित्ययोर्विंशतिप्रभेषु पार्द्विणे प्रभे च अन्तिमानुवाकाः २४

रुद्रः (9-3) चतुर्थकाण्डे पञ्चमप्रभः.

वाजपेयम् (11-3) १-७-७. प्रभृति ६ अनुवाकाः.

विक्रयः (11-3) ४-६-१. प्रभृति ६ अनुवाकाः.

विहव्यम् (11-3) ४-७-१२ प्रभृति ३ अनुवाकाः.

हिरण्यवर्णीयः (9-20) ५-६-१.

अत्रान्तिमं विक्रयादिप्रयं मुक्त्वा अग्न्यादयः काण्डानुक्रमण्यां निर्दिष्टाः.

एवं प्रातिशाख्यान्तराणां हि संहितापदक्रमपाठास्त्रयो विषयाः । अस्य तु संहितापदक्रमजटापाठाश्चत्वारो विषयाः इत्यन्ययमपरो विदोषः । कथमन्यथा स्वरघोषचत्परविसर्जनीयस्य रेकविधिपरं "हारभार्" (८-८) इति सूत्रे "अविभः । अकः । पुनः । पितः" इत्येतेषां पदानामुपादानमुपपद्यताम् । न खलु संहितादिषु त्रिषु 'अविभः' इत्यादीनि तत्तन्निमित्तयुक्तानि कार्यभाशि पदान्युपलभ्यन्ते । उपलभ्यन्ते तु केवलं "अविभस्तं तमविभरविभस्तम्" इत्यादिजटायाम् । तत्सिद्धं संहितापदक्रमजटापाठाश्चत्वारोपि तत्तिरीयप्रातिशाख्यस्य लक्ष्यभूता इति ॥

यदि कामरणकारस्तु प्रातिशाख्यस्यास्य जटाविषयकतामबहमानः—'अविभः' इत्यादिग्रहणस्य पट्ट्यादिमनान्तरपरतयैवोपपत्तिमाह । यथा—'अविभः—'तां संघत्सरमाविभः' 'इतिपरोपि' इति परमतं पश्यति । तस्मिन् पक्षे इदमुदाहरणम्—'ताम् । संघत्सरमिति सं—परसरम् । अविमरिति' । न च परमतानुसारेण

कार्यविधिर्नोपपद्यते 'अनुनासिकेऽनुनासिकम्' इत्यादिषु दर्शनात् । एवं 'पितः' इत्यादिष्वपि द्रष्टव्यम् । तथा च—'अविभः' पितः इत्यादीनां रेफादेशस्यान्यथाऽनुपपन्नत्वान्नास्य शास्त्रस्य जटायां तात्पर्यं शक्यते कल्पयितुम् । अजीगः—'अजीगरित्यजीगः' । 'ओपधीः । अजीगरिति' स एष परमतसिद्धः इतिकरणः पदाध्याये क्रमाध्याये च परिग्रहार्थः" इति ॥

"इतिपरोऽपि" (८-१२) इति सूत्रं तु मतान्तरानुषादमात्रपरं व्याचक्ष्यौ—"योऽयं रेफी कथितः 'हंरभार्' इत्यादिपदैषु विसर्जनीयः स खलु पदाध्याये इतिपरश्च भवति केवलश्च । तत्र यस्य संहितायां निमित्तसंयोगाद्रेफत्वमभिव्यज्यते स पदाध्याये केवलः प्रयुज्यते । अन्यत्र त्वितिपरः । यथा—'हंस्य मा ह्वाः' । 'अस्मि स्वे योनावभारुखा' इति केवलः । 'तां । संवत्सरमिति सं-वत्सरं । अविभरिति' ॥ 'आत् । इत् । असिष्टः । ओपधीः । अजीगरिति' एवमादिरितिपरः । सोऽयं गृह्यचानां पक्षः" इति । निराचकार च त्रिभाष्यरत्नकारकृत्मेतत्सूत्रस्यापि जटापरतया व्याख्यानम् । यथा—'अन्ये तु व्याचक्षते योऽयमावृत्तपरो विसर्जनीयः स इतिशब्दे परतो रेफं प्रपद्यते । अस्य 'अवृत्तादिति श्रुतरावृत्स्वाहा' इत्यत्र 'इति श्रुतः' इत्यस्य क्रमस्य जटोदाहरणमिति 'इति श्रुतश्चुतरितीति श्रुतः' इति । तदयुक्तम्" अतो नेदं सूत्रं रेफादेशस्य विधायकं किन्त्वितिकरणस्येति न जटारूपं दूषयितव्यमिति ॥

अत्रेदं चिन्त्यते—वैदिकाभरणव्याख्यानेऽस्मिन् अद्य यावत्सकलशिष्टराम्प्रदायसिद्धजटापाठविरोधस्तावन् स्फुट एव । 'अविभस्तं तमविभराविभस्तम्' 'इति श्रुतश्चुतरितीति श्रुतः' इत्यादिरेव हि जटारूपं पठ्यते सर्वत्र साम्प्रदायिकैः । एवं विसर्जनी-

योद्देश्यकरेफादेशप्रकरणमध्ये पठितस्य 'इतिपरोपि' (८-१२) इति सूत्रस्य इतिकरणविधिपरत्वे प्रकरणाविरोधः, "अनभिव्यक्तरेफकसंहिताकः" इत्यस्य विसर्जनीयरूपोद्देश्यविशेषणस्य पूर्वत्र वा उत्तरत्र वाऽप्रकृतस्याध्याहारप्रसङ्गः, "आवृत्परः" (८-११) इति पूर्वसूत्रस्य रेफविधिपरतया स्वेनापि स्वीकृतस्य समनन्तरे "इतिपरोपि" (८-१२) इति सूत्रेऽस्मिन् तत्सूत्रसारूप्यादिभिः तत्सूत्रसमानविधेयकतायास्स्वरसतः प्रतीयमानाया भङ्गप्रसङ्गश्चेति ॥

यत्तूक्तं—परनिमित्तान्तरवति विध्यन्तरे विध्यन्तरोक्तपरनिमित्तसम्बन्धस्य कार्यभाजस्तम्बन्धायोगात् । तथाऽभ्युपगमे "ओकारमस्तर्धोऽकारपरः । घोषवत्परश्च" (९-७, ८) इत्यत्रापि अकारपरतया कचिद्दृष्टस्यैव अकारस्यान्यत्र घोषवत्परत्वे ओभावस्स्यात् इति । तत् न युक्तम्—योग्यतातात्पर्यविशेषादिभिः समुच्चयकानां कचिदेकाकारमात्रमुच्यमात्रपरतायाः कचिदाकारद्वयादिसमुच्चयपरतायाश्च तत्रतत्र व्यवस्थिततया "इतिपरोपि" इत्यत्र आवृत्परत्वविसर्जनीयत्वद्वयस्य अपिशब्देन समुच्चयभिप्रायाश्रयणमात्रेणान्यत्रापि आकारद्वयविशिष्टस्यैव समुच्चयापादनायोगात् । तस्मात् कचित् निमित्तसमुच्चयपरत्वाश्रयणमात्रेण सर्वत्रापि तत्समुच्चयापादनमयुक्तमेव । किञ्च—'इतिपरोपि' इति सूत्रे विसर्जनीयस्य विशेष्यभूतस्य अपिशब्देन नान्यादेशः । तस्य "अथ विसर्जनीय" (८-१) इत्यधिकारसूत्रादेव ज्ञेयम् । नतश्च अपिशब्दसमुच्चयगवेषणायां "आवृत्परः" (८-११) इत्यस्मिन्नव्ययहितपूर्वसूत्रे आवृत्परत्वमकमेव प्रकृतमिति तस्यैव निमित्तभूतस्याप्यन्वादेशो नान्यस्य समुच्चयस्य प्रकृतस्याभावादसम्भवाच्च । "घोषवत्परश्च" (९-८) इत्यत्र तु "ओकारमस्तर्धः" (९-७) इति पूर्वसूत्रे निमित्तातिरिक्तस्यापि प्रकृतत्वात् तावत्

एवान्यादेशो नाधिकस्य निमित्तभूतस्याकारपरत्वस्थापीति स्फुटे
महत्तरे वैषम्ये 'इतिपरोपि' (८-१२) इति सूत्रे निमित्तसमुच्च-
यस्वीकारमात्रेणान्यथापि तदापादनमसमञ्जसमेवेति सुधियो
विभावयन्तु ॥

एवं एकयोगनिर्दिष्टेषु पदेषु केषांचित्पदानां स्वमतानुरो-
धेन कार्यभाक्तं केषांचित्तु परमतानुरोधेन कार्यभाक्तमिति वै-
रूप्यमपि प्रसज्येत, यदि 'अविभः' (८-८) इत्यादिपदानां परमता-
भिप्रायकार्यं स्वीक्रियेत । यद्यप्यस्मिन्नेव 'स्तनुतः' (८-८) इति
पदस्य शाखान्तरपरतायास्त्रिभाष्यरत्न एवोक्ततया इतरपदानां
स्वशाखान्तर्गततया च शाखाभेदकृतं वैरूप्यमस्त्येव । तथाऽपीदं
वैरूप्यं वैदिकाभरणपक्षेऽपि समानम् । प्रकृतसूत्रे 'स्तनुतः' इत्यस्य
त्रयोदशषोडशाध्यायगतसूत्रयोः 'जंगिवा' इत्यादेशशाखान्तरस्थता-
याः वैदिकाभरणेऽप्युक्तत्वात् । अधिकं तु प्रकृते मतभेदकृतं वैदि-
काभरणपक्षे वैरूप्यमिति । वस्तुतस्तु—नात्र शाखाभेदकृतं वैरू-
प्यं शाखान्तरसाधारण्येनैव लक्षणस्य चिकीर्षितत्वादस्मिन्प्राति-
शाख्ये । यथा हि एकयोगनिर्दिष्टेषु पदेषु किञ्चित्संहितागतमेव
तत्तत्कार्यभाक् । किञ्चित्तु पदाम्नायगतमेव । किञ्चित्तु क्रमा-
म्नायगतमेव । अथापि न वैरूप्यं मन्यते संहितापदक्रमाम्नाया-
नां त्रयाणामपि लक्ष्यतया शास्त्रेऽत्र परिगृहीतत्वादिति ॥

अथैवमपि प्रातिशाख्यस्यास्य जटाविषयकत्वं न युक्तम् ।
तथाहि—अस्ति हि "राये स इन्द्रः पूर्वश्चाकारपरे" (११-९) इति
सूत्रं "चकाराकृष्टे अस्मान्ग्रहणे अकारपरे वर्तमान अकारो राये, सः
इन्द्रः एवम्पूर्वो न लुप्यते" इत्यर्थकम् । रायेपूर्वः अस्मानि-
त्यकारः द्विविधो हि सम्भाव्यते अकारपरः जटायां—“राये
अस्मानस्मात्राये राये अस्मान्" इति । तद्विषयश्च संहितायां

“राये अस्मान् विश्वानि” इत्युभयत्रापि “धातारातिः” (११-३) इत्यादिसूत्रेणैव अकारलोपविरहे सिद्धे पुनरतरन्ध्रमाणोऽयं विधिः नियमार्थस्यात् रायेपूर्वः अस्मानित्यकारः अकारपर एव न लुप्यत इति । तथा च संहितायां अकारलोपप्रसङ्गः प्रातिशाख्यस्य जटाविषयकत्वे । प्रातिशाख्यस्य जटाविषयकत्वानभ्युपगमे च नायं दोषः । ‘धातारातिः’ इत्यादिशास्त्राविषयं शास्त्रान्तरगतं “राये अस्मान्” इति वाक्यमधिकृत्यैव ‘राये’ इति सूत्रस्यास्य प्रवृत्त्यङ्गीकारेणाप्राप्तप्रापणार्थत्वेन नियमार्थत्वाभावात् । स्पष्टं चेदं रायेसूत्रवैदिकाभरणे इति चेन्न—प्रातिशाख्यस्यास्य जटाविषयकत्वमङ्गीकुर्येद्विरपि ‘राये’ इति सूत्रस्य राये इत्यंशे शास्त्रान्तरविषयकतयाऽप्राप्तप्रापकत्वाङ्गीकारे बाधकाभावात् । ‘राये अस्मान्’ इत्यत्र जटायां अकारलोपविरहस्तु तत्रत्यसंहितायामकारलोपविरहप्रापकानुशासनेनैव भविष्यति । यथा हि, रायेपूर्वे ‘अस्मानिति ग्रहणे सम्भवाभावादकारपर इत्युपयन्धासम्बन्धमनङ्गीकुर्यता वैदिकाभरणकृता शास्त्रान्तरपरत्वं राये इत्यस्य स्वीक्रियते, तथा त्रिभाष्यरत्नकृताऽपि शास्त्रान्तरपरत्वं तस्य स्वीक्रियते प्रातिशाख्यस्य जटाविषयत्वमङ्गीकुर्यताऽपीति नात्र जटा विषयः शास्त्रान्तरनिन्दन्यात् । यथा—वैदिकाभरणमते ‘राये अस्मान्’ इति संहितावाक्यं शास्त्रान्तरसिद्धकार्यकत्वात्तात्र विषय इति ॥

अथयमपि प्रातिशाख्यस्यास्यान्ते ‘पदक्रमविशेषः’ (२४-६) इति संहितापदक्रमरूपस्य त्रिविधस्यैव समाम्नायस्य विषयत्वावगमात् नास्य शास्त्रस्य जटाविषयकत्वं युक्तम् । स्पष्टं चेदं रायेसूत्रवैदिकाभरणे चेति चेन्न—‘पदक्रमविशेषः’ इति शास्त्रान्त्यमूत्रस्य पदमात्रप्रदर्शनपरतया विषयनियमनपरत्वाभावात् । अन्यथा

तत्रानुपात्तत्वमात्रेण जटाविषयकत्वानुद्गीकारे संहिताया अपि तत्रानुपादानेन संहिताविषयकत्वमपि विलीयेत । वस्तुतस्तु—‘पदक्रमविशेषः’ इत्यत्र पदं च क्रमश्चेति न द्वन्द्वः किन्तु पदानां क्रमः इति तत्पुरुष एव ‘वर्णक्रमविचक्षणः’ इत्युत्तरानुरूप्यात् । अत एव “पदानां क्रमस्तस्य विशेषः तं जानातीति पदक्रमविशेषज्ञः । वर्णानां क्रमः तस्मिन् विचक्षणः निपुणः ।” इति त्रिभाष्यरत्नकृता व्याख्यातम् । तथा च संहिताया इव पदक्रमयोरपीहानुपादानात् नेदमन्तिमसूत्रं शास्त्रीयविषयनियमनपरं वक्तुं शक्यमिति ध्येयम् ॥ तस्मात् प्रातिशाख्यस्यास्य जटाविषयकत्वे नैव किञ्चिद्वाधकम् । न केवलं वाधकाभावमात्रमेवात्र । अपितु—“प्रातिशाख्यादिशास्त्रज्ञः सर्वशिक्षाविशारदः । बुद्धिशक्तिसमेतो यस्तु जटां वक्तुमर्हति ।” इति शिक्षावचनात् परमं साधकमप्यस्तीत्यवधेयम् । अत्र हि प्रातिशाख्यज्ञानस्य जटावचने हेतुत्वमवगम्यते ‘धनी सुखी’ इत्यादिवत् । तत्र हेतुत्वं प्रातिशाख्यस्य जटाविषयकत्वादेवोपपद्यते ।

ननु क्रमो नाम जटायाः प्रकृतिः—

संहिता प्रकृतिः प्रोक्ता पदस्यैतत्त्वमस्य तु ।

जटायाः प्रकृतिरूपेण एवं नित्यं निबोधत ॥

इति शिक्षावचनात् । क्रमस्तु तज्जटाया आद्यन्तयोर्वर्तते तत्र जटायादशास्त्राविषयकत्वेऽपि तत्प्रकृतिभूतस्य क्रमस्य शास्त्रविषयत्वात् जटायामपि क्रमांशे प्रातिशाख्यमुपयुज्यते इत्येतावन्मात्राभिप्रायेणैव तत्र प्रातिशाख्यपदोपादानम् । जटायामनाम्नातांशेऽपि प्रातिशाख्यस्योपयोगस्तत्राभिसंहित इति चेन्मैवं एवं सतीदृशस्य परम्परया जटायां प्रातिशाख्योपयोगस्य जटायाः क्रमप्रकृतिकत्वपरवचनबलादेव सिद्धस्य पुनरिह सङ्की-

तन्वैकल्यापत्तेः । 'प्रातिशाख्यादिशास्त्रज्ञः' इत्यादावुपात्तानां मध्ये
 केषांचित् शिक्षाव्याकरणादीनां जटायां साक्षादुपयोगः प्रा-
 तिशाख्यस्य तु परम्परयेति चैक्यपत्तेश्चेति । तस्मात् शि-
 क्षावचनस्यास्य प्रातिशाख्यस्यास्य जटाविषयकत्वस्वीकार एव
 स्यारसिकी सङ्गतिः । किञ्च—प्रातिशाख्यस्य जटाविषयकत्वा-
 नङ्गीकारे जटायां सन्ध्यादिकार्यप्राप्तिः कथम् । न च शिक्षा-
 व्याकरणाभ्यामेव तत्र तत्प्राप्तिरिति चाच्यं तथा सति व्याक-
 रणदृष्टसन्धिकार्यधिकल्पदेरपि 'यरोऽनुनासिके' " 'वा पदा-
 न्तस्य' इत्यादेः तत्र प्रवृत्त्यापत्तेः । ननु—"यानि तु वैकल्पि-
 कानि सन्धिकार्याणि यथा 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिकौ वा' ।
 'वा पदान्तस्य' इत्यादीनि तत्रतत्र यतरदस्मच्छात्तायां दृ-
 ष्टं ततरदेव जटायामुपादीयते" इति वैदिकामरण एवोक्तमिति
 चेन्—मत्तमुक्तं । परन्तु तथा नियमकल्पनाश्रयणे न किञ्चिदपि
 प्रमाणमुक्तम् । प्रातिशाख्यस्य संहितापदक्रममात्रविषयकत्वे हि
 वैकल्पिककार्यप्रसङ्गः नदृष्टसन्धिकार्याण्येव जटायां भवन्ति ने-
 तरशास्त्रदृष्टानोति विना प्रमाणं कल्पयितुं शक्यमिति ॥

यद्यपि—"उत्पूर्वस्मकारो व्यञ्जनपरः" (५-१४) इति सू-
 त्रस्य व्यञ्जनपरस्मकारः उत्पूर्वः लुप्यते इत्यर्थपरश्च जटायामपि
 प्रयुज्यापत्तया "उदायुषा स्यायुषा" इत्यत्र "स्यायुषोदुद्धा-
 युषा स्यायुषोत्" इति जटाऽऽपद्येत । पठ्यते तु सांप्रदायिकैः
 'स्यायुषोदुस्स्यायुषा स्यायुषोत्' इत्येव । तथाऽपि—"घर्तमान-
 सः उत्पूर्वस्यस्तयोरित्यनोत्परे" इति व्यासशिक्षायां उत्पूर्वयोः
 स्यस्तशब्दयोर्धनमानस्यैव स्मकारस्य लोपविधानात् प्रातिशा-
 ख्येऽप्यत्रोद्देश्यस्य शोकारान्वयवर्णपरस्यस्तशब्दगतस्मकाररूपतया
 मद्रोन्माधयणाग्रानुपपत्तिः । प्रातिशाख्यस्यास्य शिक्षात्त एकया-

क्यना च धैदिकाभरणकृताऽपि स्वीकृतैव एकोनविंशाध्याय-
 एतायमूपादा । एतेन—“श्रुत उत्प्लाति” (नं. प्रा. ३-३-६.) इत्यत्र ग्राह्य-
 णवाक्ये सकारलोपापादनं प्रातिशाख्यस्य संहितामात्रविषयक-
 त्वेन समाधानं च धैदिकाभरणकृतः प्रत्युक्तम् । शिक्षावाक्यैक-
 वाक्यतया पर्यवसिते सूत्रार्थे तदाशङ्काया एवानवतारात् ॥

किं बहुना—शिक्षायास्तावज्जटाऽपि विषय इति सर्व-
 सम्मतम् । स्पष्टं चेदं धैदिकाभरण एव—११-९ सूत्रे । तथा
 च—“हारेष्टरथिभर्वाहारनन्तस्साचितस्तकः” इत्यादिष्यासशिक्षा-
 वचनबलात् “अधिभस्तं” इत्यस्य जटायां “अधिभस्तं तमाधिभ-
 रविभस्तम्” इति रेफादेशो भवत्येधेत्येष्टव्यम् । एवं “आवृत्प-
 रोऽयमित्यूष्यं ध्यान्पातुषेऽन्तरेय हि” इति ष्यासशिक्षावचनबलात्
 “इति श्रुतः” इत्यस्य जटायां—“इति श्रुतश्चुतरिनीति श्रुतः”
 इति रेफादेशोऽवश्यंभावी । तस्मात् न प्रतत्र जटायां रेफादेश-
 विरहाभिधानं तदभिमानेन जटायाः प्रातिशाख्याविषयत्वाभिधानं
 च धैदिकाभरणकर्तुं रनादेयमेवेत्यास्तामेतन् ॥

तदिदं तैत्तिरीयप्रातिशाख्यं प्रपाठकापरपर्यायप्रश्नद्वयान्म-
 ना विभक्तमुपलभ्यते । तत्रैकैकोपि प्रश्नः द्वादशाध्यायीरूपः ।
 तथा आदितः चतुर्विंशत्यध्यायात्मनाऽपि विभक्तं दृश्यते । तत्र
 प्रश्नद्वयात्मना विभागे ध्याख्यातृवचनादिकं न किमपि प्रमाण-
 मुपलभ्यते । प्रश्नद्वयविभागोपयिकः विषयविभागोपि नात्र दृश्यते
 परस्परविचितः ॥

प्रातिशाख्यस्य चास्य सामान्यतो विषयस्त्रेधा विभक्तः
 यथा—साधारणविधिः संहिताधिकारविधिः उच्चारणकल्पश्चेति ।
 तत्राद्यः संहितापदक्रमपाठसाधारणविधियोगात् शास्त्रेऽत्र सर्वत्रोप-
 योनिवर्णसंज्ञादिविधियोगाच्च साधारणविधिरित्युच्यते । स च

प्रथमाध्यायादिचतुरध्यायीरूपः ॥ द्वितीयः पदद्वयसन्धानरूपसं-
हितामधिकृत्य प्रवर्तमानतया संहिताधिकारविधिरित्युच्यते ।
स च पञ्चमाध्यायादिद्वादशाध्यायीरूपः ॥ तृतीयस्तु उच्चारणो-
पयोगितोऽत्रतत्प्रयत्नादिविधिरूपतयोच्चारणकल्प इत्याख्यायते । स
च सप्तदशाध्यायादिरष्टाध्यायीरूपः ॥

विशिष्य तु विषयविभागोऽत्र यथा -

प्रथमाध्याये—शास्त्रेऽस्मिन् यामिस्संज्ञाभिः वर्णः वर्णसमुदाया वा ध्व-
द्विच्यन्ते तथाविधाः समानाक्षरसवर्णाद्याः उपसर्गावप्रहाद्याश्च
संज्ञाः, एतच्छास्त्रावप्युपयोगिन्श्च पारिभाषाश्च ॥

द्वितीये—वर्णानां रचानप्रवृत्ता ॥

तृतीये—केषांचिदीर्घानां पदकाले ह्रस्वनिधानम् ॥

चतुर्थे—प्रमहसंज्ञितवर्णपरिगणनम् ॥

पञ्चमे—संहिताकाले भवतां वर्णागमानां विधिः ॥

षष्ठे—पत्यविधिः, सत्वविधिश्च ॥

सप्तमे—जन्मविधिः, तथयोः दण्डमावय्य ॥

अष्टमे—वर्णाग्रप्रथमस्य वर्णयोक्तमविधिः, विगर्जनीयोद्देश्यकोपदिधिर्गन्धः ॥

नवमे—विसर्जनीयोद्देश्यकलोपीध्मादिविधयः, ए, ओ, ऐ, औ, ज, ङ, न
इत्येतद्रूपोद्देश्यका विधयश्च ॥

दशमे—साधनीदीर्घादय एतादेताः, यालोपः, फुलप्रमहदेशे गन्धनिषेधश्च ॥

एकादशे—भवाग्रस्य लोपालोपा ॥

द्वादशे—“यानागताः” (११-३) इत्यादिमूलापवादमूलाऽकारलोपविधिः,
तुलादस्यतर्जस्य स्वरितातिविधिश्च ॥

त्रयोदशे—महाभ्येताः, तमानपदीगणकारस्य जन्म, दण्डं च ॥

चतुर्दशे—द्वित्वं, वर्गाग्रद्वितीयचतुर्थयोः पूर्ववर्णागमः, प्रथमद्वितीयागमः,
उदात्तपगनुदात्तस्य स्वरितत्वं च ॥

पञ्चदशे—अनुनासिकानुस्वारयोर्विधी ॥

षोडशे—पदमध्ये अनुस्वारागमः ॥

सप्तदशे—वर्णविशेषोच्चारणे तीव्रतरत्वादिप्रयत्नविशेषविधयः ॥

अष्टादशे—प्रणवे स्वरविशेषविधिः ॥

एकोनविंशे—अनुदात्तविशेषस्य विक्रमसंज्ञा, स्वरितपेरस्वरिते कम्पविधिश्च ॥

विंशे—क्षेप्रादयस्स्वरितविशेषाः, तेषां प्रयत्नविशेषाश्च ॥

एकविंशे—व्यञ्जनस्य पूर्ववराङ्गत्वपरस्वराङ्गत्वाभ्यां स्वरभेदः, प्रचयविधिः,
नासिकयागमविधिः, स्वरभक्तिविधिश्च ॥

द्वाविंशे—स्वरविशेषोच्चारणसाधनीभूताः प्रयत्नविशेषाः, एतच्छास्त्रे उपा-
त्तानां वर्ण, फार, च, अपि, तु, अथ, एव, हि, न
इत्येतेषां शब्दानामर्थनिर्णयः, ऋग्विरामादीनां मात्राकाल-
नियमः, गुरुलघुसंज्ञाविधिश्च ॥

त्रयोविंशे—वर्णव्यक्त्योत्पत्तिहेतवोऽनुप्रदानादयः, उपांश्वारीनि शब्दप्रयोग-
तारतम्यस्थानानि, कृष्टादिस्वरविशेषाश्च ॥

चतुर्विंशे—पदसहिनादिसंहिताचतुष्टयनिरूपणम्, गुरुत्वादिज्ञानस्यावश्यकता,
एतच्छास्त्रज्ञानप्रशसा च ॥

अस्य च तैत्तिरीयप्रातिशाख्यस्य बहूनि व्याख्यानान्यासान्नि-
ति त्रिभाष्यरत्ननामकाद्व्याख्यानादवगम्यते । साम्प्रतं तु व्याख्याने
हे केवलमुपलभ्येते । तत्राद्यं त्रिभाष्यरत्नमिति । द्वितीयं वैदि-
काभरणमिति ॥ तत्राद्यं त्रयाणां भाष्याणां प्राचीनानां रत्नं तत्प्र-
काशकतया त्रिभाष्यरत्नमिति संज्ञायते । तेष्वेकं भाष्यं चररु-

चिरुतम् । द्वितीयं माहिषेयकृतम् । तृतीयमात्रेयकृतम् । तथा चो-
क्तमुपक्रमे त्रिभाष्यरत्नस्य—

व्याख्यानं प्रातिशाख्यस्य वीक्ष्य वाररुचादिकम् ।

कृतं त्रिभाष्यरत्नं यद्भासते भूषणप्रियम् ॥ इति ।

तत्र वाररुचिः—१-१८. २-१४, १९. ४-४०. ८-१९. १८-७. २१-१९ मंत्रेषु
माहिषेयस्तु—४-४०. ८-१९, २०, २२. १४-२८. १८-७. सत्रेषु
आत्रेयस्तु—५-१ मन्त्रे त्रिभाष्यरत्ने समुल्लिख्यते । १९-४. २३-२
मन्त्रयोस्तु कौहलेयशक्यमप्यन्यते स्म ॥

त्रिभाष्यरत्नकारश्चायं नाम्ना, सोमयार्य इति राजकीय-
कोशागारगतात् (६०७) संस्थाद्वितात् तालपत्रमयत्रिभाष्यरत्नको-
शादेकस्मादवगम्यते । तत्र हि कोशे इदं पद्यमन्ते दृश्यते—

त्रिलोचनध्यानत्रिगुणकौमुदीविनिर्घटतःकुमुद कलानिधिः ।

न सोमयार्यो विततान सम्मतं विपश्चितां भाष्यमिदं उपोषकम् ॥ इति ।

सोऽयं त्रिभाष्यरत्नकारः कस्मिन् देशे कदा समुद्रभूदिति
तु नावधार्यते ।

एतदुदाहृता ग्रन्थाः ग्रन्थकाराश्चेत एव -

1. भमस्कोनः, (१-१)
2. भाष्यपुराणम्, २४-६.
3. भाष्यः.
4. कादनिर्णयः * (ग्रिग) १८-१.
5. कौहलेयः.
6. पाणिनिग्रन्थम्, १४-८. १५-१३. १८-१.
7. महाभाष्यम्, २४-६.

* कादनिर्णयविधायि अन्ये—“इति श्री अनन्ताभितनुकीर्तयया-
द्वैतवाचस्पत्यैरममाम्.” इत्युपलब्धे ॥

8. महाभाष्यम्. २-७, ५-७.

9. माहिषेयः.

10. वररुचिः.

11. वाजसनेयिब्राह्मणम्. १४-३३.

12. शिक्षा. १-१, २, २१. २-२. १४-५, २८. १९-३, १२. २१-१, १५.
२२-१३. २३-१०, २१.

13. समानसन्धिः. १-१.

14. सख्यध्याः. १-१५.

तस्मात्तदुदाहृतग्रन्थतोपि नास्य समयावधारणं शक्यं
कर्तुम् ॥ एतावत्तु केवलं शक्यं यत् वैदिकाभरणकारादयं प्रा-
चीनः त्रिभाष्यरत्नकार इति ॥ यतो वैदिकाभरणे भूयः त्रिभाष्य-
रत्नग्रन्थोऽनूद्यते खण्ड्यते च ।

वैदिकाभरणकर्ता तु नाम्ना गार्ग्यगोपालयज्वा—तथा चोक्तं ।
वैदिकाभरणप्रारम्भे—

प्रणम्य साहसाम्नायमाचार्यांश्च प्रणीयते ।

व्याख्यानं प्रातिशाख्यस्य गार्ग्यगोपालयज्जना ॥

अर्धरत्नैरन्यायमर्थैः पूर्वसाधारणवोदृतैः ।

रचितं धारयन्त्येतद्वैदिकाभरणं शुभाः ॥ इति ।

वैदिकाभरणेऽस्मिन् धृता एते ग्रन्था ग्रन्थकाराश्च—

1. आपस्तम्बधर्मसूत्रम्.

2. न्यायसूत्रम्. १-१.

3. पाणिनिसूत्रम्.

4. भगवानक्षपादः.

5. महाभाष्यम्. १-१.

6. वार्तिककारः. १-७.

7. शिक्षा.

8. शौनकीयं प्रातिशाख्यम्. १-२.

अनेन च वैदिकाभरणकृता स्वरसम्पन्नामाऽपि ग्रन्थः कृत इत्यवगम्यते । यथोक्तं वैदिकाभरणे—चतुर्दशाध्यायस्य २९ सूत्रे “अस्यार्थोऽस्माभिस्स्वरसम्पदि विवृतः—

नीचं प्रवृत्त्या सरुलमुदात्तादन्यदधरम् ।

सोदात्ते निरुदात्ते तु पदे यत्स्वरितोत्तथा ॥ इति ।” इति ।

स चैव स्वरसम्पन्नामा ग्रन्थो नाद्याभ्युपलब्धोऽस्माभिः ।

अनेनैव च गार्ग्यगोपालयज्यता विरचिता वृत्तरत्नाकरव्याख्या ज्ञानप्रदीपाभिधा मद्रास्नगरे आन्धाक्षरैर्मुद्रिता समुपलभ्यते । तत्र च वृत्तरत्नाकरव्याख्याने ज्ञानदीपे “यदन्त्यपरव्याख्यम्” इति सूत्रव्याख्यायां—चपलावक्रस्य यथा—

गोपालमिधरचिते व्याख्याने ज्ञानदीपालये ।

घेयं गृहस्यमग्निलं घृत्तानां सूरिभिस्सम्पक् ॥

विपरीतपथ्यावक्रस्य यथा—

घेदारुतस्यंघेदिनि गार्ग्ये गोपालमिध्रेऽन्यैः ।

कार्या नैव कदाचन धीरैस्सर्वाधिकेऽसूया ॥

इति स्यगौरयं स्ययमेवागायत् । अतश्चायं वृत्तरत्नाकरकारात्केदारान्तर्वाणिताऽर्थाचीन इति व्यक्तम् । तथा “अयुजि न युगरेफ्तः” इति पुणितामालक्षणव्याख्यायां “क्रस्मंशुतः” इत्यादिवराहमिहिरपद्योदादग्नात्तनोऽप्यर्थाचीन इत्यवगम्यते । एवं वृत्तरत्नाकरव्याख्यानज्ञानान् कथितार्थान् धीनाभादप्ययमर्थाचीन इत्यवगम्यते । यतः उपजातिनक्षत्रशोकाख्याख्यायां नानाछन्दोमयानां योगेऽपि उपजातिता मयतीति भीमाध्याख्यायां समर्थितोऽर्थः “अन्ये

तु ब्रूवते नानाछन्दस्यानामपि वृत्तानां सङ्करादुपजातयो भव-
न्तीति—तदयुक्तं इत्थं किलेति नियमात् । इतरथा तद्वैयर्थ्यप्र-
सङ्गाच्च । तस्मान्नानाछन्दस्यवृत्तसङ्करसिद्धादश्लोकास्त्वलाक्ष-
णिका चेदित्य्याः” इत्यनेन सन्दर्भेण ज्ञानदीपे गार्ग्यगोपाल-
मिश्रेण दूषितः* । श्रीनाथेन च स्वोक्ततायां श्रीशोधिनीसमा-
ख्यायां वृत्तरत्नाकरव्याख्यायां तन्वीवृत्तलक्षणविचरणे—“इनश-
ब्दस्यादित्यवाचकत्वं वैजयन्त्यामुक्तं इनास्त्वात्माधिपार्काद्याः
इति” इत्युक्तम् । वैजयन्तीकारश्च यादवप्रकाशः आङ्ग्लेय-
शकीयैकादशशतकस्य प्रारम्भे समवर्ततेति भगवद्रामानुजचरि-
त्रतोऽवधारितम् ।

* इदमन्ते तु कतिपये प्राचीनानां श्लोकाः विभिन्नच्छन्दोभववृत्तसार्कयुताः ।

यथा महानाटके—प्रथमेऽङ्के पञ्चमं पद्यम्—

रामं लक्ष्मणपूर्वजं रघुवरं सीतार्पति सुन्दरं
काकुत्स्थं कर्णामयं गुणनिधिं विप्रप्रियं धार्मिकम् ।
राजेन्द्रं सत्यसन्धं दशरथतनयं श्यामलं शान्तमूर्तिं
वन्दे लोकाभिरामं रघुकुलतिलकं राघवं रावणारिम् ॥

यथा वा—श्रीशङ्कराचार्यविरचिते माण्डूक्योपनिषद्भाष्ये द्वितीयं पद्यम्—

यो विश्रात्मा विधिजविषयान् प्रादय भोगान् स्वविष्टान्
पथाशान्त्यान् स्वमतिविभवान् ज्योतिषा स्वेन सूक्ष्मान् ।
सर्वानेतान्पुनरपि शनैस्स्वात्मनि स्थापयित्वा
दित्या सर्वान्विशेषान् विगतगुणगणः पात्वर्मा नस्तुरीयः ॥

यथा वा श्रीमध्वाचार्यविरचिते स्तोत्रे—

पान्तवस्मान्पुष्टहृत्तैरिषलवन्मातङ्गमाश्रद्धया-
कुम्भोष्ठादिविपाटनाधिकपटुप्रत्येकवग्नायिताः ।

धीशोधिनोकारस्यापि - समयो न स्पष्टमवगम्यते । पित्रा-
दिनाम तु केवलमस्य धीशोधिन्युपक्रमे उल्लिख्यते यथा—

प्रणम्याखिललोकेशं पूर्वाचार्यानुसारिणा ।

गोविन्दभट्टविवेकानाथाख्येन सूनुना ॥

मिताक्षरं प्रभूतार्थं छन्दःशास्त्रं प्रशस्तिमत् ।

व्याख्यास्यते स्वचाफकुञ्जै वृत्तरत्नाकराभिधम् ॥ इति ॥

अनेन च 'गार्ग्यगोपालयज्यना विरचितं भारद्वाजीयपितृमेधसूत्र-
भाष्यमप्युपलभ्यते साम्प्रतम् । तत्र च भाष्ये लोष्टचयनप्रकरणे
यज्ञाजीयाभिधधर्मशास्त्रनियन्धोक्तोऽर्थोऽनूद्य दूषित उपलभ्यते ॥

गोपालकारिकेति प्रसिद्धा श्रौतकारिका गोपालसूरिकृतत्वेन
समुल्लिखिता प्रायश्चित्तदीपिका बोधायनश्रौतसूत्रगतप्रायश्चित्त-
सूत्रव्याख्यारूपा च अनेनैव गोपालयज्यना विरचिता वा अ-
न्येन चेति नावधार्यते ॥

भीमरक्तप्रीरवास्यप्रततमुनखरादारितारातिदूर-

प्रध्वस्तध्वान्तशान्तप्रविततमनसा भाविता नाकियुदैः ॥

यथा या संश्लेषशरीरके—

उपनिषदिति वेद इत्यपीदं गमभिवदन्ति महावचो महान्तः ।

फलवदवगतिरस्यादन्तरंगैतदेकं वचनमिति न शक्यं वक्तुमित्या-
दौऽस्मिन् ॥ (१२-२५७)

“एकस्मिन्नपि श्लोके पूर्वोक्तार्थयोभिग्रत्वाच्छन्दोभेदो न दोषाय । तत्त्वनि-
रूपणविशेषाद्वा छन्दोभेदोऽनालोचित इति द्रष्टव्यम्” ॥ इति तत्र मधुसूदनसर-
स्वती ॥ काव्यिकादिमहाकाव्येषु तु नैयनिघट्टताकार्यं दृश्यते ॥

तदेतयोस्त्रिभाष्यरत्नवैदिकाभरणयोरस्ति कतिपयेषु विषयेषु विसंवादः । यथा—

त्रिभाष्यकृता १६ स्वराः, २५ स्पर्शाः, ४ अन्तस्थाः, पङ्क-
ष्माणः, अनुस्वार एकः, विसर्जनीय एकः, रङ्ग एकः, लकार
एकः, ४ यमाः अनुनासिकापरपर्यायाः, स्वरभक्तिरेका इति प-
ट्टिसङ्ख्या वर्णा इत्युक्तम् । वैदिकाभरणकारस्तु रङ्गं स्वरभ-
क्तिं च पृथगपरिगणयन् चतुर्णां यमानामनुनासिकापरपर्यायाणां
स्थाने पञ्चनासिक्यान् परिगणयन् एकोनपट्तिर्वर्णा अस्मत्स्वा-
ध्याय इत्याह ।

एवं जटायाः प्रातिशाख्यविषयत्वाभ्युपगमतदभावाभ्याम-
प्यनयोर्व्याख्यायोरस्ति भिदा । सा च प्रागेव दर्शिता ।

एवं प्रातिशाख्यस्यास्य नानाशाखाविषयकतायां द्वाभ्या-
मप्याभ्यां व्याख्यातृभ्यामभ्युपगम्यमानायामपि ब्राह्मणग्रन्थविष-
यकता वैदिकाभरणकारेण नाभ्युपगम्यते । उक्तं हि वैदिकाभर-
णे उत्पूर्वस्य सकारस्य व्यञ्जनपरस्य लोपविधायके “उत्पूर्वस्स-
कारो व्यञ्जनपरः” (५-१४) इति सूत्रे—“श्रुत उत्क्राति जनिता
मतीनाम्” इत्यस्मिन् तैत्तिरीयब्राह्मणतृतीयकाण्डसप्तमप्रपाठकप-
ञ्चमानुवाकस्थे वाक्ये सकारस्य लोपप्रसङ्गमाशङ्क्य “संहिताग्रन्थ-
मात्रविषयत्वादस्य शास्त्रस्य” इति ॥ त्रिभाष्यरत्नकारस्तु—चतु-
र्थाध्यायस्यैकादशसूत्रे “विशाखे नक्षत्रं । वीति किं ‘तस्मिन् सह-
स्रशाखे’ इति शाखान्तरे” इति वदन् तैत्तिरीयब्राह्मणारण्यक्-
योरप्येतत्प्रातिशाख्यविषयकतां व्यक्तमाह । तत्सूत्रे “धीत्यस्य
प्रयोजनं शाखान्तरे” इति वदंस्तु वैदिकाभरणकारः शाखान्त-
रीयसंहितावाक्यमेव प्रत्युदाहरणमभिमनुते । प्रातिशाख्यस्या-

स्य कृष्णयजुर्वेदसंवन्धिनानाशाखाविषयकत्वे सति कृष्णयजुर्ब्राह्मणविषयकत्वपरिसंख्यानं तु न साम्प्रतम् । ब्राह्मणमेतदपि हि पारक्षुद्रशाखा । स्पष्टं चेदं भट्टभास्करकृते तैत्तिरीयब्राह्मणभाष्ये प्रपाठकोपसंहारवाक्येषु ॥ इत्थमेव—४-४६, ६-१५, ८-८, १२, १६, ३५, ९-१, २२, २३, १०-५, ९, १२, १३, २५, ११-३, ९, १६, १३-१५, १४-५, १५, २८, १६-१४, २४, २५ सूत्रेषु व्याख्यात्रोरनयोर्वैमत्यमुदीक्ष्यते । प्रायस्सर्वेष्वेवैषु विमतिस्थलेषु त्रिभाष्यरत्नकृतो व्याख्यानमेव व्यासशिक्षया संघदतीति तदेव ज्यायो मन्यामहे । सा हि व्यासशिक्षा शिक्षास्वभ्यर्हितेति तद्गणनावसरे प्रथमपरिगणनादवगम्यते—यथा—

प्रथमं व्यासशिक्षा तु रुक्मीशिक्षा द्वितीयकम् ।

भारद्वाजी तृतीया तु शिक्षाऽऽरण्यं तुरयिकम् ॥

पञ्चमं शम्भुशिक्षा च षष्ठं चापिशलं तथा ।

सप्तमं पाणिनेशिक्षा अष्टमं कौहलेस्तथा ॥

वासिष्ठीशिक्षा नवमी नव शिक्षाः प्रकीर्तिताः ॥ इति

तदेवंसत्यपि कतिपयविषयेषु व्याख्यानयोरनयोर्विसंवादे द्वे अप्येते अवश्यमेव वेदलक्षणजिज्ञासुभिरधिगन्तव्ये । तत्र त्रिभाष्यरत्नं पाश्चात्यविदुषा पुरा वृद्धितमप्यशुद्धिबहुलं आङ्ग्लेयलिपिमुद्रिततया तुरधिगममपि च वैदिकानाम् । वैदिकाभरणस्यापि प्रायस्तालपत्रमयाः कोशाः ते च लेखकप्रमादबहुलाः । कुम्भघोणनगरमुद्रितमप्येतद्व्याख्यानयुगलं नातीव विशुद्धं, ग्रन्थाक्षरमयतया च न सर्वदेशप्रचारोपयोगि । तस्मात् तदेतद्व्याख्यानयुगलस्य वेदाध्यायिनां नयनयुगलस्येव प्रतिपदमुपकुर्वतः परिष्करणं समारभ्य भूयसां प्रज्ञकोशानामवष्टम्भेन निपुणानां सलक्षणवेदपाठकानां साहाय्यकेन च निरवर्ति ॥ तदेवमिदं राजकी-

यकोशागारेऽस्मिन्प्रकाशितं विश्वतो विवित्सूनां हस्तवशमापन्न-
मुपकरोतुतरामिति निवेद्यते ॥

श्लाघनीयोद्यमाः किल पाश्चात्याः यदेते सन्ततमेव तत्त्वतो
वैदेशिकविद्यानां विविधानां परिशीलने प्रकाशने च कृतयतनाः॥
इदं पुनरहंतुदमस्मार्कं यदेते एवं प्रयतमाना अपि कतिपये
भारतीयेषु नूतनेषु प्रज्ञेषु चान्ततो महर्षिष्वपि दोषानधिरोप्य
स्वैरं व्याहरन्तो हृष्यन्तीति । तदेपां प्रतिवचनाय कृतक्षणा एव
विचक्षणा भारतीयास्तेते । तत्साम्प्रतं तैत्तिरीयप्रातिशाख्यं त-
द्व्याख्यानं त्रिभाष्यरत्नं चाधेरुत्प विद्भिनाम्ना पाश्चात्यविदुषा
प्रवर्तितस्याधिक्षेपप्रचुरोपन्यासस्य प्रतिवचनाय प्रारभामहे—

यत्तावदुक्तं—तैत्तिरीयसंहितातत्प्रातिशाख्ययोस्सम्बन्धः न
प्रातिशाख्यव्याख्यानं विना बोद्धुं शक्यते । प्रातिशाख्ये हि प-
दान्तरेण संवलितान्यसंवलितानि वा वैदिकपदान्युदाहरणरूपे-
णोपन्यस्तानि । एतानि क्वचित्स्वघटिततैत्तिरीयसंहितावाक्यानां
सूचकानि सन्त्यपि न सर्वत्र तथाविधानि दृश्यन्ते । तथाहि—
यद्यपि अष्टमाध्याये अष्टादशसूत्रे परिदृश्यमानं 'पष्टः' इति
पदं प्रथमकाण्डद्वितीयप्रश्नैकादशानुवाकघटकत्वेन पष्टकाण्डद्विती-
यप्रश्नद्वितीयानुवाकघटकत्वेन च बोद्धुं शक्यते । तथाऽप्यष्ट-
माध्यायाष्टमसूत्रे परिदृश्यमानानि "अविभः । अकः । पुनः ।
पितः" इत्येतानि पदानि कुत्रत्यानि ग्राह्याणि कुत्रत्यानि न
ग्राह्याणीति विविच्य बोद्धुं न व्याख्यानमन्तरा शक्यते । अत-
स्तैत्तिरीयप्रातिशाख्यावबोधः व्याख्यानसापेक्ष इति सिद्धम् ॥
इति तदिदं नस्यैव शोभतेतमाम् ॥ शुक्लयजुःप्रातिशाख्यादीन्यपि
हि न संहितापाठमात्रमाधेरुत्प प्रवर्तन्ते । तत्तत्प्रातिशाख्येषू-

पात्तान्यपि तत्तत्कार्यविशेषनिमित्तवन्ति पदानि सर्वाणि न संहितायामुपलभ्यन्ते । अपि तु यथासम्भवं कानिचित्संहितायाम् । कानिचित्पदपाठे । कानिचित्क्रमपाठे । सम्भवविमर्शबलादेव च तत्रतत्रोपात्तपदस्थानमवधार्यते । तथाऽवधारणं चास्मिन् तैत्तिरीयप्रातिशाख्येऽपि भविष्यतीति को विशेषोऽत्र तैत्तिरीयप्रातिशाख्ये । येन तैत्तिरीयप्रातिशाख्यायवोधो व्याख्यानसापेक्ष इत्येकान्तेन प्रतिज्ञायते ॥ यद्यपि प्रातिशाख्यान्तरेषु संहिताधिकारं पदाधिकारं क्रमाधिकारं च सूत्रयित्वैव तेते कार्यविशेषा विहितास्स्युः । तथाऽप्यस्मिन् प्रातिशाख्ये संहितापदक्रमजटासाधारणः कार्यविशेषस्तत्रतत्र अधिकारविशेषमसूत्रयित्वैव विधीयते संहितादिचतुष्टयसाधारण्यार्थमिति 'का नामानुपपत्तिः । संहितामात्रमधिकृत्य कृतं चेदपि प्रातिशाख्यमनधिगतसंहिताकानां पुरुषाणां व्याख्यानसापेक्षमेवार्थावगमं जनयेत् । तथा च "अधिभः इत्यादीनि पदानि कुत्रत्यानि ग्राह्याणि कुत्रत्यानि वा न ग्राह्याणि" इति विधये स्वरघोषवत्परत्वरूपेण रेफादेशनिमित्तं विशिष्टानि 'अधिभः' इत्यादीनि यत्र लभ्यन्ते तत्र तान्येव अर्थात् जटास्थानि शाखान्तरस्थानि वा ग्राह्याणि । यत्र तु न लभ्यन्ते तथाविधानि संहितायां वा पदपाठे वा क्रमपाठे वा अतथाविधान्येव तान्युपलभ्यन्ते तत्रत्यानि न ग्राह्याणि निमित्तयोगधिरदादिति सुबोधमेवेद् सचेतसामित्यास्तामेतत् ॥

एतेन—एतत्प्रातिशाख्ये लक्ष्यतयोपात्तानि कानिचित्पदानि न तैत्तिरीयसंहितायामधुनोपलभ्यमानायां दृश्यन्ते । तथा हि ८-८ ममूत्रघटकं स्तनुत इतिपदं १३-१३ शमूत्रघटकं चर्पन् इतिपदं १६-१३ शमूत्रघटकं जीगिवा इतिपदं जिघासि इतिपदं च न तैत्तिरीयसंहितायामुपलभ्यन्ते । एतत्प्रातिशाख्यव्याख्याता

त्रिभाष्यरत्नकारः 'पदान्येतानि शाखान्तरगतानीति तत्र तत्रो-
 द्बुध्यति । वयं पुनर्नन्दं युक्तं संमन्यामहे । शाखान्तरीयत्वेन
 व्याख्यात्रा कथितानि स्तनुतः, चर्मन्, जीगिवा, जिघासि इ-
 तौमानि' हि पदानि तत्र तत्र सूत्रे स्वस्वाव्ययहितपूर्वधृतप-
 दानां किञ्चिद्विकृतरूपाणीति ज्ञायते । सनुतः स्तनुतः चर्मन् चर्मन्
 जिगिवा जीगिवा जिगासि जिघासि इति हि तत्तत्पदद्वन्द्वक्र-
 मो दृश्यते । न खल्वेतानि चर्पन्नित्यादीनि पदानि चतुर्ष्वपि
 वेदेषु कन्दिदप्पुपलभ्यन्ते । अतश्चैतान्येदिदिकान्येष पाठ्यकानां
 प्रमादपाठादेव नूनं सूत्रेषु लग्नानि । तैत्तिरीयप्रातिशाख्यक-
 र्ता च शाखान्तरमपि लक्षोवकारेति न वयं मन्यामहे—इति पा-
 ध्यात्योहो दुरुह एवेति व्यक्तोक्तम् ॥

यथा हि शुक्लयजुर्वेदस्य पञ्चदशसहस्रातादशाखाः तथैव,
 कृष्णयजुर्वेदापराभिधानस्य तैत्तिरीययजुषोपि सन्ति नानाशाखा-
 इति स्मृतिपुराणचरणव्यूहादितोऽवधार्यते । कात्यायनीयस्य शु-
 क्लयजुःप्रातिशाख्यस्य च पञ्चदशशाखासाधारण्यं सुप्रसिद्धम् ।
 तद्वदेव च आवश्यकं समुचितं च तैत्तिरीयप्रातिशाख्यस्यापि
 नानाशाखासाधारण्यं आग्नेयधाररुचमाहिषेयरूपभाष्यप्रयानुग-
 सम्प्रदायसमन्निगतं साम्प्रदायिकैः तैत्तिरीयप्रातिशाख्यव्याख्या-
 तृभिरास्थितम् । तदेतत् 'शाखान्तरस्य स्वानवलोकनमात्रेणैव
 चेत्पाश्चात्यः परिसंचक्षीत परिसंचक्षतां का क्षतिरस्माकम् । न
 खलु पाश्चात्यदृष्टचगोचरभूतानि तत्त्वानि शाखान्तराणि वा श-
 शशङ्ककल्पानीति शक्यं वक्तुम् । नापि जनुपाऽन्धेन रूपं परिसं-
 ख्यातमित्येतावता तदसदेव भवेत् । किञ्च—पाठप्रमादेन हि
 यदेव सूत्रगतं 'पदं तदेव केवलं विकृतं पठ्येन न तु तेन

दप्यदर्शनात् । एतेषां चतुर्णां पदानां पाश्चात्योपलब्धेषु चतुर्षु
वेदेष्वदर्शनं तु न तेषामभावं गमयेत् । अप्रयोजकत्वात् ।
सन्ति हि एकवेदे अपरिहृष्टान्यपि पदानि वेदान्तरे । एवमे-
षोपलभ्यमानासु शाखास्वपरिहृष्टान्यपि पदानि शाखान्तरेषु प्र-
माणसम्प्रदायप्रमितेषु भवेद्वरेवेति ॥

किं बहुना—यस्मिन्नेव षोडशाध्यायत्रयोदशसूत्रे “हिपुजि-
गा” इत्यादौ जीगिघाशब्द उपात्तः तत्सूत्रव्याख्याने त्रिभाष्य-
रत्ने “जीगिघांसस्स्याम” इति शाखान्तरे इति तैत्तिरीयब्राह्म-
ण (ब्रा. २-८-६) गतं वाक्यमुदाहृताम् । यस्मिन्नेव च सूत्रे
“ऋजीपि” इत्यादौ जिघासिपदमुपात्तं तद्व्याख्यान एव तत्प-
दोदाहरणतया “प्रथमे जिघासि” इति शाखान्तरे इत्युदाह-
तम् । तदेवं सति स्वहस्तगते कोशे उदाहृतमपि वेदवाक्यं
‘सम्यगधगन्तुमकुशलस्य पाश्चात्यस्य “न खल्वेतानि चर्षन्नित्या-
दीनि पदानि चतुर्ष्वपि वेदेषु क्वचिदप्युपलभ्यन्ते” इति स्वैर-
प्रतिजानानस्य साहसं परां काष्ठामारूढमित्यवगन्तव्यम् । न च
चतसृषु वेदसंहितासु अदर्शनमेव तेषां पदानामस्मद्भिमतमिति
वाच्यं कतिपयसंहिताग्रन्थेऽदर्शनमात्रेण पदानामवैदिकत्वासिद्धेः ।
नस्मात्स्मिद्धं प्रातिशाख्यस्यास्य नानाशाखाविषयकत्वं नानुपप-
न्नमिति । अत एव तत्र तत्र “दैवते उभे भागधे ऊर्ध्वे वि-
शाखे” इत्यादिमूर्धेषु विशाखे इत्यादौ विग्रहणादेः “नस्मिन्
सहस्रशाखे” इति शाखान्तरवाक्यव्याघृत्यादेः फलत्वकथनं
व्याख्यातृणामुपपन्नतरम् । अत एव च—एतत्प्रातिशाख्यव्या-
ख्याता त्रिभाष्यरत्नकारस्तु—पदान्येतादृशानि शाखान्तरगता-
नीति तत्र तत्र धुष्यति । मूर्धघटकपदप्रयोजनचर्चायामपि
शाखान्तरगतपदानि प्रत्युदाहृत्य पदप्रयोजनं व्याख्यातव्यं दर्शय-

ति । तथाहि—“विशाखे” (4-11) इत्येतत्पदघटित ‘वि’ पदं शाखान्तरघटितस्य “सहस्रशाखे” इत्येतादृशशाखेपदस्य प्रग्रहनिवारणायेति ; तथाऽस्मिन्नेव सूत्रे “स्तुतशाखे” “ऋक्सामे” “विधृते” “पूर्वजे” इत्येतादृशपदघटकानां स्तुत-ऋक्-वि-पूर्वे-पदानां प्रयोजनं क्रमात् “ऊर्ध्वं शाखे प्रतिष्ठिते” “ब्रह्मसामे प्रतिष्ठिते” “अग्निधृते” “प्रथमंजे” इत्येतादृशशाखान्तरघटकपादानां प्रग्रहवारणमेवेति ; प्रत्युदाहरणान्युपन्यस्यति व्याख्याता । एवमेव ४-१२ सूत्रे “पशुभ्रषणी,” (भस्मभ्रषणी) इति ; पञ्चदशसूत्रे, “तमाहुरी हयति,” “हृती पुनर्जुहोति,” “हुती तस्माद्वेधाः” इति, सप्तत्रिंशत्सूत्रे “इन्द्राग्नी हवामहे” इति, ६-५ सूत्रव्याख्यायां, “प्रमतिस्ते देवानाम्” इति, ११-१ सूत्रव्याख्यायां “धाता देवेभ्योऽसुरान्” इति, ६-१६ सूत्रव्याख्यायां “गयस्कानोऽग्निषु” इति च शाखान्तरगतत्वेन प्रत्युदाहरणान्युपन्यस्तानि-भ्रम त्वेतानि सर्वाणि व्याख्यातृमतिविलसितानि मृषारूपाणीति प्रतिभाति । न हि प्रातिशाख्यकर्ता यावत्पदं लक्ष्यतयोपन्यस्य तावदेव ग्राह्यमिति नियमेन बद्धः—इति पाश्चात्याधिक्षेपोपि गलहस्तितः । अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारबद्धिश्चतोमुखम् । अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्राविदो विदुः ॥ इति हि सूत्रलक्षणमामनन्ति ॥ तदिदं निरर्थकाधिकपदोपादानेऽत्र कथं घटताम् ॥ दृश्यते चाधिकांशोपादानस्य व्यावृत्तिस्सर्वत्रैव । तस्मात्तत्र तत्र व्याख्यातृभिरुपन्यस्ता शाखान्तरवाक्येषु तत्तत्पदव्यावृत्तिस्साधीयसी सूत्ररुदभिमतैवेति विभाव्यताम् ॥

तदेवं व्याख्यात्रा “विशाखे” इत्यादौ शाखान्तरे प्रत्युदाहरणवाक्यान्त्युपन्यस्य व्यावृत्तिं वर्णयता प्रातिशाख्यस्य शाखान्तरसाधारण्यस्य स्थापितत्वात् अन्यत्रापि स्वशाखायामस-

भवेत्प्रयोजनानां पदग्रहणानां शाखान्तरवाक्य एव प्रयोजनं
नूनमभिसंहितं सूत्रकृतेति स्वत एवावधार्यते । अत एव तत्रतत्र
प्रत्युदाहरणवाक्यन्यासमकृत्वैव “शाखान्तरे प्रयोजनम्” इत्येव
केवलं स्मार्यते व्याख्यात्रा ॥ यथा—११, १६, १२, ३, १६, २,
मूत्रेषु । न खल्वेतावता प्रत्युदाहरणवाक्यस्य विशिष्यानुप-
न्यासेन वा स्वेनानवलोकनमात्रेण वा तादृशानि वाक्यान्य-
प्रामाणिकान्येवेति शक्यमभ्यूहितुम् । सूत्रकारीयया निरर्थका-
धिकपदाप्रयोगशैल्यैव तादृशतादृशशाखान्तरवाक्यसङ्गवप्रमि-
तेरिति ॥

अथ एकैकशाखापरत्वमेव प्रातिशाख्यस्य न त्वेकाधिक-
शाखापरत्वम् । अन्यथा प्रातिशाख्यपदयोगायोगादिति चेन्मैवं
प्रातिशाख्यासु भवं प्रातिशाख्यमिति योगाङ्गीकारसम्भवेन प्रातिशा-
ख्यस्यैकाधिकशाखापरत्वेऽपि क्षतिश्चिरहात् । स्पष्टं चेदं शुक्ल-
यजुःप्रातिशाख्यव्याख्याने अनन्तदेवकृते—प्रतिज्ञासूत्रपरिशिष्टोप-
क्रमे—अथ स्वरप्रक्रियाकथनान्तरं स्वरपदौपलक्षितसंस्कार-
प्रक्रियोच्यत इति शेषः । यद्वा—पञ्चदशयजुःशाखास्ताधारण-
संस्कारकथनानन्तर्यार्थोऽयमथशब्दः । यद्येते संस्काराः प्राति-
शाख्ये नियद्वा भवेयुस्तदा सर्वेषां काण्वार्दानामपि स्युः । अ-
तोपि तेषां पृथगेवोपदेशो युक्त इति । ननु प्रातिशाख्यस्या-
न्वर्थसंज्ञाकरणेन प्रातिशाख्यं भिन्नत्वात् कथं तेषां धर्मप्राप्तेरिति
चेन्नैतदेवं यतः प्रतिपञ्चदशशाखायां भिन्नानि प्रातिशाख्यानि
नोपदिष्टानि । किन्तु श्रौतस्मार्तसूत्रवत् प्रातिशाख्यसूत्रमपि पञ्च-
दशशाखाणाधारणं समाम्नातम् । विशापयति चामुमर्थमाचार्य-
प्रवृत्तिः तथा हि—देवेभ्यश्चान्येष्वं देवेभ्यश्चान्येष्वमित्येके ।
अस्मिन्नेकपदग्रहणमन्यशाखापरमिति भाष्यकृतः । एवं वायव-

स्थेत्युपायवस्थेति चैके । इत्यादि । एवं प्रातिशाख्यसूत्रेऽपि, शाखान्तराभिप्रायेण हरिशयेत्येके इत्यादिषु एकपदमन्ववोचत् । एकस्यामेव शाखायां मतान्तरेण पाठान्तरमिति विरोधीति सङ्क्षेपः । प्रातिशाखासु भवं प्रातिशाख्यमिति सम्भवाभिप्रायेण बहुवचनान्तयोगेनापि निर्वाह इत्यास्तां तावत्—इति । वैदिकामरणेऽपि “देयते उभे” (४-११) इत्यादिसूत्रे वीत्युपबन्धस्य व्यावर्त्य शाखान्तरे । नन्वेवमनेकशाखाविषयत्वे प्रातिशाख्यमिति ग्रन्थस्य समाख्या चिरुद्धयेत् । नैतदस्ति । द्वित्रिशाखाविषयत्वेऽपि तदसाधारणतयोपपत्तेः । तथा बहुचानां शाकलयाष्कलशाखाद्वयविषयं प्रसिद्धम् । एवमुत्तराणि द्रष्टव्यम्—इति ॥

यदपि—तैत्तिरीयशाखायाः संहितापाठादन्ये पदपाठादयस्सन्तीत्येतत्तैत्तिरीयप्रातिशाख्यकारेणाप्यङ्गीकृतमिति ज्ञायते । पदपाठं विना तैत्तिरीयप्रातिशाख्यकर्त्रा प्रातिशाख्यं कृतमित्येतत्तु दुरुहम् ॥ यद्यपीतरप्रातिशाख्येष्विव तैत्तिरीयप्रातिशाख्ये पदक्रमजटाविधायकानि यावत्लक्षणानि न दत्तानि । तथाऽपि तृतीयाध्यायप्रथमसूत्रे सन्धिविभागकाले विहितो ह्रस्वविधिः पदक्रमजटापाठेष्वन्वेति । पद नानापद ईदृच अवग्रहेत्यादयः एतत्प्रातिशाख्ये प्रयुक्ताः पारिभाषिकादशब्दाः पदपाठादिसत्तां सूचयन्त्येव । “इतिपरोपि” (४-१) “अनितिपरः” (४-३०) इति सूत्रयोः पदपाठादिषु प्रचुरप्रयोग इतिशब्दः स्पष्टं परामृष्टः । तथा नवमाध्यायैकविंशतिसूत्रे दशमाध्यायत्रयोदशसूत्रे च आप्तशब्दप्रयोगेण पदपाठादयस्सूचिता एव । इति ॥ तत्तु सत्यमेव । यद्यपि—पदक्रमाविशेषश्च इत्युपसंहारसूत्रे पदक्रमपाठयोः स्फुटानिर्देशरूपमपि पदक्रमपदं पदानां क्रमः तस्य विशेषः इति

त्रिभाष्यरत्नकृता व्याख्यातम् ॥ तथाऽपि—तैत्तिरीयकाण्डानुक्रम-
णिकायां—

वैशम्पायनो यास्कयैतां ग्राह पैङ्गये ।

यास्कस्तित्तिरये ग्राह उन्नाय ग्राह तित्तिरिः ॥

उखदशास्त्रमिमां ग्राह आत्रेयाय यशस्विने ।

तेन शाखा प्रणीतेयमात्रेयीति च सौन्यते ॥

यस्याः पदकृदात्रेयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिनः ।

तां विद्वांसो महाभागा भद्रमश्नुवते महत् ॥

इत्येवमात्रेयस्य पदकारतास्मरणात् आत्रेयस्य च प्राति-
शाख्येऽस्मिन् (५-११) (१७-८) सूत्रयोर्निर्देशाच्च प्रातिशाख्या-
दस्मात्पुरैव पदपाठोऽभूदिति व्यक्ततरमेवेदं सम्प्रदायविदाम् ॥

एवं “ऋग्विरामः पदविरामो विवृत्तिविरामस्समानपदविवृत्ति-
विरामस्त्रिमात्रो द्विमात्र एकमात्रांऽर्धमात्र इत्यानुपूर्व्येण” इति-
द्वाविंशाध्यायत्रयोदशसूत्रे पदविरामस्य द्विमात्रताविधानमपि
प्रातिशाख्यतः प्रागेव पदपाठसद्भावं स्पष्टयति ॥

यदपि—एतत्प्रातिशाख्यानुसारिषु पदपाठादिषु इतिशब्द-
प्रयोगनियमः नावधार्यते । न वा यथाऽयं पदपाठो उपसर्गैस्सा-
कमितिशब्दः प्रयुज्यते तथा स प्रयोज्य इति कुत्राप्येतत्प्राति-
शाख्ये तद्व्याख्याने वा कण्ठत उक्तं दृश्यते ॥ इति तदपि
प्रातिशाख्यव्याख्यानानवबोधमेव गमयति । “आप्राचोपाभ्यधि-
प्रतिपरिविनीत्युपसर्गाः” इति (१-१) सूत्रे त्रिभाष्यरत्न एव
“ननु ‘प्रपरापसमन्वयनिर्दुर्व्यालन्वधयोऽप्यतिसूदमयश्च । प्रतिना
सह लक्षयितव्याः पर्युपयोरपि लक्षणमत्र’ इत्यादि पाणिनीया
विशेषेण भणन्ति । कथमत्र सूत्रकृता निर्गलमुपसर्गा इतिशब्देन
सङ्गृहिताः । उच्यते—यजुर्वेदविषये एतावन्त पथेति मन्तव्यम् ।

तर्हि 'प्रोपावाप' इतिसमुच्चये विशेषपाठः कथमुपलभ्यते ।
 इतिपरत्वविधाने तस्य तात्पर्यं न तूपसर्गसंज्ञाविधाने विशेष-
 पाठः" इत्युपलम्भात् । अत्र हि त्रिमाप्यरत्नसन्दर्भे शिक्षास-
 मुच्चयचचनमुपसर्गाणां सर्वेषामितिपरत्वं विधत्ते इति स्पष्टमवग-
 म्यत इति ॥ व्यासशिक्षायामपि च "प्रोपावापर्यधिव्युत्सुन्यन्धा-
 पाप्यत्यभिप्रति । परान्नस्सन्नघदशाप्युपसर्गास्स्युरत्रहि" इत्यु-
 पक्रम्य प्रग्रहेङ्गुपसर्गाणामितिशब्दः प्रयुज्यते । परस्तात्पद-
 कालेयं पूर्वोच्चारण एव हि ॥ प्रग्रहेङ्गुपसर्गान्ते इति स्याद-
 प्यसांहिते । पुनस्त्वङ्गक्रमे चादिविरामस्थं द्विधैक्यतः ॥ इति
 स्मर्यते ॥ एतेन—अपिच—यथा बह्वचायर्वप्रातिशाख्यकारैः इङ्गच-
 लेखनं क्रियते तथा चा उत्तान्यरीत्या चा तैत्तिरीयैरिङ्गधलेखनं
 क्रियते इत्येतत्तु नैतत्प्रातिशाख्ये दर्शितम् ॥ बह्वचायर्वधेदिनः
 "उप—आयवः" इतीङ्गं लिखन्ति । यजुर्वेदिनस्तु "उपायव"
 इत्युप—आयवः" इति लिखन्ति । तैत्तिरीयप्रातिशाख्यव्याख्याता
 तु इतिशब्दं प्रयुज्य लिखति—इत्यपि दत्तोत्तरम् । सामयिकत-
 या लेखनक्रमस्य प्रातिशाख्यकारैरनुशास्यत्वात् । यथैव हि
 समान्नायते इङ्गचादिकं साम्प्रतं सोऽसौ प्रकारस्सकलोप्यनुशिष्ट
 एव प्रातिशाख्येऽस्मिन्निति ॥

यदपि—विंशत्यध्यायतृतीयसूत्रविहितः प्रातिहतः एतत्प्रा-
 तिशाख्यानुसारिपदपाठेषु न प्रवर्तते इति—तदिदं सत्यमेव ।
 "अपि चेन्नानापदस्थमुदात्तमथ चेत्सांहितेन स्वर्यते स प्राति-
 हतः" इतीदं हि विंशत्यध्यायतृतीयसूत्रम् । तेन च सांहिताभा-
 वेन स्वर्यमाणस्यैव प्रातिहतसंज्ञा विधोयते । सा च संज्ञा प-
 दपाठे कथं प्रवर्तनाम् । तथा च "सांहितेन स्वर्यते" इति
 सूत्रांशानुगुणैव पदपाठे प्रातिहताप्रवृत्तिः न कथं चिदपि दोषः ॥

यत्तु—अत्र सूत्रे लाघवात् “नानापद” इत्यस्य स्थाने
 “इह्य” पदमेवोपातुं युक्तमित्यादि । तदतिफल्यु । इह्यपदस्य
 समस्तमात्रवाचित्वात् “इये त्वा” इत्यादौ प्रातिहतसंज्ञानापत्तेः ।

यदपि—तैत्तिरीयपदपाठोऽन्यवेदपदपाठविलक्षणः कचिल्ल-
 क्षणधिरुद्धश्चेति विज्ञायते । यतः “योजा” “एवा” (३-१५)
 “नीचा” (प्रा ५-८) “एकैकया” (प्रा ५-१९) इत्यादयः कतिपये
 शब्दाः एतत्पदघटितानां इतरवेदपदपाठानां वैलक्षणेन पदपा-
 ठेष्वपि दीर्घान्ता एव दृश्यन्ते इति—तत्रोच्यते—तैत्तिरीयसंहि-
 तायां हि (१-८-५) “सुसंहं त्वा चयं मघयन्मन्दिपीमहि । प्र
 नूनं पूर्णचन्धुरस्तुतो यासि वशाः अनु । योजा न्विन्द्र ते हरी”
 इति पठिता ऋक् ऋग्वेदे प्रथमाष्टकस्य पष्ठेऽध्याये तृतीये
 वगे पठ्यते । परन्तु तैत्तिरीयसंहितायां “मन्दिपीमहि” इति
 पाठः । ऋक्संहितायां तु “चन्दिपीमहि” इति भेदस्त्वसम्प्र-
 तिपन्नः । तद्वत् “योज” इतिहस्यान्तः पाठः ऋक्संहितायां
 दीर्घान्तस्तु तैत्तिरीयसंहितायां पाठ इति पदपाठभिदा भवि-
 स्यतीति का नामानुपपत्तिः । एवं “एवा पित्रे” इत्यादौ “एव”
 इति ह्रस्वान्तं पदं ऋक्संहितादौ पठ्यते । अनुशिष्यते च ऋ-
 कप्रातिशाप्यकारैः शुक्लयजुःप्रातिशाप्यकारैश्च तथा तैत्तिरीय-
 संहितायां तु “एवा” इति दीर्घान्तमेव पठ्यते इतीदमपि
 काचित्कसंहितापाठभेदचतुर्ज्यत एव । ऋग्भाष्यकारा हि “एव”
 इत्यस्य एवमित्यर्थपरत्वं भाषन्ते । अवधारणार्थकस्य एव इ-
 त्यस्य एवमित्यर्थकत्वं तु नातीव स्वरसम् । तैत्तिरीयभाष्यका-
 रास्तु “एवं” इत्यत्र सुलोपापवादद्वादेशेन “एवा” इति
 माधयन्ति । तस्मादिदमेव स्वरसं मन्यामहे । एवम्—प्र यो
 जने विद्वाः अस्य यन्तुं विधानि देवो जनिमा विवक्ति । ब्रह्म

प्राप्त्यण उज्जभार मध्याग्रीचादुच्चा स्वधयाऽभिप्रतस्थौ । (सं २-३-१५) इत्यत्रापि “नीचा नीचप्रदेशात् पञ्चम्येकवचनस्य सुपां सुलुगित्याजादेशः । सांहितिको दकारोपजनश्छान्दसः । उक्तं च प्रातिशाख्ये—नीचा पूर्वोदकार उच्चापर इति । उच्चा उच्चा-त्प्रदेशात् । पूर्ववदाजादेशः” इति भाष्यकारैर्भाषणात् नीचा दीर्घपाठमेव साधीयांसं मन्यामहे ॥ एवं ‘प्रति तिष्ठन्त्येकैकयाऽ-स्तुतया समायन्ति’ (७-१-८) इत्यत्र “एकैकयेत्येकया एकया” इति पदं पठ्यते । तदिदं युक्तमेव अत्र हस्यान्तपाठप्रसक्तेरेवाभावात् ॥

यदपि—इदं तावदत्र क्लृप्तसूत्रशैलीमूलमेव । यत्प्रग्रहा-ध्याये (४-७) यहवोऽसांहितिकाः ओकारा अप्रग्रहास्संवृत्ताः ओ (१-४-३३) तो, उतो (१-७-३) उपो, प्रो (१-७-१३) इत्येते श-ब्दाः सम्युद्धओकारान्ताश्च । अप्रग्रहाणामितिपरत्वं नास्तीति व्याख्यात्रोक्तेः पूर्वोक्तादशब्दा इतिपरा न भवन्तीत्यवधार्यते । अथापि त इमे शब्दा अप्रग्रहा अपि ओकारान्ताः पदपाठे इतिपरा एव प्रयुज्यन्ते इतरवेदेष्टव्यं कृष्णयजुर्वेदेऽपि—इति ॥ तत्रोच्यते—ओ इत्यस्य (१-४-३३) इत्येतदङ्कितं यदुदाहरणमुक्तं तत्र चतुर्थाध्यायपष्ठसूत्रेणैव प्रग्रहास्सिद्धः “प्रतिचक्ष्याभूदो ते” इत्यत्र ओकारस्य ते इति व्यञ्जनपरत्वात् । तो इत्यस्य (१-२-३) (६-१-८) इत्येतदङ्कितं स्थलद्वयं प्रदर्शितमुदाहरणम् । तत्र “तो” इतिपदं न समीक्ष्यते, “तो ते” इत्येकं पदमुपलभ्यते । “उतो” “उपो” “प्रो” इत्येतेषां (१-७-१३) इति स्थलं यत्प्र-दर्शितं तत्र “प्रो” इत्येतदेकमेवोपलभ्यते । तत्रापि प्रग्रहत्वं (४-६) सूत्रादेव सिद्धम् । सुनिपुणमन्वेपणेऽपि नैकोपि तादृश-शब्दो दृष्टिगोचरो भवति यत्र सूत्रद्वयोक्ताः प्रग्रहविधयो व्यभिचरितास्तुतः ॥

वस्तुतस्तु—“समहृदथपिपूर्वश्च” (४-७) इत्यस्मिन् सूत्रे
 “एवं पूर्वं इति किं, शतकृतबुद्धंशमिव” इति प्रत्युदाहृतं
 दृश्यते त्रिभाष्यरत्ने । तत्र पदपाठेऽपि शतकृतविति शत—कृतो
 इत्येव पठ्यते । ततश्च शतकृतविति सन्धिपाठादप्रग्रहत्वमेव तो
 इत्यस्येति सुव्यक्तम् । एवं वैदिकामरणेऽपि तस्मिन्नेव सूत्रे “एवं
 पूर्वं इति किं—शविष्ठ धृष्णचागहि” इति प्रत्युदाहृतम् । तत्र
 च पदपाठे । “धृष्णो । एति । गहि” इत्येव पठ्यते इतिपरत्वं
 विनैव । अतस्तैत्तिरीयपदपाठे न मात्रयाऽपि तैत्तिरीयप्रातिशा-
 ख्यविरोधः । वेदान्तरे तत्रेतिपरत्वेन पाठस्तु न तैत्तिरीयप्रा-
 तिशाख्ये दूषणमाधातुमलम् ॥ ऋक्संहितायां हि “गायन्ति
 न्या गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः । ब्रह्माणस्त्वा शतकृत उद्धंशमिव
 येमिरे” इत्यवादेशमकृत्वैव पठ्यते । तैत्तिरीयसंहितायां तु तत्रा-
 वादेशं कृत्वैवेति ॥

यदुक्तं—क्रमशब्द एतत्प्रातिशाख्ये त्रयोविंशाध्यायविंशसूत्रे च-
 तुर्विंशाध्यायपञ्चमसूत्रे च प्रयुक्तो दृश्यते । चतुर्विंशाध्याये पष्ठ-
 सूत्रे च स्पष्टं क्रमपाठशब्दो निर्दिष्टः । परंत्वेतानि सूत्रा-
 णि एतत्प्रातिशाख्यकारेणैव कृतानीत्येतत्तु सन्दिग्धम्—इति तत्र
 यथेतराणि सूत्राणि तथैवैतान्यपि क्रमशब्दघटितानि सूत्राणीति
 एतेषामेव प्रातिशाख्यकारप्रणीततायां सन्देहे न क्रमपि वि-
 शिष्य हेतुमुपलभामहे ॥

वस्तुतस्तु—एषु प्रातिशाख्यसूत्रेषु क्रमशब्दः न क्रमपाठ-
 परतया व्याख्यातः अपि तु—“विक्रमः क्रमः” इति विक्रमसह-
 चरितद्वित्वपरतयैव व्याख्यातः । शास्त्रोपसंहारसूत्रे च “पद-
 क्रम” इत्येतत् पदानां क्रमः पदक्रम इत्येव विवृतं “वर्णक्रम-
 विचक्षणः” इत्यव्यवहितवाक्यानुसारादित्यवधेयं सूत्रिभिः ॥

यदपि—त्रिभाष्यरत्ने विंशाध्यायद्वितीयसूत्रव्याख्याने क्र-
मपाठं त्यक्त्वा संहितापदजटापाठानेव व्याख्याता परामृशति ।
क्रमपाठापरामर्शोत्राश्चर्यावहः इति । तत्रेदमुच्यते—“सयका-
रवकारं त्वक्षरं यत्र स्वर्यते स्थिते पदेऽनुदात्तपूर्वेऽपूर्वे वा नित्य
इत्येव जानीयात्” इति हि तत् सूत्रम् । सयकारं वा सव-
कारं वा अक्षरं स्वरः स्थिते पदे पदकाले यत्र स्थले स्वर्यते अनु-
दात्तपूर्वं अपूर्वं वा पूर्वाभावे वा सति सः नित्य एवेति सर्वत्र
जानीयात् । सर्वत्रेति संहितापदजटास्वित्यर्थः इति तस्य त्रि-
भाष्यरत्नम् । अत्र हि क्रमपाठापरामर्शः संहितापदपाठयोर्-
दृष्टस्य नित्यस्वरितस्य क्रमेऽनुपलम्भात् । संहितापदपाठधर्मयोः
क्रमपाठेऽतिदेशेन संहितापदपाठयोर्दृष्टस्य नित्यस्वरितस्य क्रम-
पाठे श्रवणस्यावश्यप्राप्तत्वाच्च । यद्यपि पदपाठेऽदृष्टो नित्यस्व-
रितस्वरः संहितायां न पठ्यत इति संहितापदोपादानं विफ-
लम् । तथाऽपि सर्वत्र पदजटयोरित्यर्थः इत्युक्तौ संहिताया
नित्यस्वरसंज्ञाया न प्रतीयेत । न खलु संहितायां अतिदेश-
तः स्वरः प्राप्यते । क्रमस्य तु अनुलेखेऽप्यत्र व्यासशिक्षादौ
संहितापदपाठधर्मातिदेशबलादेव नित्यस्वरितप्राप्तिरव्याहतेति यु-
क्तः क्रमपाठापरामर्शोऽत्र ॥

यदपि—अष्टमाध्यायपौडशसूत्रं त्रिभाष्यरत्नकारस्तथाऽयं प्र-
णामं त्रिभाष्ये व्याचष्टे । यथा तत्र जटासमन्वयोपि स्यात् इति ।
तत्र—यतो जटाया अपि एतत्प्रातिशाख्याविषयत्वं प्रागेव सम-
र्थिनम् । संप्रति यत्र जटासाधारण्यकायां शिक्षायां “रेफोर्ध्वो लु-
प्यते रेफस्तन्पूर्वो दीर्घमाप्नुयात्” ॥ इति स्मरणात् “रुक्मो अन्त-
रन्ता रुक्मो रुक्मो अन्तः” इत्येव जटारूपं सार्धाय इत्यवगम्यते ।
ततश्चास्मिन् प्रातिशाख्ये तादृजजटारूपोपपादकविध्यन्तरादर्शनात्

“अनवर्ण” इति सूत्रे तुशब्दस्य प्रयोजनान्तरादर्शनाच्च तुशब्द-
 द्वारम्भादवर्णपूर्वोपि ह्यारम्भादीनां विसर्गो लुप्यते । पूर्वस्य-
 रश्च दार्ढ्यमापद्यते यथा—“रुक्मो अन्तरन्ता रुक्मो रुक्मो अन्तः”
 इति त्रिभाष्यरत्नकारकृतं व्याख्यानं सप्रमाणमेव । अन्यथोपद-
 शितव्यासशिक्षावचनबहुलशिष्टसम्प्रदायाभ्यां सिद्धस्य जटा-
 रूपस्यासिद्धेः । अत एव वैदिकाभरणेऽन्यथाप्रदर्शितमुपदर्शि-
 तस्थलीयं जटारूपं प्रत्युक्तम् । यदपि—वैदिकाभरणे “मूलशा-
 खे त्ववर्णपूर्वस्यापि कस्यचित् रोरि इति लोपस्मर्यते । स खलु
 ‘सुवो रोहाय’ इत्याद्यस्मत्समाम्नायविरुद्धत्वान्निवर्त्यः । स चात्र
 तुशब्देन निवर्त्यते । तेन ‘सुवो रोक्ष्यामि’ इत्यादिरूपसिद्धिः”
 इति तुशब्दप्रयोजनमुक्तं तत्र “अनवर्णपूर्वः” इत्यस्मिन् शाखे
 विशेषतः रेफलोपारम्भबलादेधात्र मूलशास्त्रप्राप्तिनिवर्तनसम्भवेन
 • तुशब्दवैयर्थ्यात् । तस्मात् तुशब्दस्य त्रिभाष्यरत्नकृतोक्तं प्रयो-
 जनमेव युक्तम् ॥

यदपि—पञ्चमाध्यायत्रयस्त्रिंशत्सूत्रमनुसृत्य यद्व्याख्याताऽयं
 जटापाठे क्लिष्टोच्चारणं तकारागमं विधत्ते । तत्र साधु. यतस्सू-
 त्रकारः जटामनभिचिन्त्यैव तत् सूत्रं कृतवानिति गम्यते । इति—
 तत्र “टनकारपूर्वश्च तकारः” इत्यस्मिन् सूत्रे चकारेण पूर्वसूत्रात्
 संपकारपरः इत्यन्यादेशात् तत्र च पकारपर इत्यंशस्य “अ-
 नूयाजौ पदथ्पडनूयाजावन्ूयाजौ पद” इत्यादिजटातोऽन्यत्रोदाह-
 रणालाभेन जटापरतयैव तदंशस्य व्याख्येयत्वात् । “ऊपूर्वः
 कसपोर्ध्वश्चेत् टनपूर्वश्च तो भवेत्” इति व्यासशिक्षावचनमप्य-
 ध्रैवानुकूलम् । शास्त्रविहिते तु तत्र तकारे क्लिष्टोच्चारणत्वं
 नैव दोषः । पाश्चात्यमुखे हि सकलैव दैवी भाषा क्लिष्टोच्चारणा ।
 किं वदुना—अत्रैवं प्रातिशाख्यसूत्राणां जटापरतामधिकृतिपक्षेवा-

सौ पाश्चात्यः "११-१६, १७ सूत्रव्याख्यानयोः यच्च जटापाठात्प्र-
त्युदाहरणानि सङ्गृहीतानि तन्नचाय्यम् । तथा च एतत्प्रातिशा-
ख्यस्य कर्ता कर्तारो वा जटां मनंसि निधायैव प्रातिशाख्य-
मेतच्चकुरिति सुवचम्" इति वदन् हन्त पूर्वोत्तरस्वोक्तिविरो-
धमपि न पर्यालोचयते ॥

यदपि—(२३-२४, २४-५) सूत्रयोः निर्दिष्टः विक्रमशब्दः
क्रमविकृत्यर्थमभिधानो जटामभिधत्ते इत्यपि सुवचम् । इति—
तन्न "स्वरितयोर्मध्ये यत्र नीचं स्यादुदात्तयोर्वाऽन्यतरतो वो-
दात्तस्वरितयोस्स विक्रमः" इति (१९-१) सूत्रेण शाखेऽस्मिन्
विक्रमशब्दस्य परिभाषितस्य जटापरत्वासम्भवात् ॥

यदपि—"पृक्तस्वरात्परः" इति सूत्र (१३-१६) व्याख्यायां
स्वकृतापार्थपरिपोषाय "नलं प्लवम्" इति शाखान्तरगतत्वेन प्र-
त्युदाहरणं न्यस्यति—इत्याह तत्रत्यस्य व्याख्यातृकृतार्थस्यापा-
र्थतामनिरूपयन्नैव स्वैरम् । तदपि तस्यैव कृतमतेरुचितम् ॥

यदपि—"अकारस्तु संहितायामपि" इति सूत्रव्याख्यायां
व्याख्याताऽयं तैत्तिरीयसंहितागतमपि 'ब्रह्मान्' इति पदं शाखा-
न्तरगतत्वेन प्रत्युदाहरतीति—दोषमुद्गावयामास तदपि "अबद्धं
पठित्वा कुचोद्यं करोति" इत्यस्य न्यायस्य प्रथमं निदर्शनम् ।
तत्सूत्रव्याख्याने हि त्रिभाष्यरत्ने "यद्भाम्" इत्येतदेवोदाहरणं
शाखान्तरगतत्वेन समुपात्तम् । तच्च आरण्यकस्य पञ्चमप्रपाठ-
कप्रथमानुवाक एव समाज्ञायते न तैत्तिरीयसंहितायामिति ॥
एतेनैव—तैत्तिरीयप्रातिशाख्यकर्ता शाखान्तरमपि लक्ष्मीचकारेति
न वयं मन्यामहे—इति वचनमप्यप्राक्षवचनमेवेति व्यक्तीकृ-
तम् ॥

यदपि—सन्ति च कानिचित्पदानि यानि तैत्तिरीयसंहितायामपरिदृश्यमानान्यपि व्याख्यात्रा संहिताघटकत्वेनैवोदाहृतानि । एतानि च मद्रशंगतेषु हस्तलिखितेषु पुस्तकेष्वेव कदाचिद्दृष्टान्यपि मयाऽद्य विस्मृतस्थलान्यभवन् । पुनरप्यल्पफलं तादृशपदानां विस्तृतसंहितायामन्वेषणं मया न कृतम् । एतान्येव हि तानि पदानि—‘अच्छावाकः’ (१४-५) “उच्चा रत्नं अयजन्त” (२-४९) “तस्माद्वरूपम्” (२०-३) “दाश्यान्हि” (२१-१६) “नश्चिदति” (१४-१०) एतानि च प्रायेणोपक्षिप्तान्यपि सत्यान्येवेति मत्वा व्याख्यात्रोदाहृतानीति दृश्यते—इत्युक्तं तदपि नूनं बहुलतमलेखकप्रमादकलुपितत्रिभाष्यरत्नकोशावष्टम्भेन विप्रलब्धस्यैव चचनं मन्यामहे । न खलु तानि तानि पदानि तत्तत्स्थाने तेन निर्दिष्टानि एतद्देशांथकोशेषु कचिदप्युपलभ्यन्ते आस्नायन्ते वा ॥

एतेन—अन्यच्च “कविशस्तः” (१६-२) इत्येतादृशोदाहरणान्वेषणाय प्रवृत्तोऽहं भ्रमाद्दृष्ट्वा “कविशस्ताः” इत्युदाहरणमुपलब्धवान् । सन्ति चान्यान्यन्विष्याप्यनुलब्धान्युदाहरणानि यथा—“अद्य यस्तु यसतीतीन्द्रमेव” (१०-१०) “अन्धेनं माता” (२०-१) अन्त्यमेतदुदाहरणं शङ्ख (६-१७-२) आश्व (३-३) ऐत-
 ब्रा (२-६) एषु दृश्यते इति वेधनामा विद्वान् वदति—“अहो-
 रात्रे पार्थ्वे” (८-७) इत्युदाहरणं तैत्तिरीयारण्यके (३-१३-२) दृश्यते । “उत अथसा पृथिवीं मित्रस्य” (६-१२) इत्युदाहरणं “उपाँत्यस्फन्दाय” (१०-९) “चतुर्होता” (२-२५) तै. ब्रा. (२-२-३) “प्रह्लादनं पचति” (१०-७) तै. सं. (१-१-९) “यदल-
 न्दसाम्” (१४-१०) “या प्राची दिक्” (४-३३) “घर्षाभ्यः” (१४-१६) “घर्षेभिः” (१४-१६) “शितिकण्ठाय स्वाहा” (१३-११) “स नः पर्यत्” (२३-१७) ऋग्वेद (१-१९-१) । एतानि च

वाक्यानि केपुचिदेव त्रिभाष्यरत्नकोशेषु दृश्यन्ते । संहिताया-
मन्विष्टान्यपि मया न लब्धानि - इत्यपि पाश्चात्यवचनं दत्तोत्तरं--
तत्तद्वाक्यानामस्मद्देशीयत्रिभाष्यरत्नकोशेषु काप्यनुपलम्भात् ॥

यदपि— कचिच्च संहिताबहिर्भूतान्यपि लक्ष्याणि तैत्तिरीयप्रा-
तिशाख्यकर्त्रभिप्रेतानीति ज्ञायते तदनुरोधाय त्रिभाष्यरत्नका-
रोपि तैत्तिरीयब्राह्मणारण्यकाभ्यामुदाहरणानि कचित्सङ्गृह्णाति
यथा—“पेव तपति” इति तैत्तिरीयारण्यकपञ्चमप्रपाठफान्तिम-
पदानि (१८-१) सूत्रव्याख्यायामुदाहृतानि तथा (२४-६) सूत्र-
व्याख्यायां “द्वादशाग्निष्टोमस्य स्तोत्राणि । अ नक्षत्राय देवाय ।
स ई ममाद महि कर्म कर्तवे” तै. ब्रा. (२-५-८) इति “सिंहे
व्याघ्र उत या पृदाकौ” तै. ब्रा. (२-७-७) इति च तैत्तिरीयब्राह्म-
णादुदाहरणानि सङ्गृहीतानि । एवमेव (२१-६) सूत्रव्याख्यायां
“ऋतस्य धूर्पदम्” तै. ब्रा. (१-२-१) इति तैत्तिरीयब्राह्मणादुदाहृतं
(१९-१) सूत्रव्याख्यायामपि “योऽपां पुष्पं वेद” इत्युदाहरणं दत्तं
इति—तत्रेदमुच्यते । कृष्णयजुर्वेदसामान्यस्यैव हीदं प्रातिशाख्य-
मित्युच्यते । ततश्च तैत्तिरीयसंहिता ब्राह्मणमारण्यकं चेतीदम-
खिलमेवास्य प्रातिशाख्यस्य विषय इति युक्तमेव तत्तदुदाहरणम् ॥

यत्पुनरुच्यते -अपिच (१८-१) सूत्रव्याख्यायां व्याख्यात्रा
संहितायामन्तिमपदत्वेनाभिमतं बन्धुरितिपदमुदाहृतमपि तत्पद-
माधुनिकसंहितायां न दृश्यते—इति—तत्तु युक्तरूपमेव अनधि-
गतसम्प्रदायरहस्यानां व्याहृतादृशकोशनिरीक्षणमात्रेणैव स्वैरं
व्याहरताम् । संदृश्यते हि तैत्तिरीयसंहितायाः प्राचीनेषु को-
शेषु भूयस्सु बन्धुपदमन्ते । शिष्टाः खलु कतिपये पारायणा-
देरन्यत्र अन्तिमपदप्रकाशनमहितफलं मन्वानाः श्रद्धातिरेकेण
बन्धुपदं नाध्यापयन्ति न लिखन्ति च ॥

यदपि—“सन्ति यद्यपि प्रातिशाख्यकारविस्मृतानि कानि
 चिद्व्याणि तैत्तिरीयसंहितायां तथाऽपीदमत्र महदाश्चर्यं हि खलु
 यदगाधोपरिमितप्रक्रियाकार्याणि विध्यन्तर्गतानि कुर्वता प्राति-
 शाख्यकारेणानेन विस्मृतानि लक्ष्याण्येवमल्पीयांसि संवृत्तानि ।
 विस्मृतानि च लक्ष्याणि तत्र तत्रैव टिप्पणीषु मया सूचिता-
 न्यपि तानि सर्वाण्यप्यत्र सङ्ग्रहा प्रकाश्यन्ते” इत्युपक्रम्य वि-
 स्मृतलक्ष्यतया स्वाभिमतान्युदाजिहार कानिचित् तदिदं महा-
 साहसिकत्वमेवास्य यन्महर्विष्यपि सूत्रकारेषु विस्मरणाद्युत्प्रेक्षणम् ।
 तथा च तदुक्तित एव व्यक्तमिदं दर्शयामः । अयं हि तेन
 प्रदर्शितः प्रथमो दोषः—रक्षा (१-४-२४) इति पदं तृती-
 याध्यायाष्टमसूत्रविधेः बहिर्भूतं न कृतं—इति । ‘अवा सच-
 स्या तुदा मृडा घर्घा शिक्षा रक्षाऽद्या भवा भजा यत्रा चरा
 ‘पिया ना धामा धारया धर्घा घा वर्धया वोधाऽत्रा तत्रा मु-
 ज्ञाऽश्वस्या पृणस्वा हिष्टा त्यन्तरा जनिष्टा युक्त्वाऽच्छा” इति
 हि तृतीयाध्यायाष्टमसूत्रम् । अस्य च अवा इत्यादिषु अनवग्र-
 हेषु अन्त्यस्वरो विभागे व्यञ्जनपरो ह्रस्वमापद्यते इत्यर्थः । “अ
 दग्धेभिस्सवितः पायुभिर्दु शिवेभिरद्य परिपाहि नो गयम् ।
 हिरण्यजिह्वस्तुविताय नव्यसे रक्षा माकिर्नो अघशंस ईशत” इ-
 त्यस्मिन् तैत्तिरीयसंहिताप्रथमकाण्डचतुर्थप्रपाठकचतुर्विंशेऽनुवाके
 रक्षा इत्येतत् पदविभागकालं ह्रस्वतामापद्यत एव कुतस्तद्वहि-
 ष्करणाकरणमाक्षिप्यते । रक्ष माकिः इति हि तत्र पदपाठः ।
 “रक्षाः” इति दीर्घविसर्गान्ततया तत्र पदं पठित्वा तत्सूत्रा-
 धेपस्तु अयञ् पठित्वा कुचोद्यं करोतीत्यस्य प्रथमं निदर्शनम् ॥

यदपि—देवी (६-१-७) इति पदं प्रथमाध्यायैकपट्टिसूत्ररी-
 त्या प्रप्रहीरुतमपि यस्तुतोऽप्रप्रहमेव इति सूत्रकाराधिक्षेपणं

ज्ञातं तथैव भवतीति वाक्यार्थः पर्यवसितः । एतदभिप्रायेणैव त्रिभाष्यरत्न एव एतत्सूत्रोपसंहारे “प्रभृतीति किम् । त्वमग्ने रुद्रः” इति याज्यायां “दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निः” इति वाक्यं “अग्नयेऽग्नवते” इत्यत्र “इतः प्रथमं जज्ञे अग्निः” इति पुनरुक्तं सत्तथैव भवेदिति चेत्—मैवं—त्रिपदमात्रादेव तंथा भाव इति नात्र वक्तुं युक्तं किन्तु जज्ञे संस्थानं इति जज्ञेप्र-
हणसामर्थ्यात् । अन्यथा तस्य वैयर्थ्यात्—इत्यभिहितम् । तदेवं सति कथमत्र पाश्चात्याक्षेपस्यावतारः ॥

यदपि—एवमेव अलोपाधिकारे (११-१२) अध्याययोः “येऽन्तरिक्षे” (४-५-११) “ये अपरीषु” (१-४-३३) इति चोदाहरणे न सङ्गृहीते इति सूत्रकाराधिकक्षेपणं तदपि वैदिकाभरणाल्पव्याख्याऽनवलोकननियन्धनम् । वैदिकाभरणे हि स्पष्टमतिप्रसङ्गाप्र-
सङ्गरूपा दोषास्समुन्मीलिताः । किञ्चात्र- अलोपाधिकारे “येऽन्तरिक्षे” “ये अपरीषु” इति चोदाहरणे न सङ्गृहीते” इत्युक्तिरसमञ्जसैव । “येऽन्तरिक्षे ये दिवि येपाम्” (४-५-११) इत्यत्रा-
कारलोपस्याप्तायमानत्वेन अलोपाधिकारे सङ्गृहानावश्यकत्वात् । प्रत्युत ‘यथोक्तं पुनरुक्तं त्रिपदप्रभृति’ (१-६३) इति रीत्या स-
ङ्गृहीतत्वेन अतिप्रसङ्गस्यैव तदंशे यक्तव्यत्वात् । यस्तुतस्तु—
“यथोक्तं” इति सूत्रे ‘कार्यभाजः पदस्य तृतीयत्वं विशेष्यम्’ इति व्याख्याय कार्यभाजः पदस्य तृतीयत्वमिति किम् । “येऽन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः” इत्युच्ये । “येऽन्तरिक्षे ये दिवि येपाम्” इति रुद्रोत्तमानुवाके” इति प्रत्युदाहरणं दर्शयता त्रि-
भाष्यरत्नरत्नैव तत्सङ्गृहप्रयुक्तोऽतिप्रसङ्गो निवारितः । न चेदं त्रि-
भाष्यरत्नरत्नो व्याख्यानं क्लृप्तमिति भ्रमितव्यम् । क्लेशलेशस्याप्य-
दर्शनात् । सर्वेषां सर्वमिदं पाश्चात्यस्य तांस्तान् ग्रन्थानना-

सादेयतः आसादितेष्वपि ग्रन्थेषु साम्प्रदायिकानर्थाननधिगच्छ-
तः व्यामोहैकविलसितमित्यवधेयम् ॥

एतेन—यत्तु—एतदुक्त्यद्वयसङ्गहाय (१-६३, ११-३) सूत्रयोः
व्याख्याने त्रिभाष्यरत्नकारेण कृतं तत्र केवलं क्लृप्तं अपि तु
सूत्रकारानभिप्रेतमिति च भाति—इत्यापि दत्तोत्तरं वेदितव्यम् ।
“यथोक्तं” (१-६३) सूत्रे “येऽन्तरिक्षे” इत्येतत्सङ्गहायवार्णार्थस्य
“त्रयाणां पदानां समाहारस्त्रिपदम् । कार्यभाजः पदस्य तृती-
यत्वं विज्ञेयम्” इत्यस्मिन् त्रिभाष्यरत्नकृतकृतव्याख्याने क्लेशलेश-
स्याप्यनवगमात् सूत्रकारानभिप्रेततायामपि हेत्वभावात् । ‘धाता
राति (११-३) इत्यादिसूत्रव्याख्याने तु ‘सा या’ इति पदद्वयं
मन्दधियां प्रतिपत्त्यर्थमिति केचित् । अन्ये त्वन्यथाऽपि कथ-
यन्ति—अस्यानुवाकस्य शेषभूता या ऋगन्यत्र स्थिता साऽपि
स्वीकर्तव्येति । यथा “ये अपरीषु पश्यान्” इत्यस्मिन्स्तु अ-
तिप्रसङ्गदोषः वैदिकामरणकृतैवोक्त इति न तत्र पाश्चात्यसंर-
म्भावकाशः । तथा च वैदिकामरणे—“धातारातिरुपवाजपेय-
जुष्टयेनायोप्यध्रुवक्षितिरियमेवेयुरग्निर्मूर्धा” इत्यादिसूत्रं पठित्वा
“इयमेव सा या । चतुष्टोमो अभवत् । ईयुष्टे ये । ये अपरीषु । अन्ये
त्विद्यमेव साये ति पठन्तः तत्सहचारित्वादुत्तरानुवाकेऽपि कार्यं
भवतीत्याहुः । तत्र स्फुटोऽतिप्रसङ्गः । न च सहोपयोगित्वल-
क्षणं सहचारित्वनियामकम् । तत्रापि ‘सम्पश्यामि’ इति प-
ञ्चमन्तानुवाकेष्वतिप्रसङ्गात्” । इति । वस्तुतस्तु—नास्य वैदि-
कामरणोक्तस्य दोषस्य प्रसक्तिस्त्रिभाष्यरत्नपक्षे—तथा हि—
“इयमेव सा या । इति सा येत्यर्थाशस्य सूत्रे ग्रहणात् व्यर्थं
सत्पदं किञ्चिदर्थं ज्ञापयतीति न्यायात् एतदनुवाकशेषभूतस्य ऋ-
गन्तरस्यान्यत्र स्थितस्यापि ग्रहणं ज्ञाप्यते इति हि अस्या-

नुवाकस्य” इत्यादित्रिभाष्यरत्नकारवाक्याक्षरार्थः । ‘इयमेव’ इत्येतदनुवाकशेषभूतं क्रगन्तरं च ‘इयुष्टे ये’ इत्येतदेव नान्यत् । “सम्पश्यामि” इत्यादयोऽनुवाकास्तु “उप प्रयन्तः” इत्यनुवाकोत्तरभूता अपि न तावत् ‘इयमेव सा या’ इत्यनुवाकशेषभूताः । तथा च सति कथं वैदिकाभरणप्रदर्शितातिप्रसक्तिः प्रसरेत् । “अन्ये तु ‘इयमेव सा या’ इति पठन्तः तत्सहचारित्वादुत्तरानुवाकेऽपि कार्यं भवतीत्याहुः” इत्येवं वैदिकाभरणकृतः त्रिभाष्यरत्नकारमतानुवादस्तु अनुक्तोपालम्भ एव । किञ्च—सहोपयोगोऽपि एकविधिपरिगृहीतैकक्रियाशेषत्वरूपः ‘इयमेव सा या’ इत्यनुवाकेन ‘इयुष्टे ये’ इत्यस्य ‘इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छत्’ इति षोडशव्युष्टीरूपदधाति—इति कल्पविनियोगदर्शनात् । न खलु तादृशः ‘उपप्रयन्तो अध्वरम्’ इत्यनुवाकेन सह तदुत्तरानुवाकानां ‘सम्पश्यामि’ इत्यादीनां हृदयते । अपि च—‘इयुष्टे ये’ इत्यनुवाकः तैत्तिरीयसंहितायां (१-४ प्रपाठके) नैवास्मायते किन्तु आरण्यके ‘चित्तिस्त्रुक्’ इति प्रपाठक एवेति भट्टभास्करमाधवाचार्ययोर्मतम्॥

यदपि—“सो अग्निः” “ऊर्ध्वो अस्तात्” (५-२-३) इति लक्ष्यद्वयमप्यलोपाधिकारेऽनुक्तमप्युत्थान्तर्गतत्वेन चरितार्थमभवदिति भाति—इति तदिदं सत्यमेव । तथाचेदं प्रातिशाख्यकारस्य गुण एव न दोष इति कथमिदं दोषोद्घाटनप्रस्तावे समुल्लिख्यते ॥

यदपि—एवंमवानुस्वारागमाधिकारे (१६-२६) ‘स्वादुप२सदः’ (४-६-६) “खोप२सादम्” (२-५-९) इत्युदाहरणद्वयं न सङ्गृहीतमिति भाति—इति तदपि त्रिभाष्यरत्नादिव्याख्यानानवधारणनियन्धनमेव । त्रिभाष्यरत्ने हि—“शिंशुमार” (१६-२६) इत्यादि-सूत्रे एव “संशित” इत्यस्य “घ्राणसंशितो ह्येषः” इत्युदाहर-

णमुपन्यस्य “संसद” इति पाठे “स्वादुपसदः” इत्यभिहितम् । ततश्च “संसदितस्संसदस्ससादस्ससिता” इत्येवं सूत्रपाठावधारणात् “स्वादुपसदः” (४-६-६) “स्त्रीपसादम्” (२-५-१) इत्युभयोरपि सङ्ग्रहः । स्पष्टं चेदं कुम्भघोणनगरमुद्रिते त्रिभाष्यरत्नग्रन्थे इति न कथञ्चिदपि सूत्रकारो भगवानुपिराक्षेपमर्हति ॥ कोशेषु च केषुचित् मूले संसदसंसादपदद्वयस्यादर्शनं व्याख्याने च तदुदाहरणादर्शनं लेखकप्रमादादेवेति चिदांकुर्वन्तु विद्वांसः ॥

एतेन—यद्यपि तैत्तिरीयसंहितातैत्तिरीयप्रातिशाख्ययोः लक्ष्यलक्षणतासाधुत्वविचारे संहितापदसूचनो पदपाठपुस्तकं चात्यावश्यकं स्तः ते च न मयाऽधिगते । तथाऽपि मत्कृतः पूर्वपक्षः सिद्धान्तश्च कचिन्निर्मूलीभविष्यन्नपि न सामान्यतो निर्मूल इति ज्ञेयं इत्यप्युन्मोलितमिति ध्येयम् ॥

यदप्युच्यते—अयं तावन्मम सिद्धान्तः यदिदं प्रातिशाख्यं अधुनोपलभ्यमानायास्तैत्तिरीयसंहिताया एव लक्षणमिति । इयमेकैव शाखा कृष्णयजुर्वेदीयास्वनेकासु शाखास्विदानीमप्युपलभ्यते । काठकशाखा तु प्रायेण तैत्तिरीयसंहिताया न भिन्ना । तथा च तैत्तिरीयप्रातिशाख्यमित्येतत्प्रातिशाख्यस्य नामधेयं न्याय्यं सार्थं चेति ज्ञेयम् इति—तत्र वदामः—तैत्तिरीयसंहितापदं हि ‘इषेत्वा’ इत्यादिसप्तकाण्डेष्वेव व्यवह्रियते वैदिकैः नान्यत्र । “ब्रह्मसन्धत्तम्” इत्यादिषु काण्डेषु तु ब्राह्मणपदमेव व्यवह्रियते न संहितापदं न तत्रां तैत्तिरीयसंहितापदम् । किञ्च—तेषु ब्राह्मणकाण्डेषु आदितः पारश्वद्रशाखापदं व्यवह्रियते । अन्ये तु काठकशाखापदं स्मर्यते हि—

माध्यन्दिनः कठः कण्वः पारक्षुद्रस्तथा परे ।

ये यजुर्ब्राह्मणाचार्याश्शतमेकोत्तरं द्विजाः ॥ इति ॥

इदं च प्रातिशाख्यशास्त्रं सप्तकाण्डीरूपसंहिताया इव त्रिका-
ण्डीरूपब्राह्मणभागस्यापि लक्षणमिति च सर्वसम्मतम् । तदेवं
सत्यस्य प्रातिशाख्यस्य तैत्तिरीयप्रातिशाख्यमिति कथं नामोप-
पद्यताम् ॥ एवं—“ इयमेकैव शाखा कृष्णयजुर्वेदीयास्वनेकासु शा-
खास्विदानीमप्युपलभ्यते ” इति वदता पाश्चात्येनैव तैत्तिरीय-
संहिताऽतिरिक्तानां कृष्णयजुर्वेदीयानां शाखानामनेकासां सद्भा-
वोऽभ्युपगतः । तथा च तासामपीदमेव लक्षणं भवेत् अन्यस्य
तल्लक्षणशास्त्रस्यानुपलम्भात् इति कृष्णयजुःप्रातिशाख्यमित्येवास्य
नाम समुचितं मन्यामहे । यथा कात्यायनकृतस्य प्रातिशाख्यस्य
शुक्लयजुःप्रातिशाख्यमित्याख्या । “ काठकशाखा नु प्रायेण न तैत्ति-
रीयसंहिताया मित्रा ” इत्यपि पाश्चात्यवचनं साहसैकमूलम् ।
अनादिसिद्धवैदिकव्यवहारतो हि शाखाविशेषनिर्णयः कार्यः न
स्येच्छया । अन्यथा बह्व्यादिशाखाया अपि तैत्तिरीयसंहितात्वा-
पत्तेः । तथा च घैदिकाः ‘ इये त्वा ’ इत्यादिसप्तकाण्डशामेव तैत्ति-
रीयसंहितापदं व्यवहरन्तीति कथं कठशाखायाः तैत्तिरीयसं-
हितातो वदताममदः । यदि तु कृष्णयजुरवान्तरभेदस्यैव कृष्ण-
यजुर्वेदमामान्यस्याप्यस्ति तैत्तिरीयाख्या यथा द्राविडादिसमाख्या
विशेषे सामान्ये च इत्युच्यते तदा कृष्णयजुस्सामान्याभिप्रा-
येण तैत्तिरीयप्रातिशाख्यसमाख्याऽपि नास्माभिरपोद्यत इत्यवधे-
यम् । यदा तु तैत्तिरीयैः कृतं प्रातिशाख्यमिति तात्पर्येण तैत्ति-
रीयप्रातिशाख्यसमाख्योच्यते तदा तु न काचिदनुपपत्तिः ॥

यत्तु—न च तैत्तिरीयैः कृतं प्रातिशाख्यं तैत्तिरीयप्रातिशाख्य-
मिति मन्तव्यम् । यतोऽत्र ग्रन्थे कृष्णयजुर्वेदीयशास्त्रान्तरावल-

म्यमिस्साकमनेकाचार्यान् नामतोऽनूद्य पञ्चमाध्यायैकचत्वारिंश-
त्सूत्रे मीमांसकानां मतं त्रयोविंशाध्यायचतुर्दशसूत्रे आह्वारका-
नां मतं त्रयोविंशाध्यायपञ्चदशसूत्रे तैत्तिरीयाणां मतं चानूदितं
दृश्यते । न हि ग्रन्थकारास्स्वग्रन्थेषु परमतं परनाम्नैव स्वमतं
स्वनाम्ना निर्दिशन्ति । ग्रन्थकृतामस्मच्छब्देन स्वमतनिर्देशस्सा-
र्थत्रिकः इति—तत्तु आस्माकीनग्रन्थकारसम्प्रदायानधिगमनिबन्धनं
“मनुरब्रवीत्” “तदुपर्यपि यादरायणः” इत्यादौ ग्रन्थकृतां
स्वनाम्नैव व्यवहारदर्शनात् । प्रत्युत अस्मच्छब्देन ग्रन्थकृतां
व्यवहारस्यैव कचिदपि प्राक्तननिबन्धेष्वदर्शनात् ॥

यदपि—अपि च यदत्र ग्रन्थे तैत्तिरीयमतत्वेनोपन्यस्तं न
तदेतत्प्रातिशाख्यस्य मतं—इति—तदपि, साहसमेव । प्रातिशा-
ख्येऽत्र तैत्तिरीयमतत्वेनोपन्यस्तस्य स्वमतताया एव वैदिकाभर-
णकृता स्पष्टोक्तत्वात् । तथाच—“मन्द्रादयो द्वितीयान्ताश्च-
त्वारस्तैत्तिरीयकाः” (२३-१७) इति सूत्रव्याख्याने—“तेषु मन्द्रा-
दयो द्वितीयान्ताश्चत्वारस्स्वराः प्रतिलोमक्रमेण मन्द्रचतुर्थतृतीय-
द्वितीयास्तैत्तिरीयका भवन्ति । तित्तिरिणा प्रोक्तं तैत्तिरीयं अस्म-
च्छास्त्रा । तत्र भवास्तैत्तिरीयकाः ‘धन्वयोपधाद्भु’ इति बुध् ।
यथाक्रममस्मत्स्वाध्यायवर्तिनः अनुदात्तस्वरितप्रचयोदात्ता भव-
न्तीत्यर्थः ।” इति वैदिकाभरणम् ॥

यदपि च—इदं चात्र सुगमं—यदधुनोपलभ्यमाना तैत्ति-
रीयसंहिता तदीयप्रातिशाख्यलक्षणस्य च कचित् विरुद्धेति ।
तथा हि—नवमाध्यायद्वितीयसूत्रेऽधोपरस्य विसर्जनीयस्य श्रुत्य-
भावः विहितः । एवं पञ्चमाध्यायचतुर्विंशतिसूत्रे शचछपरस्य
नकारस्य श्रुत्यभावः विहितः । एवं पञ्चमाध्यायपञ्चविंशतिसू-
त्रे लपरनकारस्मापि श्रुत्यभावः विहितः । एवं पञ्चमाध्यायत-

यत्त्रिंशत्सूत्रे पदान्त्यटकारपदादिसकारयोः मध्ये नकारसकार-
योः मध्ये च ककारागमः विहितः । चतुर्दशाध्याये च द्वित्वा-
गमादीनि कार्याणि विहितानि । एतानि च सर्वाणि मुद्रिता-
यां लिखितायां वा संहितायां न दृश्यन्ते । अतः विधेः स-
म्प्रदायोऽन्य एवेति स्पष्टं ज्ञायते—इति—तत्रोच्यते—विद्वदेक-
समधिगम्याः किल केचन विशेषाः प्रातिशाख्यगताः । लेख-
कास्तु प्रायोऽविद्वांस एवेति कथं नाम तांस्तान् विशेषान् ते
लिखेयुः । न खलु लेखकालेखनमात्रेण सम्प्रदायस्यान्यथात्वम् ।
विद्वदध्यापकैः पठनपाठनयोस्तत्तद्विशेषस्यानुसन्धानादिभिरनुष-
र्त्यमानत्वात् । घर्णकमाध्येतृभिश्च स्पष्टमेते विशेषाः पाठेन परि-
पाल्यन्ते इति स्फुटं सम्प्रदायविदाम् ॥

यदपि—अपिचानुस्वारस्य प्रत्येकाक्षरत्वं संहितायामङ्गीकृ-
तमिति न स्पष्टं ज्ञायते । प्रातिशाख्ये त्वत्र अनुस्वारस्य प्रत्ये-
काक्षरत्वं वा उत स्वरविकाररूपता वेत्येतत्सन्दिग्धमेव संभृत्तं
यथा द्वितीयाध्यायत्रिंशत्सूत्रे इति—तत्रोच्यते । “अनुस्वारोत्तमा
अनुनासिकाः” (२-१०) इति सूत्रेण अनुस्वारस्य प्रत्येकाक्षरताया
एवाभ्युपगतत्वात् । स्पष्टं चेदं तत्रैव वैदिकामरणे—अनुस्वारश्च
उत्तमाश्च आनुनासिक्यगुणयुक्ता भवन्ति । अनुस्वारो व्यञ्जनं
वा स्वरो वेति परमतम् । तन्निरासार्थमिदमुच्यते । अनुस्वारोऽ-
प्युत्तमवद्वयजनमेवास्मच्छात्रायाम् । अर्धगकाररूपत्वात् । इति ॥

यदपि—किञ्च—अनुवाकेषु पञ्चाशत्पद्यपरपर्यायखण्डिका-
विभागः एतत्प्रातिशाख्यकाले नासीदेव । यतः सति तादृशख-
ण्डिकाशानं तृतीयाध्यायत्रयोदशसूत्रे “उद्मर्सी” इति पाठं प्राति-
शाख्यकर्ता न कुर्यात् इति—तत्रोच्यते—पञ्चाशत्पद्यपरपर्यायख-
ण्डिकाविभागो हि अध्यापकं रभ्ययनसौकर्याय परिकल्पितः । तथा

च ऋद्धमध्ये यत्र पञ्चाशत्पद्यनुरोधेन विच्छेदः क्रियते सोऽयं पौरुषेयः । आम्नायस्तु तत्र अविच्छिन्नसंहितारूपेणैव । तथा च “ते ते धामान्युश्मसी गमध्ये गावो यत्र भूरिशृङ्गा अयासः” इत्यर्धर्चस्य अविच्छिन्नसंहितयैवाम्नायात् पदकाले ह्रस्वत्वाय “उश्मसी” इति पठनं युज्यत एव सूत्रकृतः । न चेयता पाठसौकर्यार्थक-
लिप्तस्यासंहितपाठस्य प्रातिशाख्यसूत्रकारकाले सतोपि काचिद-
नुपपत्तिरुपलभ्यते । “यूपं ते ते धामानीति वैष्णवीभ्यां ऋग्भ्यां क-
ल्पयति” इति कल्पसूत्रकारैर्विनियोगानुरोधादपि ते ते धामानीति ऋग्विनियोगकाले “उश्मसी गमध्ये” इत्यविच्छेदेनैव पठ्यते याज्ञि-
कैः । “वैष्णव्यर्चा कल्पयति घेष्णवो वै देवतया” (सं. ६-३-४) इति च ब्राह्मणम् । प्रातिशाख्यकाले तादृशखण्डिकाविभाग आसीदेवेति न धयमधुना प्रतिजानीमहे । तथा विभागसद्भावे भवदुक्तं बाधकम-
सदित्येवास्माकमाशयः ॥

यदपि—अन्यच्च दशमाध्यायैकोनविंशसूत्रे अवाचादेशसम्य-
ग्धिवकारलोपो विहितः यकारलोपोपि साङ्कृत्यमतेनेतिदशमाध्यायै-
कविंशतिसूत्रेण दर्शितः तथाऽपि संहितायां तादृशवकारोऽलुप्त एव
दृश्यते—इति—तत्रोच्यते—ईदृशविधिविकल्पेषु हि कश्चिदेव विधिर-
भिमतः सूत्रकृतोऽस्य । विध्यन्तराणि तु परामितानीति व्याख्याका-
रैरेव स्पर्ष्टाकृतम् । तथा च “यकारस्तु साङ्कृत्यस्य” इत्यस्मिन् सूत्रे
एव—“सान्निध्यान्निपेधो लभ्यते । साङ्कृत्यस्य मते अवर्णपूर्वो य-
कारो न लुप्यते । यकारस्तु लुप्यत एवेत्यर्थः । वायविष्टये । अहाय-
नदत् । पूर्वोच्चार्यमतानिवर्तकस्तुशब्दः । सूत्रमिदमेवेष्टम् । न तु पूर्व-
द्वयं परद्वयं च” इति त्रिमाप्यरत्नम् । वैदिकामरणेऽप्येवं दृश्यते ।
महामाप्यकारोपि—“व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादल-
क्षणम्” इतीदृशसन्दिग्धस्थलेषु सम्प्रदायानुसारिव्याख्यानमेव श-

रणमाह । ततश्च “वकारस्तु साङ्कृत्यस्येति सूत्रानुसारिणी तैत्तिरी-
यसंहिता इदयत इति कथं प्रातिशाख्यतल्लक्ष्ययोर्विरोधस्समुद्भूत-
ताम् । वस्तुतस्तु—सर्वेऽप्येते विधयः सूत्रकाराभिमतता एव । तेष्वे-
कैकविधिकल्पं परिगृह्य एकैकशाखाम्नायः प्रवर्तते । तथा च यान्ये-
तान्यापस्तम्बसूत्रिभिरस्माभिरधीयमानानि संहिताद्वाह्यणारण्यका-
नि तानि “वकारस्तु साङ्कृत्यस्य” इत्यनुशासनमनुसृत्य पठ्यन्तेऽ-
स्माभिः । शाखान्तरं तु विध्यन्तरमनुसृत्येति न कोऽपि दोषः । अ-
तोऽपि च याज्ञुषनानाशाखासाधारणत्वं प्रातिशाख्यशास्त्रस्यास्य
फलति ॥

एतेन—अपि च स्वरितात्पूर्वं स्वरितस्य कम्पस्संहितायां स-
र्वत्र यथानिमित्तं इदयते । प्रातिशाख्ये तु स च कम्पः परमतविष-
यत्वेन एकोनविंशाध्याये तृतीयसूत्रेऽनूदितः—इत्यपि दत्तोत्तरं वे-
दितव्यम् ॥

यदपि च—अपि च पञ्चदशाध्यायाष्टमसूत्रेण विहितावानुना-
सिष्यप्लुतौ किं परमतेन ? उत प्रातिशाख्यकारमतेनेत्येतत्सन्दिग्धं-
इति—तत्रोभयप्राप्त्युच्यते—प्रातिशाख्यशास्त्रेऽत्र हि विधिविकल्पे-
षु तुशब्दघटितं शास्त्रं सूत्रकारानुमतमिति सम्प्रदायः । तथा च
(१५८) सूत्रे “तुशब्दः परमतं व्यावर्तयति । अपिशब्दस्समुच्चये ।
तेनेदं स्वमतमिति सिद्धम्” । इति वैदिकाभरणम् । इत्थं च “वका-
रस्तु साङ्कृत्यस्य” (१०-२१) इति सूत्रे साङ्कृत्यमतानुमतत्वेनोक्तोऽपि
वकारलोपनिषेधः तुशब्देन स्वाभिमतत्वेनापि द्योतितः । तदनुसा-
र्येवायं साम्प्रतिकसंहितापाठोऽस्माकमुपलभ्यते । एवं “वकारस्तु
संहितायामपि” (१५८) इति सूत्रविहितमानुनासिष्यमपि तुशब्द-
बलात्स्वमतत्वेनैव संसूचितम् । तदनुसार्यैव चास्माकमाज्ञायः

“सुल्लोकां ४” इत्यादौ दृश्यते इति नोक्तो विरोधः न वा सन्देहः ॥

यत्तु—अपि च स्वरितात्पूर्वं स्वरितस्य कम्पस्संहितायां सर्वत्र यथानिमित्तं दृश्यते । प्रातिशाख्ये तु स च कम्पः परमतविषयत्वेन एकोनविंशाध्याये तृतीयसूत्रेऽनूदितः इति । तत्रोच्यते—तत्र परमतोयत्वेनोक्तेर्न स्वानभिमतत्वे तात्पर्यं अपि त्वर्थान्तर एवेति हि वैदिकाभरणकृता एकोनविंशाध्यायान्तिमसूत्रे सावतरणं विवृतम् । तस्मात् त इमे सर्वेऽप्याक्षेपाः प्रातिशाख्यसम्प्रदायव्याख्यानानधिगममूलका एवेत्यवधारयन्तु निपुणाः ॥

यदपि—प्रथमाध्याये (४६-४७) सूत्रयोः निर्दिष्टं स्वरितस्वरूपं तस्मिन्नेवाध्याये (४४-४५) सूत्रयोर्येणितं च स्वरितस्वरूपमन्यदेवेत्यतः कीदृशं स्वरितलक्षणमेतत्प्रातिशाख्यकाराभिप्रेतमित्येतत्तु सन्दिग्धमेवेति—तदपि त्रिभाष्यरत्नाद्यनवबोधनियन्धनम् । प्रथमाध्यायस्य पट्टत्वारिंशे सूत्रे “तस्यादिरित्यारभ्यामिहितेऽस्मिन् धिकल्पजाते सूत्रमेतदेवेष्टम् । ‘प्रच्छिष्टप्रातिहतयोर्मृदुतरः’ (१०-११) ‘तैरोव्यञ्जनपादवृत्तयोः’ (२०-१२) इति लक्षणानुकूल्यात् । न तूपरितनमपि सूत्रमिष्टं एतल्लक्षणप्रातिकूल्यात्” इति त्रिभाष्यरत्नसन्दर्भे पट्टत्वारिंशसूत्रोक्तस्यैव स्वरितस्वरूपस्य एतत्प्रातिशाख्यकाराभिमततायास्स्थापितत्वात् ॥

एतेन—प्रायेण प्रथमाध्याये (४४-७) सूत्राणि प्रक्षितानि स्युः—इत्यपि परास्तम् । प्रक्षेपोत्प्रेक्षाहेतोः कस्याप्यनभिधानात् ॥

यदपि—एवं द्वितीयाध्याये (१९) सूत्रे अनुस्वारस्वरभक्तिलक्षणे विवादप्रस्ते इति—तदपि न सत् । तस्मिन्नेव सूत्रे एकेषामित्युक्त्या तत्सूत्रोक्तस्य स्वरभक्तिधर्मस्य एकीयमतानुसारितास्फोर-

णात् । स्वमते च स्वरभक्तीनां आनुनासिक्यस्यैव द्वितीयाध्यायत्रि-
 शसूत्रे प्रातिशाख्यकृता “अनुस्वारेत्तमा अनुनासिकाः” इति सूत्रेऽ-
 मिहितत्वात् । स्पष्टं चेदं (२-१९) सूत्रे त्रिमाप्यरत्ने वैदिकाभरणे
 चेति । यदपि च—यद्वाचि च प्रक्षिप्तान्यत्र प्रातिशाख्ये लग्नानीति द-
 द्यन्ते । (१७ ८, २२-१४, १९, २३-२, १४, १९, २०, २४-५, ६) सूत्रेषु
 विहितानि छन्दोलक्षणानि प्रक्षिप्तानीति भाति । तान्येतानि प्रातिशा-
 ख्यान्तरसाधारणानि स्वभायत एव प्रक्षिप्तानीति ज्ञायते इति—तद-
 पि प्रक्षेपोत्प्रेक्षाहेतोः कस्याप्यनिरूपणात्साहसमात्रमेव । न खलु
 प्रातिशाख्यान्तरसाधारणार्थत्वमेव प्रक्षेपहेतुः । साधारणार्थानामपि
 विशेषविध्यनुरोधेनैव तत्र तत्र शास्त्रेषु यद्बुधा प्रतिपादनदर्शनात् ।
 अन्यथा साधारणार्थानां कचिदपि प्रतिपादनासम्भवे अशास्त्रीयत्व-
 मेव सर्वथाऽऽपद्येतेति न किञ्चिदेतत् दृश्यन्ते हि शुक्लयजुःप्रातिशा-
 ख्यादौ “अन्त्याद्वर्णात्पूर्वं उपधा” (१-३५) इत्यादयस्साधारणा अ-
 प्यर्था यद्बुधा समनुज्ञायाः ॥

यदपि—एकप्रकरणस्थानि चान्यप्रकरणे सप्रक्रमभङ्गं दृश्य-
 मानानि सूत्राणि तत्तत्स्थलेषु क्रमभङ्गं कुर्वन्तीत्येष प्रक्रमभङ्गोऽन्यः ।
 क्रमव्रणानि च सूत्राणि यथा—प्रथमाध्याये (२५, २६, २७, ६०) सू-
 त्राणि, सप्तमाध्याये (१३, १४) सूत्रे, चतुर्दशे (१२-१३) सूत्रे, पञ्चदशे
 (६, ७, ८, ९) सूत्राणि । एषु च सूत्रेषु सप्तमाध्यायस्य त्रयोदशचतु-
 र्दशसूत्रे तु प्रातिशाख्ये अवधारणमणीये एव । तथाऽपि क्रमभङ्गो
 दुष्करः इति । तदसारम्—प्रथमाध्यायद्वाविंशसूत्रे हि “प्रहणस्य
 च” इत्यत्र सूत्रगतस्य अकारान्तस्य प्रातिपदिकग्रहणपरत्वं काधि-
 तम् । तत्र आसग्रानासग्रयोश्चभयोस्सम्भवे आसग्रस्यैव ग्राहकं भव-
 तीति नियमपरं (२९) सूत्रं सङ्गतमेव ॥

एवं तदुत्तरं “अनेकस्यापि” इत्येतदापि सूत्रं (१-२९) नियम-

परतयैव प्रवृत्तमिति सुसङ्गतम् । तदेवं सूत्रद्वयं संज्ञाप्रकरणे प्रका-
न्तसंज्ञापरतया प्रवृत्तम् । (१-२७) सूत्रं तु संज्ञारूपमेवेति नास्त्यस-
ङ्गतिवार्ताऽपीति विभाव्यताम् । एवं प्रथमाध्यायस्य पष्ठितमं “नाना-
पदीयं च निमित्तं प्रग्रहस्त्रादिषु” इत्येतत्सूत्रमपि न क्रमभ्रष्टम् । त-
त्पूर्वसूत्रे हि “उपबन्धस्तु देशाय नित्यम्” इत्यस्मिन् उपबन्धस्य प
दपाठादौ पृथग्भूतस्यापि स्वकार्यकरत्वमनुशिष्टम् । तद्वदेवोत्तर-
स्मिन् सूत्रे निमित्तविशेषस्य पृथग्भूतस्यापि स्वकार्यकरत्वमुपदि-
श्यते इति कुतः क्रमभ्रंशाशङ्का ॥

सप्तमाध्याये तु “आघातपूर्वस्तष्टम्” “यश्च ठम्” इत्येते सूत्रे
(७-१३, १४) णत्वविधिनिषेधमध्यपातितया यद्यपि क्रमभ्रष्टे तथाऽपि
मूर्धन्यभूतणत्वविधिप्रसङ्गात् मूर्धन्यभूतटठविधीं समारब्धावत्रैव ।
ततश्च अधिकृतणत्वनिषेध इति नासङ्गतिः । दृश्यन्ते हि बहुधा शा-
स्त्रान्तरेष्वपि प्रासङ्गिका विधयः परदशतमित्थमेव निर्वाह्याः । पूर्व-
तन्त्रे च मन्त्रलक्षणादिकं प्रासङ्गिकतयैव समादधिरे ॥ वैदिकामरण-
कारस्तु—आघातपूर्वस्तष्टमिति सूत्रपाठमभिप्रयन् रूपांनुवृत्तिलो-
भादत्रैव णविधिनिषेधमध्ये आघातपूर्वस्य ऽविधिरारभ्यते । आरब्धे
च तस्मिन् लाघवात् पपूर्वस्यापि ऽविधिरत्रैव योज्यते । समनन्तरं
च पपूर्वत्वानुवृत्तिलाघवात् यस्य ऽविधिरप्यत्रैवेति समादध्यौ ॥

एवं चतुर्दशाध्यायस्य द्वादशत्रयोदशे सूत्रे “प्रथम ऊष्मपरो
द्वितीयम्” “वाडभीकारस्यासस्थानपरः” इत्येते सूत्रे अपि न क्रम-
भ्रष्टे । पूर्वं स्पर्शस्य वर्गीयप्रथमागमविधेः प्रसक्ततया समनन्तरं च-
र्गीयद्वितीयागमविधेस्सुसङ्गतत्वात् । यद्यपि वर्गीयप्रथमोद्देश्यकः उ-
त्तमवृत्तीयादिविधिरष्टमेऽस्तीति तत्रैवायमारब्धुमुचितः । तथाऽपि
अष्टमे “अयं प्रथमः” इत्यधिकारः पदान्तमात्रविषयकः । अयं च वि-
धिः पदान्तापदान्तोभयसाधारण इत्यत्रैव चतुर्दशाध्याये समारब्धः ।

स्पष्टं चेदं वैदिकाभरणे चतुर्दशाध्यायद्वादशसूत्र एवेति ॥

एवं—पञ्चदशाध्यायस्य पष्ठादीनि चत्वारि सूत्राण्यपि न क्रम-
भ्रष्टानि । पञ्चदशोपक्रमे हि “न कारस्य रेफोष्मयकारभावाद्युक्ते
च मलोपाच्च पूर्वस्वरोऽनुनासिकः” इति सूत्रे अनुनासिको विहितः
ततो द्वितीयादिभिः सूत्रैश्चतुर्भिस्तत्प्रतिपेधेन अनुस्वारो विहितः ।
ततप्यष्टे सूत्रे अप्रग्रहसंज्ञानां समानाक्षराणां आनुनासिक्यं विहितमे-
केयामनुगतम् । एवं सप्तमाष्टमसूत्रे अपि आनुनासिक्यविधिपरं ए-
वेति नैतानि सूत्राणि क्रमभ्रष्टानि । नवमे तु “सर्वमेकयमं पूर्वेषाम्”
इति सूत्रे सर्वस्य वर्णजातस्य ऐकश्रुत्यविधायकं यद्यप्यस्ति क्रमभ्रंशः
अनुनासिकानुस्वारविधिप्रकरणविरोधात् । तथाऽप्यस्य नवमसूत्र-
स्य ऐकश्रुत्यविधायकत्वं प्रथमं व्याख्याय समनन्तरं “अथापरे क-
थयन्ति—सर्वमेकस्यरमनुनासिकं भवतीति । समानाक्षरमात्रापेक्षा-
मधिक्षेप्तुम्” इत्येवं आनुनासिक्यविधिपरतयैव त्रिभाष्यरत्ने व्या-
ख्यानान्न क्रमभ्रंशशङ्काऽवसरः ॥

एवं—षोडशाध्यायस्य चतुर्विंशसूत्रत्वेनाभिमतं “ऐकार उच्य-
स्य नितान्तः” इत्यस्मिन् सूत्रेऽपि न क्रमभङ्गशङ्कनीयः । पूर्वसूत्रे हि
'रंछे' इत्यस्मिन्ग्रहणेऽनुस्वारागमे विहिते प्रसङ्गात्तस्मिन्नेव ग्रहणे
ऐकारस्य नितान्तापरपर्यायं तीव्रतरप्रयत्नत्वं विहितं लाघवलोभात् ।
प्रकरणान्तरे हि तस्य निमित्तत्वे विधीयमाने 'रंछे' इति शब्दस्य
रूपं पृथक्परिशुद्धौ च विधातव्यमिति गौरवं स्यात् । प्रासङ्गिके चार्थे
न क्रमभ्रंशशङ्का प्रसङ्गसङ्गतेरेव सङ्गात्वात् ॥

एवं—द्वाविंशाध्यायस्य तृतीयप्रभृति षट्सूत्राण्यपि न क्रमभ्रष्टा श-
ब्दप्रकृतिभेदयोः प्रथमद्वितीयसूत्राभ्यामुक्तौ “तत्र शब्दद्रव्याण्युदा-
हरिष्यामः” इति तृतीयसूत्रे शब्दस्वरूपादिनिर्धारणार्थानां शास्त्रेऽ-

वक्ष्यापेक्षितानां परिभाषाणामुपस्थितौ तासां कथनं प्रतिज्ञाय चतु-
र्थादिभिः पञ्चभिस्सूत्रैरेतच्छास्त्रीयपरिभाषाणां कथनात् क्रमभ्रंश-
शङ्काया अनुत्थानात् ॥

यदपि—“ इदं तावदन्यद्वैलक्षण्यमेतत्प्रातिशाख्यस्य यदत्र व्या-
करणशास्त्रप्रसिद्धाः पारिभाषिकशब्दा न प्रायोज्यन्तेति । नापि ता-
नि पारिभाषिकपदान्यत्रावश्यकानि । यतः प्रक्रियासाम्यमनुसृत्य प-
दं वा पदबृन्दं वा नात्र लक्षीक्रियते । अपि तु संहितास्थं तत्तत्पदं प-
दोपपदानि वा पृथक्कृत्वा सविस्तारं लक्षणं क्रियते ” इत्युपक्रम्य
“यद्यपि त्रयोदशाध्याये (१५) सूत्रे अलोपपदेन षोडशाध्याये (२५) सूत्रे
सहचास्वितिपदेन च व्याकरणपद्धतिमनुसृत्य सामान्यविधिः कृतः
तथाऽपि तादृशसामान्यविधिद्वयस्यापवादयाहुल्येन कृतस्सङ्कोचः
सामान्यविधिमनभिरोचनीयमेव करोति ” इत्यभिहितं तदिदं तस्यैवं
मनोरमम् । तयोर्विध्योरपवादादर्शनात् ॥

यदपि—त्रिभाष्यरत्नकारोऽयं व्याख्याता न गुरुपरम्पराप्राप्तप्रा-
तिशाख्यावबोध इति स्पष्टमवभासते । यतोऽयं गुरुपरम्पराप्राप्तवैबु-
ध्य इव सुनिश्चितं निस्संदेहं च न सूत्राणि व्याचष्टे—इति त्रिभाष्य-
रत्नकारमाक्षिपति—तन्मन्दं सम्प्रदायाधिगतार्थेनापि व्याख्यात्रा-अ-
ल्पाक्षरमसान्दिग्धं सारबद्धिश्चतोमुखम् । अस्तोभन्ननवद्यं च सूत्रं सू-
त्रविदो, विदुः ॥ इत्याद्यनुरोधेन सूत्राणां विश्वतोमुखतया इत्थमप्यस्य
विवृतिस्सम्भवतीति प्रदिदर्शयिष्या कृतानां व्याख्याविकल्पाना-
मुपपत्तेः । दृश्यते हि सम्प्रदायाधिगततत्त्वार्थानामपि पुरुषाणां स्वबु-
द्धिकौशलवेशेन साम्प्रदायिकार्थेषु अनुपपन्नताप्रतिसंहितिः तामनु-
रन्धानाश्च स्वबुद्धिकौशलविलसितानि निबन्धेष्वपि निष्टङ्गयन्ति ।
न चैतावता तेषां सम्प्रदायानधिगमश्शक्यदशङ्कितुम् ॥

यदपि—यद्यपीदं प्रातिशाख्यं प्रमाणशब्देयशास्त्रमिव तद्वस्तं

गतम् तथाऽप्यसौ व्याख्याता कानिचित्सूत्राणि नावगन्तुं शक्नोति । कानिचिच्चासम्पूर्णानि मत्वा पदाध्याहारेण पूर्णीकर्तुं प्रयतते । कानिचिच्च स्वस्य स्वशास्त्रीयानां च मतस्य विरुद्धानीति विरोधपरिहाराय प्रयतते । इति त्रीणि दूषणान्याह व्याख्यातरि तत्र प्रथममसिद्धम् । इतरत् द्वितीयं तु न दूषणीभवितुमुचितम् । तथ हि यत्तावत् समनन्तरमेव “यथा-१-१९, २१. १३-१६. १४-५, ११. १७-५. २३-७. सूत्रेषु स्वव्याख्यानेन साकं व्याख्यानन्तराण्यपि व्याख्यातृनामनिर्देशं विनोपन्यस्यति” इत्युक्तं तदिदं कस्य दोषस्य स्थापनायेति न वयं विद्मः । न खलु अन्यकृतव्याख्यानानुवादमात्रेण वा तत्तद्व्याख्यानकर्तृनामानिर्देशेन वा अनुचकुरनभिज्ञता सम्भाव्यते ॥

पतेन-(२-१९, ३१) सूत्रयोः स्वव्याख्यानं स्वपूर्वाचार्यानुमतमिति वदति इत्युक्तिरपि निरर्थिकेति व्यक्तीकृतम् । वदतु नाम तथा । तावता तथा वक्तुः को दोषः प्रसज्यताम् ॥

यदपि—(२-१४. ४-४०. ८-१९, २०, २२. १८-७) सूत्रेषु स्वपूर्वाचार्ययोः वररुचिमाहिषेययोः परस्परं विरोधं दर्शयति । इति तदपि न व्याख्यातरि दोषस्थापनायालम् । वररुचिमाहिषेययोः प्राचीनयोर्व्याख्याश्रीर्विरोधसद्भावमात्रेण तदनुवादकस्य त्रिभाष्यरत्नवारास्य दोषासंस्पर्शात् ॥

यदपि—प्रायेणैते सर्वेऽपि विवादाः तुल्यशब्दचशब्दाद्यर्थरूपान्तराधिपयानुद्दिश्य कृताविर्भावाः केशद्वैधीकरणप्रयासप्रायाः भरतगण्डीयेभ्य आर्येभ्यो रोचन्ते इति—तदिदं सूत्रदोलीतत्त्वावयोधनियन्धनम् । सूत्रेषु हि संक्षेपार्थप्रवृत्तेषु चशब्दतुल्यशब्दादयो न धर्ममुपादीयन्ते । अतोऽत्र सूत्रेषु समुपात्तानां तेषां शब्दानां प्रयोजनविचाराः व्याख्यातृभिः प्रवर्तिताः कथं नाम केशद्वैधीकरणप्रयास-

प्राया भवेयुः । न खलु महर्षिसूत्राणोमानि पृथग्जनवृधाजल्पितानि ।
येन वृधापदजटिलताऽप्यत्र विपद्येतेति ॥

यदापि—(८-२०) सूत्रे उत्तमोत्तरीय इति कस्यचिदाख्येत्ये-
कः पक्षः । द्वायुत्तमोत्तरीय इति कस्यचिदाख्येत्येकः पक्षश्च प्रद-
र्शितः । तदनयोः कतरः प्रमाणमिति तु न निर्धारितमिति—तदेतद-
पि न व्याख्यातृत्रिभाष्यरत्नकारदूषणायालम् । प्राचीनव्याख्याक-
त्राः घररुचिमाहिषेययोरनुमतौ ह्येतौ पक्षौ । तयोः प्रदर्शनमात्रेणैव
कृतार्थोऽयं त्रिभाष्यरत्नकारः । यत्र हि तयोस्तारतम्यं स्वरूपव्याक्रि-
यामात्रेणैव सुग्रहं तत्र ह्येकतरपक्षसाधुतानिर्धारणायानिवद्धपरि-
करा एव प्रयन्धकाराः प्रायः ॥

यदापि—(२-२. १४-६, २२. १-५. २३-१७) सूत्रेषु सूत्रका-
राभिप्रेतं सूत्रार्थमजानान एवोहापोहयलेन नानाविधं सूत्राणि व्या-
चष्टे । तेषु नानाविधार्थेषु नैकोपि समञ्जसो भवति । यत्र चैषु स्थ-
लेष्वेकैव व्याचष्टे तच्च न हृदयंगममिति—तदप्यसमञ्जसप्रकृतावि-
लसितमेव । त्रिभाष्यरत्नकारकृतव्याख्यानेष्वसमञ्जसतां, प्रतिजा-
नानेन हि सा सोपपत्तिकमुपपादनीया । न खलु प्रतिज्ञामात्रा-
त्कस्यचिदर्थस्य सिद्धिर्भवति । वयं तु सुनिपुणं निध्यायन्तो-
पि तदुल्लिखितसूत्रेषु त्रिभाष्यरत्नकारकृतानां व्याख्यानानां न लेश-
तोप्यसामञ्जस्यं बुध्यामहे ॥

एतेन—२-१२. ४-४. ५-२९. ७-११. १४-३. सूत्रेषु स्पष्टार्थेष्वपि
कारणं विनाऽपि विपरीतार्थं प्रयतमानोसौ खिद्यति । १-६१. ३-१,
८-१६ ११-३, १६-२६. सूत्रेषु सूत्रकारस्य विस्मृतिप्रमादौ परि-
हरिष्यन्महाक्लेरोन सूत्राणि व्याचष्टे । क्वचिच्च १-५८. १३-४. २१-१४,
१६ सूत्रेषु स्वस्य स्वपूर्वाचार्यवररुच्यादीनां च यदिष्टं सूत्रका-
राभिप्रेतं च तत्सूत्रकाराभिप्रेतमिति सूत्राण्यर्थयितुं प्रयतते—

इत्यपि प्रत्युक्तम् । त्रिभाष्यरत्नकृतस्य सूत्रार्थस्य सूत्रकारान-
भिमतताया अनुपपादनात् ॥

यदपि—प्रयतमानश्चेत्थं सूत्रकारकृतेषु परमतानुवादेषु कां-
श्चित्सूत्रकाराभिप्रेतान्मन्यते । यथा त्रयोदशाध्यायपोडशसूत्रोक्तं
दुश्श्लिष्टलस्थानीयं डकारं पौष्करसादिमताभिप्रेतं सूत्रकाराभि-
प्रेतमिति सूत्रं व्याचष्टे । एष च डादेशः एतत्प्रातिशाख्यसंहि-
तोभयबाह्य इति सम्प्रदायात् ध्यायते इति—तदप्यतिसाहसिक-
तामेवास्य प्रपञ्चयति । “मृडातीदृशे” “तेनो मृडयन्तु” इत्या-
दौ तैत्तिरीयसंहितायां लकारस्थाने डकाराध्ययनस्य साम्प्रदा-
यिकतायास्सुप्रसिद्धत्वात् ॥

यद्यपि—मृड सुखने इत्येष धातुः पठ्यते । तथाऽपि “डदौ
लल्लाघेकेषाम्”* (४-१४४) इति शुक्लयजुःप्रातिशाख्यादितः स-
मानपदे स्वरमध्ये सामान्यतः डकारस्य लकारादेशविधानात्
मृडयतांत्यादौ डकारे लकारस्य शाखान्तरे प्रसक्तत्वात्तद्विनिवृ-
त्तये विधानमिदमस्माकं सफलमेव ॥

एतेन—चतुर्दशाध्याये तृतीयसूत्रे परमतत्वेनोक्तान्यपि ल-
कारादियर्णद्वित्वानि स्वमतत्वेन परिगृहीतानि—इत्यपि प्रत्युक्तं
घेदितव्यम् । वर्णक्रमे तैत्तिरीयशाखायामस्यां लघकारपूर्वस्पर्शं
द्वित्वस्यैव साम्प्रदायिकत्वात् ॥

यदपि—१४-१७ सूत्रे ग्राक्षिमतमपि प्रथमपरोष्मद्वित्वविषया
प्रक्रिया स्वमतत्वेनाङ्गीकृता । तथा चैतदर्थानुरोधेन २१-२६ सूत्रं
१४-२६ सूत्रभागं चापार्थयति इति—तदपि विपरीतमतेस्तस्यैव
शोभनम् । “प्रथमपरश्च ग्राक्षिग्राक्षायणयोः” (१४-१७) इति सूत्रे

* डकारडकारं एकेषामाचार्याणां मतेन यथासङ्गं लकारलृकारावापयेते ।
यथा—इडे । अफाड्डा । इति वृत्तिः ॥

हि प्लाक्षिमतत्वेन सूत्रकृता निर्दिष्टं प्रथमपरस्योष्मणो द्वित्वप्रतिषेधनम् । तदिदं प्रथमपरोष्मणो द्वित्वप्रतिषेधनं प्लाक्षिमतत्वेनोल्लिखितमपि सूत्रकृतस्त्वानुमतं यदि न स्यात् तदा प्रथमपरस्याप्युष्मणो द्वित्वं स्वानुमतं भवेत् । तथा च सति “न क्रमे प्रथमपरे” (२१-१६) इति सूत्रे ऊष्मणः क्रमे सति तस्मिन्नुष्मणि प्रथमपरे वा सति न स्वरभवाति इत्यर्थके “प्रथमपरे” इत्यंशो विफलस्स्यात् । प्रथमस्वरस्याप्युष्मणः स्वमते द्वित्वाद्यदयकत्वेन क्रमे इत्यनेनैव “वर्ष्ण” इत्यादीनां सङ्ग्रहसम्भवात् प्रथमपरोष्मणो द्वित्वस्यैव स्वमतत्वमाश्रित्य “न क्रमे” इति सूत्रे ‘प्रथमपरे’ इत्यस्य क्रमविशेषणतामाश्रित्य ऊष्मणः प्रथमपरे द्वित्वे स्वरभक्तिर्न भवति । इत्यर्थकरणे “वर्ष्णा पर्जन्यः” इत्यादौ स्वरभक्तिनिषेधलाभेऽपि “दाश्यम्” इत्यादौ स्वरभक्तिनिषेधो न लभ्येत । तस्मात् ऊष्मणः क्रमे सति तस्मिन्नुष्मणि प्रथमपरे वा सति स्वरभक्तिर्न भवतीत्यर्थ एवाश्रयणीयः । तथा च प्रथमपर इत्येतदनुरोधात् प्रथमपरश्चेति प्लाक्षिमतमेव सूत्रकृतानुमतमिति सिद्धम् । तस्मात् (१४-१७) सूत्रस्य (११-१६) सूत्रस्य च त्रिभाष्यरत्नकारकृते व्याख्याने सुसङ्गते एव परस्परम् । (१४-२६) सूत्रव्याख्यानेऽपि नानुपपत्तिलेशोपि दृश्यते । न हि कचिदप्येषु सूत्रेषु अपार्थक्यनमुपलभामहे ॥

एतेन—१४-२८ सूत्रस्य यथाश्रुतमक्षरार्थं विहायाश्रद्धेयोऽन्योऽपार्थः कृतः—इत्यपि प्रत्युक्तम् । अपार्थताया अनुपपादनान् प्रतिज्ञामात्रेण चार्थासिद्धेः । “पदान्तश्च व्यञ्जनपरः प्राकृतः” (१४-२८) इति सूत्रे हि व्यञ्जनपर इति स्पर्शव्यतिरिक्तव्यञ्जनपर इत्यर्थः । अन्यथा स्पर्शानामपि ग्रहणे पूर्वसूत्रेऽपि स्पर्शपर इत्युक्तन्यान् पौन-

रुक्तयं स्यात् । इति त्रिभाष्यरत्नकृतं व्याख्यानं अत्यन्तमेव सङ्गतम्
वैदिकाभरणेऽर्थात्थमेव व्याख्या परिदृश्यते । “स्पर्शः स्पर्शपरः (न
द्वित्वमापद्यते)” (१४-२७) इति हि पूर्वसूत्रम् । एवमस्मिन् ‘पदान्त-
श्च’ इति सूत्रे पदान्तः नकार एव विवक्षितः । अन्यस्पर्शस्य पदा-
न्तस्थित्यभावात् इति त्रिभाष्यरत्ने । वैदिकाभरणे तु शिक्षाऽ-
नुरोधान्नकारमात्रग्रहणमित्युक्तम् ॥

एवं (१३-४) सूत्रस्याप्यश्रद्धेयतरोऽपार्थः कृतः इत्यनवयोध-
विलसितमेव । तत्र कथमप्यपार्थिताविरहात् । तत्र हि “न
संसामिति तु रापरः” इति सूत्रे तुशब्दस्य इतरव्याघर्तकस्यो-
पात्तस्य “पदान्तस्य व्यञ्जनपरः प्राकृतः” इति “वक्ष्यमाणं द्वि-
त्वादिनिषेधं तुशब्दो निवारयति तस्मादत्र द्वित्वसिद्धिः” इति
तात्पर्यमुपवर्णितम् । तदिदं साधीय एव ॥ पदान्तश्चेति सूत्रे हि
“चकारः स्थानिस्पर्शापकर्षकः । पारिशेष्यान्नकारस्यानुकर्ष-
णम् । तथा हि—अन्तस्थादिव्यञ्जनपरत्वे सत्यन्यस्पर्शानामधिकृ-
तानां पदान्ते स्थितिर्नास्ति सच्चाद् इत्यत्रास्तीति चेत्—मैवं.....
उपपादितम्” इत्युक्तं त्रिभाष्यरत्ने ॥

यत्तु १४-२, ३ सूत्रे आनुस्वारागमपरे आनुनासिक्यविरोधेन
सूत्रकर्तुः स्वमताभिप्रेते कथिते इत्युक्तम् । तत्र तथा सूत्रकृ-
तस्वमताभिमतत्यकथने त्रिभाष्यरत्नकारस्य कथं नु वा दोषः
प्रसरति । पञ्चदशाध्यायस्य प्रथमसूत्रे हि नकारस्य रेफोष्म-
यकारभावाद्भुमे च मलोपाद्य पूर्वस्वरोऽनुनासिकः । इत्यास्मिन्
नकारस्य रेफभावाद्भुमे च मलोपाद्यकारभावाद्यकारादृष्ट्यकारे भुमे
सति मलोपाद्य पूर्वस्वरस्यानुनासिक्ये विहिते “नैफेपाम् । त.

तस्त्वनुस्वारागमः" इति सूत्राभ्यां तदानुनासिक्यं प्रतिपिध्य पूर्वस्वरात्परोऽनुस्वारागमो विहितः । अयमेव चानुनासिक्यप्रतिपेधपक्षः सूत्रकर्तुस्त्वमतत्वेन व्याख्याकृद्भिः कथितः । तदत्र को नु खलु दोषः प्रसरेत् ॥

यदपि—एवं १५-८ मंत्रं पदान्तानुनासिक्यविधायकं स्वमताभिप्रेतं कृतमिति—तत्रापि त्रिभाष्यरत्नकारव्याख्याने लेशतोपि न दोषमीक्षामहे । अस्य पूर्वसूत्रे हि "पदं च प्लुतं शाङ्खायनकाण्डमायनयोः" इत्यस्मिन् प्लुतवतः पदस्य पदकाले आनुनासिक्यं विहितम् । समनन्तरसूत्रे त्वस्मिन् "अकारस्तु संहितायामपि" इत्यत्र तुशब्देन परमतव्यवच्छेदकारणात् पदान्तप्लुताकारानुनासिक्यविधेः स्वमतत्वोत्कीर्तनं व्याख्याकृतां युक्ततरमेव ॥

एतेन—एवं ओङ्कारोच्चारणक्रमप्रदर्शकेषु अष्टादशाध्यायस्थेषु सूत्रेषु द्वितीयपष्ठे स्वमताभिप्रेते कृते । दशमाध्याये पदान्तवकारालोपविधायकं एकविंशसूत्रं लोपविधायकादेकोनविंशसूत्रादभ्यर्हितं कृतम् । एवं प्रथमपूर्वहकारस्य चतुर्थत्वापादकं पञ्चमाध्यायस्थं अष्टत्रिंशत्तमं सूत्रं सिद्धान्तत्वेन परिगृहीतम् । एवं स्वरितविषयकविवादेषु प्रथमाध्यायस्थं षट्चत्वारिंशत्तमं सूत्रं परिग्राह्यं कृतम् । इत्यपि पाश्चात्योक्तिः न त्रिभाष्यरत्नकारोक्तिदूषणायालमिति व्यक्तीकृतम् ॥ इत्थमेव च—२-१९, २७, ४७, ४८. ११-१९. १९-२. २१-१३. २३-१४, १५, १६, १७, १८, १९ सूत्राणि किमिष्टानि उतानिष्टानीति नान्यतरार्थोपि दर्शितः सत्स्वप्येतेष्विष्टेषु चाऽनिष्टेषु न किमपि प्रयोजनमस्तीति किं तानि तिरस्कृतानि ॥ सन्ति चान्यानि बहूनि सूत्राणि यान्येष

व्याख्याताऽनिष्टानीति तिरस्करोति यानि चेष्टानीत्याभिनन्दति अ-
निष्टानि यथा—१-४, २१. २-२०. ४-२३. ५-३, ३१. ९-६. १०-११.
१३-३. १४-२२. १६-२९ । इष्टानि यथा—१-४६. ५-३७, ४१. ८-२२.
१०-२१. १४-३, ९, १३, २६, ३३ १५-२, ७, ९. १६-१६, २४. १७-७.
१८-५, ७. १९-३. इत्युक्तिरपि समाहिता वेदितव्या ॥

यत्पुनः—न केवलमेतैरज्ञानमूलैरपार्थैर्दोषभाग्यं व्याख्याता ।
किन्तु भरतखण्डोयानां स्वसमानशीलानां व्याख्यातॄणां या नै-
सर्गिकी न्यूनता तथाऽपि न वियुक्तः । क्वचित्तस्य व्याख्यानं लाघ-
चेन चालिशत्वेन च दुष्टम् । अनर्थकेषूपसर्गाद्यव्ययेषु अर्थगा-
म्भीर्यनिर्धारणे यत्नः क्वचित् । क्वचिच्च स्वैरात् शैलीभेदादर्थ-
भेदे यत्नः । क्वचिच्च स्थाभिप्रेतार्थपरिपोषाय निष्प्रमाणं शब्द-
व्युत्पादनं इत्यादयो बहवो दोषाः मदीयटीकायां तत्र तत्र दर्शि-
ताः—इति दूषणं न केवलं त्रिभाष्यरत्नकारं प्रति अपि तु सर्वान्
भारतीयान्प्रति च निगमितं तदिदं समुचितमेव भारतीयज्ञान-
विज्ञानकौशलासहिष्णूनामिति विज्ञानन्त्येव विवेचकाः ॥

२२-५-१९०६.

पण्डितरत्न कस्तूरिरङ्गाचार्यः.



श्री.

हरिः ओम्.

तैत्तिरीयप्रातिशाख्यम्.

सोमयार्यविरचितत्रिभाष्यरत्नाख्यव्याख्यया
गार्ग्यगोपालयज्वविरचितवैदिकाभरणाख्य-
व्याख्यंया च सहितम्.

—३००—

अथ वर्णसमाम्नायः ॥ १ ॥

भक्तियुक्तः प्रणम्याहं गणेशचरणद्वयम् ।

गुरुनपि गिरां देवीमिदं वक्ष्यामि लक्षणम् ॥

व्याख्यानं प्रातिशाख्यस्य वीक्ष्य वाररुचादिकम् ।

कृतं त्रिभाष्यरत्नं यद्भासते भूसुरप्रियम् ॥

श्लोकयोरनयोरयमर्थः—भक्तियुक्तः अहं गणेशपादद्वयं गुरुन्
गिरां देवीमपि—वाग्देवीमित्यर्थः । तां च प्रणम्य लक्षणमिदं वक्ष्या-
मि, यत् लक्षणं, त्रिभाष्यरत्ननामकं भूसुरप्रियं विद्वत्प्रियं
सत् भासते । कीदृशं लक्षणं ? प्रातिशाख्यस्य व्याख्यानरूपं
वाररुचादिकं भाष्यजातं वीक्ष्य न्यूनातिरेकपरिहारेण कृतं विर-
चितम् । आदिशब्देन आत्रेयमाहिषेये गृह्येते । अत एव त्रि-

“विधेर्मध्यस्थनासिक्यो न विरोधो भवेत् स्मृतः । तस्मात् कुर्वन्ति कार्याणि वर्णानां धर्म एव तत् ॥”

इति शिक्षाकारवचनं धर्मधर्मिणोरभेदविवक्षयोपपद्यते “अथ विसर्जनीयः” (८-९) इत्यनेन विसर्जनीय उक्तः । “नासिकाविवरणादानुनासिक्यम्” (२-९३) इति रङ्ग उक्तः । “ष्टुक्तरवरात् परो ङो ङम्” (१३-१६) इति ङकार उक्तः । “स्पशादिनुत्तमात्” (२१-१२) इति चत्वारो यमा उक्ताः । “रेफोप्मसंयोगे रेफस्वरभक्तिः” (२१-१९) इति स्वरभक्तिरुक्ता । अनेन क्रमेण याजुर्वेदिकवर्णानां षष्टिसंख्या सूत्रत एव विस्पष्टं द्रष्टव्या । ननु “त्रिषष्टिश्चतुष्पष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः” इति शिक्षावचने सति कथं षष्टिसंख्या नियम्यते? तत् लौकिकवेदिकसर्ववर्णविषयमिति न शिक्षावचनेन विरोधः । अत्र सूत्रैरेतावतामेवोपलम्भादेव निर्णयो वर्णितः । वर्णानां समान्नायो वर्णसमान्नायः ॥ १ ॥



प्रणम्य साङ्गमाम्नायमाचार्याश्च प्रणीयते ।

व्याख्यानं प्रातिशाख्यस्य गार्ग्यगोपालयज्वना ॥

अर्थरत्नन्यायगुणैः पूर्वशास्त्रार्णवोद्धृतैः ।

रचितं धारयन्वेतद्वैदिकाभरणं बुधाः ॥

अथ किमर्थं प्रातिशाख्यं नाम लक्षणं प्रणीयते? तदुच्यते—
“गुरुत्वं लघुता साम्यं” (२४-६) इत्यादि “सर्वं तु विज्ञेयं” (२४-५) इति वक्ष्यति । तद्विज्ञाने पदक्रमविशेषाद्यन्यगमादाचार्यत्वा-

सिद्धिः । तदसिद्धावध्ययनाद्यसिद्धिः । न च लिखितपाठादिना वेदोऽधिगन्तव्यः, 'तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'^१ इति श्रुतेः । तस्मात् "गुरुत्वं लघुता" (२४-६) इत्यादीनां विज्ञानायेदं शास्त्रं प्रणीयते, तद्विज्ञाने सत्याचार्यत्वयोग्यतापत्त्याऽध्ययनाद्युपपत्तिरिति ॥

ननु नैतदस्ति प्रयोजनम् । तथाहि—

गुरुलघ्वादिविज्ञानं नास्यारम्भप्रयोजनम् ।

उक्तं तत्सर्वमङ्गेषु शिक्षाव्याकरणेषु यत् ॥

यदत्र विक्षेपतया वक्ष्यते "गुरुत्वं लघुता साम्यम्" (२४-५) इत्यादि तत्सर्वं वेदाङ्गतया प्राप्तेषु शिक्षाव्याकरणेषूपदिष्टमेव । अतो न तद्विज्ञानार्थं प्रातिशाख्यमारम्भणीयमिति ॥

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—

विकल्पभाजां शास्त्राणामपि दृष्टानुवर्तिनाम् ।

तत्तच्छास्त्राविशेषेषु व्यवस्थार्थमिदं स्मृतम् ॥

यद्यपि 'गुरुत्वं लघुता साम्यम्' (२४-६) इत्यादि विज्ञेयं सर्वं शिक्षायां व्याकरणेषूपदिष्टमेव । तथाऽपि तत्तत्र न कुग्रहं, विप्रकीर्णत्वात् विषयविभागानवगमात् विशेषतोऽनुपदेशाच्च । तथाहि— सन्ति तावद्वय व्याकरणानि लौकिकवैदिकशब्दसाधारणानि । तत्र यानि कार्याणि छन्दोमात्रविषयाणि षडचन्ते तान्यपि प्रायशः सर्ववेदशास्त्रसाधारणानि भवन्ति । तत्र ये कार्यविकल्पाः "स्वरतो वाऽनुदात्ते पदादौ"^२ इत्येवमादयः ते छन्दसि सर्वेषु स्वरविषयेषु न तुल्यं प्रवर्तन्ते भाषायामिव, किन्तु विषयभेदात् व्यवतिष्ठन्ते । अथ ये नित्याः कार्थविधयः तेऽपि

छन्दसि वैकल्पिका भवन्ति, “सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते” इति स्मरणात् । ये त्वनियतविषया एव विधयो “बहुलं छन्दसि”^१ इति तेषां व्यक्तं विषयविभागस्य दुष्करत्वम् । तथा “व्यत्ययो बहुलम्”^२ “दृष्टानुविधिश्छन्दसि” इत्यादौ कार्यस्वरूपमपि दुर्ग्रहं, किमुत विषयविभागः । एवं शिक्षास्वपि कञ्चिन्कञ्चित् लोकवेदसाधारणा उपदेशा भवन्ति,

अष्टपाष्टि षडन्त्येके चतुष्पाष्टिमथापरे ।

इत्येवमादयः । तथा—

नित्योऽभिनिहतश्चैव क्षेप्रः प्रश्लिष्ट एव च ।

एते स्वाराः प्रकम्पन्ते यत्रोद्यस्वरितोदयाः ॥

इत्यादिविधीनां विषयविभागो नावगम्यते । यद्यप्यविगीतशिक्षानुसारेण केषाञ्चिद्विधीनां शक्यो विषयविभागः प्रतिभाति, तथाऽप्यसौ न सर्वेषां शक्यः । अपि च—अद्यत्वे नियमाति-क्रमादपयो न जायन्ते । न चानृपिस्सर्वाणि लक्ष्याणि लक्षणानि च शक्नोति सम्यगधिगन्तुं, का कथा तद्व्यवस्थापनायाम् । न चैकशाखाध्यायिनोऽपि तदतद्विषयलक्षणविवेकमुखेन तत्स्वरूप-निर्णयश्शक्य इति वाच्यम्, अतद्व्यावृत्तिरूपानवगतौ तन्निर्णयायोगात् अतद्रूपानवगतौ व्यावृत्त्यवगमायोगाच्च । तथा च भगवानक्षपादः—‘विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यां अर्थावधारणं निर्णयः’ इति । तदेतद्विद्वांसः परमकारुणिका महर्षयः प्रतिशास्त्रं व्यवस्थितानां शिक्षाव्याकरणोपदिष्टकार्याणां विस्पष्टोपदेशानि लक्षणानि प्रणयन्ति स्म । तन्नान्तरीयकतया तु तत्रतत्र स्पष्टोपदिष्टान्यपि कार्याण्यनुचर्यन्ते । तानि प्रातिशास्थ्यानीत्याख्यायन्ते।

तद्वशात्तु कार्यविशेषाणां शाखाविशेषेषु व्यवस्था सुगमा
सम्पद्यते ॥

यद्येवं 'दीधीवेवीटाम्' ^१ 'पष्टीयुक्तदृच्छन्दसि वा' ^२ इत्यादी
न्यपि छान्दसकार्याण्यत्रावश्यवाच्यानि ॥

अत्रोच्यते—

न च शाखाविशेषस्थं कार्यं वाच्यमिहाखिलम् ।

यस्माद्व्यवस्था शेषस्य वेद्या कतिपयोक्तिः ॥

न खलु शाखाविशेषव्यवस्थितानि सर्वाणि छान्दसकार्याणि व-
क्तव्यानीत्यस्ति नियमः, अपि तु बोधयितव्यानीत्येव । तत्र
कतिपयेषूपदिष्टेषु अवशिष्टानामपि तद्वशेन व्यवस्था शक्यतेऽ-
वगन्तुम् । तथा हि—

संहिता तत्पदाध्यायः क्रमाध्याय इति त्रिधा ।

प्रसिद्धोऽस्य समाम्नायो विषयो वक्ष्यते ततः ॥

व्यवस्थितेषु कार्येषु तद्वर्तिष्विह केषुचित् ॥

कार्यान्तराणां तन्मूला व्यवस्था सुगमा भवेत् ॥

यद्यप्यात्रेयोपक्रमात्पदफलतेः पूर्वं अस्मत्संहितैकरूपैव समाम्नाता।
तथाऽप्यर्थसम्प्रत्ययाद्यर्थ आत्रेयेण यदा पदाध्यायः प्रवर्तितः
तदसंदेहार्थं क्रमाध्यायश्च, तदा प्रभृति स्वरूपेण पदात्मना क्रमा-
त्मना चेति त्रिधा समाम्नायते । न खलु त्रिधा समाम्नायोऽ-
स्य शास्त्रस्य विषय इति शास्त्रान्ते दर्शयिष्यति “पदक्रमवि-
शेषम्” (२४-६) इति । तत्रानेन लक्षणेन समाम्नातसिद्धपदरूपे संहि-
तारूपे च सुविज्ञाने व्युत्पत्तिगम्यार्थानुरूपं प्रकृतिप्रत्ययविभागो
रूपविशेषानुगुणः कार्यविशेषयोगश्च शिक्षाव्याकरणोपदिष्टसुग-

मस्तम्पद्यते । तथा चेदं लक्षणं संहितातत्पदरूपनिर्णयमुखेन
इहानुक्तानामपि कार्याणां व्यवस्थां बोधयतीति, शाखाविशेषा-
त्मकलक्ष्याणां शिक्षाव्याकरणात्मकलक्षणानां च, महत्त्वार्थमा-
म्भणीयमिति सिद्धम् ।

तस्मात्तत्तत्समाम्नाये प्रातिशाख्याविरोधतः ।

कार्यं सर्वं व्ययस्थाप्यं शिक्षाव्याकरणोदितम् ॥

अत्र प्रथमाध्याये संज्ञापरिभाषमारभ्यते । तत्रादौ, वर्णस-
माम्नायस्तस्य विषयतया प्रस्तूयते—अथ वर्णसमाम्नायः ॥

अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते, नानन्तर्यार्थः । कुतः?
“त्वथैवेति विनिवर्तकाधिकारकावधारकाः” (२-६) इति परिभा-
षणात्, तस्यात्रानुपपत्त्यभावात् । वर्ण्यन्ते व्यक्तं ध्वन्यन्त इति वर्णा-
अकारादयः । समित्युपसर्गस्सहत्वं द्योतयति । आम्नायमभ्यासः ।
यत्र समुदितानामभ्यासः क्रियते स समाम्नायः । आङ्गत्र मर्या-
दायामित्युक्तं, क्रियायोगिनस्तस्य मर्यादार्थत्वासम्भवात् । वर्णानां
समाम्नाय इति पष्ठासमासः । सोऽधिकृतो वेदितव्यः । केषां
वर्णानाम्? येऽस्मत्स्याध्यायवर्तिनः । कियन्तः ते वर्णाः, कश्च
तेषां क्रमः? तदुच्यते—

स्वरास्पर्शास्तथाऽन्तस्स्था ऊष्माणश्चाथ दर्शिताः ।

विसर्गानुस्वारल्लाश्च नासिक्याः पञ्च चोदिताः ॥

इह यल्लु “पोडशादितस्स्वराः” (१-६) इति पञ्चभिस्सूत्रैर्नकादिह-
कारान्ता एकपञ्चाशद्वर्णा गणशो निर्दिष्टाः, “ऊष्मयिसर्जनीय”
(१-१०) इति विसर्जनीयो दर्शितः, “अनुस्वारश्च” (१-१४) इत्यनु-
स्वारः, “पृक्तस्वगतपगे लो डं” (१-१६) इति लकारः, “स्पर्शा-
दनुत्तमात्” (२-१-२२) इत्यादिभिस्त्रिभिस्सूत्रैः पञ्च नासिक्या
विहिताः । एवमेकोनपष्टिवर्णा अस्मदायैस्समाम्नायन्ते ॥

ननु व्याकरणप्रसिद्धानां नवानामचां ह्रस्वदीर्घप्लुतभेदा-
त्सप्तविंशतिस्वरान् भवन्ति । तत्र “षोडश स्वराः” इति केषां
ग्रहणम् ?

तदुच्यते—वासिष्ठशिक्षायाम् “लृवर्णदीर्घं परिहाप्य स्वरा-
र्पाङ्गिणः प्रोक्ताः” इत्यादिना अष्टपष्टिवर्णानुक्त्वा अष्टपञ्चाश-
त्पक्षार्थं पुनरपि ऋवर्णप्लुतं लृवर्णप्लुतं सन्ध्यक्षरह्रस्वप्लुतांश्चेति
दश स्वरान् परिहाप्य षोडशस्वरपक्ष उक्तः । स इहाचिरुद्ध-
त्वात्परिगृह्यते ॥

ननु “सपूर्वस्यार्धसदृशमेकेषाम्” (११-१९) इति अर्धका-
रार्धाकारौ विभ्रास्येते, तयोः कुत इहानुपादानम् ?

अस्मत्स्वाध्यायेऽनुपलम्भात् । तदुक्तं महाभाष्ये—ननु
सभ्याश्छन्दोगानां सात्यमुगिराणायनीया अधीयते—“सुजाते ए
अभ्यसूनुते” “अध्वर्यो ओ अद्रिभिस्सुतम्” “शुक्रं ते ए अभ्यत्”
इति । एतेन वेदस्थप्रणयस्वरस्य मात्रार्धस्थ वचनं सूत्रकार-
स्यानिष्टमवगम्यते, तदभ्युपगमे परिमाणभेदकृताद्वर्णभेदात्सप्तद-
शस्वरापत्तेः । स्वाध्यायारम्भसमाप्तिप्रणयानां तु सत्यापि मात्रा-
भेदे वेदयाह्यत्याद्य सप्तदशस्वरापत्तिरित्यविरुद्धं तद्वचनम् ।
स्पर्शेष्वन्तस्स्थासु च न सप्तयाविप्रतिपत्तिरस्ति; किन्तु ऊष्मणि
बह्वृचास्तु शपसहृकपदुस्स्पृष्टविसर्जनोयात्मका अष्टौ, ऊष्माण
इत्याहुः । तत्रास्माकं विसर्जनीयस्य दुस्स्पृष्टस्य च नोष्मस्वन्तर्भावः
“ऊष्मविसर्जनीय” (१-१२) इति पृथग्ग्रहणात्. “पृक्तस्वरात्परो
लो डं” (१३-१६) इति निर्देशसामर्थ्याच्च । दुस्स्पृष्टस्य ऊष्मान्तर्भावे
तस्य अग्रोपत्वात् “ग्रोपयत्परश्च” (१-८) इत्योत्वं न स्यात् ।

अत्र हकारलकारयोरस्मत्संहितायां अविद्यमानत्वेऽपि शुक्रिय-
ब्राह्मणे पितृमेधादिषु च विद्यमानत्वात्समाम्नामत्र क्रियते ।
तथा च शिक्षायाम्—“चत्वारश्च यमास्तथा” इति चत्वार एव
नासिक्याः स्मर्यन्ते । सूत्रकारस्तु समाम्नायसिद्धत्वात् अत्र
'हकारान्नमपरात्' (२१-२४) इति हकारद्वित्ववत् पञ्चमं नासिक्यं
विधास्यति । यत्तु कैश्चिदुच्यते—“हकारान्नमपरात्” इति गुण-
विधिरेव न घर्णान्तरविधिरिति, यदपि स्वरभक्त्याख्यमुक्तघर्ण-
व्यतिरेकं घर्णद्वयमस्तीति, तदुभयमेकविंशे निराकरिष्यामः ।
तेन व्यवस्थितमेतत्—

ह्रस्वदीर्घप्लुतावर्णवर्णोवर्णा ऋऌ लृ च ।

एऐ ओऔ इति ज्ञेयाः षोडशेहादितस्स्वराः ॥

कखौ गघौ ङचछजाः झञौ टठडढा णतौ ।

थदौ धनौ पफवभमास्पर्शाः पञ्चविंशतिः ॥

यरौ लघौ चतस्रोऽन्तस्स्थाश्च ऋकशपसः पहाः ।

पङ्गमाणो विसर्गानुस्वारौ लो नास्यपञ्चकम् ॥

इत्येकोनाप्यष्टिवर्णा अस्मत्स्वाध्यायवर्तिनः ॥ इति ।

ये पुनः आसामकारादिवर्णजातीनां व्यक्तिभेदाः ते त्वानन्त्या-
दगण्या इति जातीनामेव सहयोक्ता । न च गुणभेदस्य
जातिभेदकत्वं गवादिषु दृष्टम् । तथाऽनुप्रदानादिभेदादेव घर्ण-
वैशेष्यं वक्ष्यति । उक्तं च पुनर्महाभाष्ये—“अभेदका गुणा
इत्येव न्याय्यम्” इति । तस्मादेतावन्त एव वर्णभेदाः ॥ १ ॥

अथ नवादितस्समानाक्षराणि ॥ २ ॥

‘अथ’ इति संज्ञाधिकारार्थः । अस्मिन् वर्णसमाम्नाये ‘आ-
दितः’ आरभ्य ‘नव’ वर्णाः, समानाक्षरसंज्ञा भवन्ति । यथा—
अ आ आ ३ इत्यादि । संज्ञायाः प्रयोजनं—“ दीर्घं^१ समाना-
क्षरे सवर्णपरे ” (१०-२) इत्यादि । नन्वीदृशी महती संज्ञा
किमर्थो ? शिक्षादिशास्त्रप्रसिद्धचनुरोधायेति ब्रूमः ॥ २ ॥

अत्र अथेति संज्ञापरिभाषमधिक्रियते । पूर्वसूत्रस्थं “ वर्ण-
समाम्नायः ” इति पदमिहानुवृत्तं पष्ठ्यन्ततया विपरिणम्यते ।
तेनायमर्थः—वर्णसमाम्नायस्यादितो, नव वर्णाः समानाक्षरसंज्ञा
भवन्ति । संज्ञायाः प्रयोजनं—‘तस्य प्राप्ता भवसि’^१ इत्यत्र पदा-
न्तस्वराणामानुनासिक्यं भवति । अत्र समानाक्षराणीति महती
संज्ञा किमर्थमाश्रिता ? तदुच्यते—

अन्यर्थत्वं महासंज्ञाः व्यञ्जन्यर्थान्तराणि च ।

पूर्वाचार्यैरतस्तास्तु सूत्रकारेण चाश्रिताः ॥

न क्षरन्तीत्यक्षराणि क्षरणमन्याङ्गतया चलनं तदभावात्स्वरेष्वक्ष-
रशब्दो वर्तते । ‘अक्षरव्यञ्जनानामनुपलब्धिर्ध्वानः’ (२३-७) इति स्व-
रवाचित्वं हृदयते । एकारादयस्स्वराः सन्ध्यक्षराणीत्याद्यायन्ते
स्वरद्वयसन्धिरूपत्वात् । तदभावात्तु समानरूपाः अकारादय इतरे
स्वराः समानाक्षराणीति । अत एव शौनकेन—“ अष्टौ ममा-
नाक्षराण्यादितस्ततश्चत्वारि सन्ध्यक्षराण्युत्तराणि ” इति सन्ध्य-
क्षरेभ्यः प्राचां संघर्षां समानाक्षरसंज्ञोच्यते । आचार्यस्तूपसर्ग-

संज्ञावदुपयोगानुगुण्यान्नवानामेवाह । अन्यत्तु मतम्—ऋकारादीनां त्रयाणां स्वरद्वयसन्धिरूपत्वाभावेऽपि रूपद्वयसंज्ञावादेऽपि संज्ञा न युक्तेति नवानामेवाहेति ॥ २ ॥



द्वे द्वे सवर्णे ह्रस्वदीर्घे ॥ ३ ॥

तेषु समानाक्षरेषु द्वे द्वे ह्रस्वे द्वे द्वे दीर्घे वा ह्रस्वदीर्घे वा दीर्घह्रस्वे वा अक्षरे परस्परं सवर्णसंज्ञे भवतः । इयमन्वर्थसंज्ञा । सवर्णत्वं नाम सादृश्यमुच्यते । तस्मादकारादीनामिकारादिभिर्न सवर्णसंज्ञाशङ्का, भिन्नस्थानप्रयत्नत्वात् अनयोः । संज्ञायाः प्रयोजनं—“दीर्घं समानाक्षरे सवर्णपरे” (१०-२) इत्यादि । ह्रस्वं च दीर्घं च ह्रस्वदीर्घे ॥ ३ ॥

अत्र समानाक्षरविशेषणत्वात्पुंसकालिङ्गनिर्देशः । ह्रस्वं च दीर्घं च ह्रस्वदीर्घे । यद्यत्र समानाक्षराणामेकगणत्वमाश्रित्य तत्रत्ययोः ह्रस्वदीर्घयोर्मिथस्सवर्णसंज्ञा विधीयते तदा द्विवचनेनैव तदुपपत्तेः द्वे द्वे इति धीप्सात्रचनमनर्थकं स्यात् । तस्माद्वयं इवर्ण उवर्ण इति त्रीन् गणान् समाश्रित्य तस्मिन् तस्मिन् गणे ये द्वे द्वे ह्रस्वदीर्घे ते परस्परं सवर्णसंज्ञे भवत इत्यर्थो विश्रायते । तेनान्यगणस्थस्य ह्रस्वस्य अन्यगणस्थस्य दीर्घस्य च न सवर्णसंज्ञाप्रसङ्गः । संज्ञायाः प्रयोजनम्—“राष्ट्रं यज्ञस्यादीर्गच्छति”^१ “मानवीत्याह”^२ इत्येकादेशः ॥

^१ सं. १-६-१०.

^२ सं. २-६-७.

नन्वेवं व्याख्याने सजातीययोः ह्रस्वव्यक्तयोस्सर्वणसंज्ञा न स्यात् “अथाग्रवीत्”^१ “दधतूखे”^२ तथा दीर्घव्यक्तयोरपि “स ते माऽऽस्थात्”^३ तथा “न पुतपूर्व”^४ (१-४) इति द्वयोरिकारयोस्सर्वणसंज्ञाप्रतिषेधोऽनर्थकस्स्यात् “अग्रा३ इ । इति । आह”^५ इत्यत्र प्राप्त्यभावात् । तस्मादत्र ह्रस्वानि च दीर्घाणि च ह्रस्वदीर्घे इति समाहारद्वन्द्वस्य सप्तम्यन्तस्येदं रूपं ह्रस्वदीर्घे इति । तथाच समानाक्षरेषु ह्रस्वदीर्घेषु द्वे द्वे सर्वणसंज्ञे भवत इति विज्ञानात्सर्वमुपपद्यते ॥

१ । अत्रोच्यते—अस्मिन्नपि व्याख्याने यकारादिव्यक्तीनां सजातीयानां मिथस्सर्वणसंज्ञा न स्यात् । इष्यते च सा । “अन्तस्थापरश्च सर्वणमनुनासिकम्” (५-२८) “सर्वणसवर्गीयपरः” (१४-२१) इति ॥

ननु माभूत्तत्र पारिभाषिकं सर्वणत्वं, सारूप्यात्मकं तु भविष्यति । वर्णशब्दः स्वरूपवचनोऽप्यस्ति । ‘साम्नो वा एष वर्णो यद्विरण्यम्’ इति ॥

यद्येवं “अथाग्रवीत्”^१ “दधतूखे”^२ इत्यादिष्वपि तदुपपत्तेर्मेदं सूत्रं हेतुव्ययम् । क्लृप्तकल्पनायामपि अकारस्य इकारादिभिस्सावर्ण्यमित्याद्यतिप्रसङ्गः तदवस्थ एव स्यात् । न च तत्परिहाराय अन्वर्थसंज्ञावलात् समानरूपयोरेव सावर्ण्यमास्थेयम्; ह्रस्वदीर्घयोरसरूपत्वात् सर्वत्र सावर्ण्याभावप्रसङ्गः । तस्माद्यथोक्त एव युक्तस्त्वार्थः ॥

^१सं. १-२-११. ^२सं. ४-१-६. ^३सं. १-१-२.

^४सं. ६-५-८.

^५सं. २-४-११.

नन्वत्राप्युत्तरसूत्रस्यासङ्गतिस्स्यात्, एतत्सूत्रप्राप्तविषयत्वाभावात् । नैप दोषः सति सम्भवे हि “अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वा” इति न्यायः प्रवर्तते । अत एव व्याकरणे “ष्णा-न्ता पट्”^१ इत्यनन्तरविषयो विधिरिष्यते । इह च ‘न तकार-परः’ (७-१९) इति तादृशप्रतिषेध इत्यलं विस्तरेण ॥ ३ ॥



न प्लुतपूर्वम् ॥ ४ ॥

प्लुतपूर्वं समानाक्षरं सवर्णसंज्ञं न भवति । प्लुतमस्मात् पूर्वमिति प्लुतपूर्वम् । यथा “अग्ना३ इत्याह”^२ इत्यत्र “दीर्घं समानाक्षरे सवर्णपरे” (१०-२) इत्येकादेशः प्रसक्तः । तच्चानिष्टम् । प्रतिषिद्धायां त्वेवं सवर्णसंज्ञायां पारिशेष्यात् “इवर्णोकारौ यवकारौ” (१०-१९) इति पूर्वस्य इकारस्य यत्वं स्यात् । स च यकारः ‘लुप्येते त्ववर्णपूर्वौ यवकारौ’ (१०-१९) इति लुप्यते । यकारे लुप्ते सति ‘इवर्णपर एकारम्’ (१०-४) इत्येकादेशः प्रसक्तः, सोऽपि निषिध्यते “न प्लुतप्रग्रहौ” (१०-२४) इत्यनेन । तस्मात् “अग्ना३ इत्याह”^२ इति सिध्यति ॥ ४ ॥

प्लुतः पूर्वो यस्मात्समानाक्षरात् तत् प्लुतपूर्वम् । तथाभूतं समानाक्षरं प्रति सवर्णं न भवति । सवर्णतायाः परस्परप्रतियोगिकत्वात् एकस्य सावर्ण्यं प्रतिषिद्धे इतरस्यापि तत्प्रतिषिद्धं

भवति । इदमेवात्रान्वयसंज्ञाफलम् । सावर्ण्यप्रतिषेधेन तत्कार्यमेव प्रतिषिध्यते । यथा व्याकरणे—‘नाज्झलौ’^१ इत्यादिभिः सवर्णत्वप्रतिषेधः । तथा—“अङ्गा ३ इ । इति । आह”^२ इत्यत्र “दीर्घं समानाक्षरे सवर्णपरे” (१०-२) इत्येकादेशो न भवति, किन्तु “इवर्णोकारौ यवकारौ” (१०-१९) इति यत्वम् । “लुप्येते त्ववर्णपूर्वो यवकारौ” (१०-१९) इति तल्लोपश्च, ततः “न प्लुतप्रग्रहौ । परश्च परश्च ।” (१०-२४, २९) इति सन्धिप्रतिषेधात् इष्टरूपसिद्धिः ॥ ४ ॥



षोडशादितस्स्वराः ॥ ५ ॥

वर्णसमाम्नायस्य आदित आरभ्य षोडश वर्णाः स्वरसंज्ञा भवन्ति । अकारादय औकारपर्यन्ता इत्यर्थः । संज्ञायाः प्रयोजनं—“अथ स्वरपरो यकारम्” (९-१०) इत्यादि ॥ ५ ॥

वर्णसमाम्नायस्यादितः षोडश वर्णास्स्वरसंज्ञा भवन्ति । आदित इत्यनुक्तौ समानाक्षरेभ्यः परेषामेव स्वरसंज्ञेति शङ्का स्यात् । संज्ञायाः प्रयोजनम्—‘युङ्गुस्ति’^३ ‘आऽस्मिनुग्राः’^४ इति रुकारनकारयोर्द्वित्वम् । निर्वचनं—स्वयं राजन्ते नान्येन व्यज्यन्त इति स्वराः । तदुक्तम्—

यम्बयं राजते तं तु स्वरमाह पतञ्जलिः ।

उपरिस्थायिना तेन व्यङ्ग्यं व्यञ्जनमुच्यते ॥ इति ॥ ५ ॥



^१ पा. १-१-१०

^२ सं. १-८-१५.

^३ सं. ६-५-८.

^४ सं. ३-३-३.

शेषो व्यञ्जनानि ॥ ६ ॥

स्वरेभ्यः शेषो वर्णराशिर्व्यञ्जनसंज्ञो भवति । ककारादिस्वर-
भक्तिपर्यन्त इत्यर्थः । संज्ञायाः प्रयोजनं—“व्यञ्जनं स्वराङ्गम्”
(२१-१) इत्यादि ॥ ६ ॥

शिष्यत इति शेषः । स्वरेभ्यः परे वर्णाः सर्वे व्यञ्जन-
संज्ञा भवन्ति । संज्ञायाः प्रयोजनं ‘विश्वाहा शर्म यच्छतु’
इत्यत्र ह्रस्वादेशः । निर्वचनं तूक्तं—परेण स्वरेण व्यज्यत इति
व्यञ्जनमिति ॥ ६ ॥



आद्याः पञ्चविंशतिस्पर्शाः ॥ ७ ॥

व्यञ्जनेष्वाद्याः पञ्चविंशतिवर्णाः स्पर्शसंज्ञा भवन्ति । ककारा-
दयो मकारपर्यन्ता इत्यर्थः । “अथ नवादितस्समानाक्षराणि” (१-२)
“षोडशादितस्स्वराः” (१-५) इतिवत् आदित इति वक्तव्ये आद्या
इति शब्दान्तरप्रयोगोऽर्थान्तरसूचकः । व्यञ्जनेष्वाद्या न तु स्वरे-
ष्वाद्या इति विज्ञेयम् । संज्ञायाः प्रयोजनम्—“स्पर्शस्पर्शपरः”
(१४-२७) इत्यादि ॥ ७ ॥

आद्या इति पुल्लिङ्गनिर्देशो विधेयानुसारात् । यथा ‘शैत्यं हि
यन्ता प्रकृतिर्जलस्य’ इति । विधेयबोधकस्पर्शशब्दस्य तु पुल्लिङ्गत्वं
चृद्धप्रयोगनिबन्धनम् । तथाऽऽह चार्तिककारः—‘लिङ्गमाशिष्यं लो-
फाधयत्वालिङ्गस्य’ इति । एवमुत्तरयोरपि सूत्रयोर्द्रष्टव्यम् ।

विंशतिरित्यादिशब्दास्तु सङ्ख्येयवृत्तित्वेऽपि नियतलिङ्गसङ्ख्या भवन्ति, यथा—‘शतं ब्राह्मणाः पिबन्ति’^१ इति । ततश्च व्यञ्जने-
प्यादेतः पञ्चविंशतिः स्पर्शसंज्ञानीत्युच्यन्ते । संज्ञायाः प्रजो-
जनं—“इदं क्षत्रं दुष्टरमस्तु”^२ इति मकारस्यानुनासिकादेशः ।
निर्यचनं तु—स्पृष्टप्रयत्नजन्यत्वात्स्पर्शा इत्याख्यायन्ते । न त्वेव-
मन्तस्स्थानामाख्या स्पृष्टप्रयत्नजन्यत्वाभावात्^३ रुढयभावाच्च ॥ ७ ॥



पराश्वतस्रोऽन्तस्थाः ॥ ८ ॥

स्पर्शेभ्यः परे चत्वारो वर्णा अन्तस्थासंज्ञा भवन्ति । संज्ञायाः
प्रयोजनम्—“अन्तस्थापरश्च सवर्णमनुनासिकम्” (१-२८) इत्यादि॥

स्पर्शेभ्यः पराणि चत्वारि व्यञ्जनान्यन्तस्थासंज्ञानि भवन्ति ।
संज्ञायाः प्रयोजनं—‘देवासुरान्द्रोयत्ता आसन्’^४ इत्यादिषु मका-
रस्य अनुनासिकादेशः । निर्यचनं तु—जिह्वामध्यप्रभृतीनां कर-
णानामन्तैर्जन्यत्वाच्चरलया अन्तस्था इत्याख्यायन्ते ॥ ८ ॥



परे षडूष्माणः ॥ ९ ॥

अन्तस्थाभ्यः परे षड्वर्णा ऊष्मसंज्ञा भवन्ति । संज्ञायाः प्रयो-
जनं—“ऊष्मा स्वरपरः” (१४-१६) इत्यादि ॥ ९ ॥

अन्तस्थाभ्यः पराणि षट् व्यञ्जनानि ऊष्मसंज्ञानि भवन्ति ।

^१ मं. १-८-१८.

^२ स्पृष्टप्रकर्षमावात् इति या पाठः.

^३ मं. ४-४-१३.

^४ मं. १-५-१.

संज्ञायाः प्रयोजनं—‘धारा व्यानशुः’^१ इत्यत्र ह्रस्वाभावः । निर्वचनं तु—ऊष्माख्यवाह्यप्रयत्नयोगादूष्माण इत्याख्या । न तु सा प्रथमद्वितीयादिषु, रूढ्यभावात् ॥ ९ ॥

—८००—

स्पर्शानामानुपूर्व्येण पञ्चपञ्च वर्गाः ॥ १० ॥

स्पर्शानां मध्ये आनुपूर्व्येण पञ्चपञ्च वर्गा वर्गसंज्ञा भवन्ति कचटतपादयो ह्यङ्गणमान्ता इत्यर्थः । संज्ञायाः प्रयोजनं—“तवर्गश्च तवर्गपरः” (१४-२०) इत्यादि ॥ १० ॥

स्पर्शानां मध्ये आनुपूर्व्येणादित एवारभ्य क्रमेण पञ्चपञ्च अयान्तरगणभूता वर्गसंज्ञा भवन्ति । अत्र वर्गशब्दस्य गणपर्यायतया गणान्तरेऽपि शक्तस्य शक्तवचच्छेदेन स्पर्शावान्तरगणेषु विनियोगात् स्पर्शमात्रसमूहस्यान्तस्त्वादिसमूहस्य च न वर्गत्वम् । तेन ‘वाक्छन्दः’^२ इत्यत्र ककारस्य “सर्वर्णसवर्गीयपरः” (१४-२३) इति द्वित्यनिपेधो न भवति । “उपव्ययते”^३ इत्यत्र वकारस्य च नेत्यादि द्रष्टव्यम् ॥ १० ॥

—८००—

प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थोत्तमाः ॥ ११ ॥

एकैकस्मिन् वर्गे यथाक्रमेण वर्गाः प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थोत्तमसंज्ञा भवन्ति । सिद्धेऽपि संख्यानिमित्ते^४ नाग्नि संख्यान्तरान-

^१सं. ५—७—७.

^२सं. ४—३—७.

^३सं. २—५—११.

^४“संख्यामात्रनिमित्ते” पाठान्तरम्.

भिधानार्थं^१ संज्ञान्तरं कथयितुं प्रथमादिसंज्ञाविधानम्^२ । तत् कथम्? ककारादीनामेव प्रथमादिसंज्ञाप्रत्ययार्थं, स्वरान्तस्थोष्मप्रभृतिषु तु संख्या-संज्ञाप्रतिषेधार्थम् । संज्ञायाः प्रयोजनं—“प्रथम ऊष्मपरो द्वि-तीयम्” (१४-१२) “तृतीयं स्वरघोषवत्परः” (८-३) “हका-रो हचतुर्थेषु” (२-९) “नानुत्तम उत्तमपरः” (१४-२४) इत्यादि ॥ ११ ॥

घर्गेषु चानुपूर्व्येण ते ते घर्गाः प्रथमद्वितीयादिसंज्ञा भवन्ति कचटतपाः प्रथमाख्याः । खड्डथफाः द्वितीयाख्याः । गजडद-यान्तृतीयाख्याः । यल्लढधभाश्चतुर्थाख्याः । ऊज्जणनमा उत्तमा-ख्या इति । इदमपि सूत्रं गणान्तरेषु संज्ञानिवृत्त्यर्थम् । एवं हि अकाराकारयोः प्रथमद्वितीयसंज्ञानिवृत्त्या ‘देववर्गहिंशतचल्लं’^३ ‘मा विश्वायुस्ता विश्वव्यचाः’^४ इत्यत्र ‘ऊष्मपरोऽघोषपरे’ (१-१) इति धिसर्जनीयलोपो न ॥ ११ ॥

ऊष्मविसर्जनीयप्रथमद्वितीया अघोषाः ॥

ऊष्माणश्च विसर्जनीयश्च प्रथमद्वितीयाश्चाघोषसंज्ञा भवन्ति । संज्ञायाः प्रयोजनं—“अघोषपरस्तस्य” (९-२) इत्यादि ॥ १२ ॥

^१ “गदशान्तसंनिधानार्थं” इत्यापि पाठः.

^२ “विद्वेऽपि गदशान्तिमते नाग्रा नियमार्थं प्रथमादिसंज्ञाविधानम्. इति पाठान्तरम्.

^३ ग. १-१-२.

^४ स. १-१-२.

ऊष्माणश्च विसर्जनीयश्च प्रथमद्वितीयाच्चेति घर्णा अघोप-
संज्ञा भवन्ति । संज्ञायाः प्रयोजनं—“अघोपेषु श्वासः” (२-१०)
इत्यनुप्रदानविशेषसिद्धिः । निर्वचनं तु—घोपाख्यवाह्यप्रयत्नाभा-
वादघोपा इत्याख्या ॥ १२ ॥

न हकारः ॥ १३ ॥

न भवत्यघोपसंज्ञो हकारः । ऊष्मत्वादघोपत्वे प्राप्ते तदपवा-
दोऽयम् ॥ १३ ॥

हकारस्योष्मत्वादघोपसंज्ञा प्राप्ताऽनेन प्रतिपिध्यते । ये बु
“हकाराश्रणमपरात्” (११—१४) इत्यत्र गुणविधिमिच्छन्ति तेषां
“हकारः” इति फारशब्दनिर्देशो न घटते, नासिक्त्यत्वात् ।
अथोत्तमपरस्यैव नासिक्त्यत्वादतथाभूतस्य तदुपपत्तिः । तर्ह्यु-
त्तमपरस्याघोपत्वं स्यात् । ततश्च ‘अपैवास्मै तधुवते’ इति
रूपासिद्धिः । “हकाराश्रणमपरात्” इति च व्याहतं स्यात् ॥

व्यञ्जनशेषो घोपवान् ॥ १४ ॥

अघोपेभ्योऽन्यो व्यञ्जनशेषो घोपवत्संज्ञो भवति । यद्यापि “ऊष्म-
विसर्जनीय” (१-१२) इत्यघोपेषूक्तेषु व्यञ्जनशेषस्य पारिशेष्यात्
घोपवत्त्वं सिद्धम् । यथा—देवदत्तयज्ञदत्तयोरपरशुर्देवदत्त इत्युक्ते परः

वर्णः कारोत्तरो वर्णाख्या ॥ १६ ॥

कारोत्तरो वर्णो वर्णस्य आख्या भवति । यथा—“अथै-
कारेकारौ” (४-८) इत्यादि । कारशब्द उत्तरो यस्मादसौ
कारोत्तरः ॥ १६ ॥

कारशब्द उत्तरो यस्मात्स तथोक्तः । वर्णशब्दस्वरूपं
कारशब्दोत्तरस्य तस्य वर्णस्याख्या भवति । संज्ञायाः प्रयोज-
नम्—“अकारव्यवेतो व्यञ्जनानाम्” (१-१७) इत्यादिव्यवहारः ।
तदनेन सूत्रेण “वर्णात्कारः” इति व्याकरणोक्तः कारप्रत्य-
योऽनुवर्णितः ॥ १६ ॥

—३८०७६—

अकारव्यवेतो व्यञ्जनानाम् ॥ १७ ॥

अकारव्यवेतो वर्णः कारशब्दोत्तरो व्यञ्जनानामाख्या भवति ।
यथा—“टनकारपूर्वश्च तकारः” (५-३३) इत्यादि । अकारेण
व्यवेतः अकारव्यवेतः ॥ १७ ॥

न किं व्यञ्जनेपृथारणानुपपत्तौ श्रेयः? उत सुखोच्चा-
रणार्थं वर्णान्तरं मध्ये निवेद्य प्रयोक्तव्यः? इति संशये द्वितीय-
कल्प एवेष्टव्यः । ‘योऽसौ ककारस्तकारो वा’ इति प्रयुञ्जानैर्वैयाक-
रणरङ्गीरितव्यादित्याह—

व्यञ्जनानां स्वरूपात्परः कारशब्दो मध्यवर्त्यकारेण व्यव-
हित भाग्या भवति । न तु केवलम्योच्चारणानुपपत्तौ तदाग्या

परशुमानिति सिद्धम् । तथाऽपि शास्त्रे संवत्सरार्थं संज्ञानिर्देशः क्रियते,
 पारिशेष्यादपि कण्ठोक्तोर्विशेषात् । अन्यथा “न हकारः” (१-१३)
 इति हकारस्याघोषसंज्ञा निषेध्यते । नापि हकारो घोषवान्, विध्य-
 भावात् । तथैव व्यञ्जनशेषः । स्वरा अपि तथा न घोषवन्तो
 नाप्यघोषाः । तथा सति “घोषवत्परश्च” (९-८) इति यत्र
 वक्ष्यति तत्र सन्देहः स्यात् घोषवत्परो नाम किम्पर इति ।
 तन्मा भूदितीदं सूत्रमारभ्यते । व्यञ्जनरूपः शेषो व्यञ्जनशेषः । अत्र
 सूत्रे चोद्यपरिहाररूप एव विशेषो माहिषेयभाषितः । संज्ञायाः
 प्रयोजनं—“घोषवत्परश्च” (९-८) इत्यादि ॥ १४ ॥

व्यञ्जनशेष इति घञनादघोषव्यातिरिक्तानि सर्वाणि व्यञ्ज-
 नानि घोषवत्संज्ञानि भवन्तीति सिद्धयति । शेष इत्येतावत्युक्ते
 प्रकृतानामूष्मस्पर्शानामेव शेषस्य संज्ञा स्यात् । संज्ञायाः प्रयोजनं—
 ‘तद्गुल्लु’^१ इत्यत्र प्रथमस्य तृतीयादेशः । निर्वचनं तु—घोषा-
 ल्ययाद्यप्रयत्नयोगात् घोषवदाख्येति ॥ १४ ॥

आप्रावोपाभ्यधिप्रतिपरिविनीत्युपसर्गाः ॥

आ प्र अव उप अभि अधि प्रति परि वि नि इत्येते
 शब्दा उपसर्गसंज्ञा भवन्ति । ननु—

प्रपरापसमन्ववनिर्दुर्व्याहृत्यथ गोऽप्यतिमूढमयश्च ।

प्रतिना मह लक्षयितव्याः पर्युपयोरपि लक्षणमत्र ॥

वर्तते । संज्ञायाः प्रयोजनम्—“ऌपूर्वः ककारः” (५-१२) इत्या-
दिव्यवहारः ॥ १७ ॥

—३०३०८—

न विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयानु- स्वारनासिक्यानाम् ॥ १८ ॥

विसर्जनीयादीनां वर्णत्वाविशेषात् कारोत्तरत्वं प्राप्तमेनेन निव-
र्त्यते । न खलु विसर्जनीयादीनां कारोत्तरता भवति । कुतः
सर्वत्र तथाप्रयोगानुपलम्भात् । ननु यथा—“वर्णः कारोत्तरो वर्णा-
ख्या” (१-१६) इति वर्णशब्दवाच्यस्यैव कारोत्तरत्वम्, “अथ न-
कारो णकारम्” (७-१) इत्यादि; न तु वाचकस्य । अ-
न्यथा वर्णकार इति स्यात् । तद्वद्विसर्जनीयादीनामपि^१ वाच्यग्र-
हणमेव युक्तं नान्यथा । तथा सति वाचकपरतया वररुच्यादि-
विरचितमुदाहरणं “अवसाने रविसर्जनीय” (१४-१५) इत्या-
द्यं चानुचितमिति चेत् मेवं मंस्थाः । वाच्यानां केवलानामप्रयोगात्
अत्र वाच्यवाचकयोरभेदविवक्षया सूत्रसरणिरित्युदाहरणगमनिका ॥

किमेवं विसर्जनीयादीनामपि व्यञ्जनानां सुखोच्चारणार्थं घ-
र्णान्तरान्तर्यान्तेन कारश्चब्द आख्या भवति नेत्याह—

अः इति विसर्जनीयः । वायोर्विसर्जनेन जन्यत्वात् ।
ऌक इति जिह्वामूलीयः । जिह्वामूलेन जन्यत्वात् । ऌप इत्यु-
पध्मानीयः । उपध्मानेन जन्यत्वात् । अनुस्वर्यते पश्चार्धे स्व-

^१ विसर्जनीयादीनामित्यत्रापि.

रवदुच्चार्यते इत्यनुस्वारः । नासिकायां भवा नासिकयाः । एतेषां
वर्णान्तरान्तर्हितोऽपि कारशब्द आख्या न भवति । ततश्च
यथा—‘कुप्वोऽकःपौ च’ इति व्याकरणसूत्रे वर्णद्वया-
वधिकौ^१ जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ निर्दिश्येते, एवमत्र “ङपूर्वः
ककारः” (१-३२) इति विसर्जनीयस्य जिह्वामूलीयस्य च
निर्देश इति न शङ्कनीयम् । न त्वत्र विसर्जनीयकारो जिह्वामूलीय-
कारः इत्यादिसंज्ञापूर्वककारशब्दाख्या प्रतिपिध्यते, प्राप्त्यभावात्
यदा च विसर्जनीयादीनां सुखोच्चारणार्थं वर्णान्तरप्रक्षेपयोग्या
कारशब्दाख्या प्रतिपिध्यते तदा तत्प्रक्षेपानर्हानुपपन्नोच्चारणाख्या
दूरत उत्सारिता । ततश्च “अकारो व्यञ्जनानाम्” (१-२१) इति
वक्ष्यभाणाऽप्याख्या एतेषामसम्भवव्युदस्तत्वाच्च सम्भवति ॥१८॥

एफस्तु रस्य ॥ १९ ॥

रस्य तु एफशब्द आख्या भवति । यथा—“रेफोष्मपरः”
(१३-२) इति रेफस्य व्यञ्जनत्वाविशेषात् प्राप्तं कारोत्तरत्वम्,
अकारव्यवेतत्वं च तदुभयं तुशब्दो निवारयति । अन्ये
त्यन्यथा मन्यन्ते, अकारव्यवेतत्वमेवेति । तदसाधु । तथा सति
कदाचित् कारोत्तरता कदाचिदेकोत्तरता चेति विकल्पः स्यात् । यथा—
“अकारो व्यञ्जनानाम्” (१-२१) इति विधानाद्विकल्पः ।
तथा हि, “रेफोष्मसंयोगे” (२१-१९) “रपः पूर्वो ह्रस्वी (७-
११) इत्यादि । न त्वेवं कारोत्तरत्वमपि विकल्पेन स्वीकृतं कुत्र-
चित् । तस्मादस्मदुक्त एव युक्तः तुशब्दार्थः ॥ १९ ॥

२. इत्यस्य व्यञ्जनस्य स्वरूपपूर्वक एफशब्द आख्या ।
 संज्ञायाः प्रयोजनम्—“आशीर्षदया”^१ इत्यादौ रेफादेशः ।
 निर्वचनं तु—रिप्यते विपाट्यते वस्त्रादिपाटनध्वनिबहुच्चार्यत इति
 रेफः । तथा च याजयान्तविसर्जनीयस्यादेशविधावाहाश्वलायनः—
 “विसर्जनीयोऽनत्यक्षरोपधो रिप्यते”^२ इति । अत्रापवादादेव का-
 रशब्दाख्यानिवृत्तेस्तत्प्रतिषेधो न कर्तव्य इति तुशब्दार्थः ।
 यद्वा—“रादिफः”^३ इत्यकारसहितादेव स्वरूपादिफप्रत्ययो विधी-
 यते । न तु केवलादिति ॥ १९ ॥



ह्रस्वो वर्णोत्तरस्त्रयाणाम् ॥ २० ॥

वर्णोत्तरो ह्रस्वः त्रयाणां ह्रस्वदीर्घप्लुतानामाख्या भवति । यथा—
 “इवर्णपर एकारम्” (१०-४) इत्यादि । वर्णशब्द उत्तरो
 यस्मादसौ वर्णोत्तरः ॥ २० ॥

ह्रस्वो वर्णो वर्णशब्दपरस्तदादीनां त्रयाणां वर्णानां आख्या
 भवति ॥ यथा—‘अवर्णे’ (२-१२) इति अकारादीनाम् । संज्ञायाः
 प्रयोजनम्—“देवा घसव्याः”^४ इत्यादौ विसर्जनीयस्य लोपः ।
 निर्वचनं तु—अ इति रूपमनुवृत्तं यस्मिन् वर्णत्रये तद्वर्णमिति ॥ २० ॥



अकारो व्यञ्जनानाम् ॥ २१ ॥

व्यञ्जनानामकार आख्या भवति । यथा—“शचछपरः”

^१ रा. ६—२—९.

^२ आश्व. धा. १—५—१०.

^३ पा. वानिके.

^४ सं. २—४—८.

(५-२२) इत्यादि । कारशब्दोत्तरत्वं इदं च विकल्प्यते । समुच्चये तु—“अकारव्यवेतो व्यञ्जनानाम्” (१-१७) इति व्यर्थं स्यात् । ननु तर्हि कारोत्तरता किमर्या, तदानीमपि व्यवहारूपेण अकारस्याभात् स एव आख्या भवतु । सत्यम् । शिक्षादिशास्त्रप्रसिद्धसङ्केतानुसारायेति परिहारः । अपरे तु सङ्गिरन्ते—अकारः सर्वस्वरान्तस्य व्यञ्जनस्य ग्राहक इति । यथा—“मनः क्षेमे”^१ “घनाघनः क्षोमणः”^२ “उक्थशासः क्षाम”^३ इत्यादि “न क्षपरः” (९-३) इति प्रतिषेधस्योदाहरणं स्यादिति । तदसारम् । कुतः “वाचापपूर्वस्तष्टम्” (७-१३) इति पूर्वस्य तकारस्य टले रुने ‘इषे द्वा’ इति स्यात् । तच्चानिष्टम् । किञ्च—“यवनहस्वरपरेषु” (१२-४) इत्यत्र स्वरपरशब्दो व्यर्थः स्यात्, भवन्मते सर्वस्वरान्तस्य स्वीकारनियमात् । तस्मादनुपपन्नमेवैतन्मतं मन्महे । किन्तु वर्णमात्रस्याख्या ॥ २१ ॥

व्यञ्जनानां तत्तत्स्वरूपपूर्वकोऽकार आख्या भवति । यथा—“तकारश्चकारश्च द्वाचछपरः” (१-२२) इति । नन्विह व्यञ्जनानां अकारान्ताव्यया लघोयस्यैव शक्ये निर्देशो किमिति गरीयसी फारशब्दाख्या क्रियते ? तदुच्यते—

शिक्षाध्याकरणानां यदयं विवरणात्मकः ।

ग्रन्थस्ततोऽथ नातीव शब्दसङ्कोच इष्यते ॥

चर्णात्कार इतीदं च व्याख्यातव्यं तु वार्तिकम् ।

शीक्षास्थाश्च ककारादिशब्दा इति तदाश्रयः ॥ २१ ॥

ग्रहणस्य च ॥ २२ ॥

लक्ष्यं निमित्तं च ग्रहणमित्युच्यते । गृह्यत इति ग्रहणं, गृह्यतेऽ-
नेनेति निमित्तमपि ग्रहणं, पदैकदेशः, प्रातिपदिकमिति यावत् ।
चकारः पूर्वसूत्रोक्तमकारमाकर्षति । ग्रहणस्य प्रातिपदिकस्य
सर्वावस्थस्य अकार आख्या भवति । यथा—“किञ्शिल किञ्-
शिल” (१६-२६) इति परः किञ्शिलशब्दो लक्ष्यम् । उदा-
हरणं यथा—“किञ्शिलश्चतुर्थः”^१ “किञ्शिलाय च क्षयणाय
च”^२ । “ओष्ठेवःपरो लुप्यते” (१०-१४) इति तु निमित्तम् ।
यथा—“स्वाहोष्ठाभ्याम्”^३ “उपयाममधरेणोष्ठेन”^४ ॥ २२ ॥

गृह्यत इति ग्रहणं वेदस्थशब्दः । तत्त्रिविधं, कार्यभा-
ग्नित्तमुपबन्ध इति तस्यापि स्वरूपपूर्वकोऽकार आख्या भवति
यथा—“साहस्रसारथिः” (६-१३) इति कार्यभाजः । “ची य-
त्प्रपरः” (४-३३) इति निमित्तस्य । “न सक्रयकारपरे” (८-२६)
इत्युपबन्धस्य ॥ २२ ॥

अःकार आगमविकारिलोपिनाम् ॥ २३ ॥

आगमादीनामकार आख्या भवति । अःकार इति प्रथमाविभक्ते-

^१ सं. ५—५—९.

^२ सं. ४—५—९.

^३ सं. ७—३—१६.

^४ सं. ५—४—१२.

रूपलक्षणम् । आगमस्य यथा—“द्वितीयचतुर्थयोस्तु व्यञ्जनोत्त-
रयोः पूर्वः” (१४-९) । विकारिणो यथा—“अथ नकारो णकारं”
(७-१) । लोपिनो यथा—“तिष्ठन्त्येकया सपूर्वः” (९-१९)
इत्येकवचनानि । “लपरौ लकारम्” (९-२९) इति द्विवचनम् ।
“आनुपूर्व्यान्नासिक्याः” (२१-१२) इति बहुवचनम् । आगमश्च
विकारी च लोपी च आगमविकारिलोपिनः, तेषाम् ॥ २३ ॥

अनेन पारिभाषिकाणां कृत्रिमाणां चागमादिवाचिनां श-
ब्दानां विभक्तिविशेषो नियम्यते । अःकार इत्यकारविसर्जनीय-
योस्समुदितयोर्व्याकरणसिद्धेन कारप्रत्ययेन निर्देशः । स खलु
बहुलग्रहणानुवृत्त्या वर्णसमुदायादपि भवति । अःकारेण प्रथ-
मा विभक्तिरुपलक्ष्यते ।

अन्यत्र विद्यमानस्तु यो वर्णश्चयतेऽधिकः ।

आगम्यमानतुल्यत्वात्स आगम इति स्मृतः ॥

प्रकृतिस्थस्य शब्दस्य स्थाने यस्यापरो भवेत् ।

स्वतो गुणान्तरोपेतः स विकारोह तत्समः ॥

प्रकृतिस्थस्तु यदशब्दः संहितायां न दृश्यते ।

तत्स्थाने च न शब्दोऽन्यस्स लोपी नभ्यरोपमः ॥

एतेषामागमादीनां प्रथमाविभक्तिराख्या भवति । आगमस्य
यथा—“प्रपुमिशुपृचंशकारश्चपरः” (१-४) “हकाराक्षणमपराच्चा-
सिक्थम्” (२१-१४) इति । विकारिणो यथा—“असम्पूर्वोऽरम्भ-
कारः” (१-९) “लपरौ लकारम्” (९-२९) इति । लोपिनः—
“ई पूर्वो मकारः” (१-१२) इति ॥ २३ ॥

ग्रहणं वा ॥ २४ ॥

तेषां आगमादीनां क्वचिद्ग्रहणं वा भवति । अकारेण विनाऽपीति तात्पर्यम् । आगमस्य यथा—“आदिरहतिः” (१६-२९) इत्यादि । विकारिणो यथा—“हन्यादुप्यमानं च” (७-३) इत्यादि । लोपिनो यथा—“एष स स्यः” (९-१९) इत्यादि ॥ २४ ॥

ग्रहणं पूर्वतरसूत्रे व्याख्यातम् । तदेव सूत्रस्थं वेदस्थस्य तस्याख्या भवति । ‘ग्रहणस्य च’ (१-२२) इत्युक्तं अकारान्तरूपं वा । न तु तत्र विभक्तिरिष्यते इत्यर्थः । विभक्तिनिवारणार्थमेवेदं सूत्रमत्र कृतम् । इतरथा ‘ग्रहणस्य च’ (१-२२) इत्येतस्मात्परं क्रियेत ॥ २४ ॥

आसन्नं सन्देहे ॥ २५ ॥

सन्देहे सति आमन्नं वर्णं पदं वा गृह्णीयात् । “स्वयमा-
तृणां च विकर्णां चोत्तमे”^१ इत्यत्र चकारद्वयसम्भवात् मग्रहनि-
मित्तत्वेन कतरस्योपादानं कर्तव्यमिति सन्देहे यदासन्नं कार्य-
भाजस्तदेव स्वीकर्तव्यं—“चोत्तमे” (४-११) इति सूत्रे । व-
र्णस्य यथा—“आपृषती” (४-१९) इत्यादि ॥ २५ ॥

यस्मिन् विधौ विशेष्यमेव वा, विशेषणमेव वा निर्दिश्यते, विशेषणताऽर्हं विशेष्यताऽर्हं च अनेकं प्रकृतं, तत्र कतरदस्य विशेषणं कतरदस्य विशेष्यमिति वा संशये आसन्नं प्रत्येतव्यम् । यथा—“अमी चक्षुषो” (४-१२) इत्याद्यनुक्रम्य “पूर्वश्च” (४-१३) इति वक्ष्यते तत्र कस्मात्पूर्वं इति विशेषणाकांक्षायां आसन्नो घायापृथिवीशब्द एव प्रत्येतव्यः विशेषणतया । न व्यग्रहितास्ततः पूर्वशब्दाः^१ । तथा—“जपरो जकारम्” (५-२३) इति विशेषणनिर्देशे प्रकृतयोः नकारतकारयोः आसन्नस्तकार एव विशेष्यतया प्रत्येतव्यः । अन्ये तु व्याचक्षते—आसन्नं शब्दरूपं कार्यविधिषु दृश्यमानं सन्देहे उपतिष्ठते । सन्देहस्यैव निवृत्त्यर्थं तद्गृहीप्यते न तु तस्य पृथक्त्ये कार्यनिवृत्त्यर्थम् । यथा—“सेदु होता”^२ इत्यत्र विसर्जनीयलोपनिमित्तस्य इच्छब्दस्यासन्नं उ इत्येतत्—“स इज्जनेन”^३ इत्यादिविषयत्वसन्देहनिवृत्त्यर्थमेव गृह्यते । न तु क्रमाध्याये ‘सेन् । इदु ।’^२ इत्यत्र उशब्दस्य पृथक्त्ये लोपनिवृत्त्यर्थमिति । तेन तस्य पृथक्त्येऽपि सैदिति रूपसिद्धिः । तदयुक्तम् । न हि ‘स इज्जनेन’^३ इत्यादिषु सन्देहोऽस्ति । किन्तु—अनिव्याप्तिरेव । यदप्युच्यते, “पूर्वजे प्रभृत्याऽयम्” (४-२३) इत्यत्र कतरस्य पूर्वजेशब्दस्य ग्रहणमिति संशये उत्तरावधेयसन्नः पूर्वजेशब्दो गृह्यत इति । तत्त्वयुक्ततर अनिष्टावहत्यात् । ‘नानिष्ठार्थं शास्त्रप्रवृत्तिः’ इति हि न्यायविदां निष्ठा ॥ २६ ॥

^१ न व्यग्रहितास्ततः पूर्वमहानेकंशब्दः इति पाठान्तरम्.

^२ सं. १-१-१४.

^३ सं. २-१-१४.

अनेकस्यापि ॥ २६ ॥

सन्देहे अनेकस्य पदस्य वर्णस्य वा ग्रहणं भवति । अपि-
शब्दः सन्देह इत्यन्वादिशति, यथा—“तिष्ठन्त्येकया सपूर्वः”
(१-१९) “एवोत्तरे” (४-११) इत्यादि ॥ २६ ॥

उक्तस्य कचिदपवादमाह—

यत्र तु विशेषणस्य द्विवहुवचनान्ततया अनेकाकांक्षा भ-
वति, तत्रानेकस्यापि प्रकृतस्य सम्प्रत्ययो भवति । “लपरौ ल-
कारम्” (१-२६) इति तकारनकारयोः । “नकार एतेषु
ञकारम्” (१-२४) इति शचछजानाम् । न त्वासन्नस्यैकस्य
नकारस्य जकारस्य वा व्यक्तिभेदाश्रयणेन द्विवचनबहुवचने
उपपाद्ये ॥ २६ ॥

प्रथमो वर्गोत्तरो वर्गाख्या ॥ २७ ॥

वर्गशब्दोत्तरः प्रथमः स्ववर्गस्याख्या भवति, यथा—“टवर्गश्च
तवर्गपरः” (१४-२०) इति । वर्गशब्द उत्तरो यस्मादसौ
वर्गोत्तरः ॥ २७ ॥

वर्गशब्द उत्तरो यस्मात्स तथोक्तः । अत्र भाविप्रयोगा-
नुसारेणाकारान्ततया निर्दिष्टः । प्रथमाख्यो वर्णो वर्गशब्दान्तः
तदादेर्वर्गस्याख्या भवतीति वेदितव्यम् । यथा—“कवर्गे स्पर्श-
यति” (२-३६) “टवर्गश्च तवर्गपरः” (१४-२०) इति । निर्व-
चनं तु—कस्य वर्गः कवर्गः, टस्य वर्गएवर्ग इति ॥ २७ ॥

अं विकारस्य ॥ २८ ॥

अमिति शब्दो विकारस्याख्या भवति । अमिति द्वितीया-
विभक्तिरुपलक्षणम् । यथा—“प्रथमपूर्वो हकारश्चतुर्थः” (६-३८)
“अथ नकारो णकारम्” (७-१) ॥ २८ ॥

अमिति द्वितीया विभक्तिरुपलक्ष्यते—

सचिकारो यदन्यस्य स्थाने शब्दान्तरं स्मृतम् ।

द्वितीयया तु निर्देशे तस्यैव प्रत्ययो मतः ॥

यथा—“असंपूर्वोऽरम्भकारः” (६-९) । “उदात्तमुदात्तवति”
(१०-१०) । यत्र द्वितीया विभक्तिः शब्दान्तरविकारस्यैव निय-
म्यते । न तु गुणविकारस्य । तेन—“पूर्वस्वरौऽनुनासिकः” (१६-१)
“अनुदात्तानां प्रचयः” (२१-१०) इत्यादिगुणविधिषु निर्देश
उपपद्यते ॥ २८ ॥

पूर्व इति पूर्वः ॥ २९ ॥

यः पूर्वशब्देन विशिष्यते स तत्रैव स्वेन रूपेणोपलक्षितो
ज्ञातव्यः, न तु रूपसामान्यादन्यो भिन्नदेशस्थः । यथा—“द्यावापृ-
थिवी” (४-१२) “पूर्वश्च” (४-१३) इति प्रग्रहो भवतीति व-
क्ष्यति । पूर्वत्वान् “यावती द्यावापृथिवी महित्वा”^१ इति याव-
तीशब्दः प्रग्रहः । “यावती वै पृथिवी”^२ इति तु न स्यात्
प्रग्रहः ॥ २९ ॥

अस्मात्पूर्वः कार्यभागिति विधाने तत्पूर्वदेशस्थ एव प्रत्येतव्यः । न तु तत्स्वरूपोपलक्षणमाश्रित्य देशान्तरस्थोऽपि । तद्यथा—
 “द्यावापृथिवी” (४-१२) “पूर्वश्च” (४-१३) इति ‘यावती द्यावापृथिवी’^१ इत्यत्र यावतीशब्दान्तः प्रग्रहो विधीयते । ततः ‘यावती पौर्णमासी’^२ इत्यादावपि प्रग्रहत्वं न कल्प्यम् ॥ २९ ॥



पर इत्युत्तरः ॥ ३० ॥

यः पर इतिशब्देन विशिष्यते, सोऽपि तत्रैव स्वेन रूपेण प्रत्येतव्यः । यथा—“द्वे” (४-४९) “परश्च” (४-५०) इति प्रग्रहो भवतीति वक्ष्यति । परत्वात् “द्वे जाये विन्दते”^३ इत्यत्र जायेशब्दः प्रग्रहः । “योनिरसि जाय एहि”^४ इत्यत्र तु न प्रग्रहः ॥ ३० ॥

अस्मात्परः कार्यभागिति विधौ तदुत्तरदेशस्थ एव प्रत्येतव्यः । न तत्स्वरूपो देशान्तरस्थोऽपि । यथा—“द्वे” (४-४९) “परश्च” (४-५०) इति “तस्मादेको द्वे जाये विन्दते”^३ इत्यत्र जायेशब्दः प्रग्रहः । ततः “जाय एहि”^४ इत्यादावपि प्रग्रहत्वं न कल्प्यम् ॥ ३० ॥



^१ सं. ३—२—६.

^२ सं. १—६—९.

^३ सं. ६—६—४.

^४ सं. १—४—९.

ऋकारल्कारौ ह्रस्वौ ॥ ३१ ॥

ऋकारश्च लृकारश्च ह्रस्वसंज्ञौ भवतः । यथा—“ऋतवो वै”^१
 “अक्लृप्तस्य क्लृप्तचै”^२ ॥ ३१ ॥

ऋकारश्च लृकारश्च ऋकारल्कारौ तौ ह्रस्वसंज्ञौ भवतः ।
 ‘ग्रह्य देवा अवीवृधन्’^३ “क्लृप्ता ऋतवः”^४ “तेन च समान-
 कालस्वरः” (१-३१) इति वक्ष्यमाणेनात्रापि सिद्धे पृथग्वचनं
 मात्रावैपम्यशङ्कानिघृत्यर्थम् । न तु मात्रावैपम्यमङ्गीकृत्य ह्रस्वसंज्ञा
 विधीयते इति युक्तं कल्पयितुम् । सर्वशास्त्रेष्वप्रसिद्धत्वात् ॥ ३१ ॥

—८०३—

अकारश्च ॥ ३२ ॥

अकारश्च ह्रस्वसंज्ञो भवति । अकारो ह्रस्वमन्वादिशति ।
 यथा—“अयं पुरः”^५ इति ॥ ३२ ॥

चशब्देन ‘ह्रस्वौ’ (१-३१) इत्यन्यादिष्यते । ततश्चात्र
 ह्रस्व इति विपरिणामादकारो ह्रस्वसंज्ञो भवति इत्यर्थः ।
 ‘अयधूतश्च रक्षः’^६ ॥ ३२ ॥

—०—

तेन च समानकालस्वरः ॥ ३३ ॥

तेन अकारेण यः तुल्यकालस्वरः, स च ह्रस्वो भवति ।

१ सं. ५—२—६.

२ सं. ५—४—८.

३ सं. १—१—१३.

४ सं. ५—५—२०.

५ सं. ४—३—२.

६ सं. १—१—६.

अत्रापि चकारो ह्रस्वान्वादेशकः । समानकालस्वर इति इकार उकारश्चेत्यर्थः । सन्व्यक्षराणां समानकालत्वाभावात् । यथा—
 “इपे त्वा”^१ “उप प्रयन्तः”^२ । अत्राह, अकारो ह्रस्वः, तेन च समानकालस्वर इत्यारब्धव्यम् । “ऋकारल्कारौ ह्रस्वौ” (१-३१) इति तु नारब्धव्यम्, एवमारभ्यमाणे पुनरुक्ततया गौरवं भवेदिति । उच्यते, आरब्धव्यमेवैतत् । कुतः ? ऋकारल्कारयोरन्तरा रेफ-
 लकारौ स्तः । तत्स्थानत्वादनयोः कालव्यभिचारः स्यात्, ह्रस्व-
 त्वं न गम्येत, तन्मा भूदित्येवमारभ्यते, “ऋकारल्कारौ ह्रस्वौ”
 (१-३१) इति ॥ ३३ ॥

समानस्तुल्यः कालो यस्य स तथोक्तः । अकारेण तुल्य-
 कालस्वरो ह्रस्वसंज्ञो भवति । कियान् पुनरकारस्य कालः ?
 यावताऽयमुच्चार्यते । न चोच्चारणवैषम्यात्तद्व्यवस्था स्यात् । “चा-
 पस्तु वदते मात्राम्” इति शिक्षोक्तचापस्तकालतुल्यस्य व्यघ-
 स्थितेः । तस्मादिकार उकारश्च ह्रस्व इति सिद्धम् । “मा त्वा
 हिःसिपम्”^३ । “ऊर्ध्वमिव हि पुंसः”^४ । नन्वत्राकार इकार
 उकारश्चेत्येकसूत्रेण सिद्धे किमर्थं गौरवमाश्रितम् । तदुच्यते—
 उत्तरसूत्रेऽकारतुल्यकालत्वं विधित्सितम् । तच्चोभयार्थम् । तद-
 शोक्तमिति न गौरवदोषः ॥ ३३ ॥

—१००—

अनुस्वारश्च ॥ ३४ ॥

भवत्यनुस्वारोपि ह्रस्वसंज्ञः । यथा—“ताहस्ते”^५ । चकारो

^१स. १-१-१.

^२स. १-५-५.

^३मं. १-१-४.

^४सं. १-१-५.

^५सं. १-१-३.

ह्रस्वान्वाकंपकः । “ अनुस्वारस्वरभक्तिश्च ” (२१-६) इति स्वरं प्रत्यङ्गत्वविधानादनुस्वारस्य व्यञ्जनत्वम् । तथा सति “ ह्रस्वार्धकालं व्यञ्जनम् ” (१-३७) इति अर्धमात्रत्वे प्राप्ते तन्मा भूदिति ह्रस्वत्वं विधीयते । ह्रस्वसंज्ञायाः प्रयोजनम्—“ विभागे ह्रस्वं व्यञ्जनपरः ” (३-१) इति ॥ ३४ ॥

चशब्देनात्र तेन समानकाल इत्यन्वादिश्यते । तथा चानुस्वारोऽकारेण तुल्यकालो भवतोत्तर्यः । “ तम् शुचिः शुचयो दी-
दिवाः सम ”^१ । “ येषां सोमस्समृच्छते ”^२ । “ अग्निः स्तोमेन
बोधय ”^३ । शिक्षायां तु—

मात्राद्विमात्रोऽनुस्वारो द्विमात्रान्मात्र एव तु ।

इत्युक्त्या द्विविधस्याप्यनुस्वारस्य संयोगपरत्वे द्वित्वं मात्रि-
फलं चोक्तम्—

मात्रिकादपि संयोगे मात्रिकस्तु द्विरूपवत् ॥ इति ॥^१

तथा यो मात्रिकात्परस्संहिताकाल एव तु भवति तस्यानु-
स्वारस्य मात्राणीरमितः काल इत्युक्तम्—

अनुस्वारश्च यो मात्रस्संहिताकाल एव तु । इति ॥

‘ मात्राद्विमात्रः ’ इत्येतत्तु पदमध्यवर्त्यसंयोगपरविषयमिति चो-
क्तम्—

पदमध्ये द्विमात्रं स्यादेकमात्रं द्विरूपवत् । इति ॥

तस्मात्सिद्धम्—

स्त्रादिसिद्धः^१ परो ह्रस्वादसंयोगपरस्तु यः ।

अनुस्वारो द्विमात्रोऽसावन्यस्सर्वोऽपि मात्रिकः ॥ इति॥

नास्य प्रातिशाख्योक्तिर्विरोधिनी । प्रायिकत्वेनोपपत्तेः । यत्तु
कैश्चित् द्वितीयश्लोकस्य अन्यथा व्याख्यानं कृतम्—दीर्घात्प-
रोऽपि पदमध्यगतोऽसंयोगपरो द्विमात्र एवेति । तत्खलु प्राति-
शाख्यविरुद्धम् । द्विमात्रभूयस्त्वापत्तेः । अनारब्धे त्वस्मिन्
सूत्रे शिक्षायां द्विमात्रानुस्वारबाहुल्यमुक्तं मन्येरन् बाधका-
भावादिति । तन्मा मंसत इत्येवमर्थ एवायमारम्भः ॥ ३४ ॥



द्विस्तावान्दीर्घः ॥ ३५ ॥

तावानिति प्रकृतो द्वस्व उच्यते । द्विरिति द्विरूपः । 'तावान्'
द्वस्वः दीर्घसंज्ञो भवतीति सूत्रयोजना । तात्पर्यं तु—द्वस्वद्वि-
गुणकालस्वरो दीर्घसंज्ञो भवतीति । संज्ञायाः प्रयोजनम्—“दीर्घश्च
समानाक्षरे सवर्णपरे” (१०-२) इत्यादि ॥ ३५ ॥

^१द्वादिसिद्ध इत्यपि क्वचित्पाठः । लघुमाध्यन्दिनशिक्षावामनुस्वार प्रक्रम्य—

ह्रस्वो दीर्घो गुरुश्चेति त्रिविधः परिकीर्तितः ।

ह्रस्वात्परो भवेद्दीर्घो ह्रस्व इति दर्शनम् ॥

दीर्घात्परो भवेद्गुरुः मांगेभ्य इति दर्शनम् ।

गुरो परे ह्यनुस्वारो गुरोरेव हि स स्मृतः ॥

मिथसीति तत्र तावदक्षरे दीर्घ एव सः ।

देवानां हृदये तद्भक्तस्फुराणां यथा मूके ॥

इति मात्रादिविधानात्पाठद्वयमपि साधीय इति मतिः ॥

अत्र पूर्वतरसूत्रस्थं स्वरपदं मण्डूकगतिन्यायेन अनुवर्तते ।
द्विस्तावान् द्विगुणः ह्रस्वद्विगुणकालः वायसरुततुल्यकालस्वरो
दीर्घसंज्ञो भवति । “यो वै देवान्”^१ ॥ ३६ ॥

—००—

त्रिः प्लुतः ॥ ३६ ॥

अत्रापि ह्रस्वोऽनुवर्तते, सान्निध्यात् । त्रिरिति त्रिरूपो ह्रस्वः
प्लुतसंज्ञो भवति । तात्पर्यं त्वत्रापि ब्रूमः, ह्रस्वत्रिगुणकालः स्वरः
प्लुतसंज्ञो भवति इति । संज्ञायाः प्रयोजनम्—“न प्लुतप्रग्रहो”
(१०-२४) इति ॥ ३६ ॥

स्वर इति ताधानिति चानुवर्तते । त्रिस्तावान् ह्रस्वत्रिगु-
णकालः मयूररुततुल्यकालस्वरः प्लुतसंज्ञो भवति ‘छित्तत्ता’^२
इति^३ । निर्धचनं तु-शरादिवहूरगामित्वात्प्लुत इत्युच्यते ॥ ३६ ॥

—००—

ह्रस्वार्धकालं व्यञ्जनम् ॥ ३७ ॥

व्यञ्जनं ह्रस्वार्धकालं भवति । न तु व्यञ्जनमिति संज्ञा ।
अन्यथा “व्यञ्जनकालश्च स्वरस्यात्राधिकः” (१७-९) इत्यत्र
कालशब्दस्य पौनरुक्त्यापत्तेः । यथा—“वाक्”^३ । ह्रस्वस्यार्धं,
ह्रस्वार्धं, ह्रस्वार्ध कालः परिमाणकालो यस्य तत् तयोक्तम् ॥ ३७ ॥

^१ सं. ३-१-९.

^२ सं. १-७-२.

^३ सं. १-३-९.

व्यञ्जनं ह्रस्वार्धतुल्यकालमर्धमात्राकालं भवति । यथा—
'भुवनमसि'^१ उज्जणनमानां त्ववसानवर्तिनां कालाधिक्यं शि-
क्षायां स्मर्यते—

ह्रस्वात्परं तु नासिक्यं द्विमात्रं यत्तदुच्यते ।
दीर्घात्प्लुताच्च तन्मात्रमेकमात्रमिति श्रुतिः ॥ इति ।

तत्रातिप्रसङ्गपरिहाराय श्लोकान्तरं कृतम्—

अवसाने विशेषोऽयमन्येषां च न विद्यते ।
संहितायां तु तन्मात्रः पदकालेऽधिको भवेत् ॥ इति ।

अत्र पूर्वार्धेन अनवसानस्थेष्वतिप्रसङ्गः परिहृतः । संहि-
तायां तन्मात्र इति ह्रस्वात्परस्यापि संहिताप्रयोगकाले मात्रिक-
त्वमेवेत्युच्यते । यस्तु ह्रस्वात्परस्याधिककाल उक्तः स पदाध्याय
पवेत्युक्तम्, 'पदकालेऽधिको भवेत्' इति । तस्मात्सिद्धम्—

ह्रस्वात्परोऽवसानस्थः पदाध्यायेऽनुनासिकः ।
द्विमात्रो मात्रिकस्त्वन्यः संहितायां तथाऽखिलम् ॥ इति ।

अन्ये तु संहिताप्रयोगे पूर्वोक्तो विभागः । पदाध्याये तु
ह्रस्वपूर्वस्य दीर्घप्लुतपूर्वस्य च पूर्वोक्ताभ्यामधिककालतेत्याहुः ।
तदयुक्तम् । स्वतोऽर्धमात्रस्य तदासन्नकालविधिसम्भवे अति-
विप्रकृष्टकालकल्पनानुपपत्तेः । अत्रोदाहरणानि—“ईदृङ् । च
अन्यादृङ् । च । एतादृङ् । च”^२ “वृषण्वसू-इति वृषण्व-वसू”^३
'ग्रहण् । विशाण्'^४ । इति द्विमात्राणि । 'विपूर्चीनान्व्यस्यताम्'^५

^१सं. १—१—१२. ^२सं. १—८—१३. ^३सं. ४—१—२.

^४सं. २—३—३. ^५सं. १—१—१३.

‘सुमङ्गलो^१ । सत्यराजो^२ । लोको^३ । इति मात्रिकाणि ।
तथा अवसानस्थलकारस्य पादोनमात्रत्वमुक्तं शीक्षायाम्—

अवसाने लकारस्य त्रिपादत्वं सदा भवेत् । इति ॥

‘अस्तु । बाल् ।^४ इति दीर्घप्लुताभ्यां परस्य व्यञ्जनस्य
स्वरपरस्य पादमात्रत्वमुक्तम्—

अचः परे विशेषोऽस्ति पादमात्रं विधीयते ।

पूर्वकालो द्विमात्रश्चेदेकं व्यञ्जनमेव यत् ॥ इति ॥

अत्र द्विमात्रग्रहणं त्रिमात्रस्यापि प्रदर्शनम् । तद्यथा—‘आ-
वायो भू^५ । ‘अगाश्नग्रीदित्याह^६ । तथा द्विप्रभृति व्यञ्ज-
नसंयोगे मध्यमानां पादमात्रत्वमुक्तम्—

अस्वरव्यञ्जनं नित्यमणुमात्रं प्रयुज्यते । इति ॥

तद्यथा—‘अत्यन्यानगा^७ । ‘उक्थउक्थे^८ । चतुरादिसंयोगे
त्वन्त्यस्याप्यणुमात्रत्वमुक्तं बहुधाः—

संयोगश्चतुरादीनां व्यञ्जानां यदा भवेत् ।

तदाऽन्त्यव्यञ्जनस्यापि अणुमात्रत्वमिष्यते ॥ इति ।

तद्यथा—‘उक्थयः^९ । ‘तात्स्यः^{१०} । स्वरितग्राहिणां व्यञ्जनानां
कालाधिक्यमुक्तं शीक्षायाम्—

^१ सं. १—८—१६.

^२ सं. ७—४—२०.

^३ सं. ३—३—१०.

^४ सं. ३—४—२.

^५ सं. २—६—५.

^६ सं. १—३—५.

^७ सं. १—४—४६.

^८ सं. १—६—९.

^९ सं. ४—४—३.

स्वाराः कम्पाश्च रङ्गाश्च ये यत्कालास्वभावतः ।

वर्धन्ते प्रोच्यमानास्ते क्षिप्रयत्नेऽपि वक्तुरि ॥ इति ॥

अत्र स्वरितानां कालवृद्धिवचनं तद्ग्राहिव्यञ्जनार्थमेव । वक्ष्यति—
“आदिरस्योदात्तसमश्शेषोऽनुदात्तसम इत्याचार्याः” (१-४६)
इति । तदनुदात्तसमत्वं केषु चित्स्वरितस्वरेषु न भवति ।
किन्तु तदङ्गभूतेषु परव्यञ्जनेष्वेव । तानि स्वरितग्राहीणीत्युच्यन्ते ।
तेषां कालाधिक्यं विना उच्चारणं न घटते । येषु च स्वरितस्व-
रेष्वेव अनुदात्तसमत्वं भवति, तत्र कालाधिक्याभावेऽप्युच्चा-
रणमुपपद्यते । तत्रानुस्वारस्तावत्स्वरितग्राही उत्तमश्च पूर्वा-
ङ्गभूतः । तयोर्द्वित्वे तु परो मात्रिक एव । यद्यलास्तु-
ह्रस्वपूर्वका अन्तस्थापराः । ह्रस्वदीर्घाङ्गभूतास्तु रेफपूर्वका
इति । तत्रायं विवेकः—

स्वरितग्राह्यानुस्वारो द्विमात्रो मात्रिकात्परः ।

दीर्घादध्यर्धमात्रस्स्यात् द्वैरूप्ये मात्रिकं परम् ॥

द्विमात्र उत्तमो ह्रस्वादध्यर्धो व्यञ्जनात्परः ।

दीर्घादनन्तरस्तद्वन्मात्रिको व्यञ्जनान्तरः ॥

द्विमात्रा यलया ह्रस्वादध्यर्धा व्यञ्जनान्तराः ।

दीर्घपूर्वात्परा रेफान्मात्रिका इति निर्णयः ॥

अनुस्वारो यथा—“भरोष्विन्द्र५ सुहव५ हवामहे”^२ “योऽल५
ध्रियै सन्”^३ “अग्नेस्त्रयो ज्याया५सः”^४ “तेपा५ हविष्मा५-
श्च”^५ । उत्तमो यथा—“त्वचं करोति”^६ “अपां वृषण्वान्”^७
“कृष्णो रूपम्”^८ “परिभूर्विश्वान्”^९ “निर्जाल्कफेन शीष्णा”^{१०}

^१स्वरितेतिपद के.पुचित्कोशेषुनास्ति.

^२सं. २—१—११.

^३सं. २—२—८.

^४सं. २—६—६.

^५सं. ७—१—४.

^६भा. १—१—५.

^७सं. १—२—३.

^८भा. ५—७—१३.

यलवा यथा—“एभ्य एवैनं लोकेभ्यः”¹ “शरव्ये ब्रह्म स९-
शिता”² “गोभिर्यज्ञं दाध्वार”³ “अथर्वणः”⁴ “सदीर्यरेव”⁵
“अन्योल्लोकयोः”⁶ ।

अथ कस्मादास्मिन् ग्रन्थे शिक्षाव्याकरणेषु च मात्रिकद्वि-
मात्राणां व्यञ्जनानां ह्रस्वदीर्घसंज्ञे न विधीयते । वर्णान्यत्वा-
भावात् । स्थरंप्वेव हि कालभेदात् वर्णान्यत्वम् । न व्यञ्जनेषु ।
नैवयंसीति—“परौमाणाश्च पञ्चमादिति” (२३-२) इत्यनेन विरोध
इति वक्ष्यामः ॥ ३७ ॥

उच्चैरुदात्तः ॥ ३८ ॥

“आयामो दारुण्यं” (२२-९) इति लक्षणलक्षितः स्वर
उदात्त इत्युच्यते । यथा—‘सः’⁷ इति । संज्ञायाः प्रयोजनम्—
“उदात्तात् परौऽनुदात्तसंस्वरितम्” (१४-२९) इति ॥ ३८ ॥

अत्रापि स्वर इत्यनुवर्तते । तथा व्याकरणे—“अचश्च”⁸
इत्यधिकृत्य उदात्तादिस्वरूपोपदेशात् । समानस्याने मूर्ध्नि आ-
सन्ने उपरिभागे जातेन प्रयत्नेन उच्चार्यमाणस्वर उदात्तगुणक-
त्वादुदात्तसंज्ञो भवति । यथा शुक्लगुणयोगाच्छुक्लः पदः । उ-
दादानमुत्क्षेपः । तद्यथा—“यो वै पचमानानाम्”⁹ ॥ ३८ ॥

—००—

नीचैरनुदात्तः ॥ ३९ ॥

“अन्ववसर्गः” (२२-१०) इति सूत्रलक्षणलक्षितः स्वरोऽ-

¹स. १-६-५.

²स. ४-६-४.

³स. ४-४-८.

⁴स. १-५-११.

⁵स. १-३-७.

⁶स. ५-१-२.

⁷स. १-१-३.

⁸पा. १-३-१८.

⁹स. ३-३-१.

नुदात्त इत्युच्यते । यथा—“अवदताम्”^१ । संज्ञायाः प्रयोजनम्—
“अनुदात्तो न नित्यम्” (४-४३) इति ॥ ३९ ॥

समाने स्थाने हृदयासन्ने अधोभागे जातेन प्रयत्नेन उच्चार्यमाणस्वरोऽनुदात्तगुणकत्वादनुदात्तसंज्ञो भवति । उदात्ताविरुद्धगुणोऽनुदात्तः । “विप्रा अमृता ऋतज्ञाः”^२ । “अवभृथयजूःपि जुहोति”^३ ॥ ३९ ॥



समाहारस्वरितः ॥ ४० ॥

तयोरुदात्तानुदात्तयोर्यः समाहारः सः स्वरित उच्यते । यथा—
“तेऽब्रुवन्”^४ समाद्वियत इति समाहारः । तयोर्भेदनजन्यः स्वरः, स्वरित इत्यर्थः । स्वरितस्वरूपविधिरयं उपरिष्ठात्तु तत्रतत्र स्वरितो वक्ष्यते । यथा—“उदात्तात् परोऽनुदात्तः स्वरितम्” (१४-२९) “उदात्तयोश्च परोऽनुदात्तः स्वरितम्” (१०-१६) “तस्मिन्ननुदात्ते पूर्वं उदात्तः स्वरितम्” (१२-९) इत्यादि ॥ ४० ॥

समाहार उभयोस्संभेदात्मकः यथोक्तभागद्वयजन्मना प्रयत्नेन कर्णमूलभागोऽच्चार्यमाणस्वरः स्वरितगुणकत्वात्स्वारितसंज्ञो भवति । स्वर्यते पार्श्वत उल्लिख्यत इति स्वारितः । “न ह्यग्नेरास्यं किञ्चन”^५ । अत्र शीक्षा—

अनुदात्तो हृदि द्वेयो मूधर्बुदात्त उदाहृतः ।

स्वारितः कर्णमूलीयः सर्वास्ये प्रचयस्स्मृतः ॥ इति ॥

^१ सं. १-७-२.

^२ सं. ४-७-१२.

^३ सं. ६-६-१.

^४ सं. ६-२-३.

^५ मूळमाजो.

^६ सं. २-६-८.

तस्यादिरुच्चैस्तरामुदात्तादनन्तरे यावदर्धः॥ ह्रस्वस्य ॥ ४१ ॥

उदात्तादनन्तरे यः स्वरः स्वर्यते तस्यादिस्तावदुच्चैस्तरामुदात्त-
तरो भवति, यावद्भ्रस्वस्यार्धम् । यथा—“ स इजानः ”^१ ॥ ४१ ॥

अथात्र स्वरित्तस्यरूपं विविधत्वान्निरूप्यते—

उदात्तगुणात्स्वरादनन्तरे अव्यवहितपदे स्वरिते तस्यादि-
रुच्चैस्तरामुदात्ततरमुच्चार्यते । ऋग्रादिषु प्रथमाख्येन यमेन तुल्य-
मित्यर्थः । आदिरित्यनेन पूर्वोशोऽभिहितः । यावदर्धं ह्रस्वस्य
तावन्मात्रमर्धमात्रासम्मितोऽश इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

उदात्तसमश्चोपः ॥ ४२ ॥

द्वयार्धकालाच्छेष उदात्तसमो भवति, न तूदात्त एव । समश-
ब्दप्रयोगात् किञ्चित् न्यूनत्वं प्रतीयते । अन्यथा, स्वरिताभावात् ।
पूर्वोक्तमेवोदाहरणम् ॥ ४२ ॥

योऽर्धमात्रांशात्पर्यंशः स तूदात्तसम एव । ॥ पूर्ववदु-
दात्ततरः । “ य इजानः ”^२ “ प्रउगमुपयम् ”^३ ॥ ४२ ॥

सव्यञ्जनोऽपि ॥ ४३ ॥

केवलस्यायं विधिः पुरस्तादुक्तः, इदानीं व्यञ्जनसहितत्वेऽपि स्वरितस्य तथात्वमुच्यते । सव्यञ्जनोऽपि स्वरित उदात्तादनन्तरोऽन्यो वा उक्तविधिर्भवति । अपिशब्दः स्वरितमाकर्षति । यथा—
“सखिभ्यो वरिवः”^१ “तिप्यः”^२ ॥ ४३ ॥

सव्यञ्जन इति व्यञ्जनपूर्वक उच्यते । तस्यैवालक्षितत्वेन लक्ष्यत्वात् । तेन पूर्वोक्तव्यतिरिक्तः सर्वस्वरितः परिगृह्यते । सोऽपि पूर्वोक्तलक्षणो भवति । “देवस्य त्वा सचितुः प्रसवेऽश्विनोर्वाहुभ्याम्”^३ । तदेवं याजसनेयिनां स्वरितो लक्षितः ॥४३॥

अनन्तरो वा नीचैस्तराम् ॥ ४४ ॥

तस्य स्वरितस्य ह्रस्वार्धकालाच्छेषः ‘नीचैस्तराम्’ अनुदात्त-
तरो वा भवति । ‘अनन्तरः’ शेष इत्यर्थः । तदेवोदाहरणम् ॥४४॥

अथ शाखान्तरीयो लक्ष्यते—

अनन्तर इत्युदात्ततरादंशात्परोऽंश उच्यते । स नीचैस्तरा-
मनुदात्ततरं बोधायते । स तु पार्श्वत उत्क्षेपणात्स्वरितात्मको
भवति । अनुदात्ततरत्वं तु अधोभागे दृढप्रयत्नमात्रेण वेदित-
व्यम् । आदिः पूर्ववत् । उक्तान्येवोदाहरणानि ॥ ४४ ॥

अनुदात्तसमो वा ॥ ४५ ॥

तस्य स्वरितस्य स एव शेषः अनुदात्तसमो वा भवति । तदे-
वोदाहरणम् ॥ ४५ ॥

अन्यशाखास्थोऽपि लक्ष्यते—

स एव शेषोऽनुदात्तसमो वा भवति । अधोभागजातेन
अदृढप्रयत्नेन पादवृत्त उत्क्षेपणात्स्वरिततात्मकश्च भवति । आदिः
पूर्ववत् । तान्येवोदाहरणानि । एवमुक्तास्त्रयदशाखान्तरीयाः
स्वरिताः । ते यमा यद्यप्यस्माकं नेष्टाः । तथाऽप्यस्मदीयस्य स्वरि-
तस्य तद्विलक्षणस्वरूपप्राकट्यार्थमेव उपदिष्टाः । एवमुत्तरत्रा-
प्यनिष्टपक्षोपदेशानां प्रयोजनमनुसन्धेयम् ॥ ४५ ॥

आदिरस्योदात्तसमश्शेषोऽनुदात्तसम इत्या- चार्याः ॥ ४६ ॥

तस्यैव स्वरितस्यादिर्ह्रस्वार्धकालः उदात्तसमो भवति । शेषस्त्व-
नुदात्तसमो भवति इत्याचार्या ब्रुवते । यथा—“सखिम्यो वारिवः”
‘तस्यादिः’ (१-४१) इत्यारम्याभिहितेऽस्मिन् विकल्पजाले सूत्रमेत-
देवेष्टम् । “प्रच्छिष्टप्रातिहतयोर्मृदुतरः” (२०-११) “तेरोव्यञ्जन-
पादवृत्तयोः” (२०-१२) इति लक्षणानुकूल्यात् । न त्वस्वरितनमपि
सूत्रमिष्टम्, एतच्छ्रृणुप्रातिकूल्यात् ॥ ४६ ॥

इदानीं स्वमतमुच्यते—

तस्येति प्रकृते पुनरत्र 'अस्य' इति यत्नः प्रक्रियान्तर-
प्रकटनार्थः । तेनात्रादिरर्धमात्रापरिमित इति नियमो न भवति ।
किन्त्वङ्गभूतपूर्वोत्तरव्यञ्जनसहितस्य क्वचित्स्वरार्थपर्यन्तोऽश
उदात्तसमो भवति । क्वचित्स्वरपर्यन्तः क्वचित्पारितमैकव्यञ्ज-
नपर्यन्त इति त्रिविध आदिः । शेषश्च क्वचित्स्वरार्थात्मकः
क्वचित्स्वरार्थव्यञ्जनात्मकः क्वचिद्व्यञ्जनात्मकः इति त्रिवि-
धः । सोऽनुदात्तप्रयत्नेन कर्णमूलभाजा स्वारितात्मको भवति इत्या-
चार्या उपदिशन्ति । तत्रैवं विवेकः—

पूर्वांशस्वरितग्राहिव्यञ्जनादुच्चवद्भवेन् ॥

तदभावे^१ तु दीर्घांशः शेषौ नीचसमाविह ॥

यत्र स्वरितस्वरात्परं स्वरितग्राहि व्यञ्जनमस्ति तत्र तस्माद्व्यञ्ज-
नात्प्राक्तनोऽश उदात्तसमो भवति । ह्रस्वे दीर्घे च समानमे-
तत् । यस्मात्तु दीर्घस्वरितात्परं स्वरितग्राहि व्यञ्जनं नास्ति
तस्य पूर्वार्धं मात्रापरिमितमुदात्तसमं भवति । एवमुक्तविषय-
द्वये^२ यौ शेषौ स्वारितग्राहिव्यञ्जनं^३ दीर्घोत्तरार्धं च^३ एतौ
उभौ अनुदात्तसमौ भवत इति । तत्रैव स्वारितग्राहिव्यञ्जनस-
ङ्गहः—

स्वरितग्राहानुस्वारस्तथा पूर्वाङ्गमुत्तमम् ।

तयोर्द्वित्वे परस्याङ्गं^३ पूर्वाङ्गं चेत्तदेव तु ॥

तथा^१ पूर्वाङ्गभूताश्च यलवा रेफपूर्वकाः ।

ह्रस्वादनन्तरात्त्वेते यद्यन्तस्थापरास्तथा ॥

इति । तत्र स्वरार्थपर्यन्त आदिर्यथा—“सं त्वा सिञ्चामि”¹ ।
 “विश्वरूपो वै”² । “अयं यस्तोमो न्यधाव्यस्मे”³ । “यथा
 व्याघ्रम्”⁴ । अत्र स्वरितप्राहिव्यञ्जनाभावादेवं भवति । स्वरप-
 र्यन्त आदिर्यथा—“श्रोत्रं सौव्यम्”⁵ । “प्रियमासधस्थम्”⁶ ।
 “यजान् य आज्यभागौ”⁷ । “कल्पाञ्जुहोति”⁸ । “तेनैवैनं युन-
 क्ति”⁹ । “शरव्ये ब्रह्मसंशिता”¹⁰ । अत्र स्वरितादनन्तरस्य व्यञ्जनस्य
 स्वरितप्राहित्यादेवं भवति । उपरितनैकव्यञ्जनपर्यन्त आदिर्यथा—
 “अश्मन्ते भुदमुं ते शुक्”¹¹ । “तस्माद्ददन्प्राणन्”¹² । “अहमी-
 सेन”¹³ । “होतर्यपिष्ट”¹⁴ । “यत्पूतीकैर्वा”¹⁵ । अत्र स्वरितप्राहिणौ
 व्यञ्जनान्तर्हितत्वादेवं भवति ॥ ४६ ॥

सर्वः प्रवण इत्येके ॥ ४७ ॥

प्रवणशब्दः स्वरितपर्यायः । सव्यञ्जन एव स्वरित आदि-
 त आरम्य सर्वः प्रवणो भवतीति ‘एके’ आचार्याः उचिरे ।
 यथा—“सतिम्यो धरिवः”¹⁶ ॥ ४७ ॥

प्रकारेण घन्यते व्युत्क्रियते इति प्रवणः । स्वरितस्वरोऽ-
 यं सर्वः शुक्ल एव स्वरितो भवति । न त्वस्य आदितः कश्चि-
 द्दन्ता उदात्तसमीपस्तीत्येके आचार्या उपदिशन्ति । यस्मात्तु स्व-

१ग. १—६—१.

२ग. २—६—१.

३ग. २—२—१२.

४ग. ५—४—११.

५ग. ४—१—२.

६ग. ५—१—११.

७ग. २—६—३.

८ग. ६—४—८.

९ग. ५—५—३.

१०ग. ६—६—४, १.

११ग. ५—२—१०.

१२ग. ५—७—२०.

१३ग. १—२—१४.

१४ग. २—५—३.

१५ग. ३—३—११.

स्वरितात्परतः स्वरितग्राहि व्यञ्जनं नास्ति तद्विषयमेतत्सूत्रम् ।
यथा—“घायवस्थोपायवस्थ”^१ । “स्वरुत हरिण उपदधाति”^२ ।
प्रयतिराशो भवति”^३ । एवमस्य सूत्रद्वयस्य व्याख्यानं—

अपूर्व स्वयंते ह्रस्वो दीर्घोऽन्त्यांशे तदुत्तरौ ।

नादानुस्वारकावेच स्वयंते पूर्व उच्चवत् ॥

इति शिक्षावचनं मूलमित्यनुसन्धेयम् ॥ ४७ ॥

नानापदवद्विज्ञानमसङ्ख्याने ॥ ४८ ॥

इदञ्चपदं नानापदवद्व्यत्यसङ्ख्याने विषये । नानापदवदिति
किम् ? “ओपतात्तिमहेते”^४ “तत् प्रवाते”^५ इत्यादौ “आका-
रैकारपूर्वस्तु बहुस्वरस्य तेथे” (४-४०) इति प्रग्रहत्वं मा भूदिति ।
असङ्ख्यान इति किम् ? “द्वे” “परश्च” “एकव्यवेतोपि”
(४-४९, ५०, ५१) इति वक्ष्यति । “द्वे सवने शुक्रवती”^६ इत्यत्र
प्रग्रहत्वं भवत्विति वदाम् । नानापदमिव नानापदवत् ॥ ४८ ॥

पदमत्र समान्नायप्रसिद्धं अभिमतम् । न व्याकरणप्रसि-
द्धम् । कुतः ? “अप्यकारादि” (१-१२) इत्यादिवचनसामर्थ्यात् ।
इदञ्चमिति विभागवत्पदस्य संज्ञा । इदञ्चते विभागेन चाल्यत
इति इदञ्चम् । सङ्ख्यानं चात्र पदानामेव पर्युदस्यते पदसम-
भिव्याहारात् । तदयमर्थः—इदञ्चपदमस्मिन् शास्त्रे नानापद-

^१स. १—१—१.

^२स. ५—२—४.

^३स. ७—३—३.

^४स. १—२—१४.

^५स. ६—४—७.

^६स. ६—१—६.

वत्पृथक्पदे इव भवति षट्सङ्गयान्संयुक्तविधिविषयं वर्जयि-
त्वेति । नन्विङ्गयखण्डयोरपि विभागाध्ययनात्सिद्धं नानापद-
त्वमविधेयम् । नैतदेवम् । न हीङ्गयस्य द्विविधोच्चारणात्पदभेदो
भवति । “उपायव इत्युप—आयवः”^१ इति पदैक्यप्रकटन-
पूर्वकमेव विभागाध्ययनात् । एतच्च “स्थोपायवः । उपा-
यवस्थ”^२ इति क्रमाध्ययनादवसीयते । अत एव ‘इषे त्रिच-
त्वारिंशत्’ इत्यादिसङ्गयापाठाः । तस्माद्विधेय एव नानापद-
यद्भावः । किं प्रयोजनमस्य विधेः? तदुच्यते—“ससादास्तु-
जातिप्रायेण” (१-१२) इति ह्रस्वत्वं वक्ष्यति । तदनिङ्गय एव
स्यात् । ‘अग्निर् होता निपसादा यजीयान्’^३ इति । इङ्गयखण्डे
तु न स्यात् । “ऋषिर् होता निपसादा पिता नः”^४ इति । कुतो
न स्यात्? “पदब्रह्मणेषु पदं गम्येत” (१-५०) इति निय-
मात् । तथा “छे” “परञ्च” (४-४९, ५०) इति प्रप्रहं वक्ष्यति
तदनिङ्गय एव स्यात् । “छे एव यजेत”^५ इति । इङ्गयखण्डे
तु न स्यात् । ‘छे छे सम्भरति’ इति । तथा “अन्तरनाद्यु-
दात्तं” (८-१०) इति रेफं वक्ष्यति । सोऽनिङ्गय एव स्यात्
‘अन्तर्यच्छ मघयन्’^६ इति । इङ्गयखण्डे तु न स्यात् । “अ-
न्तर्पेचम्यः पादो भवति” इति । नानापदयद्भावे सति तत्रामीष्ट-
सिद्धिः । किञ्च—“आकार एकारपूर्वस्तु यदुस्वरस्य तेष्वे”
(४-४०) इति प्रप्रहत्वं वक्ष्यति । स इहऽपि स्थान् । “तत्प्रयाते
विपजान्ति” । “न्यमिन्ना२ ओपतात्तिग्महेने”^७ इति । नानापद-
यद्भावे सति त्विष्टानिष्टं न भवति । असङ्गयान् इति किम्?

^१ सं. १-१-१.^२ सं. १-१-१४.^३ सं. ४-१-२.^४ सं. २-५-५.^५ सं. १-१-८.^६ सं. १-४-२.^७ सं. १-५-११.^८ सं. १-४-४.^९ सं. १-२-१४.

वक्ष्यत्येतत् "ताभ्यामेवोभाभ्यां" (४-९२) इत्यन्तत आपष्टात्र-
ग्रहानिमित्तम्^१ । अत्र पदसङ्ख्यानस्यापर्युदासे, "एते वै यज्ञस्या-
जसायनी स्रुतो ताभ्यां"^२ इत्येतेशब्दस्य "ये द्वे अहोरात्रे एव
ते"^३ इति येशब्दस्य चान्तः प्रग्रहो न. स्यात् । अथ किमर्थं
पदसङ्ख्यानस्यैव पर्युदास आश्रीयते ? तदुच्यते—यदि "यदुस्य-
रस्य तेथे" (४-४०) इति स्वरसङ्ख्यानस्याप्ययं पर्युदासस्स्यात्
"तत्प्रघाते चिपजन्ति"^४ इत्यादावपि प्रग्रहत्वं स्यात् । तद्विवृ-
त्त्यर्थमिति ग्रामः ॥ ४८ ॥

तस्य पूर्वपदमवग्रहः ॥ ४९ ॥

तस्य इङ्गचपदस्य पूर्वपदमवग्रह इत्युच्यते । यथा—
"देवायत इति देव-यते"^५ । अवग्रहसंज्ञायाः प्रयोजनं—"नाव-
ग्रहः" (४-२) इत्यादि । पदावग्रहशब्दयोर्नियतलिङ्गत्वादन्वो-
न्यान्वयः सम्भवति ॥

तस्येङ्गचस्य यत् पूर्वखण्डरूपं पदं तस्यावग्रह इति संज्ञा ।
यथा—"उपाययः"^६ इत्यत्र उपशब्दः । "श्रेष्ठतमाय"^७ इत्यत्र
श्रेष्ठशब्द इति । संज्ञायाः प्रयोजनम्—"अवग्रह आशीर्धुस्सुवः"
(५-१०) इत्यादिव्यवहारः ॥ ४९ ॥

^१ इत्येते आपष्टात्रग्रहानिमित्ते इति, इति पाठान्तरम्.

^२ सं. ७-३-७.

^३ सं. ७-४-४.

^४ सं. ६-४-७.

^५ सं. ३-५-५.

^६ सं. १-१-१.

पदग्रहणेषु पदं गम्येत ॥ ५० ॥

पदग्रहणेषु सूत्रेषु गृहीतं पदमेव गम्येत ज्ञातव्यं न पदैकदेशः
यथा—“त्वे इत्यनिङ्गचान्तः” (४-१०) इति वक्ष्यति । तथा-
सति ‘त्वे क्रतुम्’ इति प्रग्रहो भवति । “क्रत्वे दक्षाय”^२
इति पदैकदेशत्वात् भवति । गृह्णन्तीति ग्रहणानि पदानां ग्रह-
णानि पदग्रहणानि तेषु ॥ ५० ॥

यानीह ग्रहणानि तत्स्वरूपस्य पदस्य सद्भावात्पदग्रहणानि
भवितुमर्हन्ति, पदैकदेशस्य च सद्भावात् तदैकदेशग्रहणानि च
तद्विषयोऽयं नियम आरभ्यते । पदग्रहणेषु सम्भवत्सु पदमेव
प्रतीयेत । न तु पदैकदेशोऽपि । यथा—“अघासचस्व”
(१-८) इति ह्रस्वार्थेऽवाग्रहणे “अघानो देव्या रूपा”^३ इति
पदमेव गृह्यते । न तु पुनः “त्रिभिर्ऋणया जायते”^४ इति
पदैकदेशश्च । तथा “ईंपूर्वो मकारः” (५-१२) इति लोप-
निमित्ते ईंग्रहणे । “ईमन्द्रा सुप्रयसः”^५ इति पदमेव गृह्यते ।
न तु “पृथिवीं मा हिंसीः”^६ इति पदैकदेशश्च । अत्र ग्रहणे-
ष्विति यचनाद्वृणमायकृपासु संज्ञास्वयं नियमः । न तु “ची-
यत्प्रपरः” (४-११) “नकारदशकारं च परः” (५-२०) इत्य-
कारान्तासु संज्ञास्विति चेदित्यत्र ॥ ५० ॥



^१त. १-५-१०.

^२त. ४-१-४.

^३त. ४-१-८.

^४त. १-२-५.

^५त. ५-३-१०.

^६त. ४-२-५.

अपि विकृतम् ॥ ५१ ॥

अपिशब्दः पदमन्वादिशति । पदग्रहणेषु विकृतमपि पद-
मवगन्तव्यम् । यथा—णत्तापत्तो “वा हनः” (७-६) इति
ग्रहीष्यते पदमिति कृत्वा विसर्जनीये ओत्वमापन्नेऽपि णत्वं नैव
निवर्तते । “प्रवाहणो बन्धिः”^१ “एष स स्यः” (९-१९)
इति विसर्जनीयलोपग्रहणं पठिष्यते । “अयमुप्य प्रदेवयुः”^२ इत्यत्र
सकारे पत्वमापन्नेऽपि विसर्गलोपो भवत्येव ॥ ५१ ॥

पदग्रहणेषु पदं वक्ष्यमाणकार्ययोगाद्विकृतमपि प्रतीयेत ।
न तु विकृतरूपस्यान्यत्वादप्रत्ययः । यथा—“अवासचस्वानुदा”
(३-८) इति जुदापदस्य ह्रस्वत्वं वक्ष्यति । तत्पदं क्रमाध्याये
णत्वयोगाद्विकृतमपि कार्यभागभवत्येव । “अग्ने जातान् । जातान्प्र।
प्रणुद”^३ । तथा स्तरीमापदं पत्वट्त्वाभ्यां विकृतमपि कार्य-
भागभवत्येव । “स्तीर्णं बर्हिः । बर्हिस्सुष्टरीम्”^४ । “उद्धा-
परश्च” (९-२४) इति प्रतिषेधं वक्ष्यति । उत्पदमुत्तमापत्त्या विकृ-
तमपि निमित्तं भवत्येव । “अमित्रानुन्नयामि स्वा५ अहम्”^५ ।
अथापदं ह्रस्वापत्तया विकृतमपि क्रमाध्याये प्रतिषेधनिमित्तं
भवत्येव । “अवो यक्षि । यक्षि विद्वान् । विद्वानथ”^६ ॥ ५१ ॥

^१सं. १—३—३.^२सं. ३—५—११.^३सं. ४—३—१२.^४सं. ५—१—११.^५सं. ४—१—१०.^६सं. ३—२—११.

अप्यकारादि ॥ ५२ ॥

अत्रापि अपिशब्दः पदान्वादेशकः । पदग्रहणेप्यकारादि अपि पदं विज्ञेयम् । यथा—“ श्वर्ता वयुना ” (१-२) इति ह्रस्वादेशे वक्ष्यति । अकारादेरपि तस्य श्वाग्रहणस्य ह्रस्वत्वं भवति यथा—
“ अश्वावन्तः सहस्रिणम् ”^१ । अकार आदिर्न्यस्य तत्तथोक्तम् ॥ ५२ ॥

पदग्रहणेप्यकाराद्यपि तत्पदं प्रत्येतद्व्यम् । यथा—“ श्वर्ता वयुना ” (१-२) इति श्वापदस्य विहितं कार्यं ‘ अश्वावन्तः सहस्रिणम् ’ इत्यश्वापदेऽपि भवति । “ गोशुष्मः ” (११-१६) इति गोपदस्योक्तानिमित्तत्वं “ वगोर्धः सोमं कुर्यात् ”^२ इत्यगोपदेऽपि भवति ॥ ५३ ॥

अन्कारादि च ॥ ५३ ॥

नकारः पदमिति बोधयति । पदग्रहणेप्यन्कारादि अपि पदं विज्ञेयम् । “ अ० शु ” (१९-२९) इत्यनुस्वारागमे वक्ष्यति । अन्कारादेरपि तस्यानुस्वारागमः स्यात् । यथा—“ अन० शु कुर्यन्तः ”^३ । अन्कार आदिर्न्यस्य तत्तथोक्तम् । नन्वत्र सूत्रे अन्नित्यस्य कारोत्तरत्वं कथं क्रियते “ वर्णः कारोत्तरः ” (१-१९) इति सूत्रे वर्णमात्रस्य कारोत्तरत्वविधानमङ्गप्रसङ्गात् । उच्यते ।

^१ स. १-१-११.

^२ स. ९-१-१०.

^३ स. १-१-११.

^४ स. १-२-२.

सत्त्वं, एतच्छास्त्रबलान्न क्रियते किन्तु शास्त्रान्तरबलात् क्रियते ।
यथा—पाणिनीयाः एवकारः, अपिकारः, इत्यादीनां साधुतां कथ-
यन्ति । एवमत्रापि । एवं “अःकार आगम” (१-२३) इत्य-
त्रापि चोद्यपरिहारो विज्ञेयो ॥ ५३ ॥

व्याख्यातमेतत्पूर्वसूत्रेण । उदाहरणं तु—“अनूहनू” (३-७)
इत्यनूशब्दस्योक्तं निमित्तत्वं^१ अनूशब्देऽपि भवति । ‘प्रयाजवद-
ननूयाजम्’ इति । अत्र विकृतादीनां पृथक्सूत्रकरणं विकृतादीनां*
व्यस्तानामेव योगे पदप्रत्ययः न समुदितानामित्येवमर्थम् ।
ततश्च “नाधामाधारय” (३-८) इत्युक्तं ह्रस्वत्वं “प्राणा वै
सजाताः”^३ इति णत्वाकारादित्वयोस्समवाये न भवति ॥ ५३ ॥

एकवर्णः पदमपृक्तः ॥ ५४ ॥

एकश्चासौ वर्णश्च एकवर्णः । स चेत् पदं भवति, सोऽपृक्त-
संज्ञः स्यात् । यथा—“स उवेकविंशवर्तनिः”^४ । पदमिति
किम्—“यज्ञपताश्चिविति”^५ । संज्ञायाः प्रयोगश्च—“उकारोऽपृक्तः
मकृत्या” (९-१६) इति अपृक्त इति व्यञ्जनेनासंयुत इत्यर्थः ॥

पदात्मक एकवर्णोऽपृक्तसंज्ञो भवति । न चात्रैकशब्दा-
भावेऽप्येकत्वावगमात्तद्वानर्थक्यं शङ्कनीयम् । अपृक्तसंज्ञाया अन्य-
र्थत्वख्यापनार्थत्वात् । यथा—‘आ ददे’^६ ‘उलोकमग्ने’^७ ‘ओ ते

^१ कार्ये इति पाठान्तरम्.

^२ स. ६—१—५.

^३ स. २—६—९.

^४ सं. ४—३—३.

^५ सं. ६—६—२.

^६ सं. १—१—९.

^७ स. १—४—४६.

^८ विकृतादीनां.

यन्ति^१ । संज्ञायाः प्रयोजनं—“उकारोऽपृक्तः प्रकृत्या’ (१-१६)
इत्यत्र चक्ष्यामः ॥ ५४ ॥

आद्यन्तवच्च ॥ ५५ ॥

चकारान्वादिष्टं तदपृक्तसंज्ञं पदं आदिवदन्तवच्च कार्यभाक्
भवति । आदिवद्यथा—“स उवेकविंशवर्तनिः”^२ इत्यत्र “तस्या-
दिरुच्चैस्तरां” (१-४१) इति कार्यं भवति । अन्तवद्यथा—
‘ओ ते यन्ति’^३ इत्यत्र ‘अन्तः’ (४-२) इति प्रग्रहकार्यं भवति ।
आदिश्चान्तश्च आद्यन्तो, ताविव आद्यन्तवत् ॥ ५५ ॥

आदिश्च अन्तश्च आद्यन्तौ तयोरिव । चशब्दः अपृक्त-
संज्ञं घर्णमन्यादिशति । अपृक्तस्यादिवदन्तवच्च कार्यं भवति ।
यदिष्यति ह्याचार्यः—“तृतीयः स्वरघोषवत्परः” (८-३) इति
तत्र पदादिभूतेष्वेव स्वरघोषवत्सु परतः कार्यमिष्यते । ततश्च
“उपभृदेहि”^४ । “सेदु होता”^५ । इत्यादौ प्रथमस्य तृतीयादेशो
न स्यात् अपृक्तस्यादित्वाभावात् । यस्मात्परं किञ्चिदस्ति पूर्वं
नास्ति स आदिर्नित्युच्यते । तथा—‘ओकारः पदान्तः प्रग्रहो
भयति’^६ इति चक्ष्यति । “ओ ते यन्ति”^७ इत्यत्र तत्र स्यात् । अपृ-
क्तस्यान्तत्वाभावात् । यस्मात्पूर्वं किञ्चिदस्ति परं नास्ति स अन्त
इत्युच्यते । अस्माद्विधिवचनादपृक्तेऽपि कार्यसिद्धिः ॥ ५५ ॥

^१ सं. १-४-१३.

^२ सं. ४-३-३.

^३ सं. १-४-१३.

^४ ए. १-१-१३

^५ सं. १-१-१४.

^६ अत्रैव ४-६ सूत्रे.

वर्णस्य विकारलोपौ ॥ ५६ ॥

वर्णमात्रस्य विकारलोपौ स्यातां न तु सर्वस्य पदस्य । विका-
रस्तावत्, “ धूरणाहौ ”^१ इति । लोपस्तु, “ स ते जानाति ”^२ ॥ ५६ ॥

पदस्य यौ विकारलोपौ विधास्येते “ अवग्रह आशीर्धूस्तु-
चरिति रेफम् ” । “ अवग्रह इत्येकम् ” (५-१०, १८) इति तावेक-
स्यैव वर्णस्य वेदितव्यौ । न कृत्स्नस्य पदस्य । नन्वेवं सति
कतमस्य वर्णस्येति नावगम्यते । तदुच्यते—पदसंहिता हि पदा-
न्तस्य पदादेश्च भवति । तयोरन्यतरस्य भविष्यतः । कतर-
स्येति तु तत्रैवावगम्यते ॥ ५६ ॥

विनाशो लोपः ॥ ५७ ॥

वर्णस्य विनाशो लोपसंज्ञो भवति । यथा—“ ईमन्द्रा सुम-
यसः ”^३ । संज्ञायाः प्रयोजनं—“ अथ लोपः ” (५-११) इत्यादि ।
वर्णस्य नित्यतां केचिदाहुः । तन्निराकरणाय व्याकरणानुसारेण
सूत्रमेतदभाणि ॥ ५७ ॥

विनाशः पदावस्थायां श्रुतस्य संहितायामदर्शनं लोपसंज्ञो भव-
ति । अदर्शनं चानुच्चारणम्^४ । ततश्च “ ईंपूर्वो मकारः ” (५-१२)
“ लुप्यते ” (११-१) इत्यादिषु अनुच्चारणमेव विधित्सितं वेदि-
तव्यम् । प्रध्वंसो लोप इति त्वयुक्तम् । उच्चारितप्रध्वंसिनां वर्णा-
नां संहिताकालपर्यन्तमनवस्थानात् ॥ ५७ ॥

^१ सं. १-२-८.

^२ सं. १-२-१४.

^३ सं. ४-१-८.

^४ चानुच्चारणात्.

अन्वादेशोऽन्त्यस्य ॥ ५८ ॥

निमित्तस्य निमित्तिनो वा अन्त्यस्यान्वादेशो भवति । निमि-
त्तीति प्रधानं कार्यमागिति यावत् । निमित्तस्य यथा—“ह्रन्या-
दुप्यमानं च” (७-३) इत्यन्त्यस्य निश्शब्दस्य । निमित्तिनो यथा—
“अकारस्तु संहितायामपि” (५-८) इत्यत्र “सुश्लोकाँ४”^१ इत्यन्त्य-
स्य अकारस्य । अन्त्यस्येति किं “ब्रह्मा३न्त्व५राजन्”^२ “अग्ना३
इत्याह”^३ “विचित्यस्सोमा३ न विचित्या३ इति”^३ ॥ ५८ ॥

“चापीत्यन्वादेशको” (२२-६) इति वक्ष्यति । ताभ्याम-
न्वादेशः क्रियमाणोऽन्त्यस्यैव चेदित्यव्यः । न तु समासनिर्देशा-
त्सर्वस्येति । यथा—“पुपूकृधिसुवः” (७-२) इत्यादिसूत्रादन-
न्तरं “ह्रन्यादुप्यमानं च” (७-३) इत्यन्वादेशो निष्पूर्व इत्य-
स्यैव भवति । न सर्वस्य । “अघर्णव्यधेतोऽपि” (७-५) इत्यत्र
त्वनन्त्यस्याप्यन्वादेशो कारणं तत्रैव वक्ष्यामः ॥ ५८ ॥

उपवन्धस्तु देशाय नित्यम् ॥ ५९ ॥

उपवन्धस्तु स्वदेशायेव नित्यं निर्देशको भवति । उपवन्धत
इत्युपवन्धः । एतस्मिन्नित्यधिकरणरूपः सङ्ख्यानविषयः प्रदेशश्च
उपवन्ध उच्यते । यथा—“इरावती” (४-२२) इत्यादि सूत्र-

^१ सं. १-८-१९.

^२ सं. ६-५-८.

^३ सं. ६-१-९.

^४ समनिर्देशा.

द्वयं, “सोमाय स्वैतस्मिन्” (४-४८) “गमयतो भवतः” (४-९२) इति च । उपबन्धे यदुक्तं तदन्यत्र न भवतीति तु-
 शब्दार्थः । यथा—‘इत्याह देवी होषा देवस्तोमः’^१ । अत्र
 त्रिपदप्रभृतिन्यायेन “पूर्वने प्रमृत्वायं” (४-२३) इति प्राप्तिः
 अन्यत्र यो निषेधः स उपबन्धे न भवतीति नित्यशब्दार्थः । यथा—
 “सदोहविर्धाने” (४-११) इति प्रग्रहो ग्रहीष्यते । केवलं
 हविर्धाने इति सर्वथा न प्रग्रहो गृह्यते । यथा—“हविर्धाने
 खायन्ते”^२ इत्ययमन्यत्र निषेधो “हविर्धाने प्राची प्रवर्तयेयुः”^३
 इत्यत्र न प्रसरति । “गमयतो भवतः” (४-९२) इत्यादिना
 प्राप्तिः । नन्वेतदनुपपन्नम् । अन्यत्र निषेधस्य कचिदुपबन्धेऽपि दर्श-
 नात् । यथा—“अथ मिथुनी भवतः”^४ इत्यत्र “गमयतो भवतः”
 (४-९२) इत्युपबन्धप्राप्तिः । “न ग्रामी” (४-९३) इत्या-
 दिना अन्यत्र निषेधेन निषिध्यते । तथा—“वायव आरोहण-
 वाहौ”^५ इत्यत्र “सोमाय स्व” (४-४८) इति प्राप्तिः । “अते
 समानपदै” (४-९४) इत्यनेन अन्यत्र निषेधेन निषिध्यते ।
 अत्रोच्यते—‘ग्रामी वायवे मनवे’ इत्यादीनां कण्ठोक्तत्वादेव निषेधः
 प्रसरतु, केवलहविर्धाने प्रग्रहो न इत्यार्थिको निषेधो न प्रस-
 रत्येव । आर्थिककण्ठोक्तयोः कण्ठोक्तस्य प्राबल्यात् । ननु “अते

१ सं. ६-१-७.

२ सं. ६-२-११.

३ सं. १-१-२.

४ सं. ६-५-८.

५ सं. ५-६-२१.

अवे ” (४-१४) इत्यनयोः कण्ठोक्तचैवालं, तत्र नित्यग्रहणेन
 किम् । उच्यते—नितरां परिहारः । कण्ठोक्तिरुपबन्धप्राप्तिमेव
 निवर्तयति । नित्यशब्दस्तु प्राप्त्यन्तरमपि परिहरति । यथा—“ द्वे
 जाये विन्दते ”^१ इत्यत्र “ एकव्यवेतोपि ” (४-९१) इति प्राप्तिः ।
 “ वनस्पते वीड्वङ्गः ”^२ इत्यत्र “ वीड् ” इत्यादिप्राप्तिः । एवमाद्यु-
 हनीयम् । माहिपयमतानुसारेणैवं प्रपञ्चितम् ॥ ५९ ॥

उपशब्दस्समीपवाची । उपवध्यत इत्युपबन्धः । इह त्रिविधं
 शब्दरूपं कार्यविधिषु तत्सम्बन्धितया ग्रहीष्यते कार्यभाक् निमि-
 त्तमुपबन्ध इति । तत्र यदभक्तकार्यात्कार्यभाजश्च पूर्वं परं वा
 पदात्मकं पदैकदेशात्मकं वा संहितास्त्रायस्थं शब्दरूपं पूर्वत्वेन
 परत्वेन वा कार्यविधिषु निर्दिश्यते, कार्यभाजो वा पर-
 त्वेन पूर्वत्वेन वा निर्दिश्यमानस्यावधितया तत्सर्वं निमित्तम् ।
 यथा—“ विभागे हस्यं व्यञ्जनवरः ” (३-१) “ असम्पूर्वोऽस्मृ-
 फारः ” (५-९) इति । यत्त्वेवलक्षणाभिनिमित्तादन्यच्छब्दरूपं पूर्व-
 त्वेन परत्वेन वा कार्यहेतुतया कार्यभाजो निमित्तस्य वा स-
 मीपे नियध्यतं ततः पूर्वमुत्तरं वा तदुपबन्ध इत्युच्यते । स
 यत्तु स्वयोध्याय देशाय नित्यं प्रभवति । पृथग्भूतोपि कार्यं
 साधयत्येव । देशान्तरव्यावृत्तिर्हि^३ तस्य प्रयोजनम् । न तु पृथ-
 ग्भाये कार्यनियुक्तिः । यथा—“ हि द्वात्यन्तरा ” (१-८) इति
 हस्यविधाने पठितौ ‘ हि ’ ‘ त्वम् ’ इत्युपबन्धौ पदाध्याये पृथ-
 ग्भूतापि हस्यकार्यं साधयतः । “ आपः । हि । स्थ । ”^४ “ अग्ने ।

^१ सं. ६-९-४.^२ सं. ४-६-६.^३ व्यावृत्तिरेव.^४ सं. ५-६-१.

त्वम् । तर ।” इति “इद्धिदग्ने” (५-१७) इति लोपनिमित्त-
 स्येच्छब्दस्य उपयन्धौ ‘उ’ ‘अग्ने’ इत्येतौ क्रमाध्याये पृथग्भू-
 तावपि कार्यं साधयतः । “सेत् । इदु । उ होता”^१ “सेत् ।
 इदग्ने । अग्ने अस्तु”^२ इति । तुशब्दो निमित्तं विनिवर्तयति ।
 तद्धि कार्यभाजः प्रतिसम्बन्धि । तस्य विभागविषयस्य विभां-
 गाभावे सन्धानविषयस्य च सन्धानाभावे कार्यं न भवति । यथा—
 “इन्द्राद्यद्वयान्तरः” (३-३) । “इन्द्रायतीमपचित्तीम्”^३ “अकु-
 र्वं च प्रत्ययात्परः” (५-३) । “इपुम् । समिति । अकुर्वत ।”^४
 अन्ये तु व्याचक्षते—“इरायतीप्रभृत्यादाधार” (४-२९) इत्या-
 दिनिर्देशानियन्ध एव उपयन्ध इति । तेषां इरायतीप्रभृतिदेश-
 स्थस्य मनवेशब्दस्य “सोमाय स्वराज्ञे” इत्यनुयाकस्थयोः राज्ञे-
 चायवेशब्दयोश्चान्तः प्रग्रहस्स्यात् । ननु “नष्टे अहे नित्यम्”
 (४-३९) “अते समानपदे नित्यमवे चावे च” (४-५४) इति
 नित्यप्रतिषेधात्तत्र स्यात् । यद्येवमनारम्भणीयमेवैतत्सूत्रम् ।
 प्रयोजनाभावात् । अपि चास्मिन् व्याख्यानेऽस्मदुक्तोपयन्धानां
 निमित्तान्तर्भावात् तत्पृथग्भावे कार्याणि न स्युरित्यलं प्रपञ्चेन ॥

—०—

नानापदीयं च निमित्तं प्रग्रहस्त्रादिषु ॥६०॥

चकारः तुशब्दनिगदितं नवर्थमन्वादिशति । प्रग्रहेषु स्त्रादिषु
 च नानापदसम्बन्धिनिमित्तमसंहितायामपि स्वकार्यमुपदिशतीति प्रग्र-

^१ सं. ४-१-९.

^२ सं. १-१-१४.

^३ सं. १-२-१४.

^४ सं. ५-७-४.

^५ सं. ६-२-३.

^६ सं. ५-६-२१.

^७ अनुस्वारप्रग्रहकार्यं इति पाठान्तरम्.

हानुस्वारकार्यं न निर्वर्तते । यथा वक्ष्यति—“घ्राचक्रे पपरे”
 (४-२८) प्रग्रहौ भवत इत्यत्र प्रग्रहत्वे पकारेणोपदिष्टे पदकालेऽपि
 तथैव । आदिपु च यथा—“नावग्रहपूर्वः” (१६-११) इत्यवग्र-
 हणानुस्वारागमे निपिद्धे पदकालेऽपि तथैव । यथा—“अर्धमासे
 दिवाः”^१ । पत्वणत्वादौ तु नानापदीयं निमित्तम् । संहितायामेव कार्यं
 करोतीत्ययमारम्भः । यथा—“शुचिपदिति शुचि—सत्”^२ ।
 “प्रवाहं इति प्र—वाहनः”^३ ॥ ६० ॥

अथ निमित्तानामपि केषां चिदुपयन्धवत्पृथग्भावेऽपि कार्य-
 फलत्वमस्तीत्याह—

पृथग्भूतं पदं नानापदं तत्र भयं नानापदीयम् । निमि-
 त्तं पूर्वसूत्रे व्याख्यातम् । प्रग्रहाश्चतुर्धाध्याये वक्ष्यन्ते । “अशोह
 पाश” (१६-२) इत्यादयोऽनुस्वारभाजः शब्दाः आदयः । प्रग्र-
 हेषु आदिपु च पृथग्भूतपदस्थमपि निमित्तं भवति । न तु
 पृथग्भावादनिमित्तम् । तेषु प्रतिसम्यन्धिव्यतिरिक्तनिमित्तमस्ति ।
 न हि प्रग्रहपदानां प्रतिसम्यन्ध्यस्ति विभागसंहितासाधारणत्वात् ।
 आदीनां तु समानपदस्थोष्मैव प्रतिसम्यन्धिः । तद्व्यतिरिक्तस्य
 निमित्तस्य पृथग्भावेऽपि युक्तं कार्यम् । यथा—“ओकारोऽस्ता-
 दितोऽकारव्यञ्जनपरः” (४-६) । “न सुन्वान न देवयो । अस-
 दत्र सुयीयम्”^४ । “शृहदचं विभावसो । महिपीय त्वद्रयिः”^५ ।

^१ सं. २-५-६.^२ सं. १-८-१५.^३ सं. १-१-१.^४ सं. १-८-१२.^५ सं. १-१-१४.

तथा, स्त्रादिषु—“नावग्रहपूर्वः” (१६—११) । “पौर्णमासीति पौर्ण—मासी”^१ । “अर्धमास इत्यर्ध—मासे”^२ । चशब्दात्सं-
हितायामपि निमित्तं भवति ॥ ६० ॥

यथोक्तं पुनरुक्तं त्रिपदप्रभृति त्रिपदप्रभृति॥

त्रयाणां पदानां समाहारस्त्रिपदम् । कार्यभाजः पदस्य तृतीयत्वं विज्ञेयम् । ईदृशं त्रिपदं प्रभृति आदिष्वस्य तत्त्रिपदप्रभृति यथोक्तं पूर्वोक्ताविधिं करोति अविशेषेण^३ तत्त्रिपदप्रभृति पुनरुक्तं चेत् । तथा हि—“लुप्यते त्वकार एकारोकारपूर्वः” (११—१) इत्यनेन प्रथमकाण्डे तृतीयप्रश्ने “देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोः”^४ इत्यत्र अकारे लुप्ते तदेव वाक्यं, वाजपेयेऽपि (सं. १-७-१०) अलोपं बाधित्वा तथैव भवति, त्रिपदप्रभृतित्वात् । “उमा वाम्”^५ इत्यत्र “सुपया राये अस्मान्”^{६-६} इत्येतत् “उडु त्वं जातवेदसम्”^६ इत्यत्रापि तथैव । तथा “सं ते वायुः”^७ इत्यत्र “स जातो गर्भो असि रोदस्योः”^{७-८} इत्येतत् “क्रूरमिव”^८ इत्यत्रापि तथैव । ब्राह्मणवाक्येषु तु त्रिपदमात्राद्वा कार्यं भवति । ब्राह्मणवाक्येषु पूर्वस्थलस्यैवोक्तम् । यथा— “इमामगृभ्णन्”^९ इत्यत्र “मर्यश्रीस्तृहयद्वर्णो अग्निः”^{९-१०} इत्येत-
दवाक्यम् “उत्क्राम”^{१०} इत्यत्रापि तथैव भवति । कार्यभाजः

१ सं. १-६-९.

२ सं. २-५-६.

३ स्वविशेषणाय इति पाठान्तरम्.

४ सं. १-३-१.

५ सं. १-१-१४.

६ सं. १-४-४३.

७ सं. ४-१-४.

८ सं. ५-१-५.

९ सं. ४-१-२.

१० सं. ५-१-३.

पदस्य तृतीयत्वमिति किम् ? “ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः”^१
इत्युच्ये । “येऽन्तरिक्षे ये दिवि येषां”^२ इति रुद्रोत्तमानुवाके।
प्रभृतीति किम् ? “त्वमग्ने रुद्रः”^३ इति याज्यायां “दिवस्परि
प्रथमं जज्ञे अग्निः”^३ इति वाक्यं “अग्नयेऽन्नवते”^४ इत्यत्र “इतः
प्रथमं जज्ञे अग्निः”^४ इति पुनरुक्तं सतथैव भवेदिति चेत्, मैवम्
त्रिपदमात्रादेव तथाभाव इति नात्र वक्तुं युक्तम् । किन्तु “जज्ञे
सःस्फानः” (११-१६) इति जज्ञेग्रहणसामर्थ्यात् । अन्यथा
तस्य वैयर्थ्यात् । षड्वीप्सा अध्यायपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥ ११ ॥

इति त्रिभाष्यरक्ते प्रातिशाख्यविवरणे

प्रथमोऽध्यायः.

— ❀ ❀ ❀ —

ग्रीणि पदानि प्रभृतिरादिर्यस्य तदिदं त्रिपदप्रभृतीति
तद्गुणसंघिकानो षट्प्रीदिः । तथाभूतं चतुर्थं पदं पुनरुक्तं मन्त्रा-
न्तरे प्राप्नोषान्तरे वा पुनः प्रयुक्तं यथोक्तं यथापूर्वमेव भवेत्
पूर्वास्मिन् प्रयोगे तस्य यत्कार्यं तदभावो वा दृश्यते, तदेवोत्तरस्मि-
न् अपि प्रयोगे भवति । एतदुक्तं भवति—कार्यतदभावप्रयुक्तं चतुर्थप-
दानां चतुर्णां पदानां मन्त्रैकदेशभूतानां तेनैव क्रमेण मन्त्रान्तरे-
कदेशतया पुनश्चतुर्थी तत्रापि चतुर्थं पदं प्रापकान्तगमायेऽपि
पूर्वप्र एष्टं कार्यं भवति । नियतफान्तराभावे च कार्यं नियतंते ।

^१ सं. ४-२-८.

^२ सं. ४-५-११.

^३ सं. १-१-१४.

^४ सं. २-१-४.

^५ सं. ५-५-५.

तत्र कार्यम्—“द्रापे, अन्धसस्पते”^१ इत्यत्रानुवाके “रक्षा च
नो अधि च देव ग्रहि”^२ इत्यलोपो* दृष्टः । सः “ये ते पन्थानः”^३
इत्यत्रापि भवति । कार्याभावस्तु पौरोडाशिके—“देवस्य त्वा
सवितुः प्रसवेऽभिनोर्वाहुभ्यां”^४ इत्यकारलोपो दृष्टः । स त्वकार-
लोपाभावस्थाने वाजपेयकाण्डेऽपि (सं-१-७-१०) तथैव भवति । त्रि-
पदप्रभृतानां पदानां समूहस्त्रिपदप्रभृतांति तु व्याख्यानं न युज्यते
हौमग्राहणे—“देवी देवपुत्रे इत्याह देवी ह्येते”^५ इत्यत्र श्रुतस्य
‘इत्याह देवी’^६ इति पदत्रयस्याध्वरग्राहणे “सा देवि देवग-
च्छेहीत्याह देवी ह्येता”^७ इति पुनश्श्रुतौ तृतीये पदे प्रथमप्रसङ्गात्
तथोक्त्यकाण्डे—“ये अन्तरिक्षे ये दिवि”^८ इति श्रुतस्य पदचतुष्ट-
यस्य शतहर्द्रायऽन्वारोहे—“येऽन्तरिक्षे ये दिवि येषां”^९ इति
पुनश्श्रुतौ द्वितीयपदे अलोपप्रसङ्गाच्च । यस्तु कुत्सस्य मन्त्रस्य
पुनःप्रयोगस्तत्र मन्त्रान्यत्वाभावादचतुर्थेऽपि पदे पूर्ववत्कार्यं भव-
त्येव । यथा—‘अम्वे अम्प्रांल’^{१०} इत्यत्र ‘दधिक्रावृणो अका-
रिपम्’^{११} इति पुनश्श्रुतौ द्वितीयस्य पदस्य अलोपः । यच्च म-
न्त्रपदानां ग्राहणेऽनुवदस्तत्र स एव मन्त्रोऽनूद्यत इति मन्त्रा-
न्यत्वाभावात्मन्त्रकाण्डवदचतुर्थमपि पदं भवति । “मर्यथीस्सृ-
ह्यद्वर्णो अग्निरिति”^{१२} । न तत्र प्राक्तान्तरमपेक्षणीयम् । मन्त्रा-
न्यत्वाभावात् । द्विरुक्तिरध्यायपरिसमाप्तेरुपलक्षणम् ॥ ६१ ॥

इत्याचार्यगार्ग्यगोपालमिश्रविरचिते चादिकाभरणारख्ये

प्रातिशाख्यव्याख्याने प्रथमोऽध्यायः.

१ सं. ४-५-१०.

२ सं. ७-५-२५

३ सं. १-१-४.

४ सं. २-६-७.

५ सं. ६-१-७.

६ सं. ४-२-८

७ सं. ४-५-११.

८ सं. ७-४-१९.

९ सं. १-५-११.

१० सं. ५-१-३.

* इत्यकारलोपो.

द्वितीयोऽध्यायः.

अथ शब्दोत्पत्तिः ॥ १ ॥

उक्तो वर्णसमाग्रायस्तिषां वर्णानां कीदृक् कारणं, कथं वा तदुपलब्धिः इत्याकांक्षानन्तरं तन्निरूप्यते इत्यानन्तर्यार्थे अथशब्दः । अथवा इत उत्तरं यद्वक्ष्यते तच्छब्दोत्पत्तिरित्यधिकृतं^१ वेदितव्यमित्यधिकारार्थः । शब्दो नाम ध्वनिः, वर्णानामकारादीनामुपादानकारणं, तदुत्पत्तिर्जन्म, उपलब्धिर्वा । यथा उदकस्य दर्शनात् पूर्वमेव भूमौ जलमस्त्येव तत् खननादृश्यते तद्वत् सेयमुच्यते इति सूत्रार्थः ॥ १ ॥

इदानीं चेदवर्णानां उच्चारणप्रसिद्धयर्थं, “मकारस्पर्शपरस्तस्य सस्थानमनुनासिकम्” (१-२७) इत्यादिषु सस्थानादिहापनार्थं च शब्दोत्पत्तिप्रकार उपदिश्यते—अथेत्ययमाधिकारः, शब्दस्योत्पत्तिर्जन्म, साऽधिकृता वेदितव्या । द्विविधश्च शब्दो नित्यः कार्यश्चेति । तत्र नित्यः सर्वदेशव्यापक एकश्च शब्दो ब्रह्मेत्याभिधीयते । तस्मात्कार्यशब्द उत्पद्यते स व्यक्तः काचित्कोऽनन्तभेदश्च । तस्य वर्णात्मकस्योत्पत्तिः इह व्याख्येयतया अधिक्रियते ॥ १ ॥

—C—

वायुशरीरसमीरणात् कण्ठोरसोः सन्धाने॥

वायुं अग्निः समीरयति । वायुश्शरीरम्^४ । तथाभूतात् समीरणात् प्रेरणान् अभिघातादित्यर्थः । ‘कण्ठोरसोः’ ‘सन्धाने’ मध्यदेशे शब्दोत्पत्तिर्भवति । शिखा ज्ञेयमस्ति—

^१ सा शब्दोत्पत्तिरित्येतदधिकृतं.^२ शब्दोत्पत्तिश्च.^३ व्याप्यव्यक्त एक

इति पाठान्तरम्,

^४ समीरयति । समीरयति वायुश्शरीरम् ।

मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।

मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् ॥^१

वायुश्च शरीरं च वायुशरीरे तयोः समीरणं तस्मात् । अन्ये त्वाहुः—
वायोः शरीरे सतः^२ समीरणं, तस्मात् शब्दोत्पत्तिरिति । अत्रेत्यं समा-
सः । राजदन्तादित्वाच्छरीरशब्दस्य परनिपातः । शरीरि वायुः वायुश-
रीरं तस्य समीरणं तस्मात् । अस्मिन्मते वायोः समीरणकर्तृत्वमेव, न
तु कर्मत्वम् ॥ २ ॥

तत्र सर्ववर्णानुवर्तिनः सामान्यरूपस्य तावदुत्पत्तिश्च्यते—

समीरणादिति संपूर्वादीर्तेर्भावे ल्युट्प्रत्ययः । यथा प्रेर्यमा-
णस्य कोष्ठस्य वायोऽशरीरे यत्समुत्थानं प्रयोज्यव्यापारस्त-
स्मादित्यर्थः । यद्वा—संपूर्वादीर्तेर्ण्यन्ताल्ल्युट्प्रत्ययः । तस्य वा-
योऽशरीरे यत्समुत्थापनं प्रयोजकव्यापारस्तस्मादित्यर्थः । कण्ठ-
श्चोरश्च कण्ठोर^३ इति प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावे कर्तव्ये छान्दसं
द्विवचनम् । तयोस्सन्धाने मध्याकाशे शब्दस्योत्पत्तिरित्यन्वयः ॥
अत एव संस्तुतिश्च्यते—‘नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि’^४
‘आकाशशरीरं ब्रह्म’ इति च । अत्र शिक्षा—

मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।

मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम् ॥ इति । तदेवं

^१आत्मा सुदृग्ग समेत्यर्थान् मनो युद्धे विवक्षया । किञ्च—आकाशवायुप्र-
भवः शरीरात् समुद्गन्वक्कमुपैति नादः । स्थानान्तरेषु प्रविभज्य-
मानो वर्णत्वमायाति स एव शब्दः ॥ इति नैयायिके^२ इत्यधिकः पाठः.

^२यत्.

^३कण्ठोरसां.

^४तै. उ. १-१.

^५तै. उ. १-६.

सर्ववर्णानुवर्तिनः सामान्यरूपस्य कण्ठोरोमध्यं स्थानं, कोष्ठयो वायुः
करणं, तत्समीरणं यद्वा इत्युक्तं भवति ॥ २ ॥

—ॐ—

तस्य प्रातिश्रुत्कानि भवन्त्युरः कण्ठशिशरो
मुखं नासिके इति ॥ ३ ॥

‘तस्य’ प्रकृतस्य शब्दस्य उरःप्रभृतीनि स्थानानि ‘प्रातिश्रुत्का-
नि’ भवन्ति । ‘प्रातिश्रुत्’ प्रातिश्रुतिः तत्सम्बन्धीनि ‘प्रातिश्रुत्कानि’ ॥

इदानीं विशेषरूपाणामुत्पत्तिस्थानानि सर्वाणि निर्दिशति—

तच्छब्देन प्रकृत उत्पत्त्याश्रयः शब्दः प्रत्यवसृज्यते । प्रति-

नियततया श्रूयत इति प्रातिश्रुतिशेषरूपं तदर्हन्तीति प्रातिश्रु-
त्कानि, प्राग्वर्तयष्टक् । शिर इत्यास्यस्यो गिर प्रावरणमुच्यते ।
मुखमित्युत्तरदन्ताः तन्मूलास्तुत्तरोष्ठो दन्तमूलं तालु च । नासिके
इति नासिकाच्छिद्रयोः कण्ठासन्नप्रदेश उच्यते । एतानि स्था-
नानि तस्य वर्णात्मकस्य शब्दस्य विशेषरूपनिष्पत्त्यर्हणीत्यर्थः ॥३॥

—ॐ—

संवृते कण्ठे नादः क्रियते ॥ ४ ॥

एतदादिना सूत्रत्रयेण शब्दस्य त्रैविध्यमुच्यते, नादः, श्वासः, ह का-
र च इति । तावन्नादलक्षणमाह—संवृते कण्ठे यः शब्दः क्रियते सः
नादसंज्ञो भवति । मञ्जायाः प्रयोजनं—‘नादोऽनुप्रदानम्’ (२-८)
इत्यादि ॥ ४ ॥

अथ वर्णानां विशेषरूपोत्पत्तौ प्रथमकारणभूता^१ अनुप्रदानाख्या नादादयो बाह्यप्रयत्ना उच्यन्ते—

संवरणं कण्ठस्थ सङ्कोचः । स खलु संवारो नाम बाह्य-
प्रयत्नः । तस्मिन् भूति नादाख्यो बाह्यः प्रयत्नः क्रियते, उत्पा-
द्यते । नादध्वनिसंसर्गान् व्यञ्जनेषु^२ घोषो नाम बाह्यः प्रयत्नो
जायते इति शिक्षायां स्मर्यते ॥ ४ ॥

—८०७—

विवृते श्वासः ॥ ५ ॥

विवृते कण्ठे यः शब्दः क्रियते सः श्वाससंज्ञो भवति । संज्ञायाः
प्रयोजनं—‘अग्रेष्वपि श्वासः’ (२-१०) इति ॥ ५ ॥

विवरणं कण्ठस्थ विस्तरणम् । स एव विचारख्यो बाह्यः
प्रयत्नः । तस्मिन् सति श्वासो नाम बाह्यः प्रयत्नः क्रियते । तद्व्यनि-
संसर्गाद्घोषो नाम बाह्यः प्रयत्नो जायते इति शिक्षायां स्मर्यते ॥ ५ ॥

—८०८—

मध्ये हकारः ॥ ६ ॥

संवृतविवृतयोः मध्ये मध्यमप्रकारे यः शब्दः क्रियते स हकारसंज्ञो
भवति । संज्ञायाः प्रयोजनं—‘हकारो हचतुर्येषु’ (२-९) इति ॥ ६ ॥

मध्ये भवो मध्यः, “अ साम्प्रतिके”^३ । तदयमर्थः—सा-
म्प्रतिके प्रकृतिस्थे कण्ठे सति हकारोनाम बाह्यः प्रयत्नः क्रियते ।
तेन च व्यञ्जनेषु घोषो जायते ॥ ६ ॥

—८०९—

ता वर्णप्रकृतयः ॥ ७ ॥

वर्णानां प्रकृतयः वर्णप्रकृतयः । ता वर्णप्रकृतयो भवन्ति ये नादश्वास-
सहकारा उक्ताः । नादप्रकृतयः केचिद्वर्णाः, श्वासप्रकृतयोऽन्ये,
हकारप्रकृतयोऽन्ये । यथा, मृत्प्रकृतयो घटशरावादयः । यथा वा,
तन्तुप्रकृतयः पटाः । ननु सर्वनाम्नः प्रकृतपरामर्शकत्वात् नादश्वास-
हकारेषु पुल्लिङ्गेषु परामर्शार्हेषु सत्सु ता इति स्त्रीलिङ्गप्रयोगः कथं साधुः?
उच्यते । “निर्दिश्यमानप्रतिनिर्दिश्यमानयोः एकतामापादयन्ति सर्व-
नामानि कामचारेण तल्लिङ्गतामुपाददते” इति महाभाषावचनात् प्रयोग-
साधुत्वमध्यवसीयते । तस्मादन्योन्यान्वयसम्भवः ॥ ७ ॥

प्रकृतय इत्यादिकर्मणि प्रशब्दः । करणे क्तिन् प्रत्ययः ।
कर्तुमारभ्यन्ते आभिर्वर्णा इति प्रकृतयः । प्रकृतिशब्दस्य स्त्री-
विषयत्वात्ता इति विशेषणम् । नादश्वाससहकारा वर्णानां विशेषरू-
पोत्पत्तौ प्रथमकारणानांत्वर्थः ॥ ७ ॥

नादोऽनुप्रदानः स्वरधोपवत्सु ॥ ८ ॥

स्वरेषु धोपयत्सु च वर्णेषु, नादः अनुप्रदानं भवति । अनुप्रदीयते
अनेन वर्ण इति अनुप्रदानं मूलकारणम् । अनुप्रदीयते उपादीयते
नन्यत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

अर्थानां विषयविभाग उच्यते—

स्वरेषु धोपयत्सु च व्युत्पाद्येषु नादोऽनुप्रदानं भवति ।

अनुशब्दः पश्चादर्थे । कोष्ठचवायुसमुद्भवात्परं मूर्ध्नि प्रतिघा-
ताभिवृत्ते तस्मिन् कण्ठस्य संवारादयो यथोक्तास्तिष्ठोऽवस्था भव-
न्ति, तदा प्रदीयन्ते स्थानेषु निवेद्यन्ते एभिर्वर्णा इत्यनुप्र-
दानानि ॥ ८ ॥

हकारो हचतुर्थेषु ॥ ९ ॥

हकारश्च चतुर्थाश्च हचतुर्थाः तेषु वर्णेषु हकारः अनुप्रदानं भवति ।
ननु संज्ञाविधानक्रमभङ्गान्नात्रेदं सूत्रमवतरति । मैवम् । घोषवत्स्विति
सामान्यान्नादो हचतुर्थेषु च प्रसज्यते इत्यतिप्रसङ्गपरिहारार्थत्वादवतरत्ये-
वेति वदामः ॥ ९ ॥

हश्च चतुर्थाश्च हचतुर्थास्तेषु हकाराख्यः प्रयत्नः अनुप्र-
दानं भवति । अयं हकारप्रयत्नः तृतीयतया प्रागुक्तोऽपि पूर्व-
सूत्रापघादतया तदनन्तरमेव विनियुज्यते । पूर्वत्र तु तृतीय-
तयाऽभिधानं तत्कारणभूताया मध्यावस्थाया इतरावस्थाद्वय-
निरूप्यत्वादित्यनुसन्धेयम् । हचतुर्था घोषवत्सु महाप्राणा इतरे
अल्पप्राणाः ॥ ९ ॥

अघोषेषु श्वासः ॥ १० ॥

अघोषेषु वर्णेषु श्वासोऽनुप्रदानं भवति ॥ १० ॥

अघोषेषु श्वासोऽनुप्रदानं भवति ॥ १० ॥

भूयान् प्रथमेभ्योऽन्येषु ॥ ११ ॥

सान्निध्याच्छ्वास इति लभ्यते । प्रथमेभ्यः अन्येषु अवोपेषु श्वासः
भूयान् अधिकः भवति ॥ ११ ॥

तत्र विशेषमाह—

प्रथमव्यतिरिक्तेषु अघोपेषु प्रकृष्टः श्वासः अनुप्रदानं भवति ।
ततश्च प्रथमा अल्पप्राणाः अघोपेषु । इतरे तु महाप्राणाः । तदु-
क्तं शिक्षायाम्—“महति वायौ महाप्राणा अल्पे वायावलप्रा-
णाः” इति । तदेवं रूपविशेषहेतवो बाह्यप्रयत्ना उक्ता दर्शि-
ताश्च । स्वरविशेषहेतवस्तु चक्ष्यन्ते, एवंरूपानुप्रयोगात् ॥११॥

—८०—

अवर्णे नात्युपसंहृतमोष्ठहनु नातिव्यस्तम् ॥

‘अवर्णे’ उच्चार्यमाणे ओष्ठहनु ‘अत्युपसंहृतं’ अतिसंश्लिष्टं ‘न’
भवति । ‘अतिव्यस्तं’ अतिविकृतं च ‘न’ भवति । ओष्ठो च हनु च
ओष्ठहनु । ‘हन्द्वा प्रागित्थं नृगमेनाङ्गानां’^१ इत्येकवङ्गावः । तदेक-
स्मिन्नुपसंयथा न शक्यते कर्तुमिति योगविभागः कार्यः—अकारे नात्युपसं-
हनम्, आकारे च पुने च नातिव्यस्तम्, इति ॥ १२ ॥

अथात्र स्थानकरणाभ्यन्तरप्रयत्ना उच्यन्ते—

उपसंहार उपसंश्लेषं समोपनयनमिति यावत् । हनुशब्द-
धाम्यपार्श्वभागयोर्विभक्ते । ओष्ठौ च हनु च ओष्ठहनु । व्यस्तं वि-
श्लिष्टम् । तद्व्यमर्थः—अवर्णे उच्चार्ये ओष्ठयोर्लोपदसमाप्तः पर-
स्परलोपश्चेव कार्यः । एवं अन्येभ्यश्च तथा ईपदसमाप्तः परस्परवि-

इलेप ओष्ठयोः कार्यः । एवं हन्त्रोश्च । अत्रोपश्लेषभूयस्त्वस्य विश्लेषभूयस्त्वस्य च समानविषयत्वासम्भवात् विनिवेश आश्रीयते ह्रस्वे अचर्णे उपश्लेषभूयस्त्वं दीर्घप्लुतयोस्तु विश्लेषभूयस्त्वमिति । अतएव 'अकारबदोष्ठौ' (२-२) इत्यतिदेक्ष्यति । न त्ववर्णयदिति । शिक्षायां च स्मर्यते—'विधृतमृष्मणां स्वरानां च संधृतमकारस्य' इति । अत्रावर्णस्य हनू स्थानम् । ओष्ठौ-करणम् । तदुत्तरत्र स्पष्टीकीरप्यते । उक्तं च शिक्षायाम्—'शुक्ति-स्थानमवर्णमेके' इति ॥ १२ ॥

—८०७—

ओकारे च ॥ १३ ॥

चकारो हनुमात्रकार्यान्वादेशकः । ओष्ठकार्यस्य परमूत्रेण विशेषविधानात् । 'ओकारे' उच्चार्यमाणे हनू अतिव्यस्ते न भवतः ॥ १३ ॥

चशब्देन नातिव्यस्तमित्येतदन्वादिश्यते । "अन्वादेशोऽन्त्यस्य" (१-६८) इति । नातिव्यस्तताऽत्र हन्त्रोरेव । ओष्ठयोर्विशेषवचनात् । तदयमर्थः । ओकारे उच्चार्ये हनू नातिव्यस्ते भवतः ॥

—८०८—

ओष्ठौ तूपस * हततरौ ॥ १४ ॥

सान्निध्यादोकार इति लभ्यते । ओकारे कार्ये 'ओष्ठौ' 'उपसंहततरौ' स्याताम् । तुशब्द ओष्ठयोः पूर्वोक्तविधिं निवारयतीति वररुचिरुवाच । माहिषेयस्तु वभाषे—'बन्धोः'^१ इत्यादिकमोकारं सव्यञ्जनं व्यस्ततो निवारयतीति ॥ १४ ॥

भूयान् प्रथमेभ्योऽन्येषु ॥ ११ ॥

सान्निध्याच्छ्वास इति लभ्यते । प्रथमेभ्यः अन्येषु अघोषेषु श्वासः
भूयान् अधिकः भवति ॥ ११ ॥

तत्र विशेषमाह—

प्रथमव्यतिरिक्तेषु अघोषेषु प्रकृष्टः श्वासः अनुप्रदानं भवति ।
ततश्च प्रथमा अल्पप्राणाः अघोषेषु । इतरे तु महाप्राणाः । तदु-
क्तं शिक्षायां—“महति चायौ महाप्राणा अल्पे चायावल्पप्रा-
णाः” इति । तदेवं रूपविशेषहेतवो याज्ञप्रयत्ना उक्ता दर्शि-
ताः । स्वरविशेषहेतवस्तु चक्ष्यन्ते, एवंप्रयत्नप्रयोगात् ॥११॥

—००—

अवर्णे नात्युपसंहृतमोष्ठहनु नातिव्यस्तम् ॥

‘अवर्णे’ उच्चार्यमाणे ओष्ठहनु ‘अत्युपसंहृतं’ अतिसंक्षिप्तं ‘न’
भवति । ‘अतिव्यस्तं’ अतिविकृतं च ‘न’ भवति । ओष्ठौ च हनू च
ओष्ठहनु । ‘हन्द्श्च प्राणिनूर्यमेनाङ्गानां’^१ इत्येकवङ्गावः । तदेक-
स्मिन्नुभयथा न शक्यते कर्तुमिति योगविभागः कार्यः—अकारे नात्युपसं-
हृतम्, आकारे न हने च नातिव्यस्तम्, इति ॥ १२ ॥

अथात्र स्थानिकरणाभ्यन्तरप्रयत्ना उच्यन्ते—

उपसंहार उपश्लेषणं समोपनयनमिति यावत् । हनुशब्द-
आन्त्यपार्श्वभागयोर्विनेने । ओष्ठौ च हनू च ओष्ठहनु । व्यस्तं वि-
क्षिप्तम् । तद्व्यमर्थः—अवर्णे उच्चार्य ओष्ठयोरीपदसमाप्तः पर-
स्परपरेण कार्यः । एवं हन्वोश्च तथा ईपदसमाप्तः परस्परवि-

इलेप ओष्ठयोः कार्यः । एवं हन्त्रोश्च । अत्रोपश्लेषभूयस्त्वस्य विश्लेषभूयस्त्वस्य च समानविषयत्वासम्भवात् विनिवेश आश्रीयते हन्त्रे अवर्णे उपश्लेषभूयस्त्वं दीर्घमुतयोस्तु विश्लेषभूयस्त्वमिति । अतएव 'अकारवदोष्ठौ' (२-२) इत्यतिदेहयति । न त्ववर्णवदिति । शिक्षायां च स्मर्यते—'विवृतमूष्मणां स्वरानां च संबृतमकारस्य' इति । अत्रावर्णस्य हनू स्यान् । ओष्ठौ-करणम् । तदुत्तरत्र स्पष्टीकीरप्यते । उक्तं च शिक्षायाम्—'सृक्स्थानमवर्णमेके' इति ॥ १२ ॥



ओकारे च ॥ १३ ॥

चकारो हनुमात्रकार्यान्वादेशकः । ओष्ठकार्यस्य परसूत्रेण विशेषविधानात् । 'ओकारे' उच्चार्यमाणे हनू अतिव्यस्ते न भवतः ॥ १३ ॥

चशब्देन नातिव्यस्तमित्येतदन्वादिश्यते । "अन्यादेशोऽन्त्यस्य" (१-९८) इति । नातिव्यस्तताऽत्र हन्त्रोरेव । ओष्ठयोर्विशेषवचनात् । तदयमर्थः । ओकारे उच्चार्ये हनू नातिव्यस्ते भवतः ॥



ओष्ठौ तूपस * हततरौ ॥ १४ ॥

सान्निध्यादोकार इति लभ्यते । ओकारे कार्ये 'ओष्ठौ' 'उपसंहततरौ' स्याताम् । तुशब्द ओष्ठयोः पूर्वोक्तविधिं निवारयतीति वररुचिरुवाच । माहिषेयस्तु वपापे—'बन्धोः'^१ इत्यादिकमोकारं सव्यजनं व्यस्ततो निवारयतीति ॥ १४ ॥

तुशब्दो नातिव्यस्तमित्येतद्विनिवर्तयति । ओष्ठौ हन्वोः पर-
स्परं च उपश्लेषिततरौ भवतः । ओकारस्य हनू उत्तरोष्ठश्च
स्थानमधरोष्ठः करणम् ॥ १४ ॥

ईपत्प्रकृष्टावेकारे ॥ १५ ॥

प्रकृष्टावित्यत्र द्विवचनेन प्रकृतावोष्ठौ गृह्येते । 'एकारे' कार्ये
ओष्ठौ 'ईपत् प्रकृष्टौ' स्याताम् । प्रकृष्टता सन्निकृष्टता ॥ १५ ॥

ओष्ठावित्यन्वादिश्यते । एकारे उच्चार्ये ओष्ठौ परस्परं ईपत्
प्रकृष्टौ भवतः । एतेनास्य विवृतप्रयत्नत्वम्^१ ॥ १५ ॥

उपसंहृततरे हनू ॥ १६ ॥

सान्निध्यादेकार इति लभ्यते । एकारे कार्ये 'हनू' 'उपसंहृत-
तरे' भवतः । अतिशयेनोपसंहृते उपसंहृततरे ॥ १६ ॥

हनू तु परस्परमुपश्लेषिततरे भवतः । प्रयत्नान्तरं चास्य
पश्यति—'तालौ जिह्वामध्यमिचर्णे' । 'एकारे च' (१-२२, २३)
इति । तेनास्य हनू तालु च स्थानम् । ओष्ठौ जिह्वामध्यं च
कारणम् ॥ १६ ॥

जिह्वामध्यान्ताभ्यां चोत्तराज्जम्भ्यान्तस्पर्श- यति ॥ १७ ॥

एकारे कार्ये 'जिह्वामध्यान्ताभ्याम्' 'उत्तरान् जम्भ्यान्' 'स्पर्श-

^१विहृप्रसङ्गत्वमिति इति प्राचिरक्तः पाठः.

यति' स्पृशेदित्यर्थः । पालयतीत्यादिवत् स्वार्थे णिच् । 'जम्भयान्' इति हनुमूलग्रान्तप्रदेशान् इत्यर्थः । मण्डूकश्रुतिन्यायेन चकार एकारमाकर्ष्यति । जिह्वाया मध्यं तस्य अन्तौ ताभ्यां जिह्वामध्यान्ताभ्याम् ॥ १७ ॥

जिह्वाया मध्यं जिह्वामध्यं तस्यान्तौ पार्श्वभागौ । चकार एकारमन्धादिशति । प्रकृतत्वात् । तेन स्पर्शयति च, न चेति योज्यः । हनुमूलयोरुपरिप्रदेशा उत्तरजम्भ्याः । स्पर्शयतीति स्वार्थिको णिच् । यद्वा—जिह्वामध्यस्यान्तौ प्रयोज्यकर्तारौ स्पृशतः । ताभ्यां वक्ता प्रयोजकः स्पर्शयति । पयमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । अत्र अव्यञ्जनपूर्वक एकारे स्पर्शनम् । व्यञ्जनपूर्वके तु न स्पर्शनमिति विभागः । तथैव दर्शनात् ॥ १७ ॥

उपसं० हृततरे च जिह्वाग्रमृकारकारल्कारेषु
वर्षेषूपसं० हरति ॥ १८ ॥

चशब्देन हन्वोरन्वादेशः^१ । ऋकारे ऋकारे लृकारे च कार्ये हनू 'उपसंहृततरे' भवतः । जिह्वाग्रं च 'वर्षेषु' 'उपसंहरति' निक्षिपेत् । 'वर्षेषु' इति दन्तपङ्क्तेरुपरिष्ठादुच्चप्रदेशेषु इत्यर्थः । ननु "अरमृकारपरे" (१०-८) इति लक्षणासम्भवादृकारर्कारल्कारेण्विति कथं सन्धिः साधुः ? सत्यम् । नैतल्लक्षणात् किन्तु शास्त्रान्तरबलात् साधुः । एवं "ऋकारल्कारौ द्वौ" (१-३१) इत्यत्रापि^२ विज्ञेयम् ॥ १८ ॥

उपसं० हृततरे इति हन्वोर्विशेषणम् । सामर्थ्यात् । वस्यां नाम रेफवर्गस्थानयोर्मध्यप्रदेशाः । ऋकारादिषु त्रिप्राकार्येषु

हन्वोः परस्परोपश्लेषः । जिह्वाग्रस्य वस्वैपूपसंहारश्च कार्यः ।
एतेषां वस्वास्स्थानम् । जिह्वा हनू च करणम् ॥ १८ ॥

एकेषामनुस्वारस्वरभक्तयोश्च ॥ १९ ॥

चकारः पूर्वोक्तविधिमन्वादिशति । यथासङ्ख्येन 'अनुस्वारस्वर-
भक्तयोः' पूर्वोक्तविधिर्भवति । अनुस्वारे हन्वोरूपसंहारः, स्वरभक्तौ
जिह्वाग्रस्य वस्वैपूपसंहारः । एतत् 'एकेषां' मतम् । अन्येषां तु मतं
अनुस्वारस्यानुनासिकमात्रत्वं, स्वरभक्तेः ऋकारतुल्यत्वं इति^१ ।
तच्चिन्त्यम् ॥ १९ ॥

एकेषामन्येषां मतेन अनुस्वारे हनूपसंहारः कार्यः । स्वर-
भक्तौ जिह्वाग्रस्य, वस्वैपूपसंहार इति यथाक्रमं विनिवेशः ।
तेषामनुस्वारस्तावन्नासिक्यः । स्वरभक्तिरप्यकारार्थरूपेति । स्व-
मते तु अनुस्वारस्य च दयति आनुनासिक्यम् । "अनुस्वारो-
त्तमा अनुनासिकाः" । 'नासिकाविवरणादानुनासिक्यम्' (२-३०,
५२) इति । स्वरभक्तेस्तु रेफस्थानादिकं^२ भवति । 'रेफस्वर-
भक्तिः' (२१-१५) इति हि वक्ष्यति ॥ १९ ॥

अनादेशे प्रण्यस्ता जिह्वा ॥ २० ॥

यत्र 'जिह्वेण', 'जिह्वामध्येन' (२-३१, ३७) इत्यादिः^३ 'अनादे-
शः' अनुपदेशः तत्र विषये 'प्रण्यस्ता' 'जिह्वा' तूष्णीम्भूता भवति ।

^१ इति पररक्षिपिरचितम्. ^२ रेफवत् स्थानादिकं. ^३ इत्यादेः.

प्रकर्षेण न्यस्ताप्रण्यस्ता । यथा—‘उप मा’^१ । नन्वनादेशे सर्वकरणानां
तूष्णीम्भावसिद्धेः किमर्थोऽयमारम्भः ? उच्यते—एकारस्य जिह्वामध्या-
न्तनिष्पाद्यत्वमस्तीति तदवयवस्याप्यकारस्य तथात्वमस्तीति अकारत्वसा-
म्यात् अन्यत्रापि ‘अय’^२ इत्यादौ तथात्वं प्रसज्येत । तच्चानिष्टम् ।
तन्मा भूदिति परिहारः । न आदेशः अनादेशः तस्मिन् उपदेशाभावे
इत्यर्थः ॥ २० ॥

यत्र जिह्वाया व्यापारे नादिश्यते अवर्णादौ तत्र सा
प्रण्यस्ता प्रसारितैव भवेत् ॥ २० ॥



अकारवदोष्ठौ ॥ २१ ॥

सान्निध्यादनदेश इति लभ्यते । ओष्ठयोर्यत्रानादेशस्तत्र ‘अकार-
वन्’ अकारे यथा तथा ‘ओष्ठौ’ भवतः नात्युपसंहृततरावित्यर्थः ।
यथा—‘इन्द्रः’^३ इति ॥ २१ ॥

ओष्ठावपि व्यापारानादेशे अकारवद्भवतः । अकारे यथा
नात्युपसंहृतौ तथा स्यातामृकारादिषु । तदनेन सूत्रद्वयेन जिह्वाया
अनादेशविषये अकरणत्वम् । ओष्ठयोस्तु तस्मिन् विषये अका-
रवत्त्वं चोक्तं भवति ॥ २१ ॥



तालौ जिह्वामध्यमिवर्णे ॥ २२ ॥

‘इवर्णे’ कार्ये ‘जिह्वामव्यं’ ‘तालौ’ उपसर्हन्त्यम् । यथा—
‘इषे त्वा’^३ । जिह्वायाः मध्यं जिह्वामध्यम् ॥ २२ ॥

उपसंहरतीत्यन्वयः । तालुशब्देन जिह्वाया अधस्तनप्रदेश उच्यते । स इवर्णस्य स्थानम् । जिह्वामध्यं करणम् ॥ २२ ॥



एकारे च ॥ २३ ॥

चकारः पूर्वविधिमन्वादिशति । 'एकारे' कार्ये जिह्वामध्यं ताला-
वुपसंहर्तव्यम् । ननु विधौ समाने पृथक् सूत्रारम्भः किमर्थः ? उच्यते—
इवर्णे यथा जिह्वामध्योपसंहारः, न खल्वेवमेकारे । किन्तु ततो न्यून
इत्यर्थः । कुतः ? अकारमिश्रितत्वादेकारस्य अकारस्य^१ च तदेकदेशत्वात्
जिह्वामध्यनिष्पाद्यत्वं^२ न तु स्वतः । अत एव^३ सोपाधिकत्वाच्चूनत्वो-
पपत्तिः । " ईपत् मरुष्टौ " (२-१५) इत्यादिसूत्रत्रयेण एकारस्य
स्थानकरणे निर्दिष्टे । इह तु ततोऽन्ये तस्यैव^४ निर्दिश्येते । तदे-
कस्मिन् उभयथा कर्तुं न शक्यते विरोधात् । तस्मादत्र योग-
विभागः कर्तव्यः अव्यञ्जने तल्लक्षणं सव्यञ्जने त्वेतत् इति ।
कुतोऽयं नियमः ? उच्यते—'एकारे' इति सामान्योक्तौ सत्यां प्रथम-
मव्यञ्जनस्यैव ग्रहणं मुख्यम् । तथा सति प्रथमप्रतीति तस्मिन्
प्रथमं लक्षणं युज्यते । सव्यञ्जने तु पारिशेष्यादेतदिति
विज्ञेयम् ॥ २३ ॥

चशब्दस्तालो जिह्वामध्यमित्यन्वादिशति ॥ २३ ॥



^१ इकारस्य इति काचित्कः पाठः.

^२ जिह्वामध्यान्तनिष्पाद्यम्.

^३ अतस्तस्य.

^४ ततोऽन्यस्यैव.

ओष्ठोपसंहार उवर्णे ॥ २४ ॥

‘उवर्णे’ कार्ये ‘ओष्ठोपसंहारः’ भवति । अत्रोपसंहारः पूर्ववत् सन्नि-
कृष्टतामात्रं, किन्तु ‘सन्निकृष्टावोष्ठौ दीर्घौ च स्याताम्’ इति विवक्ष्यते ।
एवं “ओष्ठौ तूपसंहृततरो” (२-१४) इत्यत्रापि विज्ञेयम् । यथा—
“उलूखलबुधो यूयः”^१ । ओष्ठयोरुपसंहारः ओष्ठोपसंहारः ॥ २४ ॥

उवर्णे उच्चार्ये ओष्ठोपसंहारः कार्यः । तत्रोत्तरोष्ठस्स्थानम-
धरोष्ठः करणम् ॥ २४ ॥

एकान्तरस्तु सर्वत्र प्रकृतात् ॥ २५ ॥

सान्निभ्यादोष्ठोपसंहार इति लभ्यते । सर्वत्र ‘ओष्ठचस्वरेषु’ ‘प्रकृ-
तात्’ ओष्ठोपसंहारात् पृथगोष्ठोपसंहारः कर्तव्यः । स चेत् ‘एका-
न्तरः’ एकान्तर इति मात्राकालव्यवेत^२ इत्यर्थः । एकमात्रा अन्तरं
व्यवधानं यस्य असौ । एकान्तर इति पृथगोष्ठोपसंहारस्य
विशेषणम् । तुशब्द ओकारपरत्वे एकान्तरत्वनियमं निवर्तयति^३ ।
उदाहरणानि—“उत्पूतशुष्मम्”^४ । “सूत्रीयमिति सु-उत्त्रीयं”^५ ।
“अथो ओपवीपु”^६ “बाहुवोर्वलम्”^७ । “तनुवो घोराऽन्धा”^८ ।
“चतुरहोता”^९ । ननु, “योऽन्धश्च”^{१०} इत्यत्रानुस्वारस्य मात्रा-

^१ स. ७-२-१.

^२ मात्राकालव्यवाय.

^३ तुशब्द ओकारपरत्वे एकान्तरत्वनियमं निवर्त्य ओष्ठोपसंहारमात्रनिर्गत्य-
संज्ञप्रकरणानुपवेशमस्य विधिरादधाति. ^४ सं. १-६-१. ^५ सं. ६-१-४.

^६ सं. १-५-५.

^७ सं. ५-६-१.

^८ सं. ५-७-३.

^९ संहितायां नास्ति. प्रा. २-२-१.

^{१०} सं. १-३-४.

कालः, शकारस्यार्धमात्राकालः, एवमध्यर्धमात्रत्वे सत्येकान्तरत्वा-
भावात् कथं पृथगोष्ठोपसंहारसिद्धिः ? उच्यते—शते पञ्चाश-
न्नचायेन सिध्यति । अध्यर्धमात्रत्वे एकमात्रत्वं सुतरामस्ति
तेन कार्यं भवति । अधिकं तु न निषिध्यते । स्वायोगव्यवच्छेदकत्वा-
देकशब्दस्य । अत एव “बाहुवोर्बलमूर्खोरोजः”^१ इत्यादेर्न द्विरोष्ठचत्वं
मुख्यं किन्तु स्फुरितत्वम् । उदाहरणं त्वाभासतया दर्शितम् । तर्हि “कुसु-
रुबिन्दः”^२ इत्यत्र ककाररेफाम्यामुत्तरयोरुकारयोः कथं पृथगोष्ठोपसं-
हारो न भवति ? अध्यर्धमात्रव्यवायसम्भवात् । मैवम् । अत्र ककार-
सकारोत्तरयोरुकारयोस्तावन्न पृथगोष्ठता । एतल्लक्षणासम्भवात् । रेफा-
दुत्तरस्य तु प्रकृतात् पृथक्त्वाभावान्नायं विधिः । किन्तु मध्यस्थसका-
रोत्तरादुकारात् पृथक्त्वम् । तथा सत्येकान्तरत्वाभावस्तदवस्थ एवेति लक्ष-
णमिदमव्यभिचरितम् ॥ २५ ॥

ओष्ठोपसंहारोऽनन्तरोक्त इह विशेष्यतयाऽन्येति । एकमात्रा
अन्तरं यस्य ओष्ठोपसंहारस्य स तथोक्तः । तुशब्दोऽर्धमा-
त्रान्तरं विनिवर्तयति । प्रशब्द आदिकर्मणि । प्रकृतः प्रथ-
मकृतः । तदयमर्थः—एकमात्रान्तरस्योष्ठोपसंहारः सर्वत्र प्रथम-
कृतादोष्ठोपसंहारात्पृथक्कर्तव्य इति । अयमाशयः—प्रतिवर्णं तत्तत्प्र-
यत्नः कर्तव्य इति सार्धविकी फलतिः । तथार्धमात्रान्तरत्वेऽपि
पृथगोष्ठोपसंहारः प्राप्तस्तावदनेन निवार्यते एकान्तरस्त्विति । तेन
‘हुतस्तेषां हुतो द्रव्यः’ इत्यादिषु सद्यदेव सर्वार्ध ओष्ठोपसं-
हारः क्रियते । एकान्तरोदाहरणं तु, ‘अथो उभायेव’^३ ‘पेयं

तुज्ञाना^{११} 'उच्छुष्मा ओषधीनाम्'^{१२} । औकारे त्वेकव्यञ्जनान्त-
रितेऽपि ओष्ठोपसंहारस्य तच्छेषमात्रगोचरत्वात् एकान्तरताऽ-
स्तीति भवत्येव पृथगुपसंहारः । यथा—“देवश्रुतौ देवेष्व-
घोषेथाम्”^{१३} ‘यदग्नोपोमौ’^{१४} । अधिककालान्तरत्वे तु कैमुतिकन्या-
यसिद्धः पृथगुपसंहारः । यथा—‘उपा९ शु९ हुत्वोपा९ शु पात्रेऽ-
९ शुमवास्य’^{१५} ‘पुनरुत्स्यूतं वासः’^{१६} । ‘दिक्षु । उपेति । अद-
धत’^{१७} । शिक्षायां तु—

ओष्ठययोस्स्वरयोर्मध्ये दृश्येते तु तपौ यदि ।

पृथग्भावस्तयोर्न स्यात्तुटिमात्रस्तयोर्भवेत् ॥

ओष्ठयस्वरेषु कार्येषु प्रथमेनाक्षरद्वये ।

इति श्लोकाभ्यां कचिदेकान्तरत्वसम्भवेऽपि पृथगोष्ठोपसंहारः
प्रतिपिध्यते । ‘देवो वस्सवितोत्पुनातु’^{१८} । ‘मध्यतोऽनुष्टुभा’^{१९} इति॥
तन्निरासार्थमिह सर्वत्रेति यत्नः क्रियते । एकान्तरत्वसम्भवे
सर्वत्र भवत्येव पृथगोष्ठोपसंहार इति । तदयमत्र सङ्ग्रहः—

पृथगोष्ठोपसंहारो नार्धमात्रान्तरे भवेत् ।

एकमात्रान्तरत्वस्य स्यात्तु सर्वत्र सम्भवे ॥ २६ ॥

अकारार्धमैकारौकारयोरादिः ॥ २६ ॥

ऐकारस्यौकारस्य च ‘आदिः’ ‘अकारार्ध’ भवति । अकारस्या-
र्धकालसम इत्यर्थः । अकारस्यार्धं अकारार्धम् ॥ २६ ॥

^१ सं. ३-१-११.

^२ सं. ४-२-६.

^३ सं. १-२-१३.

^४ सं. २-६-२.

^५ सं. ३-२-२.

^६ सं. १-५-२.

^७ सं. ५-५-५.

^८ सं. १-१-५.

^९ सं. ५-१-३.

अकारस्यार्धमकारार्धम् । तदैकारस्य च औकारस्य च
आद्यचयवो भवति । तेन तदीयास्स्थानकरणप्रयत्नास्तस्मिन्नंशे
भवन्ति ॥ २६ ॥

संवृतकरणतरमेकेषाम् ॥ २७ ॥

सान्निध्यादकारार्धमिति लभ्यते । 'एकेषां' मते तदकारार्धं 'संवृ-
तकरणतरं' भवति । संवृतानि संनिष्कृष्टानि करणानि यस्य तत् संवृ-
तकरणम् । अतिशयेन संवृतकरणं संवृतकरणतरम् ॥ २७ ॥

तदकारार्धं एकेषामाचार्याणां मते संवृतकरणतरं^१ भवति
यदनयोरादिः । स्वमते तु संवृतकरणमेव ॥ २७ ॥

इकारोऽध्यर्धः पूर्वस्य शेषः ॥ २८ ॥

पूर्वस्य ऐकारस्येत्यर्थः । अधस्तादैकारोकारयोः सहाच्चरितत्वात् ।
'अध्यर्धः' 'इकारः' ऐकारस्य 'शेषः' भवति । अधिकमर्धं यस्या-
सावध्यर्धः ॥ २८ ॥

अधिकमर्धं यस्मिन् सोऽध्यर्धः । अध्यर्धमात्र इकारः
पूर्वस्य ऐकारस्य शेषो भवति । तेन तदीयास्स्थानकरणप्रयत्ना-
स्तस्मिन्नंशे भवन्ति ॥ २८ ॥

उकारस्तूत्तरस्य ॥ २९ ॥

'उत्तरस्य' औकारस्येत्यर्थः । अध्यर्धः 'उकारः' औकारस्य शेषः

भवति । यथाऽनयोरुभयोरप्यादिकार एव तद्वदिकार एव शेषः
प्रसक्तः । तन्निषेधति तुशब्दः ॥ २९ ॥

तुशब्दः इकारं विनिवर्तयन् ‘अध्यर्धशेषः’ इत्युभयस्यानुवृत्तिं
दर्शयति । उकारोऽध्यर्धमात्रः औकारस्य शेषः । तेन तदीयाः
स्थानकरणप्रयत्नास्तस्मिन्शे भवन्ति । यद्यप्येकारादीनां चतु-
र्णामपि सन्ध्यक्षराणां एवं द्विस्वरात्मकत्वं समानम् । तथाऽपि
एदोतोः प्रक्षिप्यवयवात्प्रकारान्तरमेवोक्तम् ॥ २९ ॥



अनुस्वारोत्तमा अनुनासिकाः ॥ ३० ॥

‘अनुस्वारः’ च ‘उत्तमाः’ च ‘अनुनासिकाः’ भवन्ति । नासि-
कामनुवर्तन्त इत्यनुनासिकाः । यथा अनुस्वारः—“योऽशुम्”^१ । उत्त-
माश्च—“प्रत्यङ् होतारम्”^२ “प्राञ्चमुप”^३ “मणिना रूपाणि”^४
“तन्ते दुश्क्षाः”^५ “तम्प्रतथा”^६ ॥ ३० ॥

अनुस्वारश्च उत्तमाश्च आनुनासिक्यगुणयुक्ता भवन्ति ।
अनुस्वारो व्यञ्जनं वा स्वरो वेति परमतम् । तन्निरासार्थमि-
दमुच्यते । अनुस्वारोऽप्युत्तमवद्व्यञ्जनमेव अस्मच्छायायाम् ।
अर्धगकाररूपत्वात् ॥ ३० ॥

स्वराणां यत्रोपसङ्गहारस्तत् स्थानम् ॥ ३१ ॥

^१ सं. ३-३-४.

^२ सं. १-३-१.

^३ सं. ५-२-७.

^४ सं. ७-३-१४.

^५ सं. १-२-१०.

^६ सं. १-४-९.

‘स्वराणां’ ‘तत् स्थानं’ भवति ‘यत्रोपसंहारः’ स्यात् । उप-
संहारः नाम संश्लेषविशेषः ॥ ३१ ॥

उक्ताः स्वराणां प्रयत्नाः । व्यञ्जनानां च चक्ष्यन्ते । अत्रा-
वसरे स्थानकरणविवेक उच्यते—

स्वराणां तत्स्थानं, यस्मिन्नवयवे अवयवान्तरस्य उपश्लेषः
क्रियते । यथा—हनू अवर्णस्य । तत्र हि विच्चात्यतरो ओष्ठौ
उपसंहियेते । ताल्यवर्णस्य । उत्तरोष्ठ उवर्णस्य । तत्र हि
विच्चात्यतरोऽधरोष्ठः उपसंहियते । वस्वा ऋकारादीनाम् । एका-
रैकारयोः हनू तालु च । ओकारौकारयोः हनू उत्तरोष्ठश्चेति ॥ ३१ ॥

यदुपसंहरति तत् करणम् ॥ ३२ ॥

सान्निध्यात् स्वराणामिति लभ्यते । स्वराणां ‘तत् करणं’ भवति
‘यत्’ स्वरात् ‘उपसंहरति’ प्रापयति स्वस्थानम्^१ । यथा—“जिह्वा-
ग्रमृकारकार्लकारेषु” (२-१८) इत्यादि ॥ ३२ ॥

यद्वल्लमङ्गान्तरे वक्त्रा उपसंहियते^२ तत्स्वराणां करणम् ।
यथा—ओष्ठाववर्णस्य । तालु^३ च जिह्वा च इवर्णस्य । अधरोष्ठ
उवर्णस्य । ओष्ठौ हनू च जिह्वा च ऋकारादीनाम् । ओष्ठौ
जिह्वाऽप्येदैतोः । ओष्ठौ ओदैतोऽपि ॥ ३२ ॥

अन्येषां तु यत्र स्पर्शनं तत् स्थानम् ॥ ३३ ॥

सरेभ्यः ‘अन्येषां’ वर्णानां ‘तत् स्थानं’ ‘यत्र स्पर्शनं’ भवेत् ।

अत्र व्यञ्जनानां संश्लेषमात्रं कथ्यते । स्वराणां तु पुरस्तात् संश्लेषविशेषः कथितः । उपसंहारस्पर्शनयोः शब्दशक्त्या विशेषः विदुषेव विज्ञेयः । तुशब्दः स्वरनिवृत्त्यर्थः । अथवा अनुस्वारस्वरभक्त्योर्व्यञ्जनवत् स्पर्शमात्रनिवर्तकः इति माहिषेयभाषितम् ॥ ३३ ॥

स्वरेभ्योऽन्येषां व्यञ्जनानां तत्स्थानं यत्र स्पर्शनं क्रियते । यथा—हनूमूलं कवर्गस्य । तालु चवर्गस्य । मूर्ध्ना दवर्गस्य । दन्तमूलानि तवर्गस्य । उत्तरोष्ठः पवर्गस्य । तालु दन्तमूलानि दन्ता इत्यन्तस्थानाम् । ऊष्मादिषु तु स्पर्शनाभावादतिदेशादिना स्थानावगतिः ॥ ३३ ॥



येन स्पर्शयति तत् करणम् ॥ ३४ ॥

सान्निध्यादन्येषामिति लभ्यते । स्वरेभ्योऽन्येषां वर्णानां 'तत् करणं भवति अध्येता 'येन' व्यञ्जनानि 'स्पर्शयति' प्रापयति स्थानम् ॥

व्यञ्जनानां तत् करणं येनाङ्गेन स्थानं स्पर्शयति । यथा—जिह्वा कवर्गादीनां चतुर्णां वर्णाणां थरलवानां च । अभरोष्ठः पवर्ग-घकारयोः । ऊष्मादीनां तु—करणावगतिर्घस्यते ॥ ३४ ॥



हनूमूले जिह्वामूलेन कवर्गे स्पर्शयति ॥

'कवर्गे' उच्चार्यमाणे 'जिह्वामूलेन' वर्णान्^१ 'हनूमूले' 'स्पर्शयति' प्रापयेदित्यर्थः । हन्वोर्मूलं हनूमूलं तस्मिन् । मूल इति जाल्यपेक्षा-या^२मेकवचनम् ॥ ३५ ॥

कयर्गे उच्चार्ये हनूमूले इति कर्मत्वाविवक्षया अधिकरण-
त्यमाश्रितम् । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ ३६ ॥

तालौ जिह्वामध्येन चवर्गे ॥ ३६ ॥

‘चवर्गे’ कार्ये ‘जिह्वामध्येन’ वर्णान् ‘तालौ’ स्पर्शयेत् ॥

स्पर्शयतीत्यन्वयः ॥ ३६ ॥

जिह्वाग्रेण प्रतिवेष्ट्य मूर्धनि टवर्गे ॥ ३७ ॥

‘टवर्गे’ कार्ये ‘जिह्वाग्रेण’ वर्णान् ‘मूर्धनि’ स्पर्शयेत् । किं
कृत्वा ! योग्यत्वात् जिह्वाग्रं ‘प्रतिवेष्ट्य’ आवेष्ट्य । मूर्धशब्देन वक्त्र-
विवरोपरिभागो विवक्ष्यते ॥ ३७ ॥

मूर्धा शिरः । तत्र प्रतिवेष्टितेन जिह्वाग्रेण स्पर्शयति ॥

जिह्वाग्रेण तवर्गे दन्तमूलेषु ॥ ३८ ॥

‘तवर्गे’ कार्ये ‘जिह्वाग्रेण’ वर्णान् ‘दन्तमूलेषु’ स्पर्शयेत् ॥ ३८ ॥

जिह्वाग्रेण यथावस्थितेन उत्तरदन्तमूलेष्वधोभागे स्पर्शयति ।
शिखायां तु—तवर्गे दन्त्यं नकारं तु दन्तमूलीयं चाकृत्वा न-
कारस्यापि ऋचिदन्त्यत्वमुच्यते । तदस्माभिर्नाशयितव्यम् । प्रा-
तिशाख्यपिप्रतिपिद्यत्वात् । तस्मात्प्रकारोपि सर्वत्र दन्तमूलीयः ॥



ओष्ठाभ्यां पवर्गे ॥ ३९ ॥

‘पवर्गे’ कार्ये ‘ओष्ठाभ्यां’ अन्योन्यं स्पर्शयेत् । अत्रोत्तरोष्ठ-
स्थानं उत्तरत्वसाम्यादेपां स्थानानाम् । अधरोष्ठः करणम् ॥ ३९ ॥

पवर्गे ओष्ठाभ्यां स्पर्शनं कार्यम् । तत्राधरेण तु धिक्वा-
ल्यतरेण उत्तरं स्पर्शयति ॥ ३९ ॥

तालौ जिह्वामध्यान्ताभ्यां यकारे ॥ ४० ॥

‘यकारे’ कार्ये ‘जिह्वामध्यान्ताभ्यां’ ‘तालौ’ स्पर्शयेत् । जिह्वा-
याः मध्यं तस्य अन्तौ ताभ्यां जिह्वामध्यान्ताभ्याम् ॥ ४० ॥

जिह्वामध्यान्ताभ्यामित्यस्य पूर्ववद्व्याख्या ॥ ४० ॥

रेफे जिह्वाग्रमध्येन प्रत्यग्दन्तमूलेभ्यः ॥ ४१ ॥

‘रेफे’ कार्ये ‘जिह्वाग्रमध्येन’ ‘दन्तमूलेभ्यः’ ‘प्रत्यक्’ स्पर्श-
येत् । ‘प्रत्यक्’ इति अभ्यन्तरमुपरिभाग इत्यर्थः । यथा प्रत्यगात्मे-
त्यन्तरात्मा प्रतीयते ॥ ४१ ॥

दन्तमूलानामुपरि स्पर्शयति । जिह्वाग्रस्य मध्यं तद्विष्टः
प्रदेशः ॥ ४१ ॥

दन्तमूलेषु च लकारे ॥ ४२ ॥

चकारो जिह्वाग्रमध्यं प्रत्यक्त्वं चाकर्षति । ‘लकारे’ कार्ये जिह्वाग्र-

मध्येन 'दन्तमूलेषु' प्रत्यक् स्पर्शयेत् । अयमर्थः—लकारस्य दन्तमूल-
प्रत्यासन्नप्रत्यक्प्रेदेशस्यानमिति विज्ञेयम् ॥ ४२ ॥

चशब्दः 'जिह्वाग्रमध्येन' इत्यन्वादिशति । तेन दन्तमूलेषु
उपरिभागे स्पर्शयति ॥ ४२ ॥

ओष्ठान्ताभ्यां दन्तैर्वकारे ॥ ४३ ॥

'वकारे' कार्ये अधरोष्ठान्ताभ्याम् 'उत्तरदन्ताग्रैः' सह स्पर्शयेत् ।
'दन्तैः' इति स्थाननिर्देशः । 'ओष्ठान्ताभ्याम्' इति करणनिर्देशः ॥

ओष्ठशब्देनात्र अधरोष्ठ उच्यते तदन्ताभ्याम् । ओष्ठस्य धा-
ह्याभ्यन्तरभागभिन्नतया^१ द्विवचनं प्रयुज्यते । दन्तैरिति सप्तम्यर्थे
तृतीया । उत्तरदन्तेष्वित्यर्थः । वकारोत्पत्तौ स्वभागतोऽधरोष्ठ-
स्याभ्यन्तरोऽन्तः करणं भवति । यत्र त्वसौ ओष्ठोपसंहा-
रयोरोष्ठस्थरयोर्मध्यवर्ती भवति, तत्र सामर्थ्याद्वाह्योऽन्तः कर-
णम् । यथा—'ध्रुवोसि'^२ 'तया देवास्सुतमावभूवुः'^३ इति । एवं
यकारादीनां चतुर्णां करणान्तव्यापारनिष्पाद्यत्वादन्तस्था इत्याख्या ॥

स्पर्शस्थानेषूपमाणा अनुपूर्व्येण ॥ ४४ ॥

'उपमाणाः' 'अनुपूर्व्येण' यथाक्रमेण 'स्पर्शस्थानेषु' उच्चार-
णीया भवन्ति । यथा जिह्वामूलीयः कवर्गस्थाने—“यः कामयेत”^४ ।
शकारः चवर्गस्थाने—“मधुश्च माधवश्च”^५ । पकारः टवर्गस्थाने—“अ-
ष्टाभ्यः स्वाहा”^६ । सकारः तवर्गस्थाने—“स्तना उपरवाः”^७ । उपध्मा-

^१ उच्यते तदन्तस्य । धाह्याभ्यन्तरभागभिन्नतया, इति पादान्तरम्.

^२ सं. १-६-२.

^३ सं. ४-१-२.

^४ सं. २-३-२.

^५ सं. १-४-१४.

^६ सं. ७-२-१५.

^७ सं. ६-२-११.

हकारस्य तूत्तमान्तस्थापरस्योरस्यत्वं वेदितव्यम् । 'य-
जुषेयजुषे गृह्णामि' ^१ 'एण्यहे' ^२ 'ब्रह्म देवा अवोवृधन्' ^३ 'सं नहे'
'अहुतम्' ^४ 'जुह्वेह्यग्निः' ^५ तदर्थमेव "उरःकण्ठ" (२-३) इत्यु-
रोपि स्थानतयोक्तम् । शिक्षा चैवमाह—

हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तस्थाभिश्च संयुतम् ॥

उरस्यं तं विजानीयात्कण्ठ्यमाहुरसंयुतम् ॥

इति । करणागुक्तौ स्थानमेव करणं च वेदितव्यम् । 'शेषास्था-
नकरणाः' इत्यापिशिलशिक्षावचनात् ॥ ४६ ॥

—८—

उदयस्वरादिसस्थानो हकार एकेषाम् ॥ ४७ ॥

'एकेषा' मते 'हकारः' 'उदयस्वरादिसस्थानः' आत्मन उपरि-
स्वरादिसस्थानः भवति इति वाररुचोक्तम् । स्यादेतन् । आदिना सस्थान
इत्युक्ते शेषस्य स्थानान्तरं वक्तव्यम् । तदप्यकारकारोकारेषु नास्ति ।
तथा सति स्वरस्य एकमेव स्थानमिति आदिशब्दवैयर्थ्यं स्यान् । स्वर-
सस्थान इत्येतावन्तैव सिद्धेरिति । मेवम् । सन्ध्यक्षरेषु शेषस्य स्थाना-
न्तरोपपत्तेः "इकारोऽध्यर्धः" (२-२८) इति सूत्रद्वयेन शेषभूतवर्ण-
व्यक्तौ ^६ तयोः स्थानान्तरमपि प्रसिद्धमेव । एवमेकाराकारयोरपि व्या-
करणे शेषस्य स्थानान्तरं विहितं विज्ञेयम् । सन्ध्यक्षरत्वविशेषादनयोः ।

^१ ग. १-१-१०. ^२ ग. ५-५-१५. ^३ ग. १-१-१३.

^४ ग. १-१-४.

^५ ग. १-१-१२.

^६ वर्णानुक्तौ वर्णौ व्यक्ता.

नन्वेवमपि “अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः” इति सन्ध्यक्षरादावकारस्यापि कण्ठस्थानत्वात्तेन सस्थानत्वे कथ्यमाने पूर्वमूत्रेण पौनरुक्त्यमस्य सूत्रस्य स्यात् । मैवं संस्थाः । ऐकारोकारयोरादिवर्तिनः अकारस्य केवलस्य च विशेषोऽस्ति । केवलस्य करणं ओष्ठहनु नातिव्यस्तं नात्युपसंहृतं च । सन्ध्यक्षरादौ वर्तमानस्य तु संवृतकरणतरं तस्मात् स्थानकरणयोः सहन-रितत्वादादिसंस्थान इत्युक्ते आदिना समानस्थानकरण इति विज्ञेयम् । किञ्च—पूर्वमूत्रे करणाभाव उक्तः । अत्र तु करणवत्त्वमपि विद्यत इति मतान्तरमुपपद्यते न पौनरुक्त्यं न । यथा—“ तिग्महेते ”^१ । “ याव-तीर्त्वाऽऽसामहै ”^२ । “ अग्निहोत्रं जुहोति ”^३ । “ सम्प्रयतीरहौ ”^४ । उदयशब्दः उत्तरपर्यायः । उदयश्चासौ स्वरश्च तस्य आदिः तेन संस्थानः उदयस्वरादिसंस्थानः ॥ ४७ ॥

एकेषां मते हकार उदयस्वरस्य आदिना समानस्थानो भवति । उदेति उपरि आगच्छतीत्युदयः परः । यथा—‘ हिर-प्यपाणिमूतये ’^५ इति तालव्यः । ‘ हुवे वातस्वनम् ’^६ इत्योष्ठ्यः । नन्वत्र आदिशब्दः किमर्थः ? तदुच्यते—ऐकारोकारयोरंशद्वयं भिन्नस्थानमिष्यते । ताभ्यां पूर्वं हकारे स्थानसंशयो मा भूदित्यादिशब्दः प्रयुज्यते । ‘ ऋध्यामा त ओहैः ’ । ‘ आरोहणवाहा-यनङ्गाहौ ’^७ ॥ ४७ ॥

—०—

^१ सं. १-२-१४.

^२ सं. ७-५-२.

^३ सं. १-६-९.

^४ सं. ५-६-१.

^५ सं. १-४-२५.

^६ सं. ३-१-११.

^७ सं. ४-४-४.

^८ सं. ५-६-२१.

पूर्वान्तसस्थानो विसर्जनीयः ॥ ४८ ॥

‘विसर्जनीयः’ आत्मनः पूर्वस्वरान्तेन ‘सस्थानः’ समानस्थानक-
रणः भवति । अत्रापि पूर्वस्वर इति सन्ध्यक्षरमुच्यते । स्वरान्तरस्य
हि स्थानान्तरत्वाभावान्* । यथा—“अग्नेः”^१ । “ब्राह्मणैरायुष्मत्”^२ ।
“बाहुवोर्वेलम्”^३ । “आऽयं गौः”^४ । पूर्वस्य अन्तः तेन संस्थानः
पूर्वान्तसस्थानः ॥ ४८ ॥

एकेषामित्यन्वयः । विसर्जनीयः पूर्वस्वरस्थान्तेन समान-
स्थानो भवतीत्येकेषां मतम् । यथा—‘परियाधो अदेवीः’^५ इति
तालव्यः । ‘दीर्घमायुः’^६ इत्योष्ठ्यः । अन्तग्रहणमप्येतदैकारौका-
रयोरसन्देहार्थम् । ‘ऋध्यामा त ओहैः’^७ ‘स्तनयन्निव द्यौः’^८ । नेदं
सूत्रद्वयमिष्टम् ॥ ४८ ॥

—०—

नासिक्या नासिकास्थानाः ॥ ४९ ॥

‘नासिक्याः’ यमाः ‘नासिकास्थानाः’ भवन्ति । यथा—
‘रुक्मम्’^९ “याचना”^{१०} । “आदणारः”^{११} । “रत्नमभजन्त”^{१२} ।
“पाप्मानम्”^{१३} ॥ ४९ ॥

नासिक्यसंज्ञानां नासिका स्थानम् ॥ ४९ ॥

—०—

| | | | |
|---------------------------|---------------------------|--------------------------|--------------------------|
| *भिन्नस्थानतराभावात्. | ^१ सं. १-१-१०. | ^२ सं. २-३-१०. | ^३ सं. ५-५-९. |
| ^४ सं. १-५-३. | ^५ सं. १-२-१४. | ^६ सं. २-४-१४. | ^७ सं. ४-४-४. |
| ^८ सं. १-३-१४. | ^९ सं. ५-१-१०. | ^{१०} सं. १-५-७. | ^{११} सं. ५-६-५. |
| ^{१२} सं. २-६-१२. | ^{१३} सं. १-४-४१. | | |

मुखनासिक्या वा ॥ ५० ॥

त एव नासिकाः मुखनासिकाभ्यां वा^१ उच्चारणीया भवन्ति ।
उक्तान्येरोदाहरणानि । मुखं च नासिके च मुखनासिकम् । तत्तन्मन्त्र-
न्विनः 'मुखनासिक्याः' ॥ ५० ॥

मुखं च नासिका च मुखनासिकम् । तत्र भवाः मुखना-
सिक्याः । एवमुक्तस्य पक्षद्वयस्य योग्यतया व्यवस्थाऽऽध-
रितव्या । स्पर्शेभ्यः परे प्रथमादेर्व्यपदेशभाजो मुखनासिक्याः ।
हकारात्परस्तु नासिकामात्रस्थान इति ॥ ५० ॥

—३—

वर्गवच्चैषु ॥ ५१ ॥

सिंहावलोकनेन^२ वर्गस्थोक्तं करणं चकारोऽनुकर्षति 'एषु' नासि-
क्येषु 'वर्गवत्' करणं भवति । वर्गस्यैव वर्गवत् ॥ ५१ ॥

अत्र ये मुखनासिक्याः अनन्तरोक्ताश्चशब्दान्यादिष्टाः तेषु
वर्गवत्स्थानयोगो भवति । एतदुक्तं भवति—मुखशब्देनात्र पञ्चापि
वर्गस्थानानि सङ्गृहीतानि । तत्र कवर्गीयात्परस्य नासिक्यस्य
हनूमूलं तावद्वितीयं स्थानं भवति । चवर्गीयात्परस्य तालु ।
एवं तत्तद्वर्गीयात्परस्य तत्तद्वर्गस्थान द्वितीयस्थानमित्यवगन्त-
व्यम् । इति ॥ ५१ ॥

—०—

^१मुखेन नासिकाभ्यां च.

^२सिंहावलोकनन्यायेन.

नासिकाविवरणादानुनासिक्यं नासिकावि- वरणादानुनासिक्यम् ॥ ५२ ॥

‘नासिकाविवरणात्’ घ्राणविलात् ‘आनुनासिक्यं’ रङ्गादि कर्त-
व्यम् । यथा—“सुश्लोकां ४ सुमङ्गलां ४”^१ इत्यादि ॥ ५२ ॥

इति त्रिभाष्यरत्ने प्रातिशाख्यविवरणे द्वितीयोऽध्यायः.

अनुनासिका ये घर्णा अनुस्वारोत्तमादयस्तेषामानुनासिक्यं
नासारन्ध्रस्य विस्तरणान्नुच्यते । नासिक्येषु नासिका संवृत्तैव
भवति । लकारस्य तु स्थानादिकमत्र नोच्यते । कुतः ? संहि-
तायामभावात् ॥ ५२ ॥

इत्याचार्यगार्ग्यगोपालमिश्रविरचिते धैदिकाभरणालये
प्रातिशाख्यव्याख्याने द्वितीयोऽध्यायः.

हरिः ओम्.

—३८००६—

अथ तृतीयोऽध्यायः.

अथादावुत्तरे विभागे ह्रस्वं व्यञ्जनपरः ॥१॥

अथ इत्ययमधिकारः । ‘आदौ’ पदादौ ‘उत्तरे’ पदान्ते च वर्तमानः संहितायां यो दीर्घः अस्माँ ‘विभागे’ पदविभागसमये ‘व्यञ्जनपरः’ ‘ह्रस्वं’ आपद्यते । व्यञ्जनपरत्वमत्र^१ यथासंहितास्थं विज्ञेयम् । ननु दीर्घः कथं लभ्यते? ह्रस्वानन्तरभावित्वात् देवाशीका (३-२) दिग्रहणेपु प्लुतादर्शनाच्चेति द्रूमः । संहितायामित्यस्यायमर्थः—कार्यभाजः पदस्य उत्तरपदेन सह सम्बन्धः न तु पूर्वपदेन सह सम्बन्धनियमः । विभागः अत्र प्रकृतिपदैरुच्यते । प्रकृतिर्नाम यथापाठः । प्रकृतिपदैरिति किं ? “स्था मयोभुवः”^२ इत्यत्र जटायां स्थशब्दस्य द्वितीयोच्चारणेऽपि दीर्घः प्रसज्येत । उत्तरपदेन विभागाभावात् स मा भूदिति परिहारः । विभागशब्दस्य अयमर्थः—पदादौ दीर्घस्य पूर्वपदेन विभागः पदान्ते दीर्घस्य उत्तरपदेन विभागः । विभागे व्यञ्जनपर इति किं ? “ऋतधामाऽसि”^३ इत्यत्र मा भूदिति । “ना धामा धारया” (३-८) इति प्राप्तिः । संहितायां यो दीर्घ इति किं ? “एष वो भरता राजा”^४ इत्यत्र प्राप्तिस्तथादनार्थम् । तथा सति “भरता याज्यासु” (३-११) इति याज्यापदं सार्थकम् । नान्यथा । व्यञ्जनमस्मान् परमिति व्यञ्जनपरः ॥ १ ॥

इदानीं ह्रस्वत्वादीनि कार्याणि विधीयन्ते—

अथेत्ययमधिकारः । आदौ उत्तरे इति पदस्य आदावन्ते चेत्यर्थः । पदस्येति कुतो लभ्यते । “देवा शीका” (३-२) इति

पदानामेवोत्तरत्र ग्रहणात् । विभागः पदविभागः स खलु पदा-
ध्याये क्रमाध्याये च भवति । संहिताप्रयोगेऽपि यत्रापाननार्थं^१
विरम्यते^२ तत्रानवग्रहस्य विभागो भवति । विभाग इत्यस्य ह्रस्वं
व्यञ्जनपर इत्युभयत्र सम्बन्धः । तत्र पदादेः पूर्वेण विभागः,
पदान्तस्य तूत्तरेण । इह विभागे विकारस्थ^३ विधेयत्वादविभा-
गावस्थावती^४ घर्णः प्रकृतिरित्ययमभ्यते । स च दीर्घः । तस्यैव
ग्रहीष्यमाणत्वात् । तदयमर्थ — अविभागावस्थायां पदस्य आ-
दायन्ते च वर्तमानो दीर्घः विभागावस्थायां व्यञ्जनपरस्तस्या-
मेव ह्रस्वमापद्यते इत्येतदधिक्रियत इति । आदावुत्तर इति किमर्थम् ?
'श्रीका दीर्घा वीर्या' (१-२, ५) इत्यादीनां मध्ये मा भूदित्येवमर्थम् ।
नन्वेवमपि 'आहुती ईरयथा आरिधा' (३-७, १०) इत्येवमादौ
कस्मान्न भवति । अग्राहुः । 'देवा शीका' (३-२) इत्यादि 'मक्षू' (१-
१४) पर्यन्तं उत्तर इत्येतत्पदमनुवर्तित्व्यते । यद्येवं उत्तरे 'देवा शीका'
इति तत्रैवोत्तरेग्रहणं कर्तव्यं तदेव मक्षूपर्यन्तं सम्भन्तस्यते । तस्मा-
दस्मिन् सूत्रे आदौ उत्तरे इति ह्येवं न वक्तव्यम् । प्रयोजनाभा-
वादिनि । अत्राभिधीयते — शाखान्तराद्व्यावृत्तिरस्मच्छाखाया इह-
क्रियते । शाखाभ्तरे हि दशत्य्यां पदमध्येऽपि ह्रस्वत्वं भवति ।
अस्मच्छाखायां च आद्यन्तयोरेयेति । विभागे व्यञ्जनपर इति
किम् ? 'विधाऽहो ययः सुमनस्थमानाः'^५ 'अतधामाऽसि सुव-
ज्यानिः'^६ । ननु यथा विभक्तरूपं प्रकृतिमाश्रित्य "अपुमिशुपूर्वदश-
कारः" (१-४) इत्यादिभिस्संहितानुरूपानि कार्याणि विधास्यन्ते ।
एवं देवाशीकादिशब्दानां ह्रस्वान्तविभागरूपं प्रकृतिमाश्रित्य संहि-
ताधिकार एव दीर्घो विधातव्यः । तथा व्याकरणे घट्टचानां

^१ यत्रायापनार्थ.^२ विरमति.^३ विभाग एव कार्यस्य.^४ सं. ४-६-६.^५ सं. १-३-३.

प्रातिशाख्ये च स्मर्यते । तथा सत्यैकरूप्यं लभ्यते । अत्रो-
च्यते—सत्यमेवमैकरूप्यं सिद्धयति । मन्दमतीनां तु कश्चिद्भूमः
प्रादुपयाद्धिभक्तपदात्मको वेद इति । तन्निवारणार्थं त्विहावि-
भक्तरूपं प्रकृतिमाश्रित्य विभागे ह्रस्वत्वं विधीयते । तेन संहिता-
म्नाय एव वेद इति व्यापनात्स भ्रमो निवर्तते । नन्वेवमुभयस्य
प्रकृतित्वाश्रयणात्कतररूपो घेद इति संशय एव स्यात् । मैधम्
अस्ति ह्यत्र प्राप्तिद्वं प्रमाणान्तरम् । विदुरनेन धर्मानिति हि
वेदसमाख्या । तदाह भगवानापस्तम्बः—“मन्त्रब्राह्मणे यज्ञस्य
प्रमाणम्” । “मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्”^१ इति, शास्त्रसमाख्या च
वेदस्य धर्मशासनाद्भवति । ततश्च वाक्यानामेव बोधकतया वेदत्वं
विधायकतया शास्त्रत्वं चेति सत्सम्प्रदायप्राप्तिद्वं एवायमर्थः
संहिताम्नाय एव घेद इति । स इह प्राथमिकेन* ह्रस्वविधिना
व्याप्यते । न तु प्रकृतित्वाश्रयणमेव वेदत्वे प्रमाणमिति भ्रमः
विभक्तरूपस्य तु प्रकृतित्वं व्युत्पादनसौकर्यार्थमाश्रियते । तस्य
पदत्वैनाक्षरत्वेन अङ्गाङ्गित्वेन च बहुविधत्वान्न तस्य वेदत्वं
प्राज्ञाः प्रचदन्तीत्यलं प्रपञ्चेन ॥ १ ॥

—०—

देवा शीका सुम्ना श्वर्ता वयुना हृदयाऽघो-
कथा शुद्धा ॥ २ ॥

“ऊर्जे त्वा वायवः”^१ इत्यादौ तल्लक्षणसम्भवाद्दतिव्याप्तिमुत्तर-
सूत्रैः परिहरति—

^१ आप. प. सू. १-३२

^२ आप. प. सू. १ ३३.

^३ स १-१-१.

* प्राथमकल्पिकेन.

देवा शीका मुन्ना श्वा ऋता वयुना हृदया अथा उक्था शुद्धा
इत्येतेषु ग्रहणेष्ववग्रहेष्वन्त्यस्वरः विभागे व्यञ्जनपरो ह्रस्वमापद्यते ।
यथा—“देवायने यजमानाय”¹ । ‘शीकायते स्वाहा’² । ‘सुन्नायन्तो
हवामहे’³ । ‘द्यावापृथिव्या श्वावित्’⁴ । ‘अप्यकारादि’ (१-५२) इति
वचनादिदमप्युदाहर्तव्यम्—“अश्वावतीः सोमवतीम्”⁵ । ‘ऋतायवः
पुराऽन्नमक्षन्’⁶ । ‘वयुनाविदेकः’⁷ । ‘हृदयाविप्रश्चित्’⁸ । ‘अथायतो मा
गन्धर्वो विश्वावसुरा दधन्’⁹ । ‘उक्थामदानां धेनुः’¹⁰ । ‘आपो
देवीश्शुद्धायुवः’¹¹ ॥ २ ॥

उत्तर इत्यनुवर्तते । संहितायां देवाशीकेत्यादीनां पदाना-
मन्ते घर्तमानो दीर्घो विभागे व्यञ्जनपरो ह्रस्वमापद्यते । ननु ‘आदा-
युत्तरे’ (३-१) इति प्रथमसूत्रेऽधिकृतम् । तेन पदादेरेव ह्रस्वत्वमग्रे
विभातव्यम् । तत्क्रमानुरोधत् । सत्यम् । उत्तर इति ग्रहण-
स्यानुवृत्तिलाभाय तु तदनन्तरं पदान्तह्रस्वत्वमेव अग्रे विधीयते ।
तद्वलाभे ‘आहुती ईरयथा आरिधा’ (३-७, १०) इत्येतेषां आदायपि
ह्रस्वत्वं स्यात् । अधिकृतक्रमभङ्गे तु न काचित्क्षतिः । उदाहरणं तु-
देवा “देवायते यजमानाय”¹ । शीका—“शीकायते स्वाहा”²
सुन्ना—“सुन्नायन्तो हवामहे”³ । श्वा—“द्यावापृथिव्या श्वा-
वित्”⁴ । “अप्यकारादि” (१-५२) शत वचनात् ‘अश्वावतीः
सोमवतीम्’ इत्यप्युदाहरणम् । ऋता—“ऋतावरोरुर्मिणीः”¹² । इह

¹ त. ३-५-५. ² सं. ७-६-११, ³ म. १-५-११. ⁴ सं. ५-५-२०.
⁵ म. ४-२-६. ⁶ सं. २-२-५. ⁷ सं. १-२-१३. ⁸ त. १-४-४६.
⁹ म. १-२-६, ¹⁰ सं. २-४-११. ¹¹ म. १-३-८. ¹² सं. १-१-३.

कस्मान्न भवति—“क्रतायुभ्यां त्वा”^१ । ‘पदग्रहणेषु पदं गम्येत’
(१-५०) इति नियमात् । एवं ‘मनोसि प्राजापत्यम्’^२ इत्यादावपि
द्रष्टव्यम् । वयुना—“वयुनाविदेक इत्”^३ । हृदया—“हृदयाविध-
धित्”^४ । अघा—“मा त्वा वृका अघायवः”^५ । उक्था—‘उक्था-
युवे’^६ । शुद्धा—‘आपो देर्घाश्शुद्धायुवः’^७ ॥ २ ॥

—(१)—

इन्द्रा वहन्वान्परः ॥ ३ ॥

‘इन्द्रा’ इत्येतस्मिन् अवग्रहे अन्त्यस्वरः वत्, वन्, वान् इत्ये
वम्परो विभागे ह्रस्वमापद्यते । यथा—“इन्द्रावतीमपचितीम्”^८ । “इन्द्रा-
वन्तो मरुतः”^९ । “इन्द्रावान् स्वाहा”^{१०} । इन्द्रेति किं ? “ऊर्णा-
वन्तं प्रथमः”^{११} । “असुर प्रजावान्”^{१२} । “प्रजावतीरनमीवा अ-
यक्ष्माः”^{१३} । एवं पर इति किं ? “इन्द्रावरुणयोरहम्”^{१४} ॥ ३ ॥

इन्द्रापदस्यान्ते दीर्घः, वत् । वन् । वान् । इत्येतेषु परतो
विभागे ह्रस्वमापद्यते । ‘इन्द्रावतीमपचितीम्’^८ । ‘इन्द्रावन्तो मरुतः’^९
‘इन्द्रावान् स्वाहा’^{१०} । इन्द्रेति किम् ? ‘ऊर्णावन्तम्’^{११} । ‘प्रजावान्
पशुमान्’^{१२} । ‘प्रजावतीरनमीवाः’^{१३} । एवं पर इति किम् ?
‘इन्द्रावरुणयोरहम्’^{१४} । ‘इन्द्रासोमीयमेकादशकपालम्’^{१५} ॥ ३ ॥

—(१)—

- | | | | |
|--------------------------|---------------------------|--------------------------|--------------------------|
| ^१ स. १-४-५. | ^२ स. १-६ २. | ^३ स. १-२-१३. | ^४ सं. १-४-४५. |
| ^५ स. १-२-९. | ^६ स. १-४ ६०. | ^७ स. १-३-८. | ^८ स. ५-७ ४. |
| ^९ स. ४-७-१४. | ^{१०} सं. १-१-१२. | ^{११} स. ३-५-११. | ^{१२} स. ३-१-१९. |
| ^{१३} स. १-१-१०. | ^{१४} स. २-६-१२. | ^{१५} स. ७-१-७. | ^{१६} स. १-८-८. |

चित्रा वपरः ॥ ४ ॥

‘चित्रा’ इत्येतस्मिन्नवग्रहे अन्त्यस्वरो वकारपरः विभागे ह्रस्वमापद्यते । यथा—“चित्रावसोस्त्वस्ति ते पारमशीय”^१ । चित्रेति किं ? “मित्रावरुणावेव”^२ । वपर इति किं ? “चित्रापूर्णमासे दीक्षेरन्”^३ ॥

चित्रा इत्येतस्मिन्नवग्रहेऽन्त्यस्वरो वकारपरो विभागे ह्रस्वमापद्यते । ‘चित्रावसोस्त्वस्ति’ वपर इति किम् ? “चित्रापूर्णमासे”^३ ॥ ४ ॥

—o—

प्रस्थेन्द्रिया द्रविणा विश्वदेव्या दीर्घा वीर्या
विश्वा वाता त्वा भङ्गुरा कर्णका वृष्णिद्या
सुगोपवर्त्सामाऽद्या सत्रा वर्षा पुष्पा
मेघा प्रा स्वा ॥ ५ ॥

प्रस्था इन्द्रिया द्रविणा विश्वदेव्या दीर्घा वीर्या विश्वा वाता त्वा भङ्गुरा कर्णका वृष्णिद्या सुगोपा ऋक्मामा अद्या सत्रा वर्षा पुष्पा मेघा प्रा स्वा इत्येतस्मिन्नवग्रहेषु अन्त्यस्वरो विभागे व्यञ्जनपरो ह्रस्वमापद्यते । यथा—“प्रस्थावद्रगवाहनम्”^१ । “इन्द्रियावन्तपुरोडाशम्”^२ । “द्रविणावनः कुरुते”^३ । “विश्वदेव्यावने स्वात्राः”^४ । “दीर्घाधियो रक्ष-

१सं. १-५-२.

२चित्रावसोस्त्वस्ति दीर्घ

३सं. ५-१-११.

४सं. २-१-३.

५ ४-२-५.

६ १, १-४-१

७सं. ३-४-८.

८ १, २-२-७.

वर्षा—“वर्षाह्नां जुहोति”¹ । पुष्पा—“पुष्पावतीस्सुपिष्पलाः”² ।
 मेघा—“मेघायते स्वाहा”³ । प्रा—“द्युम्नस्य प्रासहा रयिम्”⁴ ।
 स्वा—“जरते स्वार्थीः”⁵ ॥ ५ ॥

—०—

लोक एवेष्टा ॥ ६ ॥

‘लोके’ ‘एव’ इत्येवम्पूर्वं ‘इष्टा’ इत्येतस्मिन् अवग्रहे अन्त्यस्वरो
 विभागे व्यञ्जनपरो ह्रस्वमापद्यते । यथा—“समुष्टिर्मल्लोक इष्टापूर्तेन”⁶
 “स त्वेवेष्टापूर्ती”⁷ । एवम्पूर्वं इति किं ? “एनमिष्टापूर्ते सः सृजे-
 थाम्”⁸ । इष्टेति किं ? “साक्षादेव प्रजापतये”⁹ ॥ ६ ॥

लोके । एव । इत्येताभ्यामुपयन्धाभ्यां पुर्वाभ्यामुपलक्षिते
 देशे इष्टापदस्यान्ते दीर्घो विभागे व्यञ्जनपरो ह्रस्वमापद्यते ।
 यथा—‘लोक इष्टपूर्तेन गच्छते’ । ‘स त्वेवेष्टापूर्ती’⁷ । एता-
 भ्यामुपयन्धाभ्यां किम् ? ‘इष्टापूर्ते कृणुतात्’¹⁰ ॥ ६ ॥

— १ —

शक्ती रथी त्विषी वाशी रात्रयोपध्याहुती
 व्याहृती स्वाहाकृती हादुनी शची चि-
 ती श्रोणी पृष्टी पूत्यभी चर्षणी पर्यधी
 पारी शत्रू विपू वसू अनू हनू सू विभू
 इत्यवग्रहः ॥ ७ ॥

¹ ॥, २-६-१०.

² ॥, ४-१-६

³ ॥, ७-५-११.

⁴ ॥, १-३-१४.

⁵ ॥, ४-२-२.

⁶ ॥, ३-३-८.

⁷ ॥, १-७-३.

⁸ ॥, ४-७-१३.

⁹ ॥, ५-१-२.

¹⁰ ॥, ५-३-५.

शक्ती रथी त्विपी वाशी रात्री ओपथी आहुती व्याहृती स्वाहा
 कृती द्वादुनी शची चिती श्रोणी पृष्टी पूती अभी चर्पणी परी अभी
 पारी शत्रू विपू वमू अनू हनू मू विभू इत्येतेष्ववग्रहेषु अन्त्यस्वरो वि^१
 भागे व्यञ्जतपरो ह्रस्वमापद्यते । यथा—“शक्तीवन्तो गभीराः”^१ ।
 “रथीतमौ रथीनाम्”^२ । “त्विपीमते पथीनाम्”^३ । “वाशीमन्त इप्मिणः”^४ ।
 “रात्रीभिरसुभ्रन्”^५ । “ओपथीभ्यो वेहतम्”^६ । “आहुतीभिरनूयानेषु”^७ ।
 “एताभिर्व्याहृतीभिः प्रजापतिः”^८ । “स्वाहाकृतीभ्यः प्रेष्य”^९ ।
 “द्वादुनीभ्यः स्वाहा”^{१०} । “चष्टे शचीभिः”^{११} । “चितीभ्यामुपायन्”^{१२} ।
 “श्रोणीभ्यां स्वाहा”^{१३} । “पृष्टीभ्यः स्वाहा”^{१४} । “पूतीगन्धस्याप-
 हत्ये”^{१५} । “अभीवृतो घृणीवान्”^{१६} । “मित्रस्य चर्पणीधृन्”^{१७} । “वी-
 रवन्तं परीणसम्”^{१८} । “अघीवासं या हिरण्यानि”^{१९} । “पारीणाह्यस्वेषे”^{२०} ।
 “शत्रूयतो हन्ता”^{२१} । “विपूथान्विपूवन्तः”^{२२} । “अरमतिर्नसूयुः”^{२३} ।
 “अनूराधा नक्षत्रम्”^{२४} । “अन्कारादि च” (१-९३) इति वचनात्
 “अननूयानं प्रायणीयं”^{२५} इत्येतदप्युदाहरणं भवति । ‘हनूभ्यां
 स्वाहा’^{२६} । “सूयवासिनी मनवे”^{२७} । ‘विभूदावृत्ते’^{२८} । ‘इत्यवग्रहः’
 ‘इति’ अनेन प्रकारेण उक्तः पदसमुदायः अवग्रहः विज्ञेयः ॥ ७ ॥

| | | | |
|---------------|---------------|---------------|---------------|
| १ स. ४-६-६. | २ त. ४-७ १६. | ३ स. ४-६-२. | ४ स. २-१-१६. |
| ५ ,, २-४ १. | ६ ,, २-१-६ | ७ ,, २-६-९. | ८ ,, १-६-१०. |
| ९ ,, ६-३-९ | १० ,, ७-४-१३. | ११ ,, ४-२-५. | १२ ,, ५-७-६. |
| १३ ,, ७-३-६६. | १४ ,, ७-३-१६. | १५ ,, २-२-२. | १६ ,, ३-५-११. |
| १७ ,, ३-४-११. | १८ ,, २-२-१२. | १९ ,, ४-६-११. | २० ,, ६-२-१. |
| २१ ,, १-६-६. | २२ ,, ७-४-३. | २३ ,, ४-३-१३. | २४ ,, ४-४-१०. |
| २५ ,, ६-१-६. | २६ ,, ७-३-१६. | २७ ,, १-२-१३. | २८ ,, ३-५-८. |

शक्ती रथीत्यादिपदानामन्ते वर्तमानो दीर्घः विभज्यमान-
व्यञ्जनपरो ह्रस्वमापद्यते । शक्ती—“शक्तीचिन्तो गभीराः”¹ ।
रथी—“रथीतमः रथीनाम्”² । त्विपी—“त्विपीमते पथीनाम्”³ ।
याशी—“याशीमन्त इष्मिणः”⁴ । रात्री—“रात्रीभिरसुभ्रन्”⁵ ।
ओपधी—“ओपधीभ्यस्सूपस्थाः”⁶ । आहुती—“तं देवा आहु-
तीभिः”⁷ । व्याहृती—“व्याहृतीभेद् हवीऽपि”⁸ । स्वाहाकृती—
“स्वाहाकृतीभ्यः प्रेष्येति”⁹ । हादुनी—“हादुनीभ्यस्स्वाहा”¹⁰ ।
शची—“अभि चष्टे शचोभिः”¹¹ । चिती—“चितीभ्यामुपायन्”¹² ।
थ्रोणी—“थ्रोणीभ्याः स्वाहा”¹³ । पृष्टी—“पृष्टीभिर्दिवम्”¹⁴ । पूती-
“पूतीगन्धस्यापहत्यै”¹⁵ । अमो—“रथो न योरभीवृतः”¹⁶ । चर्ष-
णी—“मित्रस्य चर्षणीधृतः”¹⁷ । परी—“वीरवन्तं परीणसम्”¹⁸ ।
अधी—“अधीघासं या हिरण्यान्यस्मै”¹⁹ । पारी—“पारीणह्य-
स्येशे”²⁰ । शश्रू—“शश्रूयतो हन्ता”²¹ । विपू—“अथो एष वै विपू-
वान्”²² । वसू—“उप स्वैनमरप्रतिर्वसूयुः”²³ । अनू—“अनूयाजे-
ष्यम्यविन्दन्”²⁴ । “अन्कारादि च” (१-१३) इति वचनात्
“प्रयाजयदननूयाजम्”²⁵ । हनू—“हनूभ्याः स्तेनान्भगव”²⁶ । सू-
“एतद्वै सूयवसम्”²⁷ । विभू—“विभूदावृन्ने ज्योतिष्मते”²⁸ । इत्य-
द्यग्रह इतिशब्देन पूर्वोक्तः पदगणो निर्दिश्यते । अत्र द्विविधो

- | | | | |
|--------------|--------------|--------------|---------------|
| 1 सं. ४-६-६. | 2 सं. ४-६-३. | 3 सं. ४-५-२. | 4 सं. २-१-११. |
| 5 „ २-४-१. | 6 „ १-२-२. | 7 „ २-६-९. | 8 „ १-६-१०. |
| 9 „ ६-३-९. | 10 „ २-४-१३. | 11 „ ४-२-५. | 12 „ ६-७-५. |
| 13 „ ७-३-१६. | 14 „ ५-७-१७. | 15 „ २-२-२. | 16 „ ३-५-११. |
| 17 „ ३-४-१३. | 18 „ २-२-१२. | 19 „ ४-६-११. | 20 „ ६-२-२. |
| 21 „ १-५-६. | 22 „ ७-४-३. | 23 „ ४-३-१३. | 24 „ २-६-९. |
| 25 „ ६-१-६. | 26 „ ४-१-१०. | 27 „ १-७-५. | 28 „ ३-६-८. |

नियम इष्यते-‘देवाशीका’ (३-२) इत्यादिशब्दगणोऽवग्रहात्मक एव
 ह्रस्वभागभवतीत्येकः । तेन ‘श्वर्ता’ (३-२) इत्यनयोः “कुष्णश्वा चतु-
 रंक्षः”^१ । “शुचा ह्यृता लोमतः”^२ । इत्यत्र ह्रस्वत्वं न भवति । कथं
 तर्हि? “अद्या देवान् जुष्टतमः”^३ “मोषूण इन्द्र”^४ । उत्तरत्रापि ग्रह-
 णात् । तथा देवाशोकादरेव अवग्रहत्वेन ह्रस्वभागभवति । न तु
 ‘अघासचस्वा’ (३-६) इत्यादिरित्यपरः । तेन ‘अनागतं वा एतस्य
 पयः’^५ इत्यादौ नाशब्दस्य ‘अप्यकारादि’ (१-१२) इति ह्रस्वो
 न भवति । कथं तर्हि? “अद्याश्वात्”^६ । “सूयवसम्”^७ इति ।
 पूर्वत्रापि ग्रहणात् ॥ ७ ॥



अवा सचस्वा नुदा मृडा वर्धा शिक्षा रक्षाऽ-
 द्या भवा भजा यत्रा चरा पिवा ना-
 धामा धारया धर्पा घा वर्धया बोधाऽत्रा
 तत्रा मुश्वाऽश्वस्या पृणस्वा हिष्ठा
 त्वन्तरा जनिष्वा युक्ष्वाऽच्छा ॥ ८ ॥

अवा सचस्वा नुदा मृडा वर्धा शिक्षा रक्षा अद्या भवा भजा यत्रा
 चरा पिवा ना धामा धारया धर्पा घा वर्धया बोधा अत्रा तत्रा मुश्वा
 अश्वस्या पृणस्वा हिष्ठा त्वन्तरा जनिष्वा युक्ष्वा अच्छा इत्येतेष्वनवग्र-
 हेषु अन्त्यस्वरो विभागे व्यञ्जनपरो ह्रस्वमापद्यते । यथा—“अवा नो देव्या

१ स. ५-५-१९.

२ स. ५-१-४.

३ स. ४-६-७.

४ „ १-८-३.

५ „ २-५-५.

६ „ ३-१-७.

७ „ १-७-५.

कृपा”¹ । “सचस्वा नस्वस्तये”² । “अणुदा नस्तपत्नान्”³ । “मृडा
जरित्रे रुद्र”⁴ । “वर्द्धा नो अमवच्छवः”⁵ । “शिक्षा नो अस्मिन्”⁶ ।
“रक्षा च नो अधि”⁷ । “अद्या देवान् जुष्टतमः”⁸ । “भवा
पायुर्विशो अस्याः”⁹ । “व्रजे भजा त्वं नः”¹⁰ । “यत्रा नरो मरुतः”¹¹ ।
“प्र चरा सोम दुर्यान्”¹² । “पिवा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा”¹³ । “रिपवो
ना ह देभुः”¹⁴ । “अपि विकृतम्”, “अप्यकारादि” (१-९२, ९१).
इति वचनाभ्यां “प्राणा वा अश्वः”¹⁴ इत्यत्र ह्रस्वादेशः किं न
स्यात् ? मैवं । “अपि विकृतं” (१-९१) इति वचनं कण्ठोक्त-
पदविषयम्, न त्वकारादिपदविषयम् । प्राणा इत्यस्यापि अकारादि-
त्वान्नायं विधिः । तर्हि वैकृतत्वाभावादना इत्यस्येङ्ग्यांशस्य किं न
स्यादयं विधिः ? एवंप्रकारस्य संहितायां दीर्घाभावात् । “धामा ह
यत्ते अनर”¹¹ । “बृहस्पते धारया वसूनि”¹⁵ । “धर्पा मानुषा-
नद्रयः”¹⁶ । “उत वा घा स्यालात्”¹⁷ । “तममे वर्द्धया त्वम्”¹⁸ । “बोधा
नो अस्य वचसो यविष्ठ”¹⁹ । “अत्रा ते रूपम्”¹⁸ । “तत्रा रथमुप”²⁰ ।
“प्र मुञ्चा स्वस्तये”²¹ । “एकस्त्वष्टुरश्वस्या विशस्ता”²² । “सप्त योनी-
रा पृगस्वा घृतेन”²³ । “आपो हिष्ठा मयोभुवः”²⁴ । हि इति किं ।

| | | | |
|--------------|--------------|---------------|---------------|
| 1 सं. ४-१-४. | 2 सं. १-५-६. | 3 सं. ४-३-१२. | 4 सं. ४-६-१०. |
| 5 „ २-६-११. | 6 „ ७-५-२७. | 7 „ ४-५-१०. | 8 „ ४-६-७. |
| 9 „ १-२-१४. | 10 „ १-६-१२. | 11 „ ३-१-११. | 12 „ १-२-१०. |
| 13 „ २-४-१४. | 14 „ ६-४-४. | 15 „ १-३-७. | 16 „ १-३-८. |
| 17 „ १-३-१४. | 18 „ ४-६-३. | 19 „ ४-२-३. | 20 „ ४-६-६. |
| 21 „ ३-३-८. | 22 „ ४-६-९. | 23 „ १-५-३. | 24 „ ४-१-५. |

“प्रतिष्ठा वा एकविंशः”^१ । “अग्ने त्वं तरा मृषः”^२ । त्वमिति किं ? “अन्तरतरा तस्रव्रतो भवति”^३ । “जनिष्या हि जेन्यः”^४ । “युक्ष्वा हि देवहूतमान्”^५ । “अच्छा नक्षि द्युमत्तमः”^६ ॥ ८ ॥

अवासचस्वेत्यादिपदानां अनवग्रहाणामन्ते दीर्घा विभज्यमानव्यञ्जनपरो ह्रस्वमापद्यते । अवा—“अवा नो देव्या कृपा”^७ । सचस्वा—“सचस्वा नस्वस्तये”^८ । जुदा—“प्रणुदा नस्तपज्ञान्”^९ । मृडा—“मृडा नो रुद्र”^{१०} । वर्धा—“वर्धा नो अमघच्छवः”^{११} । शिक्षा—“शिक्षा नो अस्मिन्”^{१२} । रक्षा—“रक्षा राजन्नघायतः”^{१३} । अघा—“अघा वृणीमहे”^{१४} । भवा—“अवा तोकाय”^{१५} । भजा—“व्रजे भजा त्वं नः”^{१६} । यत्रा—“यत्रा नरो मरुतः”^{१७} । चरा—“प्र चरा सोम दुर्यान्”^{१८} । पिवा—“पिवा सोममिन्द्र”^{१९} । ना—“ना ह देभुः”^{२०} । धामा—“धामा ह यत्ते”^{२१} । धारया—“धारया वसूनि”^{२२} । “अग्ने पितृस्व धारया”^{२३} इत्यत्र ह्रस्वत्वं न भवति । विभागाभावात् । धर्वा—“धर्वा मानुपान्”^{२४} । धा—“उत वा धा स्यालात्”^{२५} । वर्धया—“तमग्ने वर्धया त्वम्”^{२६} । योधा—“योधा स योर्धात्युष तिष्ठते”^{२७} । अत्रा—“अत्रा ते भद्राः”^{२८} । तत्रा—“तत्रा रथमुप”^{२९} । मुञ्चा—“मुञ्चा व्यहः”^{३०}

१ सं. ५-२-३. २ सं. ४-१-९. ३ सं. ६-२-२. ४ सं. ४-१-३.

५ „ २-६-११. ६ „ १-५-६. ७ „ ४-१-४. ८ „ १-५-६.

९ „ ४-३-१२. १० „ ४-५-१०. ११ „ २-६-११. १२ „ ७-५-७.

१३ „ २-३-१४. १४ „ ३-४-११. १५ „ १-१-१४. १६ „ १-६-१२.

१७ „ ३-१-२१. १८ „ १-२-२०. १९ „ २-४-१४. २० „ १-२-१४.

२१ „ १-६-७. २२ „ १-५-३. २३ „ १-३-८. २४ „ १-१-१४.

२५ „ ४-६-३. २६ „ ५-२-२. २७ „ ४-६-७. २८ „ ४-६-६.

२९ „ ४-७-१५.

अश्वस्या—“अश्वस्या विशस्ता”¹ । पृणस्वा—“आ पृणस्वा
पृतेन”² । हिपदेन पूर्वणोपलक्षिते देशे स्थाशब्दो ह्रस्वभाक् ।
“आपो हिष्टा मयोभुवः”³ । ह्येत्युपवन्धेन किम् ? “अजाऽसि रयि-
ष्टा”⁴ । त्वं तरा—त्वंपदेन पूर्वणोपलक्षिते देशे तराशब्दो ह्रस्व-
भाक् । “अग्ने त्वं तरा सृधः”⁵ । त्वमित्युपवन्धेन किम् । “प्रजा
वा उत्तरा देवयज्या पशवः”⁶ । ननु त्वन्तरेति तुशब्दपूर्वकोऽ-
न्तराशब्दः किं न स्यात् । “सुप्रायणा भवन्तु । अन्तरा मि-
घ्रावरणा”⁷ इति ‘पदग्रहणेषु पदं गम्येत’ (१-९०) इति नियमात् ।
जनिष्या—“जनिष्या हि जेन्यः”⁸ । युश्वा—“युश्वा हि देवहूत-
मान्”⁹ । अच्छा—“अग्ने अच्छा यदेह नः”¹⁰ ॥ ८ ॥

अथाऽग्नियाज्ये ॥ ९ ॥

अग्निश्च याज्याश्च ‘अग्नियाज्यं’ तस्मिन् । ‘चार्थे द्वन्द्वः’
इति समासः । ‘अग्निः’ इत्याग्निप्रकाशकमन्त्रा लक्ष्यन्ते चतुर्थकाण्ड
इत्यर्थः । उभा यामिन्द्राग्नी¹¹ प्रभृत्याग्निर्वृत्राणि¹² पर्यन्ताः प्रक्षोत्तमानुवाका
याज्यासंज्ञका भवन्ति, ‘युश्वा हि’⁹ इत्यनुवाकश्च । अत्र विषये ‘अथा’
इत्येतस्मिन् ग्रहणे अन्त्यस्वरो विभागे व्यञ्जनपरो दस्वमापद्यते । यथा—
“अथा हग्ने क्रतोः”¹³ । “अथा च नक्षर्म यच्छ”¹⁴ । “अथा ते
सुप्रभीमहे”¹⁵ । “अथा यथा नः”¹⁶ । अग्नियाज्ये इति किं ? “अथा
मेति नद्विष्णवेऽति”¹⁶ ॥ ९ ॥

- | | | | |
|-------------------------|-------------------------|-------------------------|-------------------------|
| ¹ सं. ४-१-५. | ² सं. १-५-३. | ³ सं. ४-१-५. | ⁴ सं. १-४-२. |
| ⁵ „ ४-१-५. | ⁶ „ १-६-७. | ⁷ „ ५-१-११. | ⁸ „ ४-१-३. |
| ⁹ „ २-६-११. | ¹⁰ „ १-७-१०. | ¹¹ „ १-१-१४. | ¹² „ ४-१-१३. |
| ¹³ „ ४-४-६. | ¹⁴ „ ६-५-१०. | ¹⁵ „ २-६-१२. | ¹⁶ „ २-४-१२. |

अग्निश्च याज्याश्च अग्नियाज्यम् । अग्निशब्देन चित्याग्निमन्त्र-
रूपाः 'युजानः प्रथमं मनः'^१ इत्यादिसप्तप्रपाठका उच्यन्ते । याज्या-
शब्देन 'उभा वामिन्द्राग्नी'^२ इत्यादयः 'अग्निर्घृत्राणि'^३ पर्यन्ताः
प्रश्नोत्तमानुधाकाः, 'युक्ष्वा हि देवहृतमान्'^४ इत्येव चेति त्रयोविंश-
तिसंख्यन्ते । तत्राधाशब्दस्यान्ते दीर्घो विभागे व्यञ्जनपरो ह्रस्व-
मापद्यते । यथा—अग्नी—“अधा ह्यग्ने”^५ । “अधा च नदशर्म”^६ ।
याज्यास्तु लृत्वपि—“अधा ते सुस्रमीमहे”^७ । “अधा यथा नः”^८ ।
अग्नियाज्य इति किम् ? “अधा मेति तद्विष्णवे”^९ । ननु अधा मे-
त्यत्र पदान्तस्य फः प्रसङ्गः । तदुच्यते—संहितायां यः पदान्तो
दीर्घः स इह कार्यभागुच्यते । तत्र विसर्जनीयलोपाद्भवत्येवायं
दीर्घः पदान्त इत्यस्ति प्रसङ्गः । एवं 'भरता याज्यास्तु' (३-११)
इत्यत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ ९ ॥

—०—

कुत्रा दक्षिणेना स्वेना हन्तना जगामा रुहे-
मा विदधर्चमा चकृमा क्षामा स्तरी-
मा भरेमा वर्षयथेरयथाऽऽरिथा पाथाऽ-
था सिञ्चथा जनयथा जयतोक्षताऽवता
याता शृणुता कृणुता विभृता ॥ १० ॥

कुत्रा दक्षिणेना स्वेना हन्तना जगामा रुहेमा विदधा कृष्यामा चकृमा
क्षामा स्तरीमा भरेमा वर्षयथा ईरयथा आरिथा पाथा अथा सिञ्चथा

^१ स. ४-१-१.

^२ स. १-१-१४.

^३ स. ४-३-१३.

^४ „ २-६-११.

^५ „ ४-४-४.

^६ „ ४-६-१०.

^७ „ २-६-१२.

^८ „ २-४-१२.

जनयथा जयता उक्षता अवता याता शृणुता कृणुता विभृता एतेष्वनव-
 ग्रहेषु अन्त्यस्वरो विभागे व्यञ्जनपरो ह्रस्वमापद्यते । यथा—“ कुत्रा
 चिद्यस्य समृतौ ”¹ । “ दक्षिणेना वसूनि ”² । “ स्वेना हि वृत्रं श-
 वसा ”³ । “ तपसा हन्तना तम् ”⁴ । “ आ जगामा परस्याः ”⁵ । “ अ-
 स्त्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ”⁶ । “ विद्वा ते अग्ने ”⁷ । “ ऋध्यामा
 त ओहैः ”⁸ । “ चकृमा कच्चनागः ”⁹ । “ क्षामा रोरिहद्वीरुधस्समञ्जम् ”¹⁰ ।
 “ सुष्टरीमा जुषाणा ”¹¹ । “ अहोमुचे न भरेमा मनीषाम् ”¹² । “ वृष्टिं
 वरूपयथा पुरीषिणः ”¹³ । “ उदीरयथा मरुतः ”¹⁴ । “ उदारिथा यजे
 तम् ”¹⁵ । “ क्षये पाथा दिवो विमहसः ”¹⁶ । “ अथा सोमस्य ”¹⁷ ।
 “ यत्रा नरो मरुतस्सिद्धथा मधु ”¹⁸ । “ आपो जनयथा च नः ”¹⁹ ।
 “ उप प्रेत जयता नरस्स्थिराः ”²⁰ । “ धृतमुक्षता मधुवर्णम् ”²¹ । “ अ-
 स्मानु देवा अवता हवेषु ”²² । “ देवा रथेर्याता हिरण्ययेः ”²³ । “ मरुत-
 श्शृणुता हवम् ”²⁴ । “ संवत्सराय कृणुता बृहन्नमः ”²⁵ । “ पुत्रं विभृ-
 ता स्वेनम् ”²⁶ ॥ १० ॥

कुत्रादक्षिणेनेत्यादिषदानामनवग्रहाणामन्ते दीर्घो विभज्य-
 मानव्यजनपरो ह्रस्वमापद्यते । यथा—कुत्रा—“ कुत्रा चिद्यस्य ”¹ ।

- | | | | |
|---------------|--------------|---------------|---------------|
| 1 सं. २-१-११. | 2 ग. १-६-११. | 3 रा. ७-४-१५. | 4 रा. ४-१-११. |
| 5 „ १-६-१२. | 6 „ १-५-११. | 7 „ ६-२-२. | 8 „ ४-४-४. |
| 9 „ ४-७-१५. | 10 „ १-२-१४. | 11 „ ५-१-११. | 12 „ २-४-८. |
| 13 „ ४-६-५. | 14 „ ४-२-११. | 15 „ १-१-१६. | 16 „ १-१-११. |
| 17 „ ४-१-५. | 18 „ ४-६-४. | 19 „ ४-३-१२. | 20 „ ५-७-२. |
| 21 „ ४-२-१. | | | |

दक्षिणेना—“दक्षिणेना वसूनि”¹ । स्वेना—“स्वेना हि वृत्रम्”² ।
 हन्तना—“तपसा हन्तना तम्”³ । जगामा—“आ जगामा परस्याः”⁴ ।
 रुहेमा—“आ रुहेमा स्वस्तये”⁵ । विद्या—“विद्या ते अग्ने”⁶ ।
 ऋध्यामा—“ऋध्यामा त ओद्दि”⁷ । चरुमा—“अविद्याः-
 सञ्चरुमा कञ्चनागः”⁸ । क्षामा—“द्याया क्षामा रुक्मः”⁹ । स्त-
 रीमा—“सुष्टरीमा जुषाणा”¹⁰ । भरेमा—“अश्वोमुच्ये प्र भरे-
 मा मनीषाम्”¹¹ । चरूपयथा—“दृष्टिं चरूपयथा पुरोयिणः”¹² । ईर-
 यथा—“उदीरयथा मस्तः”¹³ । आरिथा—“उदारिथा यजे”¹⁴ ।
 पाथा—“क्षये पाथा दिवो विमहसः”¹⁵ । अथा—“अथा
 सपत्नार इन्द्रो मे”¹⁶ । सिञ्चथा—“सिञ्चथा मधु”¹⁷ । जन-
 यथा—“आपो जनयथा च नः”¹⁸ । जयता—“उप प्रेत जयता
 नरः”¹⁹ । उक्षता—“पृतमुक्षता मधुवर्णम्”²⁰ । अवता—
 “प्रावता वचः”²¹ । याता—“याता हिरण्ययैः”²² । शृणुता—
 “मवतश्शृणुता हवम्”²³ । रुणुता—“रुणुता बृहन्नमः”²⁴ । वि-
 भृता—“विभृता स्वेनम्”²⁵ ॥ १० ॥

—०—

भरता याज्यासु ॥ ११ ॥

‘भरता’ इत्येतस्मिन् ग्रहणे अन्त्यस्त्रो याज्यासु विषये विभागे
 व्यञ्जनपरो ह्रस्वमापद्यते । यथा—“धिया भरता जातवेदसम्”²⁶ । “भर-

¹ सं. ३-४-११ ² सं. ७-४-१६. ³ सं. ४-३-१२. ⁴ सं. १-६-१२.

⁵ सं. १-५-११. ⁶ सं. ४-२-२. ⁷ सं. ४-४-४. ⁸ सं. ४-७-१५.

⁹ सं. ४-१-५. ¹⁰ सं. ६-१-११. ¹¹ सं. २-४-८. ¹² सं. ४-६-५.

¹³ सं. ४-२-११. ¹⁴ सं. १-१-१२. ¹⁵ सं. ३-१-११. ¹⁶ सं. ४-१-५.

¹⁷ सं. ४-६-४. ¹⁸ सं. ४-२-६. ¹⁹ सं. ४-७-१२. ²⁰ सं. ५-७-२.

²¹ सं. ४-२-३. ²² सं. ३-५-११.

ता वसुवित्तमम्^१ । “वचोग्रये भरता बृहत्^२ । याज्यास्विति किं ?
“एष वो भरता राजा^३ ॥ ११ ॥

भरतापदस्यान्ते दीर्घो विभागे व्यञ्जनपरो ह्रस्वमापद्यते ।
“अग्रये भरता बृहत्^२ । याज्यास्विति किम् ? ‘एष वो भरता
राजा^३ ॥ ११ ॥

अत्ता भवताऽनदता तरता तपता जुहुता
वोचताऽमुश्चता चृता घुष्या जनया वर्त-
या सादया पारया दीया हरा भराऽपा
ससादा सृजा तिष्ठा येना ॥ १२ ॥

अत्ता भवता अनदता तरता तपता जुहुता वोचता अमुश्चता चृता
घुष्या जनया वर्तया सादया पारया दीया हरा भरा अपा ससादा
सृजा तिष्ठा येना एतेषु अनवग्रहेष्वन्त्यस्वरो विभागे व्यञ्जनपरो ह्रस्वमा-
पद्यते । यथा—“अत्ता हवीरपि^४ । “आदित्यासो भवता मृडय-
न्तः^५ । “अहायनदता हते^६ । “मुवो रुहाणास्तरता रजाश्सि^७ ।
“तपता सुवृत्तिभिः^८ । “पित्रे जुहुता विश्वकर्मणे^९ । “विश्वे
देवासो अधि वोचता मे^{१०} । “पदि पिताममुश्चता यजन्नाः^{११} । “अय-

^१स. ३-५-११.^२सं. ३-२-११.^३सं. १८-१०.^४स. २-१-१२.^५सं. १-४-२२.^६स. ५-६-१.^७सं. १-५-४.^८सं. १-६-१२.^९सं. ४-६-२.^{१०}सं. ४-७-१४.^{११}सं. ४-७-१५.

स्मयं वि चृता बन्धमेतम्^१ । “परुष्परुनुघुप्या वि शस्त”^२ । “मनु-
र्भव जनया दैव्यम्”^३ । “ताभिरा वर्तया पुनः”^४ । “सादया यज्ञम्”^५ ।
“अग्ने त्वं पारया नव्यः”^६ । “वृहस्पते परि दीया रथेन”^७ । “निहा-
रमिन्नि मे हरा निहारम्”^८ । “मा नो मर्धिरा भरा दद्धि”^९ । “वाजः
श्रुत्या अपा वृधि”^{१०} । “अग्निर्होता निपसादा यजीयान्”^{११} । “सृजा
वृष्टिं दिवः”^{१२} । “तिष्ठा देवो न सविता”^{१३} । “येना सहस्रं
वहसि”^{१४} ॥ १२ ॥

अत्ता भवतेत्यादिपदानामन्ते दीर्घो विभागे व्यञ्जनपरो ह्रस्व-
मापद्यते । अत्ता—“अत्ता हवीं५पि”^{१५} । भवता—“भवता
मृडयन्तः”^{१६} । अनदता—“अहावनदता हते”^{१७} । तरता—“वहा-
णास्तरता रजा५स्ति”^{१८} । तपता—“तपता सुवृक्तिभिः”^{१९} । जुहु-
ता—“जुहुता विध्यकर्मणे”^{२०} । वोचता—“अधि वोचता मे”^{२१} ।
अमुञ्चता—“अमुञ्चता यजन्नाः”^{२२} । चृता—“वि चृता बन्ध-
मेतम्”^१ । घुप्या—“अनुघुप्या वि शस्त”^२ । जनया—“जन-
या दैव्यं जनम्”^३ । वर्तया—“ताभिरा वर्तया पुनः”^४ । सादया—
“सादया यज्ञः सुकृतस्य”^५ । पारया—“अग्ने त्वं पारया नव्यः”^६ ।
दीया—“परि दीया रथेन”^७ । हरा—“इन्नि मे हरा निहारम्”^८ ।

१ सं. ४-२-५.

२ सं. ४-६-९.

३ सं. ३-४-२.

४ „ ३-३-१०.

५ „ ३-५-११.

६ „ १-१-१४.

७ „ ४-६-४.

८ „ १-८-४.

९ „ १-७-१३.

१० „ २-२-१२.

११ „ १-३-१४.

१२ „ २-४-८.

१३ „ ४-१-४.

१४ „ ४-७-१३.

१५ „ २-६-१२.

१६ „ १-४-२२.

१७ „ ५-६-१.

१८ „ ३-५-४.

१९ „ १-६-१२.

२० „ ४-६-२.

२१ „ ४-७-१४.

२२ „ ४-७-१५.

भरा—“भरा दद्धि तन्नः प्र”¹ । अपा—“श्रुत्या अपा वृद्धि”² ।
 ससादा—“निषसादा यजोयान्”³ । सृजा—“सृजा वृष्टिम्”⁴ ।
 तिष्ठा—“तिष्ठा देवो न सविता”⁵ । येना—“येना सहस्रं
 बहसि”⁶ ॥ १२ ॥

उदमसी कयी कृधी श्रुधी यदी सू तू नू मिथू मक्षू ऊ ॥ १३ ॥

• उदमसी कयी कृधी श्रुधी यदी सू तू नू मिथू मक्षू ऊ इत्येतेष्वनव-
 ग्रहेषु अन्त्यस्वरो विभागे व्यञ्जनपरो ह्रस्वमापद्यते । यथा—“उदमसी
 गमध्वे”⁷ । “रुद्र यत्ते कयी परम्”⁸ । “कृधी स्वस्माऽअदिते”⁹ ।
 “इमं मे वरुण श्रुधी हवम्”¹⁰ । “यदी भूमिं जनयन् विश्वकर्मा”¹¹ ।
 ‘मोषूण इन्द्र’¹² । ‘आ तू न उप गन्तन’¹³ । ‘एतशस्य नू रण
 आ’¹⁴ । ‘गात्राण्यसिना मिथूकः’¹⁵ । ‘मक्षू देववतो रथः’¹⁶ ।
 “अस्माभिरु नू प्रतिवक्ष्याऽभूत्”¹⁷ ॥ १३ ॥

उदमसी कयीत्यादीनां पदानामन्ते दीर्घो विभागे व्यञ्जन-
 परो ह्रस्वमापद्यते । उदमसी—“उदमसी गमध्वे”⁷ । कयी—“क-
 यी परं नाम”⁸ । कृधी—“कृधी स्वस्मान्”⁹ । श्रुधी—“श्रुधी हवम-
 णा च”¹⁰ । यदी—“यदी भूमिं जनयन्”¹¹ । सू—“मोषूण इन्द्र”¹² ।

¹ ग. १-३-१३. ² ग. २-२-१३. ³ ग. १-३-१४. ⁴ ग. २-४-८.
⁵ „ ४-१-४. ⁶ „ ४-७-११. ⁷ „ १-३-६. ⁸ „ १-८-१४.
⁹ „ ४-७-१५. ¹⁰ „ २-१-११. ¹¹ „ ४-६-२. ¹² „ १-८-३.
¹³ „ १-५-११. ¹⁴ „ ४-६-२. ¹⁵ „ ४-६-५. ¹⁶ „ १-८-२२.
¹⁷ „ १-४-१३.

तू—“आ तू न उप”¹ । नू—“नूरणे”² । मिथू—“असिना
मिथू कः”³ । मक्षू—“मक्षू देववतो रथः”⁴ । ऊ—“ऊर्ध्व
ऊपुणः”⁵ ॥ १३ ॥



व्युत्पूर्व आननुदात्तोऽनूपमवत्यनूपमवति ॥

वि इत्येवम्पूर्व उत्पूर्वो वा आन् इत्येव स्वरः अनुदात्तः अनूपम-
वति ऊप्मरहिते पदे वर्तमानो व्यञ्जनपरः पदादौ वर्तमानत्वात् पूर्व-
पदेन विभागे सति ह्रस्वमापद्यते । यथा—“व्यानायेति वि-अनाय”⁶
“उदानायेत्युत्—अनाय”⁷ । एवम्पूर्व इति किं ? “यदानृचुस्तेन”⁸ ।
“पर्याणीयाहवनीयस्य”⁹ । नकारः किमर्थः ? “यद्गुक्मं व्याघार-
यति”¹⁰ “उदादाय पृथिवीं जीरदानुः”¹¹ । अनुदात्त इति किं ? “वि-
श्वकर्मा व्यानद्”¹² । “नेष्टः पत्नीमुदानय”¹³ । अनूपमवतीति किं ?
“मघोर्धारा व्यानशुः”¹⁴ । “उदानिपुर्महीरिति”¹⁵ ॥ १४ ॥

इति त्रिभाष्यरत्ने प्रातिशाख्यविवरणे तृतीयोऽध्यायः.

उत्तर इत्यत्र नागुच्यते । असम्भवात् । ततः पारिशो-
प्यादनेन सूत्रेण पदादेर्ह्रस्वत्वं विधीयते । तस्य तु सामर्थ्यात्
पूर्वपदविभागो निमित्तमिति । व्यञ्जनपर इत्येतदप्यत्र न संव-
ध्यते । तदयमर्थः । वि । उत् । इत्यनयोः पूर्वयोराकारो नकारपरोऽ-
नुदात्त ऊप्मरहिते पदे वर्तमानो विभागे ह्रस्वमापद्यते । विपूर्वः—

¹ सं. १-५-११. ² सं. ४-६-१. ³ सं. ४-६-९. ⁴ सं. १-८-१२.

⁵ „ ४-१-४. ⁶ „ ४-२-९. ⁷ „ ७-३-१. ⁸ „ ५-१-६.

⁹ „ ५-२-७. ¹⁰ „ १-२-९. ¹¹ „ ४-२-१०. ¹² „ ६-५-८.

¹³ „ ५-४-७. ¹⁴ „ ५-६-१.

“व्यानाय”¹ । “व्यानेन मनुष्यान्”² । उत्पूर्वः खल्वपि—“उदा-
 नाय प्रतिष्ठायै”³ । “तदुदानं दधति”⁴ एवंपूर्व इति किम् ?
 “यदानृचुः”⁵ । “आनुष्को भवति”⁶ । नकारपर इति किम् ?
 “पृथिवीमनु व्याल्लेत्”⁷ । “रिप्रमुदाभ्यश्शुचिः”⁸ । अनुदात्त इति
 किम् ? “चिश्चकर्मा व्यानङ्गमग्ने”⁹ । “पत्नीमुदानयेत्याह”¹⁰ । अनू-
 ष्मयतीति किम् ? “धारा व्यानशुः”¹¹ । “उदानिपुर्महीरिति”¹² ॥१४॥

इत्याचार्यगार्ग्यगोपालमिश्रविरचिते वैदिकाभरणाख्ये
 प्रातिशाख्यव्याख्याने तृतीयोऽध्यायः.



¹ सं. ४-२-९.

² सं. १-७-२.

³ सं. ७-६-६.

⁴ सं. ७-३-१.

⁵ सं. २-३-४.

⁶ सं. २-६-३.

⁷ सं. १-२-१.

⁸ सं. ४-२-१०.

⁹ सं. ६-६-८.

¹⁰ सं. ६-७-७.

¹¹ सं. ६-६-२.

अथ चतुर्थोऽध्यायः.

अथ प्रग्रहाः ॥ १ ॥

‘अथ’ इत्ययमधिकारः । ‘प्रग्रहाः’ उच्यन्ते इत्येतदधिकृतं विज्ञेयम् । इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः ॥ १ ॥

उक्तं विभागविषयं हस्यत्वम् । संहिताविषयाणि च शक्रा-
रागमादीनि कार्याणि वक्ष्यन्ते । अत्रान्तरे उभयविषयं प्रगृह्य-
त्वं चतुर्थेनाध्यायेन विधीयते—

इह प्रग्रहाख्या वर्णा व्याख्येयतया अधिक्रियन्ते ॥ १ ॥



नावग्रहः ॥ २ ॥

‘अवग्रहः’ प्रग्रहो न भवति । ‘ऊकारः’ ‘ओकारोऽसाः-
हितोऽकारव्यञ्जनपरः’ ‘मी’ ‘नहिपरः’ ‘द्वे’ (४-१, ६, ३६,
३७, ४९) इति वक्ष्यति । तन् उद्दिश्य पुरस्तादपवादोऽनेन
विधीयते । यथा—“तनूनपादसुरः”^१ । ‘अगोअर्थं यजमानम्’^२ ।
“अग्नीषोमी मा”^३ । “द्वेद्वे पुरोऽनुवाक्ये कुर्यात्”^४ । अवग्रह
इति जात्यपेक्षमेकवचनम् ॥ २ ॥

अवग्रहः प्रग्रहमाह न भवति । ‘तनूनप्वे त्वा वृद्धाति’^५
‘देवानां धायोयान्यसि’^६ । ‘द्वेद्वे सम्भरति’^७ । ‘कृष्णोऽ-

^१ स. ४-१-८. ^२ स. ६-१-१०. ^३ स. २-६-२. ^४ स. २-१-९.

^५ „ १-२-१०. ^६ „ ४-४-६. ^७ „ १-६-८.

स्यात्तरेष्टोऽग्नये त्वा स्वाहा^१ ननु “न रुन्धे नित्यम्” (४-१४) इत्यादिविधेरुन्धे अवग्रहप्रतिषेधोऽपि किं न क्रियते? तदुच्यते—इह त्रिविधः^२ प्रग्रहविधिर्भविष्यति । ऊकारस्य ओकारस्य एकारेकारयोरिति । तत्रान्यतमस्य विधेरनन्तरं^३ क्रियमाणोऽयं प्रतिषेधस्तन्मात्रविषयस्स्यात् । सर्वविषयश्चेत्यते । तदर्थं सर्वतः प्रागेव क्रियते । नन्वेवमपि “इतिपरोपि” (४-४) इत्यस्मादनन्तरं कर्तव्यः । तथा सति ‘अन्तः’ “इतिपरोपि” (४-१,४) इति सूत्रयोः प्रतिषेधान्वयश्च^४ स्पष्टो भवति । तत्किमर्थं सर्वदौ क्रियते? तदुच्यते—“अन्तः” (४-१) इति पदान्तः सर्वविध्यन्ययी कार्यभागधिकारिष्यते । ततः पूर्वमवग्रहप्रतिषेधादवग्रहव्यतिरिक्तस्यैव पदस्यान्तः सर्वविधिषु कार्यभाक्त्वेन गृह्यत इति सिद्धम् । तेन “द्वे” “परश्च” “एकव्यचेतोपि” (४-४७, ४८, ४९) इत्यत्रावग्रहस्यैकव्यचेतत्वे तमतिक्रम्योत्तरखण्डान्त एकव्यचेतः प्रग्रह इति लभ्यते—“द्वे द्रवसी सतती वस्त एकः”^५ ‘द्वे याव देवसन्ने’^६ । इत्येतदर्थमयं प्रतिषेधः सर्वदौ क्रियते । यद्येवं यदो न क्रियेत, तदा “द्वे हेते देयते”^७ इत्याद्येकव्यचेतविषयसंज्ञायादवग्रहे एकव्यचेतं सति तदुत्तरखण्डे प्रग्रहो न स्यात् ॥ २

—००—

अन्तः ॥ ३ ॥

पदस्य ‘अन्तः’ प्रग्रहसंज्ञो भवति । यथा—“देवते समृद्धये”^१ । अत्राह—किं अपदान्तोऽपि प्रग्रहः स्यात्? अत्रोच्यते—‘ऊकारः’ (४-२) इत्यविशेषेण वक्ष्यति, ‘ओकारोऽसं-

^१ सं. १-१-११.

^२ त्रिधा.

^३ विधेः परतः.

^४ प्रतिषेधान्वयश्च.

^५ सं. १-२-२.

^६ सं. ४-४-५.

^७ सं. २-१-९.

हितोऽकारव्यञ्जनपरः' (४-६) इति च "चीयत्प्रपरः" (४-३३) इति च । अपदान्तस्य ऊकारस्य ओकारस्य चीशब्दस्य वा^१ ग्रहणं मा भूदिति । ननु सिद्धमेवेतत् । एतत्सूत्रशेषे^२ उत्तरसूत्रेऽपिशब्देन "अन्वादेशोऽन्त्यस्य" (१-५५) इत्यन्त्यस्येव कार्यनिर्वाहात् । नेति ब्रूमः, अनेकवर्णसमुदाये ह्यन्त्यत्वमुपपन्नम् । अयं पुनरेकवर्णनिर्देशः ऊकार इत्यादिवर्णस्य यो विकारलोपो तयोरेव "अन्वादेशोऽन्त्यस्य" (१-५५) इत्यनेन अन्त्यप्रत्यय इत्युक्तम् । प्रग्रह इति तु संज्ञामात्रं न तु निमित्तं निमित्ति वा । तस्मादत्रान्वादेशो न प्रसरति ॥ ३ ॥

अन्त इति पदस्यान्तः सर्वविध्यन्वयी कार्यभागाधिक्रियते । स चावग्रहव्यतिरिक्तस्य पदस्य विज्ञायते "नावग्रहः" (४-२) इति प्रतिषेधात् । वक्ष्यति च—"ऊकारः" (४-६) इत्यूकारः पदान्तः प्रग्रहो भवतामेवं तद्वतत्र सम्यन्धोऽनुसन्धेयः ॥ ३ ॥



इतिपरोऽपि ॥ ४ ॥

'अपि' शब्दः सिंहावलोकनेन^३ "अथादावुत्तरे विभागे" (३-१) इत्यत्र विभागपदमन्वादिशति । सोऽयं प्रग्रहो विभागे 'इतिपरोऽपि' भवति । यथा—"देवते इति"^४ । "उभे इति"^५ । इति-शब्दः परः यस्मात् असौ इतिपरः ॥ ४ ॥

१ च.

२ शेषभूते.

३ लोकन्यायेन.

४ स. २-१-९.

५ स. १-४-२२.

अपिशब्देन पूर्वाध्यायस्थं विभागपदमन्वादिश्यते । तेन संहितायां प्रग्रहस्येतिकरणो निवार्यत इति केचित् । तन्न^१ । न ह्यनादौ नित्यशुद्धे संहितास्नाये वर्णमात्रस्याप्युपजननं शक्यशङ्कम्^२ । का कथा वर्णसमुदायात्मकस्येतिकरणस्य ? न चाध्यायान्तरस्थस्यातिद्विष्टस्यान्वादेश उचितः । तदन्वादेशे चेद्गोचरपदस्य प्रग्रहान्तस्य विभागे पुनरितिकरणः प्रसजन् केन वार्यः ? “इन्द्रवायू इतीन्द्र—वायू इति”^३ तस्मात्समुच्चयार्थ एवायमपिशब्दः । तदयमर्थः प्रग्रहः पदाध्याये इतिपरश्च भवति, केवलोऽपीति । व्यवस्थितं चैतदुभयं विज्ञेयम् । यस्मिन् पदेऽन्यतः प्रग्रहाभिव्यक्तिः । यथेद्वयान्ते तत्र केवलो भवति । अनिद्वये त्वितिपर इति । इद्वयान्ते तु^४ विभज्यानुवादाधेनैवेतिकरणेन प्रग्रहोऽभिव्यज्यते । “इन्द्रवायू इतीन्द्र—वायू”^५ ततो विभक्त्यैवोत्तरपदस्य नेतिकरणः प्रयोक्तव्यः । अर्थाभावात् । अनिद्वये त्वितिकरणः प्रग्रहाभिव्यक्त्यर्थं प्रयुज्यते । ‘विष्णो इति । हव्यम्’^६ । नन्वितिकरणः प्रग्रहाभिव्यक्त्यर्थं^७ इति न युज्यते । इद्वयेपूपसर्गेषु च तद्दर्शनात् । मैवम् । वर्णलोपासंयुक्तचिबृत्तिपूर्वकस्येतिकरणस्य प्रग्रहासाधारणतया तदभिव्यञ्जकत्वापपत्तेः । यद्येवं ‘उरो अन्तरिक्ष’ इत्यादिषु प्रग्रहेषु वर्णलोपासंयुक्तचिबृत्तया प्रग्रहाभिव्यक्तेरितिकरणो न स्यात् । नैतदस्ति । ‘आरे अस्मं च शृण्वते’^८ इत्यादिष्वपि दर्शनात् । वर्णलोपासंयुक्तचिबृत्तेः प्रग्रहव्यभिचारित्वात् ॥ ४ ॥

—८०—

^१ तन्मन्दम्.

^२ उपजननशक्यशङ्कः.

^३ स. १-१-७.

^४ इद्वयान्ते हि.

^५ सं. १-१-३.

^६ अभिव्यञ्जक.

^७ स. १-३-८.

^८ सं. १-५-५.

ऊकारः ॥ ५ ॥

‘ऊकारः’ पदान्तः सर्वत्र प्रग्रहो भवति पदसमये वर्तमानः ।
यथा—“ हनू वा एते”¹ । “ वासन्तिकावृतू”² । “ वाहू उपस्तुतं”³
पदसमये वर्तमान इति किं? “सूनूनूमिथूमक्षुऊ” (३-१४) इत्यादा-
वपि स्यात् ॥ ५ ॥

ऊकारः पदान्तः प्रग्रहो भवति । ‘इन्द्रवायू वि मुञ्चताम्’⁴
‘अन्तनामानावृतू भवतः’⁵ । ‘छे सफथ्यौ द्वौ वाहू’⁶ । पदान्त
इति किम्? ‘ऊर्जे त्वा’⁷ । इतिकरणः पदाध्यायेऽस्य स्यात् ।
किञ्च—अपदान्तस्य प्रग्रहत्वे “अप्रग्रहाः समानाक्षराणि” (१९-६)
इति प्रग्रहसदृशानामपदान्तानामपि समानाक्षराणामानुनासिक्यं
स्यात् ॥ ५ ॥

ओकारोऽसाः हितोऽकारव्यञ्जनपरः ॥ ६ ॥

‘असाः हितः’ ‘ओकारः’ अकारपरः व्यञ्जनपरो वा प्रग्रहः
स्यात् । यथा—“वद्मा हि सूनो असि”⁸ । “विष्णो हव्यः रक्षस्व”⁹
असाः हित इति किं? “सोऽब्रवीत्”¹⁰ । एवम्पर इति किं?
“विष्णवेहीदम्”¹¹ । सः हितानिमित्तः साः हितः न साः हितः
असाः हितः । अकारश्च व्यञ्जनं च अकारव्यञ्जने एते परे यस्मात्
सः तथोक्तः ॥ ६ ॥

¹ स. ६-२-११.

² सं. ४-४-११.

³ सं. ४-२-८.

⁴ सं. १-१-७.

⁵ ,, ७-४-८.

⁶ ,, ७-४-११.

⁷ ,, १-१-१.

⁸ ,, १-३-१४.

⁹ ,, १-१-३.

¹⁰ ,, २-१-२.

¹¹ ,, २-४-१२.

संहितायां जातः सांहितः । यः पदाध्याये न विद्यते विद्यते तु संहितायां स सांहितः । ततोऽन्यः असांहितः । तथाभूत ओकारः पदान्तः प्रग्रहो भवति अकारे व्यञ्जनेषु च परतः । अकारपरस्तावत्—‘अग्रेऽ दग्धायोऽ शीततनो पाहि’^१ । ‘उरो अन्तरिक्ष सज्जुदेवेन’^२ । व्यञ्जनपरः खल्वपि—‘विष्णो हव्य रक्षत्व’^३ । ‘पाहि यसो पुरोवसो प्रियो मे’^४ । असांहित इति किम् । ‘मातरिभ्यनो घमोसि’^५ । अकारलोपो न स्यात् । वक्ष्यति—‘आयोध्वयों क्रतो पूर्वः’ (१२-८) इति तत्रान्यतस्सिद्धस्य लोपस्य विधानं प्रग्रहान्तरपूर्वकस्यालोपार्थम् । नन्वेवं सति “लुपते त्यकारः” (११-१) इति ओकारपूर्वस्याकारस्य लोपे ‘विधिगत्सर्गो नावकल्पते’ इति तदुपपत्त्यर्थं “आयोध्वयों क्रतो पूर्वः” (१२-८) इत्येष पुनर्विधिः अतोऽन्यस्मादसांहितादोकारात्परस्याकारस्यालोपार्थमाश्रयिष्यते । ततः सांहितस्य ओकारस्य प्रग्रहत्येऽपि नानिष्टं किञ्चिदस्तीति व्यर्थमसांहितविशेषणम् । अग्नोच्यते—न हानिष्टं नास्तीति संज्ञाः कियन्ते । अपि तु कार्यमस्तोत्येव । कार्यार्थं हि संज्ञापरिभाषम् । तस्मात्सांहित ओकारे प्रग्रहकार्यरहिते संज्ञा मा भूदित्यसांहितविशेषणं प्रयुज्यते । अकारव्यञ्जनपर इति किम् ? ‘विष्णवेहीदम्’^६ । ‘वायविष्टये’^७ ॥



समहदधपित्पूर्वश्च ॥ ७ ॥

पूर्वोक्तनिमित्ताभावेऽपि कार्यविधानार्थमोकारं विशिनष्टि—चकार ओकारमन्वादिशति । ‘स, म, ह, द, थ, पित्’ एवं पूर्वः

^१ सं. १-१-१३.

^२ सं. १-३-८.

^३ सं. १-१-३.

^४ सं. ३-२-५.

^५ „ २-४-१२.

^६ „ २-२-१२.

^७ पूर्वोक्तपरनिमित्ता.

असांहित ओकारः अकारव्यञ्जनाभ्यामन्यपरोऽपि प्रग्रहो भवति यथा—“सो एवैतस्य”¹ । “मा भेर्माऽरो मो एषाम्”² । “उप-
हृतां४ हो इत्याह”³ । “इन्दो इत्याह”⁴ । “तथो एवोत्तरे”⁵
“पितो आ विशस्व”⁶ । एवम्पूर्व इति किं? “शतक्रतवुद्धः शमिव”⁷
असांहित इति किं? “प्र सो अग्ने”⁸ ॥ ७ ॥

आकारादिस्वरपरार्थोऽयमारम्भः । तेन ओकारोऽसांहित इत्येतावत्पूर्वसूत्रादनुवर्तते । समहृदथपित्पूर्व इति कार्यभाजो वि-
शेषणमात्रम् । पदकार्याविधिषु कार्यभाक्पदैकदेशस्य निमित्तत्वं⁹-
पयन्धत्वायोगात् । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । तदयमर्थः—स ।
म । ह । द । थ । इत्येतच्चञ्जनपूर्वकः पिच्छब्दपूर्वकश्च असांहित
ओकारः पदान्तः प्रग्रहो भवतीति । स—‘वशाऽनूयन्ध्या सो
एवैतस्य’¹ । म—‘मा भेर्माऽरो मो एषाम्’² । ह—‘उपहृतां ४ हो
इत्याह’³ । द—‘इन्दो इन्द्रियावतः’⁴ । थ—‘अथो आहुः’⁵ ।
पित्—‘पितो आ विशस्व’⁶ । एवंपूर्व इति किम् । ‘शविष्ठ
धृष्णवा गाहि’^{7, 8} ॥

अथैकारेकारौ ॥ ८ ॥

अथ इत्ययमधिकारः । ‘एकारेकारौ’ प्रग्रहत्वेन विधीयते
इति एतदधिकृतं वेदितव्यम् ॥ ८ ॥

¹ स. २-२-९. ² सं. ४-५-१०. ³ सं. २-६-७. ⁴ स. ६-५-८.

⁵ सं. ३-४-९. ⁶ स. ५-७-२. ⁷ सं. १-६-१२. ⁸ स. ३-२-११.

- ⁹ निमित्तो. ¹⁰ सं. १-४-२७. ¹¹ सं. ७-१-१. ¹² सं. १-४-३९.

एकारश्च ईकारश्च एकारेकारौ । कुत एवमिति चेत्, “देवते उमे” “अगी चक्षुषी” (४-११, १२) इति तयोरेवोत्तरत्रोपादानात् । शास्त्रान्तरेऽव्येकारादेः प्रगृह्यत्वानुपदेशाच्च । एकारेकाराविह उक्त-
रेषां विधीनां संज्ञित्वेन अधिक्रियेते । “द्यावापृथिवी” “पूर्वश्च” (४-१२, १३) इत्यादिषु वर्णान्तरस्य प्रग्रहसंज्ञा न भवति ॥ ८ ॥

अस्मे ॥ ९ ॥

अस्मे इत्येतस्मिन् ग्रहणे, अन्त्यस्वरः प्रग्रहो भवति । यथा—
“अस्मे ते बन्धुः”^१ ॥ ९ ॥

अस्मे इत्यत्र विद्यमानोऽधिकृतो वर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति ।
‘अस्मे ज्योतिः’^२ । ‘अस्मे इन्द्रावृहस्पती’^३ ॥ ९ ॥

त्वे इत्यनिङ्गयान्तः ॥ १० ॥

इतिशब्दः केवलपदग्रहणत्वं द्योतयति । ‘अनिङ्गयान्तः’ त्वे इत्येव
शब्दः प्रग्रहो भवति । यथा—“त्वे क्रतुमपि”^४ । अनिङ्गयान्त
इति किं? “अनागास्त्ये अदितित्वे तुरासः”^५ । इङ्गयस्यान्तः
इङ्गयान्तः न इङ्गयान्तः अनिङ्गयान्तः ॥ १० ॥

इङ्गयस्य अन्तः इङ्गयान्तः । ततो ननुसमासः । त्वे इत्य-
प्राधिकृतो वर्णः पदान्तोऽनिङ्गयान्तः प्रग्रहो भवति । ‘त्वे राय-
स्तोते रायः’^६ । अनिङ्गयान्त इति किम्? ‘अनागास्त्ये अदितित्वे’^७ ।

^१छं. १-२-७.

^२छं. १-३-११.

^३छं. १-४-१०.

^४छं. २-१-११.

^५छं. १-२-५.

अनिद्वयस्यान्त इति विग्रहे विधिवलात्पदग्रहणपरिभाषा न स्यात् । ततश्च । 'कृत्ये दक्षाय जीवसे' ^१ इत्यादौ प्रग्रहत्वं स्यात् । इष्टं च न सिध्येत् । तन्निवारणार्थं इतिकरणः । तेन हि पदरूपताऽभिप्रेयतेस्तद्विरुद्धविग्रहो निवार्यते ॥ १० ॥

देवते उभे भागधे ऊर्ध्वे विशाखे शृङ्गे एने
मेध्ये तृण्णे तृद्ये कनीनिके पार्श्वे शिवे
चोत्तमे एवोत्तरे शिप्रे रथन्तरे वत्सर-
स्यरूपे विरूपे विपुरुषे सदोहविर्धाने
अधिपवणे अहोरात्रे धृतव्रते स्तुतशस्त्रे
ऋक्सामे अक्ते अर्पिते रैवते पूर्ते प्रक्ते
विधृते अनृते अच्छिद्रे बहुले पूर्वजे
कृणुध्वःसदने ॥ ११ ॥

देवते उभे भागधे ऊर्ध्वे विशाखे शृङ्गे एने मेध्ये तृण्णे
तृद्ये कनीनिके पार्श्वे शिवे चोत्तमे एवोत्तरे शिप्रे रथन्तरे वत्-
सरस्यरूपे विरूपे विपुरुषे सदोहविर्धाने अधिपवणे अहोरात्रे
धृतव्रते स्तुतशस्त्रे ऋक्सामे अक्ते अर्पिते रैवते पूर्ते प्रक्ते विधृते
अनृते अच्छिद्रे बहुले पूर्वजे कृणुध्वःसदने एतानि पदानि
प्रग्रहसंज्ञानि स्युः । यथा—“देवते समृद्धयै” ^२ । “उभे सुश्रन्द्र” ^३ ।

“भागधे भागधा अस्मै”¹ । भाग इति किं? “अग्न उदधे”²
 “ऊर्ध्वे समिधावा दधाति”³ । “विशाखे नक्षत्रं”⁴ । वीति किं?
 “तस्मिन् सहस्रशाखे”⁵ इति शाखान्तरे । “अन्तरा शृङ्गे”⁶
 “मेध्ये एवैने करोति”⁷ । “प्रणेनेक्ति मेध्ये”⁷ । “असंतृष्णे हि
 हनू”⁸ । “संतृष्टे धृत्यै”⁹ । “कनीनिके अग्निष्टोमौ यत्”¹⁰
 “पार्श्वे परस्सामानः”¹⁰ । “शिवे नो द्यावापृथिवी”¹¹ । “विकर्णौ
 चोत्तमे उप दधाति”¹² । चेति किं? “सम्पाद्योत्तमे मासि”¹³ । “तथो
 एवोत्तरे निर्वपेत्”¹⁴ । एवेति किं? “नैति षोडश्युतरे”¹⁵ । “शिमे
 अवेपथः”¹⁶ । “यद्वृहद्रथन्तरे अन्वर्ज्युः”¹⁷ । “संवत्सरस्य रूपे
 आमुवन्ति”¹⁷ । “विरूपे धापयेत्”¹⁸ । “विपुरूषे अहनी”¹⁹ । वत्स-
 रस्य वि विपु इति किं? “अरूक्षितं दश आ रूपे अन्नम्”²⁰ । रूप-
 शब्दस्य प्रतिविशेषणमुच्चारणं विस्पष्टार्थं द्रष्टव्यम् । “सदोहवि-
 र्धाने एव सं मिनोति”²¹ । सद इति किं? “उपरवा हविर्धाने
 खायन्ते”²² । ननु “पदग्रहणेपु पदं गम्येत” (१-९०) इति
 सामर्थ्यात् हविर्धाने इत्येकपदस्यैव कार्यसिद्धिः सदःपदं व्यर्थम् ।
 नैवम् । पदग्रहणस्य स्थलान्तरे भिन्नरूपत्वसम्भावनायां²³ विशेषणं

1 स. २-५-६.

2 स. ५-५-९.

3 स. २-६-६.

4 स. ४-४-१०.

5 स. ३-१-५.

6 „ ६-२-८.

7 „ ६-२-९.

8 „ ६-२-११.

9 स. ७-२-९.

10 „ ७-२-१०.

11 „ ४-६-६.

12 „ ५-३-७.

13 „ ७-५-३.

14 „ ३-४-९.

15 „ ७-१-४.

16 „ १-४-३०.

17 „ ७-५-१.

18 „ ४-१-१०.

19 „ ४-१-११.

20 „ ४-३-१३.

21 „ २-५-५.

22 „ ६-२-११.

23 समवाय.

सार्थकम् । भिन्नरूपत्वाभावे तु चोद्यमेवैतद्भवेत् । ननु तर्हि देवते
इति पदग्रहणस्य स्थलान्तरे “सोम देव ते मतिविदः”^१ इत्यत्र
भिन्नरूपत्वात् विशेषणेन भवितव्यम् । तच्च नास्ति उच्यते, देवते
इत्यखण्डपदस्यैव कार्यविधानादत्र विशेषणं न युज्यते । अखण्डस्य
विधानमिति कथं प्रतीयते? ते इत्यंशस्य “ते मा पातं” (४-४२)
इत्यादिना पृथक्करणादिति ब्रूमः । वैवं हविर्याने इत्यस्याखण्ड-
त्वद्योतकं किञ्चिदप्यस्ति येन सदःपदं वैयर्थ्यमालम्बेत । “अधिपवणे
निह्ना चर्म”^२ अपीति किं? “सवनेसवनेऽभि गृह्णाति”^३ । “अ-
होरात्रे प्राविशन्”^४ । अहरिति किं? “अतिरात्रे पशुकामस्य”^५ ।
“द्यावापृथिवी धृतव्रते आविन्ना”^६ । धृतेति किं? “यस्य व्रते
पुष्टिपतिः”^७ । “स्तुतशस्त्रे एवैतेन दुहे”^८ । स्तुतेति किं?
“ऊर्ध्वशस्त्रे प्रतिष्ठिते” इति शाखान्तरे । “ऋक्सामे वै”^९ ।
ऋगिति किम्? “ब्रह्मसामे” इति शाखान्तरे । “घृतेनाक्ते वृषणं
दवाधाम्”^{१०} । “भुवनेर्वापिते”^{११} । “शाकररेवते”^{१२} । “जागृह्येनमि-
ष्टापूर्ते”^{१३} । “प्रत्ते कामं”^{१४} । “विधृते समानो”^{१५} । वीति किम्?
“अग्निधृते” इति शाखान्तरे । “सत्यानृते अवपश्यन्”^{१६} । “अच्छिद्रे
बहुले उमे”^{१७} । “पूर्वजे पितरा”^{१८} । पूर्वैति किं? ‘प्रथमजे’ इति

१स. ३-२-५. २स. ६-४-११. ३स. १-५-९. ४स. ६-६-११.

५स. १-८-१२. ६स. ३-१-११. ७स. ५-६-८. ८स. ६-१-३.

९स. १-३-७. १०स. ४-७-१३. ११स. १-८-१३. १२स. ५-४-९.

१३ ॥ २-३-८. १४ ॥ ५-६-१. १५ ॥ ४-१-३. १६ ॥ ४-१-११.

शाखान्तरे । “गीर्भिः कृणुध्वः सदने ऋतस्य”¹ । कृणुध्वमिति किं ! “अपां त्वा सदने सादयामि”² ॥ ११ ॥

देवते इत्यादिष्वधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति । यथा—
 देवते—‘द्वे ह्येते देवते’³ । “अते समानपदे नित्यम्” (४-१२) इति प्रतिषेधः अतेशब्दान्तसामान्यविषयः सदेवतेग्रहणनानेन विशेषविषयेण बाध्यते । इह कस्मान्न भवति—‘सोम देव ते मतिविदः’⁴ । “अनुदात्तो न नित्यम्” (४-४३) इति प्रतिषेधात् । देवतेग्रहणं पदद्वयैकपदसाधारणम् । “अनुदात्तो न नित्यम्” (४-४३) इति प्रतिषेधस्तु तेषदात्मकविशेषविषयत्वादितरस्य बाधकः । न त्वेकपदानेकपदयोर्मुख्यामुख्यत्वमस्ति । तुल्यरूपत्वात् । अत एव ‘स-दोहविधाने’⁵ ‘ऋक्सामे’⁶ इति सविशेषणं, वक्ष्यति—“अते समानपदे” (४-१२) इति च । तस्मान्नान्यथा परिहारः । उभे—‘उभे निपासि’⁷ । भागधे-भागेत्युपबन्धात्परः । ‘भागधे असाव’⁸ । भागेति किम् ‘अग्न उदधे’⁹ । ऊर्ध्वे—ऊर्ध्वं समिधी’¹⁰ । विशाखे—‘विशाखे नक्षत्रम्’¹¹ । चीत्युपबन्धस्य व्यावर्त्यं शाखान्तरे । नन्वेवमेनेकशाखावयवत्वे प्रातिशाख्यमिति ग्रन्थस्य आख्या विद्ध्यते । नैतदस्ति । द्विविशाखावयवत्वेऽपि तदसाधारणतया उपपत्तः । तथा यदृचानां शाकलकवाफकलकात्मकशाखाद्वयविषयं प्रातिशाख्यं प्रसिद्धम् । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । शूद्रे—‘शिशीते शूद्रे’¹² । मेष्ये—‘मेष्ये एवैने’¹³ । एने इति चात्रैव । तुण्ये—‘असं-

¹ स. ४-१-११.² स. ४-३-१.³ स. २-१-९.⁴ स. ३-२-५.⁵ ॥ २-१-५.⁶ ॥ ६-१-३.⁷ ॥ ३-६-२२.⁸ ॥ २-५-६.⁹ ॥ ५-५-९.¹⁰ ॥ २-६-६.¹¹ ॥ ४-४-१०.¹² ॥ १-२-१४.¹³ ॥ १-२-९.

न्तृष्णे हि ¹ । तृचे—‘संतृचे धृत्यै’ ² । कनीनिके—‘कनीनिके दध्युः’ ³ । पार्श्वे—‘पार्श्वे परस्सामानः’ ⁴ । शिवे—‘शिवे नो चावा-पृथिवी’ ⁵ । चोत्तमे—च । उत् । इति पदद्वयात्समुदितादुपवन्धात्परः “विकर्णो चोत्तमे” ⁶ । चेति ⁷ किम्? ‘उत्तमे नाके’ । एवो-त्तरे—एव । उत् । इति पदद्वयमुपवन्धः । “तथो एवोत्तरे निर्वपेत्” ⁸ । एवेति ⁹ किम्? ‘त्रैष्टुभमुत्तर ओजो वै’ ¹⁰ । शिप्रे—‘शिप्रे अवेपयः’ ¹¹ । रथन्तरे—‘ब्रुहद्रथन्तरे पूर्वेषु’ ¹² । वत्सरस्य । वि । विपु । इति त्रिभ्य उपवन्धेभ्यः पर रूपेशब्दे । ‘उमे एव संवस्तरस्य रूपे आमुवन्ति’ ¹³ । ‘विरूपेधापयेते’ ¹⁴ । ‘विपुरूपे अहनी’ ¹⁵ । अत्र प्रत्युपवन्धं रूपेशब्दस्य पृथक्पाठो विस्पष्टार्थः । विचित्रा हि सूत्रकृतिः । उपवन्धैः किम्? ‘दश आ रूपे अन्नम्’ ¹⁶ । सदोहविधाने—‘सदोहविधाने एव सं मि-नोति’ ¹⁷ । सद इति किम्? ‘हविधाने खायन्ते’ ¹⁸ । अधिपवणे—‘हन् अधिपवणे’ ¹⁹ । अधीति किम्? ‘माध्यन्दिने सवने’ ²⁰ । अहोरात्रे—‘अहां-रात्रे गच्छ स्वाहा’ ²¹ । अहरिति किम्? ‘अतिरात्रे पशुकामस्य’ ²² । धृतव्रते—‘आचित्रे चावापृथिवी धृतव्रते’ ²³ । धृतेति किम्? ‘वयमा-दित्य व्रते तव’ ²⁴ । स्तुतशस्त्रे—‘स्तुतशस्त्रे माऽऽविशताः समीची’ ²⁵ । स्तुतेत्युपवन्धस्य व्यावर्त्यं शास्त्रान्तरे ²⁶ । ऋक्सामे—‘ऋक्सामे धं देवे-भ्यः’ ²⁷ । ऋगिति किम्? “सा मे सत्याऽऽशीः” ²⁸ । अक्ते—‘अक्ते वृषणं

- 1 स. ६-२-११. 2 सं. ७-२-९. 3 सं. ७-३-१०. 4 स. ४-६-९.
 5 „ ५-३-७. 6 चोदिति. 7 „ ३-५-१. 8 „ ३-४-९.
 9 एवेदिति. 10 „ ७-१-४. 11 „ १-४-३०. 12 „ ७-२-२.
 13 „ ७-५-१. 14 „ ४-१-१०. 15 „ ४-१-११. 16 „ ६-३-१३.
 17 „ २-५-५. 18 „ ३-२-८. 19 „ १-३-११. 20 „ ६-६-११.
 21 „ १-८-१२. 22 „ १-५-११. 23 „ ७-३-१३. 24 ऊर्ध्वं शस्त्रं प्रति-
 ष्टितम्. इति शास्त्रान्तरे. 25 „ ६-१-३. 26 „ १-६-३.

दधायाम्^१ । अर्पिते—‘भुवनेष्वर्पिते’^२ । रैवते—‘शाकरैवते’^३ ।
 पूर्ते—‘इष्टापूर्ते’^४ । प्रत्ते—‘प्रत्ते काममन्नाद्यं दुहाते’^५ । विधृते—
 ‘विधृते सर्वतः’^६ । वीत्युपवन्धव्याचर्त्य शाखान्तरे । अनृते—
 ‘मध्ये सत्यानृते’^७ । अच्छिद्रे—‘अच्छिद्रे बहुले उभे’^८ । अत्रैव
 बहुले च । पूर्वजे—‘पूर्वजे पितरा’^९ । पूर्वं इत्युपवन्धव्याचर्त्य
 शाखान्तरे । कृणुध्वः सदनं—‘गोभिः कृणुध्वः सदनं ऋतस्य’^{१०}
 कृणुध्वमिति किम्? ‘अर्णवे सदनं सौद’^{११} ॥ ११ ॥



अमी चक्षुषी काष्णीं देवताफल्गुनी मुष्टी
 धी नाभी वपाश्रपणी अहनी जन्मनी
 सुम्निनी सामनी वैष्णवी ऐक्षवी दवी
 द्यावापृथिवी ॥ १२ ॥

‘अमी चक्षुषी काष्णीं देवताफल्गुनी मुष्टी धी नाभी वपाश्र-
 पणी अहनी जन्मनी सुम्निनी सामनी वैष्णवी ऐक्षवी दवी
 द्यावापृथिवी एतानि पदानि प्रग्रहसंज्ञानि भवन्ति । यथा—
 “अमी त्वा नहति”^{१२} । “चक्षुषी वा एते”^{१३} । “काष्णीं उपा-
 नहो”^{१४} । “पितरो देवता फल्गुनी नक्षत्रम्”^{१५} । देवतोति किं?

१ सं. १-१-७. २ सं. ४-७-१३. ३ सं. १-८-१३. ४ सं. ५-४-९.
 ५ “ ६-८-१०. ६ “ ५-६-९. ७ “ ४-१-३. ८ “ ४-१-११.
 ९ “ ४-१-१. १० “ १-३-११. ११ “ २-६-२. १२ “ ५-४-४.
 १३ “ ४-४-१०.

“यद्वितीयं सा फल्गुनी”^१ । “मुष्टी करोति वाचं”^२ । “प्रधी तावुक्थ्याः”^३ । “रजतनाभी वैश्वदेवौ”^४ । “वपाश्रपणी प्र हरति”^५ । वपेति किं? “पशुश्रपणी” इति शाखान्तरे । “अहनी द्यौरिवासि”^६ । “उमे निपासि जन्मनी”^७ । “सुम्नाय सुम्निनी”^८ । “सामनी प्रतिष्ठित्यै”^९ । “वल्गहनौ वैष्णवी”^{१०} । “ऐक्षवी तिरश्ची”^{११} । “दर्वी श्रीणीष आसनि”^{१२} । “द्यावापृथिवी एव स्वेन”^{१३} । द्यावेति किं? “मही द्यौः पृथिवी च नः”^{१४} ॥ १२ ॥

अमी चक्षुषी इत्यादिष्वधिकृतवर्णः पदान्तः प्रप्रहो भवति । अमी—‘अमी वा इदमभूवन्’^{१५} । चक्षुषी—‘तस्मादभितो नासिकां चक्षुषी’^{१६} । कार्णी—‘कार्णी उपानहौ’^{१७} । देवता फल्गुनी—‘अर्यमा देवता फल्गुनी नक्षत्रम्’^{१८} । देवतेति किम्? ‘यद्वितीयं सा फल्गुनी’^१ । मुष्टी—‘मुष्टी करोति वाचम्’^२ । धी—‘प्रधी तावुक्थ्या मध्ये नभ्यम्’^३ । नाभी—‘रजतनाभी वैश्वदेवौ’^४ । वपाश्रपणी—‘वपाश्रपणी पुनरन्वारभते’^५ । वपेत्यस्य व्यावर्त्यं शाखान्तरे । अहनी—‘अहनी द्यौरिवासि’^६ । जन्मनी—‘उमे निपासि जन्मनी’^७ । सुम्निनी—‘सुम्नाय सुम्निनी’^८ । सामनी—‘सामनी प्रतिष्ठित्यै’^९ । वैष्णवी—‘उप दधामि वैष्णवी’^{१०} । ऐक्षवी—‘ऐक्षवी तिरश्ची’^{११} । दर्वी—

१ सं. २-१-२. २ सं. ५-२-१. ३ सं. ७-६-११. ४ सं. ५-५-२४.

५ „ ६-३-५. ६ „ ४-१-११. ७ „ १-४-१२. ८ „ १-१-१३.

९ „ ४-४-२. १० „ १-३-२. ११ „ ६-३-१. १२ „ ४-४-४.

१३ „ २-१-४. १४ „ ३-३-१०. १५ „ ३-३-७. १६ „ २-३-८.

१७ „ ५-४-४. १८ „ ४-४-१०.

‘दर्वां श्रीणीप आसनि’¹ । द्यावापृथिवी—‘इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी’²
 द्यावेत्युपपत्त्येन किम्? ‘प्रथोसि पृथिव्यसि’³ ॥ १२ ॥



पूर्वश्च ॥ १३ ॥

चकारेणान्वादिष्टात् द्यावापृथिवी इत्येतस्मात् पूर्वोपि ईकार एकारो
 वा पदान्तः प्रग्रहो भवति । यथा—“द्यावती द्यावापृथिवी”⁴,
 “आविन्ने द्यावापृथिवी”⁵ ॥ १३ ॥

चशब्देनान्त्यः पृथिवीशब्दो द्यावाशब्दोपलक्षितः अन्वादि
 द्यते । तस्मात्पूर्वोऽधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति । तत्र
 अवग्रहस्य कार्यमाप्तत्वंप्रतिषेधात्तत्प्रतिषेधस्य पूर्वपदान्तः पूर्वत्वेन
 गृह्यते । ‘द्यावती द्यावापृथिवी’⁴ । ‘आविन्ने द्यावापृथिवी’⁵ ॥ १३ ॥



न रुन्धे नित्यम् ॥ १४ ॥

‘रुन्धे’ इत्यन्त्यः स्वरो द्यावापृथिवी इत्येतस्मात् पूर्वोपि न
 प्रग्रहो भवति । “रुन्धे द्यावापृथिवी गच्छ”⁶ । नित्यशब्दः
 प्राप्तचन्तरनिषेधार्थः । “अव रुन्धे यदा सहस्रं”⁷ । “धीइ”
 (४-३८) इत्यादिप्राप्तिः ॥ १४ ॥

रुन्धेशब्देऽधिकृतवर्णः पदान्तो द्यावाशब्दोपलक्षितात्पृथिवी-
 शब्दात्पूर्वः प्रग्रहो न भवति । ‘पशून्नेवाव रुन्धे द्यावापृथिवी’

१ सं. २-२-१२. २ सं. १-२-१. ३ सं. ४-२-१. ४ सं. १-२-६.
 ५ „ १-८-१२. ६ „ ६-४-१. ७ „ २-१-५.

गच्छ^१ । नित्यग्रहणात्प्राप्तघन्तरमस्य वाध्यते । 'लक्ष्मिंयैव प-
शूनव रुन्धे यदा'^२ । 'वीङ्घ्रारौ' (४-३८) इति प्राप्तिः ॥ १४ ॥

हरी सहुरी सहूती कल्पयन्ती आपृपती आहुती ॥ १५ ॥

हरी सहुरी सहूती कल्पयन्ती आपृपती आहुती एतेषु पदे-
ष्वन्त्यस्वरः प्रग्रहो भवति । यथा—“हरी ते युञ्जा पृपती”^३
“सहुरी सपर्यात्”^४ । सेति किं? “तमाहुरी ह्ययति” इति शाखा-
न्तरे । “सहूती घनतं गिरः”^५ । सेति किं? “हूती पुनर्जुहोति”
इति शाखान्तरे । “अध्वरं कल्पयन्ती ऊर्ध्वं”^६ । “युञ्जा पृपती
अभूता”^७ । आकारेण किं? “पृपती स्थूलपृपती”^८ । “पुरोडाश-
मेते आहुती”^९ । आ इति किं? “हुती तस्माद्विधाः” इति शाखा-
न्तरे ॥ १५ ॥

हरी इत्यादिष्वधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति । हरी-
'योजा न्विन्द्र ते हरी'^{१०} । सहुरी—'सहुरी सपर्यात्'^४ । सहूति-
'सहूती घनतं गिरः'^५ । उभयत्र सेत्युपबन्धव्याचल्यं शाखा-
न्तरे । कल्पयन्ती—'अध्वरं कल्पयन्ती ऊर्ध्वम्'^६ । आपृपती—

^१ स. ६-४-१.^२ स. २-१-५.^३ स. ४-६-९.^४ „ ४-२-११.^५ „ २-३-१४.^६ „ १-२-१३.^७ „ ६-६-१२.^८ „ १-६-२.^९ „ १-८-५.

‘हरी ते युञ्जा पृथती अभूताम्’¹ । आकारोपबन्धेन किम्?
 ‘पृथती स्थूलपृथती’² । आहुती—‘यदमितः पुरोडाशमेते आहुती
 जुहोति’³ । आकारोपबन्धव्यावर्त्यं शास्त्रान्तरे ॥ १६ ॥



पूर्वश्च ॥ १६ ॥

चकारान्वादिष्ठादाहुती इत्येतस्मात् पूर्वोपि ईकार एकारे
 वा पदान्तः प्रग्रहो भवति । यथा—“पुरोडाशमेते आहुती”³ ॥

पूर्वचद्वयाख्या । अत्राप्यवग्रहात्पूर्वः पदान्तः हुतीशब्दात्पूर्व-
 धत्वेन गृह्यते । ‘पशव एते आहुती’³ ॥ १६ ॥



वाससी तपसी रोदसी ॥ १७ ॥

वाससी तपसी रोदसी इत्येतेषु षडेष्वन्त्यस्वरः प्रग्रहो भवति⁴ ।
 यथा—“वाससी इव विवसानो”⁵ । “दीक्षातपसी अव रुन्धे”⁶ ।
 “इमे वै रोदसी तयोः”⁷ ॥ १७ ॥

वाससीत्यादिष्वधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति । वाससी-
 ‘वाससी इव विवसानो’⁵ । तपसी—‘अप्सु दीक्षातपसी’⁶ ।
 रोदसी—‘आ रोदसी अपृणा जायमानः’⁷ ॥ १७ ॥



¹सं. ४-६-९.

²सं. ५-६-१२.

³सं. १-५-२.

⁴इत्येतानि प्रग्रहसंज्ञानि भवन्ति.

⁵सं. १-५-१०.

⁶सं. ६-१-१.

⁷सं. ५-१-५.

⁸सं. ४-२-२.

परश्च ॥ १८ ॥

चकारान्वादिष्ठाद्रोदसी इत्येतस्मात् पर ईकार एकारो वा
पदान्तः प्रग्रहो भवति । यथा—“अग्निन्द्र रोदसी वावशाने”^१ ॥

रोदसीशब्दात्परः पदान्तोऽधिकृतवर्णः प्रग्रहो भवति ।
‘रोदसी वावशाने अनु’^२ ॥ १८ ॥



व्यचस्वती भरिष्यन्ती नःपृथिवी ॥ १९ ॥

एतेषु पदेष्वन्त्यः स्वरः प्रग्रहो भवति । यथा—“व्यचस्वती
सं वसाधां”^३ । “अग्निमन्तभरिष्यन्ती”^४ । ‘द्यावा नः पृथिवी इमं’^५
न इति किं? “रेजते अग्ने पृथिवी मखेभ्यः”^६ ॥ १९ ॥

व्यचस्वतीत्यादिष्वधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति ।
व्यचस्वती—‘व्यचस्वती सं वसाधाम्’^७ । भरिष्यन्ती—‘अग्निमन्त-
भरिष्यन्ती’^८ । नः पृथिवी—‘द्यावा नः पृथिवी इमम्’^९ । न इत्यु-
पपन्धेन किम्? ‘पृथिव्यासि’^{१०} । ननु—“लोक एवेष्टा” (३-६)
इतिवत् ‘द्यावा नः पृथिवी’^{११} इत्युपपन्धद्वयं पूर्वत्रैव युक्तं पठितुम्
किं पृथक्पाठगौरवेण? तदुच्यते—‘द्यावा नः पृथिवी’^{१२} इति वा
‘नो द्यावापृथिवी’ इति वा सहपाठे “चोत्तमे एवोत्तरे” (४-११)
इतिवत् पदद्वयस्यैकोपपन्धत्वशङ्का स्यात् । व्यावर्त्य च शाखा
न्तरे कल्प्येत । तन्मा भूदिति पृथक्पाठगौरवमाश्रितम् ॥ १९ ॥



ये अप्रथेतामुर्वी ते अस्यं यं क्रन्दसी छन्द-
स्वती ते आचरन्ती अन्तरैतासु ॥२०॥

ये अप्रथेताम्, उर्वी, ते अस्य, यं क्रन्दसी, छन्दस्वती, ते आ च
रन्ती, अन्तरा 'एतासु' कसु ईकार एकारौ वा पदान्तः प्रग्रहो
भवति । यथा—“ये अप्रथेतामिति”¹ । अप्रथेतामिति किं ?
“ये ते पन्थानः”² । “उर्वी रोदसी वरिवः”³ । “ते अस्य
योपणे”⁴ । अस्येति किं ? “तेऽवर्धन्त स्वतवसः”⁵ । “यं क्र-
न्दसी अवसा”⁶ । क्रन्दसीति किं ? “यमग्ने पृत्सु मर्त्य”⁷ ।
“छन्दस्वती उपसा पेपिशाने”⁸ । “ते आचरन्ती समना”⁹ ।
आचरन्तीति किं ? “ते नो अर्वन्तो हवनश्रुतः”¹⁰ । “अन्तरा
मित्रावरुणा चरन्ती”¹¹ ॥ २० ॥

ये अप्रथेतामित्यादिषु सप्तस्वृक्षु अधिकृतवर्णः पदान्तः
प्रग्रहो भवति । ये अप्रथेताम्—“ये अप्रथेतां—ये प्रतिष्ठे”¹ ।
अप्रथेतामिति किम् ? “ये चाजिनम्”¹⁰ इत्यादौ मा भूदिति । उर्वी—
“उर्वी रोदसी—पत्नी अधि नो व्रथातम्”¹ । ते अस्य—“ते अस्य
योपणे दिव्ये”² । अस्येति किम् ? “ते ते धामानि”¹¹ इत्यादौ
मा भूदिति । यं क्रन्दसी—“यं क्रन्दसी अवसा तस्तमाने—रेजमाने”
क्रन्दसी इति किम् ? “यमग्ने पृत्सु मर्त्यम्”³ । इत्यादौ मा भूदिति ।

1 सं. ४-७-१५. 2 सं. ७-५-२४. 3 सं. ४-१-८. 4 सं. ४-१-११.

5 सं. १-३-११. 6 सं. ४-३-११. 7 सं. ४-६-६. 8 सं. १-७-८.

9 सं. ६-१-११. 10 सं. ४-६-९. 11 सं. १-३-६.

छन्दस्वती—“छन्दस्वतो—उपसा पेपिशाने—संचरन्ती—सूर्यपत्नी—
प्रजानती—कृष्णाने—अजरे”^१ । ते आचरन्ती—“ते आचरन्ती
समनेत्र योषा—संविदाने—आर्क्षी—इमे—विष्कुरन्ती”^२ आचरन्ती
इति किम्? पूर्ववत्प्रत्युदाहरणम् । अन्तरा—“अन्तरा मित्रा-
घरुणा चरन्ती—संविदाने—सुहिरण्ये—सुशिल्पे”^३ ॥ २० ॥



नोपस्थे ॥ २१ ॥

एतास्वृक्षु ‘उपस्थे’ इत्यन्त्यस्वरः प्रग्रहो न भवति । यथा—
“विभृतामुपस्थे”^४ । उपेति किं? “ये प्रतिष्ठे अभवताम्”^५ ॥

उपस्थे इत्यत्राधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो न भवति ।
‘मातेच पुत्रं विभृतामुपस्थे’^६ । उपेति किम्? “प्रतिष्ठे अभव-
ताम्”^७ ॥ २१ ॥



इरावतीप्रभृत्यादाधार ॥ २२ ॥

‘इरावतीप्रभृति’ इरावतीशब्दमारभ्य ‘आदाधार’ दाधारश-
ब्दपर्यन्तं ईकार एकारो वा पदान्तः प्रग्रहो भवति । यथा—
“इरावती धेनुमती हि भूतं”^८ । “विष्णुरेते दाधार”^९ ॥ २२ ॥

इरावतीशब्दः प्रभृतिरादिर्यस्य तदिदमिरावतीप्रभृतीति
क्रियाविशेषणम् । ‘इरावती धेनुमती’^{१०} इत्यादि दाधारपर्यन्ते

^१सं. ४-३-११.

^२सं. ४-६-६.

^३सं. ५-१-११.

^४सं. ४-७-१५.

^५सं. १-२-१३.

देशेऽधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति—“वती । मती । यव-
सिनी । यशस्ये । एते”^१ नन्विमिरावतीप्रभृतिः त्रिष्टुप् । तेन पूर्वो-
क्ताभिः ऋग्भिः सहैव पाठः किमिति न ? सत्यम् । पूर्वेण त्व-
र्धर्चेन संहितास्नानाद्विभागस्यास्पष्टत्वादेवमुच्यत इति चेदि-
तव्यम् ॥ २२ ॥



पूर्वजेप्रभृत्याऽयम् ॥ २३ ॥

‘पूर्वजेप्रभृति’ ‘अयं’पर्यन्तं ईकार एकारो वा पदान्तः
प्रग्रहो भवति । यथा—“पूर्वजे ऋतावरी इत्याह”^२ । आहुदं
मर्यादायां वर्तते । ननु—“प्र पूर्वजे पितरा”^३ इत्यारभ्य “अयं
पुरो भुवः”^४ इत्येतत्पर्यन्तं स्थलमेतत्सूत्रविषयः किं न स्यात् ? उच्यते,
भवत्पक्षे उपबन्धान्तःपातित्वात् ‘ऋणुध्व५ सद्ने’ (४-११) इति
ग्रहणस्य वैयर्थ्यं स्यात् । तस्मात् तत्स्थलमेतत्सूत्रविषयः न भवति ।
नन्वत्र पूर्वजेग्रहणमनर्थकम् । “पूर्वजे ऋणुध्व५ सद्ने” (४-११)
इति तत्रैवोक्तत्वात् । किन्तु वरीप्रभृतीत्येतावतैवालम् । नेति ब्रूमः ।
वरीग्रहणद्वयसम्भवात् कुत्र वा अवधित्वेन स्वीकार इति सन्देहः^६
स्यात् । किञ्च—“आसन्न५ सन्देहे” (१-२९) इतिवचनादुत्त-
रावधिसन्निष्ठो द्वितीयवरीशब्द एव स्वीकर्तव्यः । तथा सति
पूर्ववरीशब्दस्य च प्रग्रहत्वं न स्यात्^७ तच्चानिष्टम् । ननु भवन्म-

^१ सं. १-२-१३. ^२ सं. २-६-७. ^३ सं. ४-१-११. ^४ सं. ४-३-२.

^५ स्यात्. तन्मा भूदिति, तस्मात् एतत्स्थल. ^६ को वा वरी इत्येतत्स्वीकारसन्देहः.

^७ नैव स्यात्.

तेऽपि पूर्वजेद्वयसम्भवात् कुत्र वा ग्रहणमिति सन्देहः समानः । किञ्च-
युक्त्युक्तमनिष्टं च समानम् । मैवं, पूर्वजे इति पदमत्र कार्यभाक्त्वेन
नोच्यते, येन पौनरुक्त्यं भवेत्, किन्तु पूर्वश्चासौ जेशब्दश्च
पूर्वजे । एतत्प्रभृतीत्युपलक्षणत्वेनोच्यते । ननु तर्हि उपहूत इति
पदमतिक्रम्य अयमित्यवधित्वेन किमुच्यते ? उपहूत इति पदानां
बाहुल्येऽपि 'आसन्नसन्देहे' (१-२९) इति वचनात् प्राथ-
मिकस्यैव ग्रहणसिद्धेः । मैवम् । उपहूत इतिग्रहणे सूत्रगौरव-
दोषः । उपेत्येतावन्मात्रस्येङ्ग्यांशस्य पदत्वं गौणम् । अयं इत्यस्य
तु मुख्यम् । "मुख्ये संभवति न गौणं" इति न्यायादय-
मिति युक्तं ग्रहणम् । नन्वेतेनैव न्यायेन आद्यावधेरनुपपन्नता ।
नायं पक्षः । मुख्यसम्भवाभावात् । तथा हि । द्वयत इति मुख्ये
स्वीकृते अभिविधि-न्यायेन तस्यापि प्रग्रहत्वं स्यात् । तच्चानिष्टं ।
"अते समानपदे" (४-९४) इतिवचनदिग्दनिष्टं न भवतीति चेत् ।
'प्रक्षालनाद्धि पङ्क्तस्य दूरादस्पर्शनं वरं' इति न्यायात्, द्वयत इत्यु-
च्चार्य तस्य निषेधक्यनादपि तदनुच्चारणमेव रमणीयमिति मुख्य-
सम्भवाभावस्तदवस्थ एव । तस्मादस्मिन् सूत्रेऽनुपपत्तिलेशो नास्ति ॥

'पूर्वजे क्रतावरी' इत्यादि अयंशब्दपर्यन्ते देशेऽधिकृतवर्णः पदा-
न्तः प्रग्रहो भवति—“जे। वरी। जे। पते। वरी। देवी। पुत्रे। देवी। पते।
पुत्रे” ।^३ नन्वत्र पूर्वजेप्रभृत्यायमिति “अ पूर्वजे पितरा”^४ इत्यादिः ‘प्र

^१ युक्तियुक्त, । पौनरुक्त्यं. ^२ लक्षितत्वे. ^३ सं. २-६-७. ^४ सं. ४-१-११.

प्रायमग्निः^१ इत्ययंशब्दपर्यन्तो देशः किं न स्यात् ? 'पूर्वजे कृणु-
ध्व९ सद्ने' (४-११) इति विधानसामर्थ्यात् । 'वाजेवाजे'^२
'अग्नेऽभ्यावतिन्'^३ । इत्यादीनां प्रतिषेधानुपदेशाच्च । अथ हौत्र-
ब्राह्मणेऽपि पूर्वजेप्रभृतोति किं मन्त्रानुवादांशस्थः पूर्वजेशब्दो
गृह्यते ? आहोस्विद्विवरण^४ प्रवादांशस्थः ? इति संशयो भवति ।
न च पूर्वजे इति पूर्वशब्दोपबन्धस्य व्यावर्त्यं पश्यामः । तेन
पूर्वजेप्रभृतोति पूर्वस्माज्जेशब्दादारभ्येति व्याख्येयमित्यन्वे । तदिदं
पालसंमोहनं न सम्यङ्न्यायविद्भ्यो रोचते । यत्तावत् "पूर्वजे
कृणुध्व९ सद्ने" (४-११) इत्यत्र पूर्वशब्दोपबन्धस्य व्यावर्त्यं
शाखान्तरीयं परिगृहीतं तदत्रापि व्यवच्छेद्यमेव । तेन पूर्व-
श्चासौ जेशब्दश्चेतीदं न युक्तम्^५ । इह 'ये अप्रथेनाम्'(४-२०) इत्यादयो
देशनिबन्धा बहुपदसङ्ग्रहार्थाः । तेनात्र प्रथमस्य पूर्वजेशब्दस्य
प्रभृतित्वे पदद्वयमधिकं गृह्यत इति स एव युक्तः पूर्वावधिः ।
यद्येवं "वि वा अयमार्धि"^६ इत्यादिरयंशब्द उत्तरावधिः स्यात् ।
नैतदेवम् । प्रगृह्यान्तरसम्भवे हि देशैपुल्यमिष्यते । न तावत्
"उपहूतोऽयम्"^७ इत्यस्य व्यतिक्रमे विध्यन्तरासङ्गृहीतं किमपि
प्रगृह्यं सङ्गृह्यते । प्रत्युत 'करणे'^८ 'दत्ते'^९ प्रभृतोनां प्रतिषेधः कर्त-
व्य आपद्यते । तस्मान्न तस्य युज्यतेऽतिक्रम इत्येवा दिक् ॥ २३ ॥

इमे गर्भमुपैवरसेनपरः ॥ २४ ॥

इमे इत्यन्त्यस्वरो गर्भम्, उप, एवरसेन, एवम्परः प्रग्रहः^{१०} स्यात् ।
यथा—“यदिमे गर्भमदधाताम्”^{११} । “इमे उपावत्स्यतः”^{१२} । “इमे

^१ सं. ४-२-३.

^२ सं. ४-१-११.

^३ सं. ४-२-२.

^४ उत विवरण.

^५ शब्द इति तत्र तावद्युक्तम्.

^६ सं. २-६-८.

^७ सं. १-६-७. ^८ पदान्तः प्रग्रहः. ^९ सं. ३-४-३.

^{१०} सं. ६-१-३.

एव रसेनानक्ति ^१ । रसेनेति किं ? “इम एवास्मै लोकाः” ^२ । एवम्पर-
इति किं ? “अध्वर्तव्या वा इमे देवाः” ^३ ॥ २४ ॥

इमे इत्यत्राधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति—गर्भम्, उप,
एयरसेन, इत्येतेषु परतः । ‘यदिमे गर्भमदधाताम्’ ^४ । ‘इमे
उपाचत्स्यंतः’ ^५ । ‘इमे एव रसेनानक्ति’ ^१ । रसेनेति किम् ? ‘इम
एवास्मै लोकाः’ ^२ । एवंपर इति किम् ? ‘इमे वै प्रयाजाः’ ^३ ॥



क्रूरमापस्सजूर्ब्रह्मजैतेषु च ॥ २५ ॥

इमे इति शब्दमन्वादिशति चकारः । क्रूरं आपः सजूः ब्रह्मज
‘एतेषु’ अनुवाकेषु इमे इत्यन्त्यस्वरः, पूर्वोक्तपरनिमित्ताभावेऽपि प्रग्रहो
भवति । ‘क्रूरमिव वै’ ^१ इत्यत्र यथा—“इमे वै रोदसी” ^२ । “आपो
वरुणस्य” ^३ इत्यत्र यथा—“इमे एवोपधत्ते” ^४ । “सनूरब्दः” ^५ इत्यत्र
यथा—“इमे अश्विना संवत्सरः” ^६ । ‘ब्रह्म जज्ञानं’ ^७ इत्यत्र यथा—
“न हीमे यजुषाऽऽप्नुम्” ^८ । जेति किं ? “ब्रह्मवादिनो वदन्त्यग्निः” ^९
इत्यत्र “त्रय इमे लोकाः” ^{१०} इत्यस्य प्रग्रहत्वं मा भूदिति ॥ २५ ॥

चशब्देनेमेशब्दोऽन्वादिदयते । ‘क्रूरमिव वै’ ^१ । ‘आपो वरु-
णस्य’ ^३ । ‘सनूरब्दः’ ^५ । ‘ब्रह्म जज्ञानमिति’ ^७—इत्येतेष्वनुवाकेषु इमे-
शब्देऽधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति । क्रूरम्—‘इमे वै
रोदसी’ ^२ । आपः—‘इमे एवोपधत्ते’ ^४ । सजूः—‘इमे अश्विना

१ सं. ६-३-११. २ सं. २-३-२०. ३ सं. ३-२-२. ४ सं. ३-४-३.

५ „ ६-१-३. ६ „ ६-१-६. ७ „ ५-१-५. ८ „ ५-५-४.

९ „ ६-६-४. १० „ ५-२-७. ११ „ ३-६-६.

पपरो न ॥ ३० ॥

सान्निध्यात् न्वती इति लभ्यते । ‘पपरः’ न्वती इत्यन्त्यस्वरः प्रग्रहः ‘न’ भवति । यथा—“मूर्धन्वती पुरोऽनुवाक्या भवति”^१ ॥

पकारपरश्चेन्न भवति । ‘मूर्धन्वती पुरोऽनुवाक्या भवति’^२ ॥

—०—

समीची ॥ ३१ ॥

‘समीची’ इत्यन्त्यस्वरः प्रग्रहो भवति । यथा—“समीची रेत-
स्तिञ्चतः”^३ । “पश्चात् समीची ताभिः”^४ ॥ ३१ ॥

समीचीशब्देऽधिकृतघर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति । ‘समीची
माऽहसस्पातम्’^५ ॥ ३१ ॥

—०—

नपरो न ॥ ३२ ॥

सान्निध्यात् समीची इति लभ्यते । ‘न’ खलु समीची इत्यन्त्यस्वरः
नकारपरः प्रग्रहो भवति । यथा—‘समीची नामासि’^६ ॥ ३२ ॥

नकारपरश्चेन्न भवति । ‘समीची नामासि’^७ ॥ ३२ ॥

—०—

^१ सं. २-६-२.

^२ सं. ६-६-४.

^३ सं. ६-२-३.

^४ सं. १-२-४.

^५ सं. ६-५-१०.

ची यत्प्रपरः ॥ ३३ ॥

‘ची’ इत्यन्त्यस्वरः ‘यत्प्रः’ ‘प्रपरः’ वा प्रग्रहः स्यात् ।
 यथा—“ऐक्षवी तिरश्ची यत्”^१ । “प्राची प्रेतम्”^२ । एवम्पर इति
 किं? “प्राची दिक्”^३ । तकाररेफाभ्यां किं? “गौर्यताची
 यत्तः”^४ । “प्राची पत्न्यन्वास्ते”^५ । चीति किं? “एकादशिनी
 यदग्रौ”^६ । ‘प्रजनने प्रजननम्’^७ ॥ ३३ ॥

समीचीशब्दस्य विशेष उक्तः । ततोऽन्यत्र चीशब्देऽधिकृ-
 तवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति यत्, प्र, इत्येतयोः परतः । य-
 दिति केवलग्रहणं प्रेति त्वकारान्तम् । यथोक्तं “ग्रहणस्य च”
 (१-२२) इति । ‘ऐक्षवी तिरश्ची यदाश्वचालः’^१ । ‘ऐक्षवी
 तिरश्ची प्रजापतेरेव’^२ । नन्वत्र प्रेति केवलमपि ग्रहणं भवितुमर्ह-
 तीति भवति संशयः । तत्र किं नियामकं? तदुच्यते—यत्र
 लक्षणस्य विधाऽन्तरैर्व्याख्यानं घटते तत्र लक्ष्यानुरूपैव विधा
 परिगृह्यते । यदि तु लक्ष्यानुरूपायां विधायां लक्षणमशक्तं
 स्यात्तदा हि दोषस्स्यात् । उक्तं च महाभाष्ये—“सर्वसन्देहेषु
 चेदमुपतिष्ठते । व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्ष-
 णम्” इति । अत्र प्रशब्दस्य केवलग्रहणत्वाश्रयणे पदग्रहण-
 परिभाषाप्रवृत्तेः ‘ऐक्षवी तिरश्ची प्रजापतेः’^३ इत्यत्र प्रग्रहो
 न स्यात् । किन्तु “प्राची प्रेतम्”^४ इत्यादावेव स्यात् । अकारा-
 न्तग्रहणत्वाश्रयणे तु सर्वत्र सिध्यतीति तदेवाश्रितम् । एवं

^१ सं. ६-२-१. ^२ सं. १-२-१३. ^३ सं. ४-३-६. ^४ सं. २-५-७.

^५ सं. ६-३-७. ^६ सं. ६-६-७. ^७ सं. १-५-९.

संचत्सरः^१ । ब्रह्म जज्ञानम्—‘असाचौतुम्बरोमे एवोपधत्ते’^२ । ‘न
हीमे यजुषाऽऽप्नुमर्हति’^३ । जेति किम् ? ‘ब्रह्मवादिनी वदन्यद्भिः’^४
इत्यत्र मा भूदिति । ‘त्रय इमे लोकाः’^५ । अत्र समाम्मानक्रम-
मुल्लङ्घ्य ब्रह्मजेत्यन्ततो ग्रहणमुत्तरार्थम् ॥ २६ ॥

—०—

पूर्णे च ॥ २६ ॥

‘च’शब्दो “ब्रह्म जज्ञानं”^१ इत्यन्वादिशति । ‘पूर्णे’ इत्यन्त्यस्वरः
ब्रह्मजज्ञानमित्यनुवाके प्रग्रहो भवति । यथा—“पूर्णे उप दधाति पूर्णे
एवेनम्”^२ । अस्मिन्ननुवाक इति किं ? “यो वै पूर्ण आ सिञ्चति”^३ ॥

च शब्दान्वादिष्टे ‘ब्रह्म जज्ञानम्’^४ इत्यनुवाके पूर्णेशब्दस्थोऽ-
धिष्ठितवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति । ‘पूर्णे उप दधाति पूर्णे
एवेनम्’^५ । अन्वादेशेन किम् ? ‘यो वै पूर्ण आ सिञ्चति’^६ ॥ २६ ॥

—०—

दृढे ॥ २७ ॥

‘दृढे’ इत्यन्त्यस्वरः^१ सर्वत्र प्रग्रहो भवति । यथा—“येन द्यौरुग्रा
पृथिवी च दृढे”^२ ॥ २७ ॥

दृढे इत्यग्राधिष्ठितवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति । ‘उग्रा
पृथिवी च दृढे’^३ ॥ २७ ॥

—०—

^१ त. ६-६-४. ^२ त. ६-२-७. ^३ त. २-६-२. ^४ त. ७-६-६.

^५ इत्यस्मिन्नन्त्यस्वरः.

^६ „ ४-१-८.

घ्नी चक्रे पपरे ॥ २८ ॥

‘घ्नी’ ‘चक्रे’ इत्येते पदे ‘पपरे’ प्रग्रहो भवतः । यथा—“वार्त्रघ्नी पूर्णमासे”^१ । “चक्रे पृष्ठानि”^२ । पपर इति किं? “यद्विरूपया वार्त्र-
घ्नी स्यात्”^३ । ‘समिधानचक्रे नीचा तम्’^४ । घ्नीचक्रे इति किं? ‘शका
भोमी पान्त्रः’^५ । “येषामीशे पशुपतिः”^६ । पकारः परः याम्यां ते
पपरे ॥ २८ ॥

घ्नी चक्रे ‘इत्यनयोरधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति ।
पकारे परे । ‘वार्त्रघ्नी पूर्णमासे’^१ । ‘चक्रे पृष्ठानि’^२ । पपर
इति किम्? ‘यत्कर्णगृहीता वार्त्रघ्नी स्यात्’^३ । ‘चक्रे नीचा तं
धक्ष्यतस्म’^४ ॥ २८ ॥

न्वती ॥ २९ ॥

‘न्वती’ इत्यन्त्यस्वरः प्रग्रहो भवति । यथा—“ओमन्वती
तेऽस्मिन्”^१ । “वृधन्वती अमावास्यायाम्”^२ । नकारेण किं? “कर्ण-
कावत्येतया ह स्म”^३ ॥ २९ ॥

नकारेण पूर्वणोपलक्षिते चतीशब्देऽधिकृतवर्णः पदान्तः
प्रग्रहो भवति । “वृधन्वती अमावास्यायाम्”^१ । नकारोपवन्धेन
किम्? ‘इयं विमृध्रेयमिन्द्रियावतीत्यब्रवीत्’^२ ॥ २९ ॥

१ सं. २-५-२.

२ सं. ६-६-८.

३ सं. ६-१-६.

४ „ १-२-१४.

५ „ ५-५-१८.

६ „ ३-१-४.

७ „ २-६-९.

८ „ ५-४-७.

९ „ २-४-२.

“त्रपुमिधुपूर्वः शकारश्चपरः” (४-६) इत्यादिष्वपि द्रष्टव्यम् ।
यत्प्रपर इति किम् ? ‘ध्रुवाऽसि घृताची नाम्ना’^१ । ‘गौर्घृताची
यक्षः’^२ । ‘प्राची पक्षयन्वास्ते’^३ ॥ ३३ ॥

—०—

आन्मही ॥ ३४ ॥

‘आन्’ इत्येतद्विशिष्टे ‘महीग्रहणे’ अन्त्यस्वरः प्रग्रहो भवति ।
यथा—“महान्मही अस्तभायन्”^४ । आनिति किं ! “मही द्यौः
पृथिवी च नः”^५ । आकारेण किं ? “वयुनाविदेक इन्मही”^६ ॥ ३४ ॥

आनित्युपचन्धात्परे महीशब्देऽधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो
भवति । ‘महान्मही अस्तभायन्’^४ । आनिति किम् ? ‘स्वाहा ।
मही द्यौः’^५ । आकारव्याचल्यं शाखान्तरे । तकारनकारसंशय-
स्तु व्याख्यानत एव व्यवच्छिद्यते ॥ ३४ ॥

—१—

पतीश्रुतिः ॥ ३५ ॥

‘पती’ इत्यस्य यत्रयत्र ‘श्रुतिः’ श्रवणमस्ति, तत्रतत्र प्रग्रहो
विज्ञेयम् । यथा—“तस्मान्निका द्वौ पती विन्दते”^१ । “शुभस्पती
इदम्”^२ । श्रुतिरिति किं ! “दम्पती वाममश्रुतः”^३ । “प्रिय-
मिन्द्रावृहस्पती”^४ इत्यादावपि पदेकदेशे प्रग्रहव्याय ॥ ३५ ॥

^१ सं. १-१-११. ^२ सं. २-५-७. ^३ सं. ५-३-७. ^४ सं. २-३-१४.

^५ सं. ३-३-२०. ^६ सं. १-२-१३. ^७ सं. ६-६-६. ^८ सं. ३-२-१०.

^९ सं. ३-२-८. ^{१०} सं. ३-३-११.

श्रुतिग्रहणं पदैकदेशस्यापि सम्प्रत्ययार्थम् । पतीशब्दे^१ सर्व-
त्राधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति । ‘उत्पिणीते शुभस्पतो’^२ ।
‘प्रियमिन्द्रावृहस्पतो’^३ ॥ ३६ ॥

—०—

ग्री ॥ ३६ ॥

‘ग्री’ इति^४ प्रग्रहो भवति । यथा—“अन्तरांऽग्री पशूनाम्”^५ ।
“विश्वामित्रजमदग्री”^६ ॥ ३६ ॥

ग्रीशब्देऽधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति । ‘अथा सप-
त्नानिन्द्राग्री मे’^७ । ‘अभि वा एषोऽग्री आरोहति’^८ ॥ ३६ ॥

—०—

न हिपरः ॥ ३७ ॥

ग्री इति सान्निध्याल्लभ्यते । ‘न’ खलु ग्री इति पदान्तः
‘हिपरः’ प्रग्रहो भवति । यथा—“ऐन्द्राग्री हि वारहस्पत्या”^९ ।
एवम्पर इति किं ? “इन्द्राग्री हवामहे” इति शाखान्तरे ॥ ३७ ॥

हिपरश्चेन्न प्रग्रहः । ‘ऐन्द्राग्री हि वारहस्पत्या’^{१०} ॥ ३७ ॥

—०—

वीड्वारौकृष्णश्वरावोयदापरः ॥ ३८ ॥

‘वीड् द्वारौ कृष्णः श्वरावः यदा’ इत्येवं ‘परः’ ईकार एकारो
वा पदान्तः प्रग्रहो भवति । यथा—“धिपणे वीडू सती वीडयेथाम्”^{११} ।

^१ पतिशब्दे. ^२ सं. ३-२-१०. ^३ सं. ३-३-११. ^४ इत्यन्त्यस्वरः. ^५ सं. १-६-७.

^६ सं. ३-१-७. ^७ सं. १-६-४. ^८ सं. १-५-९. ^९ सं. ५-५-६. ^{१०} सं. १-४-१.

डकारेण किं ? “ आपश्च मे वीरुषश्च ”¹ । “ देवी द्वारौ मा मा ”² ।
 रौ इति किं ? “ द्वादश सं पद्यन्ते द्वादश ”³ । “ अतिष्ठमाने कृष्णो
 रूपम् ”⁴ । विसर्गेण किं ? “ चात्वाले कृष्णविषाणाम् ”⁵ । “ वि-
 वसानौ ये चरावः ”⁶ । राव इति किं ? “ राये च नस्त्वपत्याय ”⁷ ।
 “ नन्नमाने यदेदन्ताः ”⁸ । ननु “ यतन्ते यदाक्षिपुः ”⁹ इत्यत्र प्रग्रहत्वं
 किं न स्यात् ? “ पदग्रहणेषु पदं गम्येत ” (१-१०) इति वचनात्
 नेति ब्रूमः ॥ ३८ ॥

वीङ् । द्वारौ । कृष्णः । चरावः । यदा । इत्येतेषु परतः अधिकृ-
 तवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति । “ धिपणे वीङ् सती वीङये-
 थाम् ”¹⁰ । ‘ देवी द्वारौ मा मा संतासम् ’¹¹ । ‘ अतिष्ठमाने कृष्णः ’¹² ।
 ‘ विवसानौ ये चरावः ’¹³ । “ अजन्नन्नमाने यदेदन्ताः ”¹⁴ । एतत्पर
 इति किम् ? ‘ अनु देवा ममिरे वीर्यम् ’¹⁵ । ‘ अष्टौ च मे द्वादश
 च मे ’¹⁶ ॥ ३८ ॥

—०—

न ज्ञे अहे नित्यम् ॥ ३९ ॥

‘ ज्ञे ’ ‘ अहे ’ इत्येतयोरन्त्यस्वरः ‘ नित्यं ’ प्रग्रहः ‘ न ’ स्यात् ।
 यथा—“ वरुणाय राज्ञे कृष्णः ”¹⁷ । “ एण्यहे कृष्णः ”¹⁸ । ‘ वीङ् ’
 (४-३८) आदिप्राप्तिरनयोः । नित्यशब्दः प्राप्त्यन्तरप्रतिषेधप्रयोजकः ।

¹ सं. ४-७-५.

² सं. ३-२-६.

³ सं. १-५-७.

⁴ सं. ६-१-३.

⁵ सं. १-५-१०.

⁶ सं. ५-५-४.

⁷ सं. ४-६-२.

⁸ सं. ४-६-७.

⁹ सं. १-४-१.

¹⁰ सं. ४-७-११.

¹¹ सं. ५-५-११.

¹² सं. ५-५-१५.

“यज्ञेऽपि कर्तोरिति तावन्नूताम्”^१ । “गमयतो भवतः” (४-९२)
इत्यादिना प्राप्तिः । “स्वराज्ञेऽनोवाहौ”^२ । “सोमाय स्व”
(४-४८) इति प्राप्तिः ॥ ३९ ॥

ज्ञे अहे इत्यनयोः अधिकृतवर्णः पदान्तः चीडादिपरः प्रप्र-
हो न भवति । ‘धरुणायराज्ञे कृष्णः’^३ । ‘एण्यहे कृष्णः’^४ । नित्यप्रहणा-
द्विध्वन्तरप्राप्तिरपि प्रतिविध्यते । ‘सोमाय स्वराज्ञे’^५ इत्यत्र
“सोमाय स्वैतस्मिन्” (४-४६) इति प्राप्तिः ॥ ३९ ॥



आकार एकारपूर्वस्तु बहुस्वरस्य तेथे ॥ ४० ॥

‘बहुस्वरस्य’ पदस्य सम्बन्धी ‘ते’ इति ‘थे’ इति वा शब्द आकार-
पूर्व एकारपूर्वो वा प्रप्रहो भवति । यथा—“मृजाते यो विद्विषाण-
योः”^६ । “शुक्रामन्थिनो गृह्येते”^७ । “पृथिव्या रिरिचाथे”^८ ।
‘दृष्टहणा यं नुदेथे’^९ । एवम्पूर्वं इति किं? “आवृश्चते वा एतत्”^{१०} ।
“त्रीणि व्रता विदये अन्तरेषाम्”^{११} । बहुस्वरस्येति किं? “तत्
प्रवाते”^{१२} । “यंदते गृह्यन्त एषाम्”^{१३} । ते थे इति किं? “अनु-
च्यमान आ सादयति”^{१४} । “वीड्” (४-३८) आदिनिमित्तसापेक्ष-
तानिर्वर्तकः तुशब्द इति वररुचिपक्षः । माहिषेयपक्षस्तु वक्ष्यते—

^१ स. २-६-७.

^२ स. ५-६-२१.

^३ स. ६-५-११.

^४ स. ५-५-१५.

^५ स. २-२-६.

^६ स. ६-४-१०.

^७ स. ४-२-११.

^८ स. ४-७-१५.

^९ स. ३-३-८.

^{१०} स. २-१-११.

^{११} स. ६-४-७.

^{१२} ,, ३-३-६.

^{१३} ,, २-२-५.

पूर्वसूत्रोक्तनिषेधं नित्यशब्दज्ञापितानुवृत्तिं निवारयतीति । तत्र वर-
रुनिमतं रुचिरम् । बहवः स्वराः यस्मिन् तत् बहुस्वरं, तस्य । अत्र
स्वरशब्देनोपादानमचाम् । बहुशब्देन व्यक्तिभेदो विज्ञेयः ॥ ४० ॥

आकार एकारेति प्रकृतिभावश्छान्दसः । तस्मादैकारश-
ब्दा न भवति । आकारैकारौ पूर्वा यस्मात्स तथोक्तः । एतच्च
कार्यमाज एव विशेषणम्^१ । न तु निमित्तमुपबन्धश्चेत्युक्तम् ।
तत्पूर्वको यो बहुस्वरस्य पदस्य सम्बन्धी तेशब्दः तेशब्दश्च
तत्राधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति । आकारे—‘वि वा एतौ
द्विपाते’^२ । एकारे—‘देवता इज्येतं देवतानाम्’^३ । ‘रिदिचाथे
दिवश्च’^४ । ‘न पराजयेथे’^५ । एतत्पूर्वं इति किम् ? ‘अदित एहि’^६ ।
‘विदथे अन्तरेषाम्’^७ । बहुस्वरस्येति किम् ? ‘तत्प्रचाते विप-
जन्ति’^८ । ‘तिग्महेने । यो नो अरातिम्’^९ । तु शब्दो दशतय्यां
प्रसिद्धमैकारपूर्वकप्रग्रहमन्मच्छाखातो चिन्तितयति ॥ ४० ॥

न शार्याति ॥ ४१ ॥

‘शार्याति’ इत्यन्तस्वरः प्रग्रहः ‘न’ भवति । यथा—“यथा
शार्याति अपित्रस्मुतस्य”^{१०} । पूर्वसूत्रप्राप्ते सत्यां कण्ठोक्त^{११} निषे-
धोऽनेन विधीयते ॥ ४१ ॥

शार्यातिशब्दे पूर्वसूत्रप्राप्त्या प्रग्रहो न भवति । ‘यथा शा-
र्याति अपिथः’^{१२} ॥ ४१ ॥

^१ प्रकृतिगान्धि. ^२ विशेषणमात्रम्. ^३ ग. ५-२-४. ^४ स. २-६-२.

^५ ग. ४-२-२१. ^६ स. २-२-११. ^७ स. १-६-३. ^८ स. २-१-११.

^९ „ ६-४७. ^{१०} „ १-२-१४. ^{११} „ १-४-१६. ^{१२} कण्ठोक्तया.

ते मापातं नम एनमभि वायुर्गर्भमुपाहस्तु परः ॥ ४२ ॥

मापातं नमः एनमभि वायुः गर्भम् उप अहः तु एवंपरः 'ते' इति शब्दः, प्रग्रहः स्यात् । यथा—“ते मा पातमाऽस्य”^१ । पातमिति किं ? “ते माऽस्मिन् यज्ञे”^२ । “परि दधावहे पुनस्ते । नमोऽग्नये”^३ । म इति किं ? “ते न व्यजयन्त”^४ । “ते एनमभि समनह्येताम्”^५ । अभीति किं ? “त एनं भिषज्यन्ति ब्रह्मणः”^६ । “ते वायुर्व्यवात्”^७ । युरिति किं ? “ते वाक् स्त्रियम्”^८ । “ते गर्भमदधाताम्”^९ । “ते उपामन्त्रयन्त”^{१०} । “ते अहोरात्रयोः”^{११} । “ते त्वाव नोत्सृज्ये इत्याहुः”^{१२} । उकारेण किं ? “ते ते धामान्युश्मसि”^{१३} । एवम्पर इति किं ? “ते देवाः”^{१४} । ते इति किं ? “वृहदुक्ते नमः”^{१५} । “अमुष्मिँल्लोक उपशरे”^{१६} । “यन्ति वा एते सवनाद्येऽहः”^{१७} ॥ ४२ ॥

तेशब्देऽधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति-मापातम् । नमः । एनमभि । वायुः । गर्भम् । उप । अहः । तु । इत्येतेषु परतः । ‘ते मा पातमाऽस्य’^१ । पातमिति किम् ? ‘ते माऽस्मिन् यज्ञे’^२ । “पुनस्ते । नमोऽग्नये”^३ । ‘ते एनमभि समनह्येताम्’^५ । अभीति किम् ?

^१ सं. १-२-२.^२ सं. २-२-४.^३ सं. १-५-१०.^४ सं. ५-४-१.^५ „ २-५-६.^६ „ २-३-११.^७ „ ३-४-३.^८ „ ६-१-६.^९ „ ६-१-३.^{१०} „ ७-५-७.^{११} सं. १-३-६.^{१२} सं. १-४-१०.^{१३} सं. १-४-२६.^{१४} सं. ५-३-७.^{१५} „ ७-५-६.

‘त एन५ सुवन्ते’^१ । ‘ते वायुर्व्यवात्’^२ । ‘ते गर्भमदधाताम्’^३ । ‘ते उपामन्त्रयन्त’^४ । ‘ते अहोरात्रयोः’^५ । ‘ते त्वाच नोत्सृज्ये इत्याहुः’^६ ॥ ४२ ॥



अनुदात्तो न नित्यम् ॥ ४३ ॥

मापातमित्यादिपरोपि ते इत्यन्त्यस्वरः ‘अनुदात्तः’ ‘नित्यं’ प्रग्रहो ‘न’ भवति । यथा—“उभाभ्यामुत ते नमः”^७ । नित्यमिति किं ? लक्षणान्तरप्राप्तस्यापि प्रतिषेधो यथा स्यात् । “नमस्ते अस्त्वायुधाय”^८ । “गमयतो भवतः” (४-५२) इति प्राप्तिः ॥ ४३ ॥

ते इत्यत्राधिकृतवर्णः पदान्तोऽनुदात्तः पूर्वसूत्रप्राप्त्या प्रग्रहो न भवति । ‘उत ते नमः’^९ । नित्यप्रहणाद्विध्यन्तरप्राप्तिरपि प्रतिषिध्यते । ‘सोम देव ते मतिविदः’^{१०} । “देवते उभे” (४-११) इति प्राप्तिः । ‘नमस्ते अस्त्वायुधाय’^{११} । “उभाभ्यां—आपष्टात्” (४-५२) इति प्राप्तिः ॥ ४३ ॥



एते तनुवौवैसमेवहियज्ञपदिष्टकपरः ॥ ४४ ॥

तनुवौ वैस एव हि यज्ञ पन् दष्टक् एवं ‘परः’ ‘एते’ इत्यन्त्यस्वरः प्रग्रहो भवति । यथा—“तस्येते तनुवौ”^{१२} । “एते वै संवत्सरस्य चक्षुषी”^{१३} । समिति किं ? “एते वा द्वागे स्तनाः”^{१४} । “स

^१ छ. ५-१-२.

^२ छ. ३-४-३.

^३ छ. ६-२-३.

^४ स. ७-५-७.

^५ ,, साहुभ्या.

^६ ,, ४-५-९.

^७ ,, ३-२-५.

^८ ,, ५-८-३.

^९ ,, २-५-६.

^{१०} छ. १-७-१.

एते एव नमस्यन्नुपाधावत्”^१ । “एते हि देवानाम्”^२ । “चक्षुषी
वां एते यज्ञस्य”^३ । “एते पदे अथो”^४ । “यदेते इष्टके उपदधाति”^५ ।
एवम्पर इति किं ? “अथ कतम एते देवाः”^६ । एते इति किं ?
“मनुत एवेनम्”^७ । “पुष्करपर्णे ह्येनम्”^८ । “अग्रे यज्ञपतिं धत्त”^९ ।
“सप्तमे पदे जुहोति”^{१०} ॥ ४४ ॥

एतेशब्देऽधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति—तनुयौ । चै-
सम् । एव । हि । यज्ञ । पत् । इष्टक् । इत्येतेषु परतः । ‘तस्यै-
ते तनुयौ’^{१०} । ‘एते चै संचत्सन्स्य’^१ । समित्युपबन्धेन किम् ? ‘एते
चै देवाभ्याः’^{११} । ‘स एते एव नमस्यन्’^२ । ‘एतं हि देवानाम्’^३ ।
‘चक्षुषी वा एते यज्ञस्य’^४ । ‘यज्ञस्य ह्येते पदे’^५ । ‘यदेते इष्टके उप-
दधाति’^६ ॥ ४४ ॥



परश्च द्वयोः ॥ ४५ ॥

निमित्तिन उपरि वर्तमानयोः पत् इष्टक् इत्येतयोः चकारान्वा-
दिष्टयोः द्वयोः परः* एकारः पदान्तः प्रग्रहो भवति । यथा—“यज्ञस्य
ह्येते पदे”^१ । “यदेते इष्टके उपदधाति”^२ । निमित्तिन उपरि वर्त-
मानयोरिति किं ? “सप्तमे पदे जुहोति”^३ । “तस्यास्ते देवी-
ष्टके”^४ ॥ ४५ ॥

^१ स. २-६-६.

^२ स. २-६-२.

^३ स. ५-१-६.

^४ सं. ५-३-५.

^५ ,, २-६-६.

^६ ,, ५-५-६.

^७ ,, ५-१-४.

^८ ,, १-१-५.

^९ ,, ६-२-८.

^{१०} ,, ६-३-३.

^{११} ,, १-७-४.

^{१२} ,, ६-२-९.

* द्वयान्निमित्तयोः परः.

चशब्दस्समुच्चयार्थः । द्वयोरिति निमित्तनिमित्तिनोर्वादः । तयोस्समुदितयोस्सतोः ततः^१ परोऽधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति । 'यज्ञस्य ह्येते पदे'^२ । 'यदेते इष्टके उपदधाति'^३ । द्वयोरित्यधिकोक्तियज्ञस्समुदितसम्प्रत्ययार्थः । तेन पृथग्भूतयोर्न भवति । 'यदेते गृह्यन्ते'^४ । 'इडायाः पदे'^५ । 'तस्यास्ते द्वेयीष्टके'^६ । अन्ये तु—चशब्दान्वादिष्टाम्यां निमित्ताभ्यामन्त्याभ्यां पर इति व्याचक्षते । तेषां निमित्तस्य पृथग्भावेऽपि प्रग्रहस्स्यात् । ननु निमित्तिविप्रयोगे निमित्तत्वं नास्तीति न स्यात्प्रग्रहः । एवं तर्हि "परध्वोभयोः" (४-४४) इत्यत्र उभशब्दोऽनर्थकस्स्यात् । "वृषणो स्थ उर्यदयसि"^७ इत्यादावतिप्रसङ्गाभावात् । तस्मादत्रापि द्वयोरिति निमित्तनिमित्तिनोरेव युक्तो वादः । शब्दभेदस्तु—'पर्णमयेन स्रुवेण जुहोति'^८ । 'पट्टालाशाः'^९ इत्यादिवदर्थभेदा^{१०}भावेऽपि न दोषाय । अर्थभेदकल्पनायां पर्यायतैव शब्दानामुत्सीदेदित्यलम् ॥ ४६ ॥

—०—

स्थःपरः ॥ ४६ ॥

'स्थः' इत्येवंपरः ईकार एकारो वा पदान्तः प्रग्रहो भवति । यथा—“विष्णोः श्रुप्ते स्थः”^{११} । विसर्गेण किं? “लोके स्थ युष्मास्तेऽनु”^{१२} ॥ ४६ ॥

^१ ताज्या.

^२ सं. ५-१-६.

^३ सं. ५-१-५.

^४ सं. १-१-६.

^५ सं. १-१-६.

^६ सं. ४-२-५.

^७ सं. १-१-७.

^८ प्रा. १-७-१.

^९ प्रा. १-८-२०.

^{१०} इयंविशेषः.

^{११} सं. १-२-१३.

^{१२} सं. १-२-३.

स्थशब्दे परतो^१ऽधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति । 'वि-
शो यन्त्रे स्थः'^२ । 'यज्ञस्य पदे स्थः'^३ । एवंपरः इति किम् ?
'य एतस्मिन् लोके स्थः'^४ ॥ ४६ ॥

परश्चोभयोः ॥ ४७ ॥

चकारान्वादिष्टयोः पूर्वसूत्रोक्तनिमित्तनिमित्तिनोः 'उभयोः'
'परः' ईकार एकारो वा पदान्तः प्रग्रहो भवति । यथा—“शि-
ल्पे स्थस्ते वामा रभे ते”^५ । “दृढे स्थश्शिशिरे समीची”^६ । उभ-
योरिति किं ? “वृषणौ स्थ उर्वशी”^७ । “परश्च द्वयोः” (४-४९)
इतिवत् द्वयोरिति वाच्ये उभयोरिति शब्दान्तरप्रयोगोऽर्थान्तरज्ञापकः ।
निमित्तिसहितयोः पूर्वसूत्रोक्तयोर्निमित्तयोः परः प्रग्रहो भवतीति, “परश्च
द्वयोः” (४-४९) इति सूत्रार्थः । अत्र तु सूत्रे निमित्तनिमित्तिनोरुभयोः
परः प्रग्रहः स्यादिति विषयभेदो विज्ञेयः ॥ ४७ ॥

व्याख्यातमेतत्पूर्वतरेण सूत्रेण । उदाहरणं तु—“ऋक्साम-
योश्शल्ले स्थस्ते वाम”^८ । “दृढे स्थश्शिशिरे समीची”^९ । उभ-
योरिति किम् ? “वृषणौ स्थ उर्वश्यासि”^{१०} ॥ ४७ ॥

सोमाय स्वैतस्मिन् ॥ ४८ ॥

“सोमाय स्वराज्ञे”^{११} इत्येतस्मिन्ननुवाके ईकार एकारो वा पदान्तः

^१ स्थशब्दपरो. ^२ स. १-१-११. ^३ स. ५-१-६. ^४ सं. ३-२-५.
^५ सं. १-२-२. ^६ ” ३-२-४. ^७ ” १-३-७. ^८ ” ५-६-११.

प्रग्रहो भवति । यथा—“अवी द्वे धेनू भौमी”^१ इत्यादि । स्विति किं ? “सोमाय पितृमते”^२ इत्यत्र मा भूदिति ॥ ४८ ॥

“सोमाय स्वराक्षे”^३ इत्येतस्मिन् अनुवाके अधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति । ‘अवी’ । ‘धेनवे’ । ‘वैराजी’ । इत्यादि । स्वग्रहणं किम् ? ‘सोमाय पितृमते’^४ इत्यस्य व्यावृत्त्यर्थम् ॥ ४८ ॥

द्वे ॥ ४९ ॥

‘द्वे’ इत्यन्त्यस्वरः सर्वत्र प्रग्रहो भवति । यथा—“द्वे द्वे सं भरति”^५ । “यद्वे नश्येताम्”^६ ॥ ४९ ॥

द्वे इत्यप्राधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति । ‘न द्वे यजेत’^७ ॥ ४९ ॥

परश्च ॥ ५० ॥

नकारो द्वे इत्यन्यादिशति । द्वे इत्येतस्मात् ‘परः’ ईकार एकारो वा पदान्तः प्रग्रहो भवति । यथा—“द्वे शुक्ले द्वे कृष्णे मूर्धन्यनीः”^८ ॥ ५० ॥

अशब्दान्यादिषान् द्वे शब्दान्परोऽधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति । ‘द्वे शुक्ले द्वे कृष्णे’^९ । ‘द्वे उत्तरे द्विपदः’^{१०} ॥ ५० ॥

^१स. ५-१-२१.

^२म. १-८-१.

^३स. १-६-८.

^४सं. २-६-२.

^५स. २-५-५.

^६स. ५-१-१.

^७सं. ६-६-११.

एकव्यवेतोऽपि ॥ ५१ ॥

‘एकव्यवेतोऽपि’^१ द्वे इत्येतस्मात् परं ईकार एकारो वा पदान्तः प्रग्रहो भवति । यथा—“द्वे ह्येते देवते”^२ । “द्वे वाव देवसत्रे”^३ । एकेन पदेन व्यवेतः एकव्यवेतः । अपिशब्दो द्वे इत्यन्वादिशति, मण्डूकसुतिन्यायेन ॥ ५१ ॥

अपिशब्देन द्वे इत्यन्वादिश्यते । द्वेशब्दादेकव्यवेतः परोऽधि-
कृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति । ‘द्वे वा एते विराजौ’^४ । ‘तस्मा-
द्दे सधने शुक्रवती’^५ । अत्र परौ चेत्येकस्मिन् विधौ शक्ये एकव्य-
वेतोपीति व्यवयनिर्देशसंयुक्तपृथग्विधिकरणमवग्रहस्याव्यवय-
त्वप्रकटनार्थम् । तेन द्वितीयोदाहरणमप्युपपन्नं भवति ॥ ५१ ॥



गमयतो भवतोऽनूकारात्परं तनू यदकरो-
त्कुर्यादिष्टिष्वब्रूतां प्रवर्तस्तां स्तभ्नीतां
वाचयति भिभृतस्ताग्निं गायत्रं ताभ्या-
मेवोभाभ्यामवान्तरं पर आपष्ठात् ॥

‘गमयतः’ ‘भवतः’ ‘अनूकारात्’ उकारव्यतिरिक्तवर्णात्,
‘परम्’ ‘भवतः’ इति पदम् । नञो यद्यप्यभावो मुख्योऽर्थः,
तथाऽपि तदन्यार्थता स्वीकृता, लक्ष्यानुसारात् । ‘तनू यत्’ ‘अक-

^१ एकेन व्यवहितोऽपि.

^२ सं. २-१-९.

^३ सं. ७-४-६.

^४ इत्येतदन्वा.

^५ „ ७-३-९.

^६ „ ६-१-६.

रोत्' 'कुर्यादिष्टिपु' 'कुर्यादिति पदमिष्टिपु' । इष्टयो नाम दश-
मादयस्त्रयः प्रश्नाः उत्तमानुवाकरहिताः । 'अब्रूताम्' 'प्रवर्ते' 'आस्ताम्'
'स्तप्रीताम्' 'वाचयति' 'विभृतस्त' 'अग्निं गायत्रम्' 'ताभ्यामेव'
'उभाभ्याम्' 'अवान्तरम्' इत्येवंपरः 'आपष्ठात्' पदात् पूर्वो
वर्तमान ईकार एकारो वा पदान्तः प्रग्रहो भवति । अभिविधा-
व्यमाकारः । तेन सहेत्यभिविधिः । यथा—“ते एवंनं प्रतिष्ठां
गमयतः”¹ । “उत्तरावती भवतः”² । अनुकारात् परमिति किं ?
“दीक्षन्तेऽन्तनामानाब्रून् भवतः”³ । “एते वै महायज्ञस्यान्त्ये तनू-
यत्”⁴ । यदिति किं ? “परिपतये त्वा गृह्णामि तनूनप्ते त्वा गृह्णा-
मि”⁵ । “बुधवती अग्रवती याज्यानुवाक्ये अकरोत्”⁶ । ‘मानवी
श्रद्धौ धाध्ये कुर्यात्’⁷ । इष्टिष्विति किं ? “अग्नये दात्रे पुरो-
डाशमष्टाकपालं कुर्यात्”⁸ । “ते अब्रूतां वरं वृणावहै”⁹ । “ह-
विर्धाने प्राची प्रवर्तयेयुः”¹⁰ । वर्तेति किं ? “तेऽदित्याः समधि-
यन्त त्वया प्र जानाम”¹¹ । “इमे वै सहास्ताम्”¹² । “वैश्वदेवाग्निमा-
स्ते उक्थे अव्यथयन्ती स्तप्रीताम्”¹³ । “उत्तमे ओदुम्बरी वा-
चयति”¹⁴ । “ते एव यजमानस्य रेतो विभृतस्तस्मात्”¹⁵ । तेति
किं ? “मन्महे यावात्मन्वद्विभृतो यौ च रक्षतः”¹⁶ । “एते दधाते ये

1 कुर्यादित्येतादिष्टिपु. 2 सं. २-१-४. 3 सं. ५-४-८. 4 सं. ७-४-८.
5 सं. २-२-७. 6 „ १-२-१०. 7 „ २-३-४. 8 „ २-२-१०.
9 „ २-५-५. 10 „ २-५-२. 11 „ ३-१-३. 12 „ ६-१-६.
13 „ ३-४-३. 14 „ ४-४-२. 15 „ ५-१-१०. 16 „ ६-६-८.
17 „ ४-७-१६.

अग्निं गायत्रम्^१ । गायत्रमिति किं ? “सुप्तस्थेऽग्निं पुरीष्यम्”^२ ।
 “एते वै यज्ञस्याञ्जसायनी स्तुती ताम्भ्यामेव”^३ । अत्र पदद्वयमेकं
 निमित्तमित्येते पदमुद्दिश्य आपठनियमभङ्गप्रसङ्ग इति चेत्, नायं
 प्रसङ्गः । निमित्तेकदेशस्य पष्ठत्वोपपत्तेः सकलस्यापि निमित्तस्य
 पष्ठत्वमुपपद्यते^४ । लोकेऽप्यवयवधर्मेणावयविनो विशेषसिद्धेः । तथा हि,
 कर्णे कुण्डलं धारयन्तं कुण्डली देवदत्त इति वदन्ति । एवेति
 किं ? “अपहृत्स्यग्ने । ताम्भ्यां पतेम”^५ । “ये द्वे अहोरात्रे एव ते
 उभाभ्याम्”^६ । “उत्सृज्ये इत्याहुये अवान्तरम्”^७ । अन्तरमिति किं ?
 “सं तेऽव ते हेड उदुत्तमम्”^८ । आपठादिति किं ? ‘पर इत्युत्तरः’ (१-३०) ।
 इति परिभाषया अनन्तरस्यैव परत्वं स्यात् । तन्मा भूदिति ॥ ५२ ॥

गमयतः भवतः इत्यादिशब्द आपष्टात्परः द्वितीयादिपष्ठा-
 न्तानां अन्यतमतया परश्चेदधिकृतवर्णः पदान्तः प्रग्रहो भवति ।
 ‘ते एवैनं प्रतिष्ठां गमयतः’^९ । भवत इत्येतदूकारव्यतिरिक्ता-
 ऋणात्परमेव निमित्तम् । ‘प्रियवती याज्यानुवाक्ये भवतः’^{१०} ।
 ‘ते व्युत्ते उपजीवनीये भवतः’^{११} । अनुकारात्परमिति किम् ?
 ‘य एकाष्टकायां दीक्षन्तेऽन्तनामानावृत्तू भवतः’^{१२} । तनू यदिति
 तनूपदं निमित्तं यदिति तस्योपबन्धः । एवं प्रवर्त । विभृतस्त
 इत्यादावपि पदादधिकशब्द^{१३} उपबन्धो विज्ञेयः । ‘एते वै महा-
 यज्ञस्यान्त्ये तनू यत्’^{१४} । यदिति किम् ? ‘लोके प्रति तिष्ठति
 तनूनपातं यजति’^{१५} । ‘शक्री याज्यानुवाक्ये अकरोत्’^{१६} । कु-

१ सं. ६-३-५.

२ सं. ४-१-३.

३ सं. ७-२-१.

४ त्येतत्पद.

५ चर्यते.

६ ,, ४-७-१३.

७ ,, ७-४-४.

८ सं. ७-५-७.

९ सं. २-५-१२.

१० ,, २-६-२.

११ ,, ३-२-९.

१२ ,, ७-४-८.

१३ पदादिकशब्द.

१४ ,, २-२-७.

१५ ,, २-६-१.

१६ ,, २-२-८.

यादिष्टिषु, 'प्रजापतिः प्रजा असृजत'¹ इत्यादयः त्रयः प्रश्नाः
 काम्येष्टिविधायका इष्टय इत्याख्यायन्ते । तत्रस्थं कुर्यात्पदं नि-
 मित्तम् । 'भारुती याज्यानुवाक्ये कुर्यात्'² । इष्टिष्विति किम् ?
 'अग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं कुर्यात्'³ । 'ते वियती अग्र-
 ताम्'⁴ । 'हविर्धाने प्रवर्तयति'⁵ । वर्तेति किम् ? 'तेऽग्नये प्रवर्ते'⁶ ।
 'अहोरात्रे अधिपत्नी आस्ताम्'⁷ । 'अव्यथयन्ती स्तभ्रीताम्'⁸ ।
 'उत्तमे औवुम्बरो वाचयति'⁹ । 'ते एव यजमानस्य रेतो
 विभृतस्तस्मात्'¹⁰ । स्तोपवन्धेन¹¹ किम् ? 'विदथानि मन्महे
 यावात्मन्वद्विभृतो यौ च रक्षतः'¹² । 'वृषणं ह्येते दधाते ये अग्नि-
 गायत्रम्'¹³ । गायत्रमिति किम् ? 'तस्मिन्नहं निदधे नाके अग्नि-
 नेतम्'¹⁴ । 'एते वै यज्ञस्याजसायनी स्रुती ताभ्यामेव'¹⁵ । एवे-
 ति किम् ? 'अपहृस्यज्ञे । ताभ्याम्'¹⁶ । 'ये द्वे अहोरात्रे एव ते
 उभाभ्याम्'¹⁷ । 'ये अद्यान्तरं यज्ञं भेजाते इति'¹⁸ । अन्तरमिति
 किम् ? 'यज्ञेयज्ञे न उदच'¹⁹ ॥ ५२ ॥

न ग्रामी वर्चसी मिथुनी मासे लोके धत्ते॥

ग्रामी वर्चसी मिथुनी मासे लोके धत्ते, एतेष्वन्त्यस्वरो 'गम-
 यतो भवतः' (४-१२) इत्यादिपरोपि प्रग्रहो न भवति । यथा—'ग्राम्येव
 भवति गणवती याज्यानुवाक्ये भवतः'²⁰ । 'ब्रह्मवर्चस्येव भव-
 त्पुभयतो रुक्मौ भवतः'²¹ । 'अथ मिथुनी भवतः'²² । 'पूर्णमासे

- | | | | |
|--------------|---------------|-----------------|---------------|
| 1 स. २-२-१. | 2 सं. २-३-३. | 3 स. २-५-५. | 4 सं. ५-२-३. |
| 5 ,, ६-२-९. | 6 ,, २-४-१. | 7 ,, ४-३-१०. | 8 ,, ४-४-२. |
| 9 ,, ५-१-१०. | 10 ,, ५-६-८. | 11 स्तोपवन्धेन. | 12 ,, ४ ७-१५. |
| 13 ,, ६-३-५. | 14 ,, ४-७-१३. | 15 स. ७-२-१. | 16 ,, ७-८-४. |
| 17 ,, ७-५-७. | 18 ,, ३-१-११. | 19 ,, २-३-२. | 20 ,, ६-५-८. |

प्रायच्छत्ताववृताम्”¹ । “लोके प्रतितिष्ठन्तो यन्ति द्वौ पडहौ भवतः”²
 “धत्ते ज्योतिष्मन्नावस्मा इमौ लोकौ भवतः”³ ॥ ५३ ॥

पूर्वेण प्राप्तेऽतिप्रसङ्गोऽनेन निवार्यते । ग्रामी वर्चसीत्यादीनामपि अधिकृतवर्णः पदाम्तः प्रग्रहो न भवति । ‘ग्राम्येव भवति प्रिययतो याज्यानुवाक्ये भवतः’⁴ । ‘ब्रह्मवर्चस्येव भवत्युभयतो रुक्मो भवतः’⁵ । “अथ मिथुनी भवतः”⁶ । एतेषां ‘भवतोऽनूकारात्परम्’ (४-५२) इति प्राप्तिः⁷ । ‘पूर्णमासे प्रायच्छत्ताववृताम्’¹ । ‘लोके प्रतितिष्ठन्तो यन्ति द्वौ पडहौ भवतः’² । ‘ज्योतिर्वत्ते ज्योतिष्मन्नावस्मा इमौ लोकौ भवतः’³ ॥ ५३ ॥

—०—

अते समानपदे नित्यमवे चावे च ॥ ५४ ॥

निषेधं चकारोऽन्वादिशति । अते अवे इत्यनयोः पदैकदेशयो-
 रन्त्यस्वरः ‘समानपदे’ वर्तमानो ‘गमयतो भवतः’ (४-५२) इत्यादि-
 परोपि नित्यं प्रग्रहो न भवति । यथा—“अवरुन्धतेऽतिरा-
 त्रावभितो भवतः”⁸ । “अभ्याह्वये वज्रमेनमभि प्रवर्तयति”⁹ । “अना-
 तताय धृष्णावे । उभाभ्यामुत ते नमः”¹⁰ । समानपद इति किं?
 “एव ते उभाभ्याम्”¹¹ । अत्र नित्यशब्दः प्राप्त्यन्तरपरिहारार्थं

¹ स. २-५-२.

² स. ७-४-११.

³ स. २-६-२.

⁴ „ २-२-११.

⁵ „ २-३-२.

⁶ „ ६-५-८.

⁷ एतन्नामित्यादिः । प्राप्तिरित्यन्ता प. द्वि. अन्योदाहरणद्वयमध्यस्था कचित्कोशेषु.

⁸ सं. ७-२-६.

⁹ सं. ३-२-९.

¹⁰ सं. ४-६-१.

¹¹ सं. ७-४-४.

इति सोदाहरणं “ उपबन्धस्तु देशाय ” (१-५९) इति सूत्रे प्रसङ्गा-
दुक्तम् । समानं च तत् पदं च समानपदं, तस्मिन् समानपदे ॥ ५४ ॥
इति त्रिभाष्यरत्ने प्रातिशाख्यविवरणे चतुर्थोऽध्यायः.

(अते समानपदे नित्यम्)

अनेशब्दो यस्य समानपदे एकपदे वर्तते तत्रस्थोऽधिकृतवर्णः
पदान्तः प्रग्रहो न भवति । ‘प्रजामवरुन्धतेऽतिरात्रावभितो
भवतः’^१ । ‘दर्शपूर्णमासी यजते ताभ्यामेव’^२ । समानपद इति
किम् ? ‘अहोरात्रे एव ते उभाभ्याम्’^३ । नित्यग्रहणाद्विध्यन्त-
रप्राप्तिरपि प्रतिपिध्यते । ‘वनस्पते चीडङ्गो हि’^४ । ‘द्वे जाये
विदते’^५ ॥

*(अवे चावे च)

अशब्दो नित्यं नैत्यन्यादिशति । अवेशब्देऽधिकृतवर्णः पदान्तः
प्रग्रहो न भवति । “अनातताय धृष्णवे । उभाभ्याम्”^६ । नित्य-
ग्रहणाद्विध्यन्तरप्राप्तिरपि निवार्यते । ‘सूयवसिनी मनवे’^७ । ‘चा-
यय आरोहणयाहो’^८ ॥ ५४ ॥

इत्याचार्यगार्भ्यमोपालमिश्रविरचिते वैदिकाभरणाख्ये
प्रातिशाख्यव्याख्याने चतुर्थोऽध्यायः.

* वैदिकभग्नकारेण “अवे च” इति पृथग्मूलतया व्याख्यातम्.

^१ उ. ३-२-६.

^२ सं. २-६-६.

^३ सं. ३-४-४.

^४ सं. ४-६-६.

^५ ॥ ६-६-४.

^६ ॥ ४-५-१.

^७ ॥ १-२-११.

^८ सं. ६-६-२१.

अथ पञ्चमोऽध्यायः.

अथ संहितायामेकप्राणभावे ॥ १ ॥

‘अथ’ इत्ययमधिकारः । ‘संहितायामेकप्राणभावे’ इत्येतदधि-
कृतं वेदितव्यम्, इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः । संहितेति कोऽर्थः ?
“नानापदसन्धानसंयोगः” (२४-३) इति सूत्रेणोक्ता संहिते-
त्यर्थः । ‘परस्सन्निकर्षसंहिता’^२ इति वैयाकरणाः पठन्ति^३ ।
एकसमुत्पद्यः प्राणः एकप्राणः, तस्य भावस्तद्भावः, तस्मिन्, इत्या-
त्रेयमतम् । अन्यथाऽपि समासः सङ्गच्छते, एकप्राणेन भाव्यते
जन्यते उच्चार्यते इत्येकप्राणभावः । एकेनोच्छ्वासेन यावानुच्चार्यते
वेदभागः तावान् ‘एकप्राणभावः’ इत्यर्थः । अतएवावसाने पद-
विधिः । ननु संहितायामित्येतावतेवालम्, एकप्राणभाव इति वा ;
उभयारम्भेण किम् ? उच्यते—एकप्राणभाव इत्यनारम्भभागे प्रवृ-
त्तस्य संहिताविधेः पदावसानत्वं नेष्यते । संहितायामित्यनारम्भ-
भागे तु पदेऽप्येकप्राणभावः उपपद्यते इति वक्ष्यमाणं कार्यं कुत्र
वा भवतीति सन्देहः स्यात् । तस्मादस्मिन्नुभयारम्भे प्रयोजन-
मस्ति ॥ १ ॥

अधिकारोऽयं आ षोडशाध्यायपरिसमाप्तेः । यान्ति ऊर्ध्वमधि-
रिप्यामः^४ ते विधयस्संहितायामेकप्राणभावे च यदित्य्याः । इह

^१ इत्याधि.

^२ पा. १-४-१०९.

^३ भर्गन्ति.

^४ पदेऽप्येक.

^५ मनुकामिप्यामः.

द्विविधो विरामः समान्नायसिद्धः अशक्त्यादिहेतुकश्च । तत्र समान्नायसिद्धोऽनुवाकान्तेषु तन्मध्यनित्यावसानेषु पदक्रमान्तेषु च भवति । इतरस्तन्नियतदेशः । तत्र संहितायामिति पूर्वस्य अभाव उच्यते । एकप्राणभाव इत्यपरस्य च^१ । एकश्चासौ प्राणो निवास एकप्राणः । तेन भाव उच्चारणं एकप्राणभावः । तदुभयं समुदितमधिक्रियते । तेनान्यतराभावेऽपि कार्याणि न भवन्ति । यथा—‘देवंगममसि’^२, ‘शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे’^३, इत्यत्र सत्यस्येकप्राणभावे ‘नोदात्तस्वरितपरः’ (१४—११) इति निषेधो न भवति । तथा संहिताप्रयोगे ‘श्रेष्ठतमाय कर्मणे’^४, इत्येतावत्पञ्चशक्त्यादिकारणवशादधाने अथादेशादिकार्यं न भवति ॥ १ ॥



यथायुक्ताद्विधिस्सा प्रकृतिः ॥ २ ॥

प्रकृतिसंहितास्वरूपं अनेनोच्यते—“प्रकृतिर्विक्रमः क्रमः” (१४—९) इति विज्ञेयत्वेन विधानात् । ‘यथायुक्तात्’ यथास्थितात् पदपाठात् कूटस्थात् अविनालिनः^१ ‘विधिः’ ‘सा’ प्रकृतिसंहिता विज्ञेया । ‘विधिः’ विधानं प्रकृतिरित्यर्थः । यथा—
 “स्वथा अस्युर्वी चासि”^२ । “धन्वन्निव प्रपा असि”^३ । “सहस्रस्य प्रमा असि”^४ । “प्रचुम्भिया ईरते”^५ । “ज्या इयं समेने”^६ । “अमिनन्त एने”^७ । अत्र सूत्रे पदानां परस्परा-

^१ इतिगम्य च ^२ ग १-१-२.

^३ ग १-१-२. ^४ ग १-१-२.

^५ अविनालिनः ^६ ग १-१-२.

^७ ग २-१-२. ^८ ग १-१-२.

^९ सं. ४-१-११. ^{१०} ग ४-१-१.

^{११} ग १-१-११.

न्वयो महाभाष्यवचनेन विज्ञेयः । तच्च वचनं 'ता वर्णप्रकृतयः'
(२-७) इत्यत्र पठितम् । एवमन्यत्रापि "स्वरितयोर्मध्ये यत्र नीचम्"
(१९-१) इत्यादौ मन्तव्यम् ॥ २ ॥

इह संहितायामित्याधिकारात्तत्प्रतियोगिविभक्तरूपं प्रकृतित्वेन
आश्रितमिति तावद्विज्ञायते । तच्चतुर्विधम् । पदानि वर्णा
अक्षराण्यङ्गानि चेति^१ । कुत एवमिति चेत्, "अथ चतस्रस्स-
हिताः" (२४-१) इत्यभ्युपगमात्^२ । तत्र पदात्मकं विभक्तरूपं
पदाध्याये वर्तते । क्रमाध्याये चोपयुज्यत इति यद्यपि साध्य-
तामर्हति—अतएव विभागे ह्रस्वत्वादिकार्यं विहितम्—तथाऽपि
वक्ष्यमाणकार्यविपर्ययरूपाणां तद्विभागप्रकाराणां विचित्रतया
विस्तरप्रतिपाद्यत्वात्तद्व्युत्पादनं दुष्करमिति तदिह प्रधानसा-
ध्यस्य संहितास्नायस्य प्रकृतिरूपं साधनमाश्रीयते । वर्णात्मकं
तु विभक्तरूपं न क्वचिदपि समान्नाये विद्यत इति नैव साध्यता-
मर्हति । कल्प्यमानं तु तदन्यार्थतयैव कल्प्यमिति । तदपि त्रिवि-
धम् । प्रधानसाध्यस्य संहितास्नायस्य प्रकृतिरूपं साधनं परिक-
ल्प्यते । तदनेन सूत्रेणामिधीयते । यथायुक्तो यथाभूतः । त-
स्मात्तुल्यवङ्गोपे पञ्चमी । यथाभूतं शब्दमाश्रित्य विधिः करि-
ष्यते पदात्मकं वर्णात्मकं वा । साऽस्मिन्नाधिकारे प्रकृतिर्येदित-
व्या । न तु पूर्ववत्संहितास्नायसिद्धं शब्दरूपमिति । अपि च
अक्षरसंहिताऽङ्गसंहिता च वर्णसंहिताया अवान्तरभेदौ वर्णावि-
शेषत्वादक्षराणामङ्गानां च । तेन "अथ वर्णानाम्" (१३-५) इति
वर्णसंहिताधिकारात्प्राक्पदसंहिता विधीयत इति तावत्स्पष्टमव-

गम्यते । इदं तु न विवेक्ष्यते—कुत्र वर्णसामान्यसंहिता? कुत्राक्षरसंहिता? कुत्राक्षरसंहितेति? । तदप्यनेन सूत्रेण विविच्यते—यथायुक्ताद्विधिः सा प्रकृतिरिति । यत्राक्षरत्वनिबन्धनः कार्यविधिः, यथा—“ उदात्तात्परोऽनुदात्तः ” (१४—२९) इत्यध्यायशेषे “स्वरितात्संहितायाम्” (२१—१०) इति सूत्रद्वये च—तत्राक्षराणां प्रकृतित्वम् । यत्र त्वङ्गत्वनिबन्धनः कार्यविधिः—“व्यञ्जनस्वरात्मम्” (२१—१) इत्यादि “स्पर्शश्चोष्मपरः” (२१—९) इत्यन्ते ग्रन्थे, तत्राङ्गानां प्रकृतित्वम् । शिष्टे वर्णसंहिताधिकारे वर्णसामान्यस्येति । किञ्च—वर्णसंहिताधिकारविहितानां णकारादीनां नकारादयः प्रकृतय इत्येतद्विधित एव अवगन्तव्यमित्येतदप्यनेन सूत्रेण ख्यान्यते । अन्ये तु दशमाध्यायेऽक्षरसंहिताविधिरित्याहुः । “पदसंहिताऽक्षरसंहिता” (२४—२) इत्यनुक्रमणात् । तेषां “प्रउगमुफथम्”^१ इत्यादौ सन्धिकार्यं स्यादेव । “अक्षरसंहितावर्णसंहिता” (२४—२) इत्यनुक्रमणं तु वर्णसमाध्याये स्वरणां प्राथम्यादित्यनुसन्धेयम् ॥ २ ॥

—०—

तत्र पूर्वपूर्वं प्रथमम् ॥ ३ ॥

‘तत्र’ संहिताविधाने, ‘पूर्वं पूर्वं’ पदं सूत्रं च, ‘प्रथमं’ कर्तव्यम् । यथा—“भत्ता आ इहि” इत्यत्र “दीर्घं समानाक्षरं” (१०—२) इति दीर्घः । ‘भत्ता इहि’ इति स्थिते ‘इवर्णपरणकारम्’ (१०—४) इत्येकारे कृते ‘भत्तेहि’ इति भवति । अन्यथा

^१ छ. ४-८-२.

^२ पूर्व पदं पूर्व सूत्रं च.

^३ छ. १-२-९.

एहीति कृत्वा भक्षशब्देन सन्धीयमाने भक्षैहीति स्यात् । तच्चा-
 निष्टम् । पूर्वपदकर्तव्यत्वे एतदुदाहरणम् । पूर्वसूत्रकर्तव्यत्वेऽपि वदामः ।
 यथा—“ पट्त्रिग्रामानिष्पूर्वः ” (७-२) इति नकारस्य णत्वे कृते
 “ उत्तमपर उत्तमसवर्गीयम् ” (८-२) इत्यनेन टकारस्य णत्वे
 कृते ‘ पणवत्यै ’ इति भवति । अन्यथा “ उत्तमपर उत्तमम् ”
 (८-२) इति सूत्रे प्रथमं प्रवृत्ते सति ण् नवत्या इति स्यात् । तच्चा-
 निष्टम् । तथा, “ वङ् स्वयमभिगूर्ताय ” इत्यत्र “ टनकारपूर्वश्च
 तकारः ” (९-३३) “ प्रथम ऊन्यपरः ” (१४-१२) इति सूत्रद्वयं
 प्रसक्तम् । तत्र पूर्वत्वात् “ टनकारपूर्वः ” (९-३३) इत्येतदेव
 प्रथमं कर्तव्यम् । अन्यथा वङ्स्वयम् इति स्यात् । तच्चातिष्टम् ।
 अथवा “ इमं विप्स्यामि ” इत्यत्र “ उपसर्गानिष्पूर्वोऽनुदात्ते पदे ”
 (१-४) ‘ स्वरपूर्वं व्यञ्जनं ’ (१४-१) इति सूत्रद्वयं प्राप्तम् । तत्र
 द्वित्वसूत्रप्राथम्ये “ इमं विप्स्यामि ” इति स्यात् । तन्मा भूदिति
 पत्वमेव प्रथमं कर्तव्यम् । पूर्वपूर्वमिति वीप्सा सर्वत्रैवमर्थं सम-
 र्थयति ॥ ३ ॥

तत्र संहिताविधिविषये^१ पूर्वपूर्वसूत्रविहितं कार्यं प्रथमं भ-
 वति । न परसूत्रविहितम् । यथा—“ आयुषा नास्नेहि ”^२ इत्यत्र
 आङ्. “ दीर्घः समानाक्षरे ” (२०-२) इति पूर्वणैकादेशः कर्तव्यः ।
 “ इवर्णपर एकारम् ” (२०-४) इति परेण । तत्र पूर्वसूत्रविहितो
 दीर्घादेशः प्रथमं भवति । तत एकादेश इतीष्टरूपसिद्धिः । यदि

^१ सं. ७-२-१५.^२ सं. ३-२-८.^३ सं. १-१-१०.^४ त्रतमर्थे.^५ संहिताविषये.^६ ॥ १-२-१२.

तु “इवर्णपर एकारम्” (१०—४) इति विधिः प्रथमं स्यात् । तदा—नास्मा एहीति तावद्भवति । ततः “एकारैकारपर ऐकारम्” (१०—६) इत्येकारादेशादनिष्टरूपं स्यात् । तथा—अथैता आहुतीर्जुहोति” इत्यत्र चकारात्परस्याकारस्य “एकारैकारपर ऐकारम्” (१०—६) इत्येकादेशः कार्यः । “उदात्तात्परोऽनुदात्तस्वरितम्” “व्यञ्जनान्तर्हितोपि” (१४—२९, ३०) इति स्वरितादेशश्च । तत्र पूर्वसूत्रविहित एकादेशः प्रथमं भवति । स चानुदात्तप्रकृतिकत्वाद्गुदात्तः । ततस्तस्य स्वरितादेशे प्राप्ते “नोदात्तस्वरितपरः” (१४—३१) इति प्रतिषेधादिष्टस्वरसिद्धिः । यदि तु प्रथमं स्वरितादेशस्स्यात् । तत एकादेशो भवन् “स्वरितागुदात्तसन्निपाते स्वरितम्” (१०—१२) इति स्वरितस्स्यात् । तस्य तु न बाधकं किञ्चिदिति स एव श्रूयेत ॥ ३ ॥



त्रपुमिथुपूर्वशकारश्चपरः ॥ ४ ॥

‘त्रपु’ ‘मिथु’ एवम्पूर्वः शकारागमो भवति चकारपरः । यथा—“सीसं च मे त्रपुश्च मे”^१ । “मिथुश्चरन्तमुपयाति”^२ एवम्पूर्व इति किं ? “विभु च मे प्रभु च मे”^३ । एवंपर इति किं ? “असिना मिथुकः”^४ ॥ ४ ॥

चपर इत्यकारान्तः व्यञ्जननिर्देश । न तु केवलं ग्रहणम् । तथा सति पदग्रहणपरिभाषाप्रवृत्तेः मिथुपूर्वं तदसम्भवात् । शकारागमो विधीयते । एषामागमानामभक्तत्वात्पूर्वोत्तरे पदे नोमेत्ते भवतः । यस्यागमोऽन्यतरभक्तस्तन्येतरत्पदं निमि-

^१ सं. २-८-६.

^२ सं. ४-७-६.

^३ सं. ४-७-१०.

^४ सं. ४-७-४.

^५ सं. ४-६-९.

त्तमिति चेद्विज्ञेयम् । तदयमर्थः—‘त्रपु मिथु’ इत्येतयोः पदयोः पूर्वयोश्शकार आगमो भवति चकारादौ पदे परतः । यथा—
‘संसि च मे त्रपुश्च मे’^१ । ‘मिथुश्चरन्तम्’^२ । एतत्पूर्व इति किम् ? ‘दिवं दृष्टु चक्षुः’^३ । चंपर इति किम् ? ‘असिना मिथु कः’^४ ॥ ४ ॥



सुपूर्वश्च चन्द्रपरः ॥ ५ ॥

चकारः शकारमन्वादिशति । ‘सुपूर्वः’ शकार आगमो भवति ‘चन्द्रपरः’ । यथा—‘सुश्चन्द्र दस्म विश्पेत’^५ । एवम्पूर्व इति किं ? ‘म चन्द्रमास्तिरति’^६ । एवम्पर इति किं ? ‘आ मा सुचरिते भज’^७ । सु इत्येष शब्दः पूर्वो यस्मादसौ सुपूर्वः ॥ ५ ॥

सु इति पदे पूर्वं शकारागमो भवति चन्द्रशब्दे परतः । यथा—‘उमे सुश्चन्द्र सर्पिषः’^८ । सुपूर्व इति किम् ? ‘मेत चन्द्रदक्षिणा यज्ञस्य’^९ । चन्द्रपर इति किम् ? ‘सुचरिते भज’^{१०} ॥ ५ ॥



सम्पूर्वस्सकारः कुरुपरः ॥ ६ ॥

‘सम्’ इत्येवम्पूर्वः ‘सकारः’ आगमो भवति, ‘कुरुपरः’ । यथा—‘यजमानस्संस्कुस्ते’^{११} । एवम्पूर्व इति किं ? ‘पुरोडा-

^१ स. ४-७-५.

^२ स. ४-७-१५.

^३ स. १-१-७.

^४ स. १-८-१३.

^५ सं. ४-४-४.

^६ सं. २-८-१८.

^७ सं. १-१-१२.

^८ सं. १-४-४३.

^९ सं. ३-६-६.

शा५ अलंकुरु^१ । एवंपर इति किं ? “संकृत्यच्छावाकसामं भवति”^२ ।
कुरुशब्दः परो यस्मादसौ कुरुपरः ॥ ६ ॥

समिति षदे पूर्वं सकार आगमो भवति कुरुशब्दे परतः
यथा—‘यजमानस्सश्स्कुर्वते’^३ । संपूर्वं इति किम् ? ‘यज्ञमुख
एव ब्रह्म कुरुते’^४ । कुरुपर इति किम् ? ‘सं वपामि’^५ ॥ ६ ॥



अकुर्व च प्रत्ययात्परः ॥ ७ ॥

चकारः सम्पूर्वत्वमागमं चान्वादिशति । ‘अकुर्व’ इति ग्रहणे
‘प्रत्ययात्’ ‘परः’ सकार आगमो भवति, सम्पूर्वः । यथा—
“त इषु५ समस्कुर्वत”^६ । प्रत्ययो नाम अकार उच्यते ।
प्रत्याद्यन्ते^७ अभिव्यज्यन्ते व्यञ्जनान्यनेनेति प्रत्ययः । सम्पूर्वं इति
किं ? “अग्निहोत्रं व्रतमकुर्वत”^८ ॥ ७ ॥

चशब्देन सम्पूर्वं इत्यन्यादिद्वयते । प्रत्येति पश्चादागच्छ-
तीति प्रत्ययः परः । तथा बहुचानां प्रातिशाख्ये च प्रयुज्यते—
“पिबृत्तश्च प्रत्ययस्सङ्गकारः” इति । तदयमर्थः—सम्पदे पूर्वं
ततः परोऽकुर्वशब्दसम्यन्धी यां घर्णः तस्मात्परस्सकार आगमो
भवति । ‘त इषु५ समस्कुर्वत’^६ । अन्यादेशेन किम् ? ‘यद्य-
श्चऽकुर्वत’^९ । अकारात्पर इत्युक्ते कतरन्मादिति संशयस्स्यात् ।
उभाभ्यां वा परस्स्यात् । तन्मा भूदिति प्रत्ययादित्युक्तम् ॥ १॥

^१ ष. १-१-१.

^२ म. ५-४-१२.

^३ ष. १-६-६.

^४ ष. १-६-१०.

^५ ” १-१-८.

^६ ” ६-२-१.

^७ प्रतीचन्ते.

^८ ” १-२-२.

^९ ” १-४-१.

नीचापूर्वो दकार उच्चापरः ॥ ८ ॥

‘नीचापूर्वः’ ‘दकारः’ आगमो भवति, ‘उच्चापरः’ । यथा—
 “मध्यान्नीचादुच्चा स्वधया”^१ । एवम्पूर्व इति किं? “लोकं यन्त्यु-
 च्चावचान् हि”^२ । एवम्पर इति किं? “नीचा तं धक्षि”^३ । आग-
 मा एते ॥ ८ ॥

नीचापदे पूर्वे दकार आगमो भवत्युच्चापदे परतः । यथा—
 “मध्यान्नीचादुच्चा”^१ । नीचापूर्व इत्यस्य व्यावर्त्यं शाखान्तरे ।
 उच्चापर इति किम्? ‘नीचा तं धक्षि’^३ ॥ ८ ॥



असम्पूर्वोऽरमृकारः ॥ ९ ॥

‘असम्’ इत्येवम्पूर्वः ‘ऋकारः’ ‘अरं’ विकारमापद्यते ।
 यथा—“गृहाणामसमर्त्ये”^४ । अत्र निमित्तमेकपदस्थं विज्ञेयम् ।
 अन्यथा ‘कल्हाणी रूपसमृद्धा’^५ ‘वही ह्येष समृद्धये’^६ इत्या-
 दावपि भवेत् । ऋकार इति किं? ‘असंतृणो हि’^७ ॥ ९ ॥

अत्रेदं सामर्थ्यसिद्धमनुसन्धेयम् । पदादेर्यो लोपविकारी
 तत्र पूर्वपदं निमित्तम् । यौ तु पदान्तस्य तत्रोत्तरपदमिति ।
 तदयमर्थः—असंशब्दे पूर्वे ऋकारः अर् इत्यादेशमश्रुते संहि-
 तार्या सर्वत्र । यथा—“गृहाणामसमर्त्ये वहवः”^४ असंपूर्वे

^१ स. २-३-१४. ^२ स. ७-४-३. ^३ स. १-२-१४. ^४ स. ३-१-८.

^५ ,, ७-१-६. ^६ ,, २-२-२. ^७ ,, ६-२-११.

इति किम् ? 'यज्ञस्य समृद्धये'^१ । नन्ववाप्यसंशब्दोऽस्ति । सत्यम् । अपदत्वाच्च^२ गृह्यते ॥ ९ ॥

अवग्रह आशीर्धूस्सुवरिति रेफं परस्स-
कारप्पकारम् ॥ १० ॥

‘अवग्रहे’ इति सप्तम्यन्तं पदं आशीःप्रभृतिभिः प्रत्येक-
मभिसम्बध्यते । आशीः धूः सुवः इत्येतेष्ववग्रहेषु विसर्जनीयो रेफ-
मापद्यते । एतेभ्यः ‘परः’ यदि वर्तते ‘सकारः’ तर्हि सोपि
‘पकारं’ आपद्यते । यथा—“इत्याशीरूपदयर्चा”^३ । “धूर-
पाहावनश्रू”^४ । “सुवर्षां जिह्वाग्ने”^५ । अवग्रह इति किं ? “देव-
सुयस्थ ते”^६ । ‘कल्पकारपरः’ (८-२३) इत्यनेन आशी-
पदयेति प्राप्तम् । “अवोपपरस्तस्थ सस्थानम्” (९-२) इति
धूस्माहो, सुवर्षां इति च प्राप्तम् । तदुभयभङ्गायायमारम्भः ।
इतिशब्द एषामेवैष विशेषो नान्येषामिति प्रकारवाची ॥ १० ॥

आशीर्धूस्सुवरित्यवग्रहो रेफमादेशमश्रुते संहितायां सर्वत्र ।
अवग्रहस्यांत्तरपदसंहितेयं प्राथमकाल्पिकीति तत्संहितायां का-
र्याणि विधीयन्त इत्यनुसन्धेयम् । एवं परपदस्य निमित्तत्वे
मिन्दे पूर्वपदान्तस्यायं चिकारो विधीयत इत्यर्थात्सम्पद्यते ।

^१ स. १-५-२.^२ अपदत्वाच्च न.^३ स. ६-२-९.^४ सं. १-२-८.^५ „ ४-४-४.^६ „ १-८-१०.^७ प्राप्तिः

अवग्रहात्परस्सकारश्च पकारमादेशमश्नुते संहितायाम् । पदादे-
 विंकारस्य पूर्वपदं निमित्तमित्युक्तमेव । तद्यथा—‘आशीर्पदयर्चा’^१
 ‘उस्त्रावेतं धूर्त्पाहावनधू’^२ । “दिवि मूर्धनं दधिपे सुवर्षाम्”^३ ।
 आशीरित्यस्य रेफादेशेन “कल्पकारपरः” (८-२३) इत्युप-
 चारो निवर्त्यते । विशेषविषयस्यादस्य रेफविधेः । धूस्सुवरि-
 त्यनयोस्तु “अघोपपरस्तस्य” (९-२) इत्युष्मादेशो निवर्त्यते ।
 अवग्रह इति किम् ? ‘ये देवा देवसुवस्स्थ’^४ । सकार इति किम् ?
 “आशीर्पदयर्चा”^१ ॥ १० ॥

अथ लोपः ॥ ११ ॥

‘अथ’ इत्ययमधिकारः । ‘लोपः’ इत्येतदधिकृतं वेदितव्यं,
 इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः । अयमधिकारः “तिष्ठन्त्येकया” (५-१९)
 इति सूत्रपर्यन्तो मन्तव्यः^५ ॥ ११ ॥

लोपाधिकारोऽयं लोपागमविवेचनार्थः । लोपविधेरन्यत्र यः
 अकारः स आगमस्य संज्ञेति भावः । “तिष्ठन्त्येकया सपूर्वः”
 (५-१९) इत्येतदन्तोऽयमधिकारः ॥ ११ ॥

ईम्पूर्वो मकारः ॥ १२ ॥

‘मकारः’ ‘ईम्’ इत्येवम्पूर्वा लुप्यते । यथा—“ई मन्द्रा-
 सु प्रयसः”^६ । एवम्पूर्व इति किं ? “इमं मे वरुण”^७ । दीर्घेण

^१ सं. ६-२-९.

^२ सं. १-२-८.

^३ सं. ४-४-४.

^४ सं. १-८-१०.

^५ पर्यन्तं वेदितव्यम्.

^६ सं. ४-१-८.

^७ ॥ २-१-११.

किं? “अग्निं मित्रं वरुणम्”^१ । ईमिति पदग्रहणम् । इतरथा “पृथिवीं मा हिंसीः”^२ इत्यादौ मकारो लुप्येत । तच्चानिष्टम् । मकार इति किं । “ईङ्काराय स्वाहेङ्कृताय”^३ ॥ १२ ॥

ईमिति पदे पूर्वे मकारो लुप्यते । ‘ई मन्द्रास्तु प्रयसः’^४ । ईम्-पूर्वं इति किम्? ‘मा वस्स्तेन ईशत माऽघशस्सः’^५ । पद इति किम्? ‘पृथिवीं मा हिंसाः’^६ ॥ १२ ॥

तुनुपूर्व उदात्तयोर्वकारः ॥ १३ ॥

‘तु नु’ इत्येवम्पूर्वो ‘वकारः’ लुप्यते तयोः तुन्वोः ‘उदात्तयोः’ सत्तोरिति विभज्य विनियोगो विज्ञेयः । यथा—“स त्वे यजेत”^७ । “इत्था उपस्तीर्णम्”^८ । उदात्तयोरिति किं? “अनु वृत्रहृत्वे”^९ । “अप्यकारादि” (१-९२) इति प्राप्तिः । एवम्पूर्वं इति किं? ‘इदं वामास्ये हविः’^{१०} । वकार इति किं? ‘प्र तु जनयतीति’^{११} । ‘विदुषो नु यज्ञम्’^{१२} । तुश्च नुश्च तुनू तौ पूर्वौ यस्मात् स तथोक्तः ॥ १३ ॥

तु नु इत्येतयोः पदयोः उदात्तयोः पूर्वयोः वकारो लुप्यते । ‘स त्वे दरदापूर्णमासौ यजेत’^{१३} । ‘मनुष्यायेन्ने’^{१४} । तुनुपूर्वं इति

^१ ग. २-१-११. ^२ सं. ४-२-९. ^३ सं. ७-१-१९. ^४ सं. ४-१-८.

^५ “ १-१-१. ^६ मकार इति किम्? ‘विहोमिदो अण्यत्’ (ग. १-२-१८.) इत्यपि काचित्कः पाठः.

^७ “ २-९-९. ^८ “ १-६-७. ^९ “ १-६-१२. ^{१०} “ २-२-११.

^{११} “ १-७-२. ^{१२} “ १-२-१२. ^{१३} “ २-५-४. ^{१४} “ १-५-९.

किम्? 'मा वस्स्तेन ईशत'¹ । उदात्तयोपिति किम्? 'अक्त२ रि-
हाणा वियन्तु वयः'² । इति केचित् । तदयुक्तम् । पदग्र-
हणपरिभाषयैव निरस्तत्वात् । 'सत्रा ते विश्वमनु वृत्रहत्ये'³
इत्यादि प्रत्युदाहर्तव्यम् । अत्र तु "अप्यकारादि" (१-५२)
इति विधानोदस्ति हि प्राप्तिः । वकार इति किम्? "प्र तु
जनयतीति"⁴ । "भूय इवु ते दानम्"⁵ ॥ १३ ॥

—०—

उत्पूर्वस्सकारो व्यञ्जनपरः ॥ १४ ॥

'व्यञ्जनपरः' 'सकारः' 'उत्पूर्वः' लुप्यते । "प्रत्युत्तब्ध्ये
सयत्वाय"⁶ । व्यञ्जनमस्मात् परमिति व्यञ्जनपरः । एवम्पूर्व इति किम्?
'जगत्स्था देवाः'⁷ । सकार इति किं? 'उत्क्र३स्यते स्वाहा'⁸ ।
एवम्पर इति किं? 'उत्सादेन निहामवक्रन्देन'⁹ ॥ १४ ॥

उदिति पदे पूर्वं व्यञ्जनपरस्सकारो लुप्यते । 'ज्योतिषा
दिवमुत्तमान'¹⁰ । "उत्थास्यते स्वाहा"¹¹ । उत्पूर्व इति किम्?
'मा वस्स्तेन ईशत'¹² । व्यञ्जनपर इति किम्? 'देवस्त्वा सचि-
तोत्सृजतु'¹³ । ननु मूलशास्त्रे "उदस्थास्तम्भ्योः पूर्वस्य"¹⁴
इति स्थास्तम्भ्योरेव सकारस्य पूर्वसवर्णादेशपूर्वको लोपस्म-
र्यते । इह तु व्यञ्जनपर इति सामान्येनोक्तम् । ततोऽन्यस्यापि
लोपः प्राप्नोति । 'पुनस्त्यूतं वासः'¹⁵ । 'शृत उत्स्राति जनि-

¹ सं. १-१-१. ² सं. १-१-१३. ³ सं. १-६-१२. ⁴ इति तदपवादः.

⁵ सं. १-७-२. ⁶ ,, १-४-२२. ⁷ सं. ६-६-४. ⁸ सं. २-१-११.

⁹ ,, ७-१-१२. ¹⁰ ,, ५-७-११. ¹¹ ,, ४-६-५. ¹² ,, २-३-१०.

¹³ सकार इति किम्? "उत्क्रामोदक्रमीत्" (सं. ६-१-३.) इत्यपि काचित्कः पाठः.

¹⁴ पा. ६-४-६१. ¹⁵ सं. १-६-२.

ता मतीनाम्^१ । इति । नैप दोषः । न ह्यत्र मूलशास्त्रसिद्धं पद-
परिमाणमिष्यते । अपि तु समाम्नानप्रसिद्धमेव । तेन पुनरु-
त्स्यूतमित्यत्र उच्छब्दस्य पदैकदेशत्वात् प्रसङ्गः । नापि श्रुत
उत्सृतातीत्यत्र प्रसङ्गः । संहिताग्रन्थमात्रविषयत्वादस्य शास्त्र-
स्य । इह तर्हि 'उदायुपा स्वायुपा' इत्यनुवाके स्वायुपोदिति
क्रमस्य^३ जटायां स्यात् "स्वायुपोदुद्धायुपा स्वायुपोत्"^२ इति ।
अत्रोच्यते—

नासमाम्नातरूपस्य^४ प्रातिशाख्यं प्रवर्तकम् ।

जटा ततोऽसमाम्नाता नास्य शास्त्रस्य गोचरः ॥

त्रिविधो हि समाम्नायः समाम्नायते । संहिताम्नायः पदाम्नायः
क्रमाम्नाय इति । जटा तु न कदाचित्समाम्नायते । किन्त्व-
भिद्वैर्जातुचित्प्रयुज्यते । तदुक्तं शीक्षायाम्—

प्रातिशाख्यादिशास्त्रज्ञः सर्वशीक्षाविशारदः ।

बुद्धिशक्तिसमेतो यः स जटां वक्तुमर्हति ॥

कार्यं व्याकरणेऽनुक्त समाम्नानवलात्कचित् ।

दृष्टं ह्यनुविधातव्यं नानाऽऽम्नातं च^५ कल्प्यते ॥

छन्दोवैशेषिकं कार्यं यच्च व्याकरणादिषु ।

स्मर्यते हेतुरत्रापि समाम्नानबलं खलु ॥

तस्मादसमाम्नातसन्धिषु छन्दोवैशेषिकं व्याकरणानुक्तं च कार्यं
नारोपयितव्यम् । किञ्च—जटा नास्य शास्त्रस्य विषय इत्येकाद-
शाध्याये—“राये स इन्द्रः पूर्वः” (११-९) इति सूत्रे स्पष्टं

^१ भा. १-७-५. ^२ सं. १-२-८. ^३ व्युत्क्रमस्य. ^४ समाम्नातस्य रूपस्य.

भविष्यति । तस्मान्नात्रत्यानि कार्याणि जटायामसमान्नातसन्धिषु
निवेशयितव्यानि । ये च “अविमः पितः” (८-८) इत्यादीनां विधू-
यस्तेषामपि जटायतिरिक्तविषयाः तत्रतत्र दर्शयिष्यन्त इत्यलं
प्रसङ्गेन^१ ॥ १४ ॥

एष स स्य इति च ॥ १५ ॥

व्यक्तिविषयः^२ इतिशब्दः प्रत्येकमेव इत्यादीन् विसर्जनीया-
न्तान्^३ द्योतयति । चकारो व्यञ्जनपरतामन्वादिशति । एषः, सः,
स्यः एषु पदेषु विसर्जनीयो व्यञ्जनपरो लुप्यते । यथा—‘एष
ते गायत्रः’^४ । ‘स ते जानाति’^५ । ‘एष स्य वाजी’^६ ।
एवम्पर इति किं ? ‘दम एवास्यैव उप तिष्ठते’^७ । ‘स
इधानः’^८ ॥ १५ ॥

चशब्देन व्यञ्जनपर इत्यन्वादिश्यते । एषः । सः । स्यः ।
इत्येतानि पदानि लुप्यन्ते व्यञ्जने परतः । अत्रान्त्यो वर्णो लुप्यते
“वर्णस्य विकारलोपौ” (१-१६) इति परिभाषणात् । ‘एष वै
देवरथः’^९ । ‘एष ते यज्ञो यज्ञपते’^{१०} । ‘स खदिरोऽभवत्’^{११} ।
‘स गिरिमुदैत्तमाशिरजूदैत्’^{१२} । ‘एष स्य वाजी’^{१३} । ‘अयमुप्य प्र
देवयुः’^{१४} । अन्वादेशेन किम् ? ‘यस्यैव उपधीयते’^{१५} । ‘स इन्द्रोऽ-

^१ प्रसङ्गेन.^२ व्यक्तिविशिष्टः.^३ इत्यादीनां विसर्जनीयान्.^४ स. ३-१-२.^५ स. १-२-१४.^६ सं. १-७-८.^७ सं. १-५-७.

॥ ” ४-४-४.

^८ ” २-५-६.^९ ” १-४-४४.^{१०} ” ३-५-७.^{११} ॥ २-३-३.^{१२} ” ५-६-११.^{१३} ” ५-६-२.

३.

मन्यत^१ । नन्वत्रापि यकारदेशपूर्वको लोपोऽस्तीति कथं
प्रत्युदाहरणम्? उच्यते—यकारलोपे हि “परश्च” (१०-२९)
इति सन्धिकार्यनिषेधादिष्टरूपसिद्धिः । विसर्जनीयस्य साक्षालोपे
सन्धिकार्यप्रसङ्गादनिष्टरूपापत्तिः ॥ १६ ॥

नासः ॥ १६ ॥

‘असः’ इत्यस्मिन् ग्रहणे विसर्जनीयः व्यञ्जनपरो, ‘न’ लुप्यते ।
‘ह्रस्वसो मयोभून्’^२ । ‘अप्यकारादि’ (१-५२) इतिप्राप्ते-
निषेधः^३ ॥ १६ ॥

अस इति पदं व्यञ्जने परतः न लुप्यते । ‘ह्रस्वसो
मयोभून्’^२ । “अप्यकारादि” (१-५२) इति प्राप्तिः ॥ १६ ॥

इद्विदग्रइमांनएनौपधीःपरस्सः ॥ १७ ॥

इदु, इदग्ने, इमां नः, एना, औपधीः इत्येवंपरः ‘सः’
इत्यत्र विसर्जनीयो लुप्यते । यथा—‘सेदु होता’^४ । ‘सेदग्ने अस्तु’^५
उ, अग्ने इत्येताभ्यां किं? ‘स इज्जनेन’^६ । ‘स इद्देवेषु गच्छति’^७ ।
‘सेमां नो हव्यदातिम्’^८ । न इति किं? ‘स इमामप्यमृशन्ते’^९

^१ सं. ७-१-६.

^२ सं. ४-२-११.

^३ इति प्राप्तिः.

^४ „ १-१-१४.

^५ सं. १-२-१४.

^६ सं. २-२-१४.

^७ „ ४-१-११.

^८ „ ४-६-६.

^९ „ ५-५-३.

‘सैनाऽनीकेन’^१ । ‘सौपधीरनु रुध्यसे’^२ । स इति किं? ‘परो दिवा पर एना’^३ ॥ १७ ॥

इदु । इदग्ने । इमां नः । एना । ओपधीः । इत्येतेषु परतः स इति पदं लुप्यते । अव्यञ्जनपरार्थं वचनम् । ‘सेदु होता’^४ । ‘सेदग्ने अस्तु’^५ । उ अग्ने इत्युपवन्धाभ्यां किम्? ‘स इज्जनेन’^६ । ‘सेमां नो हव्यदातिम्’^७ । न इत्युपवन्धेन किम्? ‘स इमामभ्यमृशत्’^८ । ‘सैनाऽनीकेन’^१ । ‘सौपधीरनु रुध्यसे’^२ ॥ १७ ॥

अवग्रह इत्येकम् ॥ १८ ॥

इतिशब्दविशिष्टे ‘एकम्’ इत्यस्मिन् ‘अवग्रहे’ मकारो लुप्यते । यथा—‘इत्येकैकं तस्य जुहयात्’^९ । अवग्रह इति किं? ‘इत्येकमग्रेऽथ’^{१०} । इतिशब्दविशिष्ट इति किं? ‘यदेकमेकं सं भरेत्’^{११} ॥ १८ ॥

इतिशब्दोपवन्धात्पर^{१२} एकमित्यवग्रहः संहितायां लुप्यते । ‘पापीयान्तस्यादित्येकैकम्’^९ । अवग्रह इति किम्? ‘अर्धुकइ स्यादित्येकमग्रे’^{१०} । इतीत्युपवन्धेन किम्? ‘यदेकमेकं सं भरेत्’^{११} ॥ १८ ॥

१ सं. ४-३-१३.

२ सं. ४-२-३.

३ सं. ४-६-२.

४ सं. १-१-१४.

५ सं. १-२-१४.

६ सं. २-२-१४.

७ „ ४-६-६.

८ „ ५-५-२.

९ „ ५-१-१.

१० „ ६-२-३.

११ „ १-६-६.

१२ इतिशब्दादुपवन्धात्परः.

तिष्ठन्त्येकया सपूर्वः ॥ १९ ॥

तिष्ठन्तिशब्दविशिष्टे 'एकया' इत्यस्मिन् ग्रहणे^१ अन्त्यो वर्णः
 'सपूर्वः' पूर्वसहितः लुप्यते । यथा—'तिष्ठन्त्येकैकयाऽस्तुतया
 समायन्ति'^२ । तिष्ठन्तीति किं? 'करोत्येकैकयोत्सर्गम्'^३ ।
 पूर्वेण सह वर्तते इति सपूर्वः ॥ १९ ॥

तिष्ठन्तीत्युपबन्धात्परमेकयेति पदं लुप्यते । एकयेत्यस्य
 अयग्रहत्वात् उत्तरपदसंहितायां अन्त्यवर्णो लोपमर्हति । स इह
 सपूर्वः पूर्वेण उपान्त्येन वर्णेन सहितो लुप्यते । "प्रति तिष्ठ-
 न्त्येकैकया"^४ । तिष्ठन्तीति किम्? 'करोत्येकैकयोत्सर्गम्'^५ ॥*

नकारश्चाकारं चपरः ॥ २० ॥

चकारपरः 'नकारः' 'शकारम्' आपद्यते । यथा—'अही२श्च
 सर्वाजम्भयन्'^६ । 'ऋतू२श्च तस्य नक्षत्रियां च'^७ । 'क-
 र्णा२श्चाकर्णा२श्च'^८ । नकार इति किं? 'शं च मे'^९ । चपर
 इति किं? 'ताञ्छन्दोभिरन्वविन्दत्'^{१०} । चकारः परो यस्मादसौ
 चपरः ॥ २० ॥

*एष स स्य इत्यदिचतुर्षु सूत्रपूर्वा लोपनिषेधा मङ्गाया घोष इति। इक्षु-
 ण्या पदान्त्यस्यैव । इह तु पदान्तोपान्तमयोर्लोपेति विंशत्यः ।
 इत्यधिकः पाठः ॥

^१ अयग्रहः.^२ छ. ७-५-८.^३ छ. ६-१-९.^४ ॥ ४-५-१.^५ ॥ ७-१-३.^६ ॥ १-८-९.^७ ॥ ४-३-३.^८ ॥ १-५-९.

चपर इत्यत्रापि अकारान्तो व्यञ्जननिर्देशः । 'नायन्नैरयन्' (१-२१) इति प्रतिषेधसामर्थ्यात् । पदान्तो नकारः शकारमादेशमश्रुते चकारे पदादौ परतः । यथा—'भुवो नृश्चयौतः'^१ । 'स-जाताश्चचावयति'^२ । 'वृत्रान्मश्चरेत्'^३ । चपर इति किम् ? 'तामाहरत्'^४ ॥ २० ॥

नायन्नैरयन्नाधुर्वन्ननङ्गान्धृणीवान्वारुणाने-
वास्मिन् ॥ २१ ॥

आयन्, ऐरयन्, आधुर्वन्, अनङ्गान्, धृणीवान्, वारुणान्, एवास्मिन् एतेषु ग्रहणेषु नकारः शकारं नापद्यते, चपरोऽपि । यथा—'लोकमायञ्चतस्तः'^५ । 'यामैरयञ्चन्द्रमसि'^६ 'आधुर्वञ्चरुणाऽस्मिन्'^७ । 'अनङ्गाश्च मे धेनुश्च मे'^८ । 'धृणीवाञ्चेतति त्मना'^९ । 'वारुणाञ्चतृक्पालान्निर्वपेत्'^{१०} । 'एवास्मिञ्चदुर्धतः'^{११} । एवेति किं ? 'अस्मिञ्श्चामुष्मिञ्श्च'^{१२} ॥ २१ ॥

आयन्नित्यादिषु नकारदशकारं नाश्रुते चकारे पदादौ परतः । आयन्—'लोकमायञ्चतस्तः'^५ । ऐरयन्—'यामैरयञ्चन्द्रमसि'^६ । आधुर्वन्—'लोक आधुर्वञ्चरुणाऽस्मिन्'^७ । अनङ्गान्—'अनङ्गाश्च मे' ।

^१ सं. ३-४-११.^२ सं. २-२-५^३ सं. २-४-१३.^४ ,, ७-१-८.^५ ,, ५-२-३.^६ ,, १-१-९.^७ ,, ५-५-१.^८ ,, ४-३-१०.^९ ,, ३-६-११.^{१०} ,, २-३-१२.^{११} ,, २-२-९.^{१२} ,, ७-३-४.

नात् । 'तेनैवैनाञ्छमयति'¹ । चकारपरत्वे तु यत्र शकारा-
देशः प्रतिषिद्धस्तत्रैव विधिः प्रवर्तत इत्यविरोधः । 'यामैरय-
ञ्चन्द्रमसि'² । 'क्षुरो भृज्वाञ्छन्दः'³ । 'असुराजयाम'⁴ । एतेष्विति
किम् ? 'तान्कल्पयति'⁵ ॥ २४ ॥

लपरौ लकारम् ॥ २५ ॥

द्विवचनसामर्थ्यात् गृहीतौ प्रकृतौ तकारनकारौ 'लकारम्'
आपद्येते । 'लपरौ' यथा—'यल्लोहितं पराऽपतत्'⁶ । 'त्रील्लो-
कानुदजयत्'⁷ । लकारः⁸ परः थाभ्यां तौ लपरौ ॥ २५ ॥

आसन्नौ तकारनकारौ लकारमादेशमश्नुवाते लकारे पदादौ
परतः । 'उक्षत्येभ्य एवैनल्लोकेभ्यः'⁹ । 'छन्दोभिरिमांल्लो-
कान्'¹⁰ ॥ २६ ॥

नकारोऽनुनासिकम् ॥ २६ ॥

'अनुस्वारोत्तमा अनुनासिकाः' (२-३०) इति नकारस्यानु-
नासिकत्वे सिद्धे पुनरत्रापि तत्कथनमनुपपन्नम् । तस्मादत्र लक्षण-
या 'नकारः' नाम तत्स्थानो लकार इत्यर्थः । असौ 'अनुना-
सिकं' भजते । पूर्वोक्तिमेवादाहरणम् ॥ २६ ॥

१ सं. ३-४-८.

२ सं. १-१-९.

३ सं. ४-३-१२.

४ सं. २-४-१.

५ सं. ५-३-१.

६ ,, २-१-७.

७ ,, १-७-११.

८ लः.

९ ,, १-६-६.

१० ,, १-७-५.

नकारस्य तु अत्र विशेषमाह-नकारो लपरोऽनुनासिकं लकारमादेशमश्रुते । न तु शुद्धम् । तथैवोदाहृतम् ॥ २६ ॥

मकारस्पर्शपरस्तस्य सस्थानमनुनासिकम् ॥ २७ ॥

‘स्पर्शपरः’ ‘मकारः’ ‘तस्य’ स्पर्शस्य, ‘सस्थानमनुनासिकं’ भजते । यथा—‘यङ्कामयेत’^१ । ‘शञ्च मे’^२ । ‘दीक्षितदण्डम्प्र यच्छति’^३ । ‘तन्ते दुश्चक्षाः’^४ । ‘तम्प्रत्नथा’^५ । समानं स्थानं यस्यासौ सस्थानः, तम् । स्पर्शः परो यस्मादसौ स्पर्शपरः ॥ २७ ॥

मकारः पदादौ स्पर्शं परतस्तस्य स्पर्शस्य समानस्थानमनुनासिकमश्रुते । ‘यङ्कामयेत’^१ । ‘त्यचङ्गुक्षीप्व’^२ । ‘तद्देदग्निः’^३ । ‘पौष्णश्चरुम्’^४ । ‘तच्छन्दसाञ्छन्दस्त्वम्’^५ । ‘यज्जोवमश्चयामहै’^६ । ‘तन्ते दुश्चक्षाः’^७ । ‘तन्देवाः’^८ । ‘प्रथमन्धातारं करोति’^९ । ‘तम्प्रत्नथा’^{१०} । ‘तम्भागधेयेन’^{११} । स्पर्शपर इति किम् ? ‘प्रेयमगाद्विपणा’^{१२} । पदसंहिताविधौ घचनात् ‘अर्यम्णे’^{१३} ‘धास्त्रेधास्त्रे’^{१४} इत्यपदान्तस्य न भवति ॥

- ^१ सं. १-६-१०. ^२ सं. ४-७-३. ^३ सं. ६-१-४. ^४ सं. ३-२-१०.
^५ सं. १-४-९. ^६ सं. १-१-८. ^७ सं. २-६-११. ^८ सं. १-८-२.
^९ सं. ५-६-६. ^{१०} सं. ४-२-६. ^{११} सं. ७-३-५. ^{१२} „ ३-४-९.
^{१३} „ २-२-६. ^{१४} सं. १-१-२. ^{१५} „ २-३-४. ^{१६} „ १-१-१०.

घृणीवान्—‘घृणीवाञ्चेतति त्मना’^१ । वारुणान्—‘तावतो वारुणाञ्च-
तुप्कपालान्’^२ । पवास्मिन्—‘तावेवास्मिञ्चक्षुर्धत्तः’^३ । एवेत्युपवन्द्येन
किम् ? ‘अस्मिञ्श्चामुष्मिञ्श्च’^४ ॥ २१ ॥

तकारश्चकारश्च छपरः ॥ २२ ॥

‘शचछपरस्तकारश्चकारम्’ आपद्यते । यथा—‘तच्छयोः’^५
‘तच्चादद्दुः’^६ । ‘तच्छन्दसाम्’^७ । अत्र शचछपर इति सामा-
न्येनोक्तानां निमित्तानां प्राकृतत्वं विज्ञेयम्, मुख्यत्वात् । प्राकृत-
वेकृतयोः प्राकृतं मुख्यम् । अन्यथा शकारग्रहणवैयर्थ्याच्च । कुतो
वैयर्थ्यम् ? ‘स्पर्शपूर्वशकारश्चकारम्’ (१-३४) इति शका-
रस्य छत्वे कृते ‘तकारश्चकारं चछपरः’ इत्येतावन्तैव सिद्धिरिति ब्रूमः ।
किञ्च—परसूत्रे सति प्रवृत्ते पश्चात् पूर्वसूत्रप्रसरणं न स्वरसम् ।
‘तत्र पूर्वंपूर्वं प्रथमम्’ (१-३) इति नियमभङ्गप्रसङ्गात् ॥ २२ ॥

तकारश्चकारमादेशमश्रुते श, च, छ इत्येतेषु व्यञ्जनेषु पदा-
दिषु परतः । ‘यच्छद्यामाकः’^८ । ‘यच्चिचिदि ते’^९ । ‘आच्छ-
च्छन्दः’^{१०} । एतत्पर इति किम् ? ‘यज्ञस्य घोषदसि’^{११} ॥ २२ ॥

१ घ. ३-५-११.

२ घ. २-३-१२.

३ घ. २-२-५.

४ घ. ५-३-६.

५ घ. २-६-१०.

६ घ. २-१-५.

७ घ. ६-५-६.

८ घ. २-३-३.

९ घ. ३-४-११.

१० घ. ४-३-१३.

११ घ. १-१-२.

जपरो जकारम् ॥ २३ ॥

सान्निध्यात्तकार इति लभ्यते । ‘जपरः’ तकारः ‘नकारम्’ आप्नोति^१ । यथा—‘तज्जयानां जयत्वम्’^२ । एवम्पर इति किं ? ‘तत्प्रवाते’^३ ॥ २३ ॥

जपर इति तकारस्य विशेषणम् । न नकारस्य । ‘आसन्नसन्देहे’ (१-२६) इति वचनात् । तकारो जकारमश्नुते जकारे पदादौ परतः । ‘अश्वेरहमुज्जितिमनूजोपम्’^४ ॥ २३ ॥

नकार एतेषु ञकारम् ॥ २४ ॥

एतेष्विति बहुवचननिर्देशात् प्रत्यासन्नसूत्रद्वयस्थेषु^५ परनिमित्तेषु सम्प्रत्ययः । तस्मात् ‘एतेषु’ इति शचछजेषु परत इत्यर्थः । ‘नकारो ञकारम्’ आपद्यते । यथा—‘तेनैवैनाञ्छमयति’^६ । शत्वापत्तौ निपिद्धो यो नकारः सोऽत्र चपरत्वेन विपयीक्रियते । ‘लोकमायश्चतस्रः’^७ । ‘ताञ्छन्दोभिरनु’^८ । ‘अपरूपमात्मजायते’^९ । एवम्पर इति किं ? ‘तान्धसुब्धान्’^{१०} ॥ २४ ॥

एतेष्विति शचछजाः प्रत्ययमृश्यन्ते । न त्वासन्नस्य जकारस्य व्यक्तिभेदा गृह्यन्ते । “अनेकस्यापि” (१-२६) इति वच-

^१ आपद्यते.^२ सं. ३-४-४.^३ सं. ६-४-७.^४ सं. १-६-४.^५ प्रत्यासन्नमेवानपेक्ष्य, प्रत्यासन्नमेवापेक्ष्य.^६ सं. ३-४-८.^७ सं. ६-२-३.^८ सं. १-५-९.^९ सं. ३-६-७.^{१०} सं. २-४-१.

अन्तस्थापरश्च सवर्णमनुनासिकम् ॥

चकारो मकारमन्वादिशति । 'अन्तस्थापरः' मकारस्तस्या
अन्तस्थायाः 'सवर्ण' सदृशं, 'अनुनासिकम्' अनुनासिकधर्मवि-
शिष्टं भजेते । यथा—'सथ्यत्ता आसन्'^१ । 'सुवर्गल्लोकम्'^२
'सव्यत्तरः'^३ । नन्वनुनासिकमित्यनेन सानुनासिकं कथमुपलभ्यते^४ ?
उच्यते नितरां परिहारः—यतो धर्मवाचकः शब्दो धर्मिणमपि
कथयति 'शुक्लः पटः । नीलमुत्पलम्' इत्यादि^५ ॥ २८ ॥

चशब्दो मकारमन्वादिशति । सोऽन्तस्थासु पदादिषु पर-
तस्तासां सवर्णमनुनासिकमादेशमश्नुते । अत्र पारिभाषिकसव-
र्णसम्भवाद्द्वैतकिकं सवर्णमाश्रित्य तां तामन्तस्थां अनुनासिकमश्नुत
इति विक्षेपः । 'सथ्यत्ताः'^१ । 'सुवर्गल्लोकम्'^२ । 'प्रजवय्वै'^३ ।
पदसंहिताधिकारात् 'भूम्या वृत्वाय नो ब्रूहि'^४ इत्यादौ न
भवति ॥ २८ ॥

न रेफपरः ॥ २९ ॥

अन्तस्थात्त्राद्रेफस्य तत्परस्यापि मकारस्य तत्सवर्णानुनासिका-
पत्तिः प्राप्ता अनेन प्रतिपिब्यते । 'न' खलु मकारो 'रेफ-

^१स. १-५-१.^२स. १-५-४.^३कथमुपलभ्यते.^४इत्यादिवत्.^५सं. ७-३-१.^६स. ४-३-२.

परः' पूर्वोक्तं भजते । यथा—'प्रसम्राजम्'^१ । 'साम्राज्याय
सुक्रतुः'^२ । रेफः परो यस्मादसौ रेफपरः ॥ १९ ॥

रेफे परतः मकारोऽनुनासिकरेफं नाश्रुते । 'त्वक्षराज-
न्ग्रह्याऽसि'^३ । 'सम्राजोरच आ वृणे'^४ ॥ २० ॥

यवकारपरश्चैकेपामाचार्याणाम् ॥ ३० ॥

वकारो निषेधान्वादेशकः^५ । प्रकृतो मकारः 'एकेपामाचा-
र्याणां' पक्षे यकारपरः वकारपरो वा न सवर्णमनुनासिकं भजते
यथा—'संयत्ताः'^६ । 'संवधस्वरः'^७ ॥ ३० ॥

चशब्दो निषेधमन्वादिशति । यश्च वकारश्च यवकारौ ।
केषां चिदाचार्याणां मते यवकारपरो मकारः परसवर्णमनुना-
सिकं नाश्रुते । पूर्वतरसूत्रोक्तमेवोदाहरणम् ॥ ३० ॥

उत्तमलभावात्पूर्वोऽनुनासिक इत्यात्रेयः ॥

उत्तमस्य नकारस्य मकारस्य वा 'लभावात्' लकारापत्तेः,
पूर्वस्वरः 'अनुनासिकः' भवतीति आत्रेयो नाम मुनिः मन्यते ।
यथा—'त्रीछोकान्'^८ । 'सुवर्गछोकम्'^९ । उत्तमयोर्लभावः उत्त-
मलभावः, तस्मात् । सूत्रद्वयमेतदनिष्टम् ॥ ३१ ॥

^१सं. १-६-१२.

^२सं. १-८-१६.

^३सं. २-५-१२.

^४निषेधाकर्षकः.

^५सं. १-५-१.

^६सं. १-७-११.

^७सं. १-५-४.

^८

^९

योऽयमुत्तमसंज्ञयोर्नकारसकारयोर्लभाव उक्तः “नकारोऽनु-
नासिकम्” (६-२६) “अन्तस्थापरश्च सवर्णमनुनासिकम्”
(६-२८) इति स लकारोऽनुनासिको न भवति । किन्तु ततः
पूर्वस्वरोऽनुनासिकमित्यात्रेयो मन्यते । ‘त्रैल्लोकानुदजयत्’^१ ।
‘तँल्लोकं पृणयोपैत्’^२ । नेदं सूत्रद्वयमिष्टम् ॥ ३१ ॥

उपूरुवः ककारस्सपकारपरः ॥ ३२ ॥

‘सकारपरः’ ‘पकारपरः’ वा ‘ककारः’ आगमो भवति,
‘ङकारपूर्वः’^३ । यथा—‘प्रत्यङ्क् सोमो अतिद्भुतः’^४ । ‘प्रत्य-
ङ्क् पडहः’^५ । एवम्पर इति किं? ‘प्रत्यङ्क् होतारम्’^६ । एव-
म्पूर्व इति किम्? ‘तद्धसवितुः’^७ । ‘यथोडशी गृह्यते’^{८-९} ॥

ङकारात्परः ककार आगमो भवति सकारपकारयोः पदा-
योः परतः । ‘सहङ्गमानैः’^{१०} । ‘प्रत्यङ्गुडहः’^{११} । सपकारपर
इति किम्? ‘पराद् घाव यश्च षति’^{१२} ॥ ३२ ॥

टनकारपूर्वश्च तकारः ॥ ३३ ॥

नकारः सपकारावन्वादिशति । टकारपूर्वः वा नकारपूर्वः
वा तकारः आगमो भवति, सपकारपरः । यथा—‘वपटूष् स्वाहा’^{१३} ।

^१ ग. १-७-११.

^२ सं. ५-७-५.

^३ उपूरुवः.

^४ सं. १-८-२१.

^५ सं. ७-८-२.

^६ „ ६-३-१.

^७ „ १-५-६.

^८ सं. ६-६-११.

^९ ‘तत्पेडाग्यभावः’ (६-६-११)

^{१०} „ २-२-८.

^{११} „ १-७-६

^{१२} „ ७-३-१२.

‘विद्वान्थु सोमेन यजते’^१ । “अनूयाजो पठ् पडनूयाजावनू-
याजो पट्”^२ । एवम्पर इति किं? ‘पड्वा . कृतवः’^३ । ‘ता-
न्तुद्रा अन्नुवन्’^४ ॥ ३३ ॥

अशब्देन सपकारपर इत्यम्बादिश्यते । एतकारयोः पद्वा-
न्तयोः पूर्वयोः सतोः सकारपकाराभ्यां पूर्वस्तकार आगमो भ-
वति । ‘पट्धुम्पद्यन्ते’^५ । ‘पितरं च प्रयन्थसुवः’^६ । पकारोदाहरणं
शाखान्तरे । एतत्पूर्वं इति किम्? “तथ्सवितुः”^७ “तथ्योडशी”^८ ।
ननु शकाराद्यागमसन्निधिमतीत्य किमर्थमेतावागमाविह पृथगु-
च्येते? अयताम्—अभक्ताश्शकाराद्यागमास्ते । एतौ तु यथा-
क्रमं पूर्वोत्तराङ्गभूताविति व्यापनार्थम् । तथा मूलशाखे
‘ङोः कुक् डुक् शरि’^९ इति ककारः कित्कृतः । धकारस्तु^{१०} “डस्सि-
धुद्”^{११} “नध्”^{१२} इति टित्कृतः ॥ ३३ ॥



स्पर्शपूर्वदशकारश्छकारम् ॥ ३४ ॥

शकारश्छकारं आपद्यते स्पर्शपूर्वः । यथा—‘शरच्छ्रोत्री’^{१०} ।
एवम्पूर्वं इति किं? ‘आशुशिशशानः’^{११} । स्पर्शः पूर्वः यस्मादसौ
स्पर्शपूर्वः ॥ ३४ ॥

^१ म. ३-२-२.

^२ म. ६-६-३.

^३ म. ५-५-२.

^४ ,, १-१-२.

^५ म. १-५-२.

^६ पञ्चमो संवत्स-

रस्य षष्ठो’ (त. सं. ५-७-२१.) इति पाठान्तरम्

^७ म. ६-६-११.

^८ पा. ८-३-२८, २९, ३०.

^९ यत्तारस्तु.

^{१०} म. ४-३-२.

^{११} ,, ४-६-४.

स्पर्शे पदान्ते पूर्वे शकारः छकारमश्रुते । ‘यच्छयामाकः’^१।
 “अनुष्टुप्छारदी”^२ । स्पर्शपूर्वं इति किम् ? ‘सुश्लोकाश्म्’^३ । “पुरा
 क्रूरस्य विसृपो विरप्तिशन्”^४ इत्यत्र तु न भवति अपदान्त-
 त्वात् ॥ ३४ ॥



न मकारपूर्वः ॥ ३५ ॥

‘मकारपूर्वः’ शकारश्छकारं नापद्यते । यथा—“सश्शितं मे
 ब्रह्म”^५ । “सश्श्रवा ह”^६ । स्पर्शत्वान्मकारस्य तत्पूर्वे शकारे प्राप्तं
 छत्वमेनेन निषिध्यते । नन्वेतदनुपपन्नम् ; ‘रेफोप्मपरः’ (१३-२)
 इति मकारस्य लोपविधानान्न शकारस्य छत्वापत्तिनिमित्तमस्तीति ।
 मैवम् । छत्वापादकमलोपसूत्रयोश्छत्वापादकस्यैव पूर्वत्वात् ‘तत्र
 पूर्वम्’ (५-३) इति न्यायेन छत्वमेव कर्तव्यं स्यात् । तथा
 सति ‘मकारः स्पर्शपरस्तस्य’ (५-२७) इति मकारे
 जत्वमापन्ने ‘सञ्छितं मे ब्रह्म’^७ इति स्यात् । तन्मा भूदित्येतत्सू-
 त्रमुपपन्नमेव ॥ ३५ ॥

मकारे पूर्वं शकारश्छकारं नाश्रुते । ‘सश्शिशशाधि’ ॥



^१छ. २-३-३.

^२छ. ४-३-२.

^३म. १-८-१६.

^४” १-१-५.

^५” ४-१-१०.

^६” १-७-२.

^७” ४-१-७.

पकारपूर्वश्च वाल्मीकेः ॥ ३६ ॥

चकारः प्रतिषेधाकर्षकः । 'वाल्मीकेः' मते 'पकारपूर्वः' शकारश्छत्वं नापद्यते । यथा—'अनुष्टुप्शारदी' ॥ ३६ ॥

चशब्दो नेत्यन्यादिशानि । पकारे पदान्ते पूर्वे शकारः छकारं नाश्रुते वाल्मीकेर्मतान् । "अनुष्टुप्शारदी" । अत्र पकारस्य द्वितीयादेशः ॥ ३६ ॥

व्यञ्जनपरः पौष्करसादेर्न पूर्वश्च जकारम् ॥ ३७ ॥

'पौष्करसादेः' मते 'व्यञ्जनपरः' शकारः स्पर्शपूर्वोऽपि छत्वं नापद्यते । शकारात् 'पूर्वः' नकारश्च 'जकारं' न आपद्यते । यथा—'आदित्यान् श्मश्रुभिः' ^१ । 'पापीयान् श्रेयसे' ^२ पूर्व इत्युक्ते नकार इति कथं लभ्यते? जकारापत्तिरस्यैवेति द्रुमः । प्रसक्तस्यैव हि प्रतिषेधः । व्यञ्जनं यस्मात् परमिति व्यञ्जनपरः । नेतत् सूत्रद्वयमिष्टम् ॥ ३७ ॥

व्यञ्जनपरः शकारः छकारं नाश्रुते पौष्करसादेर्मतान् । शकारात्पूर्वश्च वर्णो जकारं नाश्रुते । अत्र शकारे परतो नकारस्यैव अत्यविधानात्पकारपूर्वकशकारविषयकमिदं सूत्रम् । 'पुरीषमिष्टका उपधास्यन् भ्वेतमभ्वमभिमृशेत्' ^३ । नेदं सूत्रद्वयमिष्टम् ॥

^१ स. ४-३-२.

^२ स. ५-७-१२.

^३ स. १-५-७.

^४ स. ५-७-१.

प्रथमपूर्वो हकारश्चतुर्थं तस्य सस्थानं प्ला- क्षिकौण्डिन्यगौतमपौष्करसादीनाम् ॥

प्राक्षिप्रभृतीनां मते 'प्रथमपूर्वो हकारः' 'तस्य' प्रथमस्य 'सस्थानं' 'चतुर्थं' भजते । यथा—'अर्वाग्न्येनम्'^१ । 'सर-
दू वा अश्वस्य'^२ । 'तद्धिरण्यम्'^३ । एवम्पूर्वं इति किं? 'प्रत्यङ्
'होतारम्'^४ । हकार इति किं? 'वाक्त आ प्यायताम्'^५ 'वपङ्गे'^६
'तत्ते'^७ । प्रथमः पूर्वो यस्मादसौ प्रथमपूर्वः ॥ ३८ ॥

प्रथमे पदान्ते पूर्वं हकारस्तस्य प्रथमस्य समानस्थानं
चतुर्थमादेशमश्रुते । 'अर्वाग्न्येनम्'^१ । 'सरदू वै'^२ । 'इन्द्रमिन्द्र-
रा'^३ । प्रथमपूर्वं इति किम्? 'रुद्रस्य हेतिः'^४ । 'एतान् होमान्'^५ ।
प्लाक्ष्यादिग्रहणं तेषां पूजार्थम् । न स्वमतपर्युदासार्थम् ॥ ३८ ॥



अविकृत एकेषाम् ॥ ३९ ॥

'एकेषां' मते प्रथमपूर्वो हकारः 'अविकृतः' भवति । यथा—
'अर्वाग्न्येनम्'^१ ॥ ३९ ॥

एकेषां मते प्रथमपूर्वो हकारो न विक्रियते । प्रथमस्य तु
वक्ष्यमाणविधिना वृत्तियादेशः पूर्ववद्भवत्येव । 'अर्वाग्न्येनम्'^१ ।
'सरदू वै'^२ । 'इन्द्रो वहतः'^३ ॥ ३९ ॥

^१ स. ६-३-३.

^२ स. ५-३-२२.

^३ स. ५-४-२.

^४ स. ६-३-२.

^५ स. १-३-९.

^६ सं. २-२-१२.

^७ सं. १-४-३८.

^८ सं. २-१-१.

^९ स. २-५-४.

चतुर्थोऽन्तरे शैत्यायनादीनाम् ॥ ४० ॥

‘शैत्यायनादीनां’ मते हकारप्रथमयोः ‘अन्तरे’ मध्ये, प्रथमसंस्थानः ‘चतुर्थः’ आगमो भवति । यथा—‘अर्वाग्व्येनं परैः’^१ । आदिशब्देन कौहलीपुत्रभरद्वाजस्यविरकौण्डिन्यपौष्करसादयो गृह्यन्ते ॥

शैत्यायनादीनां मते अन्तरे प्रथमहकारयोर्मध्ये चतुर्थं आगमो भवति । अत्रापि प्रथमस्य तृतीयादेशो भवत्येव । “अर्वाग्व्येनम्”^१ ॥ ४० ॥

—०—

मीमांसकानां च मीमांसकानां च ॥

चकारः पूर्वोक्तविधिमन्वादिशति । ‘मीमांसकानां’ चान्तरागममतं^२ सम्मतम् । पूर्वमेवोक्तमुदाहरणम् । मीमांसकानां पूजार्थं पृथक् सूत्रारम्भः । नैतत् सूत्रत्रयमिष्टम् ॥ ४१ ॥

इति त्रिभाष्यरत्ने प्रातिशाख्यविवरणे पञ्चमोऽध्यायः.

अशब्दोऽनन्तरोक्तं चतुर्थमागममन्वादिशति । मीमांसकाः केचिदप्यस्तेषामपि मताश्चतुर्थागमो भवति । नेदं सूत्रत्रयमिष्टम् ॥ ४१ ॥

इत्याचार्यगार्ग्यगोपालमिश्रविरचिते वैदिकाभरणाख्ये प्रातिशाख्यव्याख्याने पञ्चमोऽध्यायः.

—॥ॐ॥—

^१ सं. ६-३-३. ^२ अनन्तरोदितं. चातीतम्. चानन्तरातीतम्. इति च पाठः.

सोम आह^१ । 'उपुण ऊतये'^२ । 'मोपूण इन्द्र'^३ । 'प्रोष्वस्मै'^४
 'त्रीपधस्था'^५ । 'महिषद्व्युमन्नमः'^६ । 'य उप द्यविष्ठ'^७ । 'पदिपिताम्'^८
 'शुचिपद्भुः'^९ । 'अया विष्ठा जनयन्'^{१०} । 'गोष्टोमं द्वितीयम्'^{११} अव-
 ग्रहः पूर्वो यस्मादसौ अवग्रहपूर्वः ॥ २ ॥

अत्र पूर्वपदनिमित्तं पत्वमुच्यमानं पदान्तनियतस्य^{१२} विस-
 र्जनीयस्याभावात्सकारस्यैव भवति । तदयमर्थः—स्वानासो दिवि।
 आपो हि । अयमु । कमु । ऊ । मो । प्रो । त्री । महि ।
 द्यवि । पदि । अवग्रहे^{१३} । स्वानासो दिवोत्यादिषु अवग्र-
 हे च पूर्वेषु^{१४} सकारः पकारं विकारमेति । 'उत स्वानासो
 दिविपन्त्वग्रेः'^{१५} । स्वानास इति किम् ? 'तृतीयस्यामितो
 दिवि सोम आसीत्'^{१६} । 'आपो हिष्ठा मयोभुवः'^{१७} । आप इति
 किम् ? 'वसा हि सूतो अस्यन्नसद्वा चक्रे'^{१८} । 'अयमुष्य प्र दे-
 वयुः'^{१९} । 'कमुष्विदस्य सेनया'^{२०} । 'समत ऊपु मधु मधुनाऽभि
 योधि'^{२१} । अयम् कम् इत्युपबन्धाभ्यां दीर्घेण च किम् ? 'तदु
 सोम आह'^१ । 'मोपूणः'^३ । 'प्रोष्वस्मै'^४ । 'त्रीपधस्था'^५ । 'महि-
 षद्व्युमन्नमः'^६ । 'य उप द्यविष्ठ'^७ । 'पदिपिताममुञ्चत'^८ । अव-
 ग्रहपूर्वः । 'सुपदा योनिः स्वाहा'^{२२} । 'मध्यतोऽनुष्टुभा'^{२३} ॥ २ ॥

^१ सं. ४-२-८. ^२ सं. ४-१-४. ^३ सं. १-८-३. ^४ सं. १-७-१३.

^५ ,, २-४-११. ^६ ,, ३-२-८. ^७ ,, २-४-१४. ^८ सं. ४-७-१२.

^९ सं. १-८-१५. ^{१०} सं. १-७-१२. ^{११} सं. ७-४-११. ^{१२} अपदान्तस्य.

^{१३} स्वानास इत्यादीनि पदानि केषु चित्कोशेषूदाहरणेभ्यः पूर्वं प्रत्येक क्रमशो
 लिखितानि. ^{१४} पूर्व. ^{१५} सं. १-२-१४. ^{१६} सं. ३-६-७.

^{१७} सं. ४-१-६. ^{१८} सं. १-३-१४. ^{१९} सं. ३-६-११. ^{२०} सं. २-६-११.

^{२१} ,, ३-५-१०. ^{२२} ,, १-१-१३. ^{२३} ,, ५-१-३.

असदामासिञ्चञ्च ॥ ३ ॥

असदाम, असिञ्चन् इत्येतयोः सकारः पकारमापद्यते । यथा—
 'येन कामेन न्यपदामेति'^१ । 'मित्रावरुणावभ्यपिञ्चन्'^२ । चकारोऽव-
 ग्रहपूर्वत्वान्वादेशकः । अन्वादेशेन किं ? 'अजायां धर्मं प्राप्ति-
 ञ्चन्'^३ । अवग्रहपूर्वत्वेऽप्यकारेण व्यवेत इत्ययमारम्भः । ननु, लाघ-
 वादकारव्यवेतोपीत्येतावतैवालम्, कण्ठोक्त्या किं ? उच्यते—
 'ह्रस्वसो मयाभून्'^४ इत्यादौ मा भूदिति ॥ ३ ॥

चशब्देनावग्रहपूर्व इत्यन्वादिश्यते । अनन्तरार्थं त्विदं वच-
 नम् । अवग्रहे पूर्वे 'असदाम' 'असिञ्चन्' इत्यनयोः सकारः
 पकारं विकारमेति । 'न्यपदामेति तास्ताम्'^५ । 'मित्रावरुणाव-
 भ्यपिञ्चन्'^६ । अन्वादेशेन किम् ? 'अजायां धर्मं प्राप्तिञ्चन्'^७ ॥३॥

उपसर्गनिष्पूर्वोऽनुदात्ते पदे ॥ ४ ॥

सर्धानुदात्ते 'पदे' वर्तमानः सकारः उपसर्गपूर्वो निष्पूर्वो
 वा पत्वमापद्यते । यथा—'अश्मन्नूर्जेमिति परिपिञ्चति'^८ । 'इमं
 पिप्यामि'^९ । 'साम्राज्येनामिपिञ्चामि'^{१०} । 'यजमाने प्रतिष्ठापयन्ति'^{११} ।
 'निपत्ताद धृतव्रतः'^{१२} । एतान्युपसर्गपूर्वाणि । निष्पूर्वमपि यथा—

^१ स. ७-५-२.

^२ स. १-८-११.

^३ स. ५-४-३.

^४ स. ४-२-११.

^५ सं. ५-६-६.

^६ म. १-१-१०.

^७ स. १-३-१०.

^८ सं. ६-१-६.

^९ स. १-८-१६.

‘निष्ठनिहि’ दुरिता^१ । एवंपूर्व इति किं ? ‘सदने सीदः’^२ ।
 ‘बृहतशर्मणि स्याम्’^३ । सर्वानुदात्त इति किं ? ‘वि सीमतः’^४ ।
 ‘अभि सवना पाहि’^५ । पद इति किं ? कालार्थम् । पदकाले अनु-
 दात्त इत्यर्थः ॥ ४ ॥

उपसर्गेषु निशब्दे च पूर्वे सर्वानुदात्तपदस्थः सकारः
 पकारं विकारमेति । अनवग्रहपूर्वार्थं चचनम् । ‘अभिष्याम
 पृत्सुतीः’^६ । ‘प्रतिष्ठोभन्ति’^७ । ‘निष्ठनिहि’^१ । एवंपूर्व इति किम् ?
 ‘किं स्थिदासीत्’^८ । अनुदात्त इति किम् ? ‘प्रति स्तेतामं श-
 स्यमानं गृभाय’^९ । पद इति किम् ? अनुदात्तपर^{१०}मात्रेण मा-
 भूत् । ‘वि सीमतस्सुख्यः’^४ ॥ ४ ॥

—०—

रासस्सत्तेऽग्निरिर्विदुर्मीदुःपायुभिर्वेस्सुमति-
 माकिरीयुरायुराभिस्सधिर्नकिस्तकारप-
 रो नित्यम् ॥ ५ ॥

रासः सत्ते इत्येताभ्यां विशिष्टे अग्निरित्यस्मिन् ग्रहणे निः
 विदुः मीदुः पायुभिः वेः सुमतिः माकिः ईयुः आयुः आभिः
 सधिः नकिः इत्येतेषु च^{११} विसर्जनीयः ‘तकारपरः’ पकारं

^१ स. ४-६-६.

^२ स. ४-३-१.

^३ स. ४-१-५.

^४ „ ४-२-८.

^५ „ १-४-१०.

^६ „ १-४-४६.

^७ „ २-२-१२.

^८ „ ७-४-१८.

^९ „ १-२-१४.

^{१०} अनुदात्तपरत्व.

^{११} पदेषु च.

‘नित्यं’ आपद्यते । यथा—‘अविदुष्टरासः । अग्निष्टत्’¹ । ‘मेध्यश्च सप्ते । अग्निष्टत्’² । एताभ्यां विशिष्ट इति किं ? ‘नाकेऽग्निस्ते तनुवम्’³ । ‘निष्टपामि गोष्ठम्’⁴ । ‘विदुष्टरः सपेम’⁵ । ‘अप्यकारादि’ (१-५२) इतिवचनात् ‘अविदुष्टरासः’⁶ इत्यप्युदाहरणम्⁷ । ‘मोदुष्टम शिवतम’⁸ । ‘पायुभिष्टः शिवेभिः’⁹ । पायुति किं ? ‘त्रिभिः स्तिष्ठः स्तिष्ठति’¹⁰ । ‘शोचे वेष्टः हि यज्वा’¹¹ । ‘सुमतिष्टे अस्तु’¹² । स्विति किं ? ‘प्रमतिस्ते देवानाम्’ इति शाखान्तरे । ‘माकिष्टे व्यथिरा दधर्षति’¹³ । ‘इयुष्टे ये पूर्वतराम्’¹⁴ । ‘आयुष्ट आयुर्दाः’¹⁵ । ‘आभिष्टे अद्य’¹⁶ । ‘अप्स्वने सधिष्टव’¹⁷ । ‘नकिष्टं घ्नन्ति’¹⁸ । नित्यशब्दः किमर्थः ? ‘ऋकाररेफवति’ ‘अवग्रहः’ (६-८, ९) इति प्रतिषेधं वक्ष्यति । ‘अविदुः’¹⁹ इत्यत्र विसर्जनीयस्यावग्रहस्थ-त्वात् पत्वं न स्यात्तन्मा भूदिति, कण्ठोक्तिरपि विदुरित्यस्यैव न त्व-विदुरित्यस्येति दोषेऽल्पात् तत्सङ्ग्रहणार्थो²⁰ नित्यशब्द उपयु-ज्यते²¹ । ‘अवोपपरस्तस्य सस्थानम्’ (९-२) इत्यस्य पुरस्ता-दपवादोऽयम्²² ॥ ९ ॥

1 सं. १-१-१४.

2 सं. ५-१-११.

3 सं. १-१-८.

4 „ १-१-१०.

5 „ २-५-१२.

6 इत्येतदप्युदाहरणम्.

7 सं. ४-५-१०.

8 „ १-४-२४.

9 „ ५-४-१२.

10 सं. ४-३-१३.

11 सं. १-४-४५.

12 सं. १-२-१४.

13 सं. १-४-३३.

14 „ २-५-१२.

15 सं. ४-४-४.

16 सं. ४-२-३.

17 सं. २-१-११.

18 तत्सङ्ग्रहणार्थं.

19 प्रयुज्यते. 20 ‘अवोपपरस्तस्य सस्थानम्’ इत्यनेन तत्कारपूर्वत्वेन सत्त्वे प्राप्ते अनेन यत्प्रविधानार्थं पुरस्तादपवादोऽयम्.

अथ विसर्जनीयस्योच्यते—

रासस्सत्तेऽग्निरित्यादिषु सकारस्य तकारपरत्वाभावात्तत्रत्यो
विसर्जनीयः पकारं विकारमेति तकारे परतो नित्यमिति विज्ञा-
यते । रासः सप्त इत्याभ्यां^१ परे अग्निरित्यत्र । “अविदुष्टरासः ।
अग्निष्टद्विधम्”^२ । “मेध्यश्च सत्ते । अग्निष्टा देवैः”^३ । उपवन्धा-
भ्यां किम् ? ‘नाकेऽग्निस्ते तनुवम्’^४ । ‘निष्टपामि’^५ । ‘विदुष्ट-
रसपेम’^६ । ‘मीदुष्टम शिवतम’^७ । ‘पायुभिष्टुः शिवेभिः’^८ ।
पाय्विति किम् ? ‘अभिस्तिष्टुः स्तिष्टति’^९ । ‘शोचे वेष्टुः हि
यज्वा’^{१०} । ‘सुमतिष्टे अस्तु’^{११} । स्वित्युपवन्धव्यावर्त्यं शाखान्त
रे^{१२} । ‘माकिष्टे व्यधिरा’^{१३} । ‘ईदुष्टे ये पूर्वतराम्’^{१४} । ‘आयुष्टे विश्व-
तो दधत्’^{१५} । ‘आभिष्टे अद्य गीर्भिः’^{१६} । ‘अप्स्वग्ने साधिष्टव’^{१७} ।
‘नकिष्टं प्रन्त्यन्तितो न दूरात्’^{१८} । सोऽयं “अधोपपरस्तस्य सस्था-
नमूष्माणम्” (९-२) इत्यस्यापवादः । नित्यग्रहणं बाधकबाध-
नार्थम् । तेन विदुर्मीदुरित्यनयोः “अवग्रहः” (६-९) इति
निषेधो न भवति । नैतदस्ति प्रयोजनम् । विदुर्मीदुर्ग्रहणस्य
विशिष्टविषयतयैव सामान्यविषयत्व^{१९} बाधसिद्धेः । एवं तर्हि
“विदुषां देवा अविदुष्टरासः”^{२०} इत्यत्र “अप्यकारादि” (१-५२)

*परस्या.

^१ इत्याभ्यामुपवन्धाभ्यां.

^२ सं. १-१-१४.

^३ सं. ६-१-११.

^४ सं. १-१-८.

^५ सं. १-१-१०.

^६ सं. २-६-१२.

^७ ,, ४-५-१०.

^८ सं. २-४-२४.

^९ ,, ५-४-१२.

^{१०} ,, ४-३-१३.

^{११} ,, १-४-४५.

^{१२} “प्रमतिस्ते देवानाम्” इति पाठान्तरम्.

^{१३} ,, १-२-१४.

^{१४} ,, १-४-३३.

^{१५} ,, १-३-१४.

^{१६} सं. ४-४-४.

^{१७} ,, ४-२-३.

^{१८} ,, २-१-११.

^{१९} विषयस्य.

इति सर्वकार्यसाधारणो विधिः “अवग्रहः” (६-९) इति पत्यनि
षेधेन बाध्येत । तन्मा भूदित्येवमर्थे नित्यग्रहणं कृतम् ॥ ५ ॥

—o—

अथ न ॥ ६ ॥

‘अथ’ इत्ययमधिकारः । ‘न’ इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्, इत उ-
त्तरं यद्वक्ष्यामः ॥ ६ ॥

पत्य^१निषेधोऽधिक्रियते ॥ ६ ॥

—o—

अवर्णव्यञ्जनशकुनिपत्न्यृतुमृत्युमलिम्लुवृ-
हस्पतिपूर्वः ॥ ७ ॥

अवर्णपूर्वो व्यञ्जनपूर्वश्च शकुनि पत्नी ऋतु मृत्यु मलिम्लु
वृहस्पति इत्येवम्पूर्वश्च सकारः पकारं नापद्यते । यथा—
‘अन्तरिक्षसत्’^२ । अवग्रहपूर्वत्वात् प्राप्तिः । ‘आ सिञ्चस्व’^३ । उप-
सर्गपूर्वत्वात् प्राप्तिः । ‘ऋत्सामे वे’^४ । ‘शकुनिसादेन रथम्’^५ ।
‘पत्नीसंयानानामृता’^६ । ‘ऋतुस्थास्तस्य’^७ । ‘मृत्युसंयुत इव’^८ ।
‘नैनं मलिम्लुसेना विन्दति’^९ । ‘वृहस्पतिमुतस्य ते’^{१०} । अवग्रहपू-
र्वत्वादिषां प्राप्तिः ॥ ७ ॥

^१ अनेन पत्य.

^२ सं. १-८-१५.

^३ सं. १-४-१९.

^४ सं. ६-१-३.

^५ „ ६-७-१४.

^६ सं. २-६-१०.

^७ „ ५-७-६.

^८ „ १-५-९.

^९ „ ६-३-२.

^{१०} „ १-४-२७.

अवर्णपूर्वो व्यञ्जनपूर्वः । शकुनि । पत्नी । ऋतु । मृत्यु ।
मलिम्लु । बृहस्पति^१ । शकुन्यादिपदपूर्वश्च सकारः पकारं
विकारं नैति । 'वाजिनं त्वा सपत्नसाह२ सं मार्जिम'^३ । 'बहि-
रासदे'^४ । अवग्रहपूर्वतया प्राप्तिः । 'देव सवितः प्र सुव'^५ ।
'स्योनामा सोद'^६ । उपसर्गपूर्वकतया प्राप्तिः । 'दीर्घामनु प्रसि-
तिमायुषे धाम'^७ । 'त२ श्रुतमासन्नमेतेन'^८ । उभयतया प्राप्तिः ।
'ऋक्सामयोऽिशले स्थः'^९ । 'पयो अग्निवासु हत्सु क्रतुम्'^{१०} । 'स२
समिद्युवसे वृषन्'^{११} । यत्तु 'धूर्पाहावनश्च'^{१२} । 'सुवर्षां जिह्वा-
मग्ने'^{१३} । 'निष्ठनिहि दुरिता बाधमानः'^{१४} । इत्येतेषां पत्वं तद-
नेन न निपिध्यते विशेषविहितत्वान्निर्बकाशत्वाच्च । 'शकुनि-
सादेन रथम्'^{१५} । 'आज्येन पत्नीसंयाजा ऋचम्'^{१६} । 'यो वा अग्नि-
मृतुस्थां वेद'^{१७} । 'मृत्युसंयुत इव ह्ययम्'^{१८} । 'नैनं मलिम्लुसेना'^{१९}
'बृहस्पतिसुतस्य'^{२०} । एतेष्ववग्रहपूर्वत्वात्प्राप्तिः ॥ ७ ॥

ऋकाररेफवति ॥ ८ ॥

ऋकारश्च रेफश्च ऋकाररेफौ, तावस्मिन् स्त इति ऋकार-
रेफवत् तस्मिन् पदे वर्तमानः सकारः पकारं नापद्यते । यथा—

^१ शकुन्यादि बृहस्पत्यन्तं काचिन्न दृश्यते. ^२ सं. १-१-१०.

^३ सं. १-१-२. ^४ सं. १-७-७. ^५ सं. १-८-१६.

^६ सं. १-१-६. ^७ सं. २-४-३. ^८ सं. १-२-२.

^९ „ १-२-८. ^{१०} „ २-६-११. ^{११} „ १-२-८.

^{१२} „ ४-४-४. ^{१३} „ ४-६-६. ^{१४} सं. ५-७-१४.

^{१५} सं. २-६-१०. ^{१६} सं. ५-७-६. ^{१७} १-५-९.

^{१८} सं. ६-३-२. ^{१९} सं. १-४-२७.

^{२०} केपु चित्कोशेशूद्राहरणेभ्यः पूर्व अवर्णादितत्तन्निमित्तपदानि लिखितानि.

‘वि सृजते शान्त्यै’^१ । उपसर्गपूर्वत्वात् प्राप्तिः । ‘तस्मात्स वित्तस्थः’^२
अवग्रहपूर्वत्वात् प्राप्तिः ॥ ८ ॥

अकारो रेफो चा यस्मिन् अस्ति तस्मिन्पदे सकारः
पकारं चिकारं नैति । ‘सुसम्भृता त्वा सं भयामि’^३ । ‘वाचो
विसर्जनं देयधीतये’^४ । ‘असंदिता वि सृज’^५ । ‘न वित्त-
सयेत्’^६ ॥ ८ ॥

अवग्रहः ॥ ९ ॥

अवग्रहस्थः सकारः पकारं नापद्यते, विसर्जनीयश्च । अव-
ग्रह इत्यवग्रहस्यो लक्ष्यते । मध्याः क्रोशन्तीत्यत्र मधस्था यथा ।
यथा च स्थूलो जानातीति स्थूलदेहस्थः । उदाहरणानि—‘तस्यां
देवा अधि संवसन्तः’^७ । ‘अभि समगच्छन्तेति’^८ । ‘यज्ञानामभि
संचिदाने’^९ ॥ ९ ॥

अवग्रहस्थः सकारः पकारं चिकारं नैति । एतदादेस्स-
कारस्य तदन्तस्य विसर्जनीयस्य च पत्वप्रतिषेधः क्रियते ।
विसर्जनीये त्ययं विशेषविधिना नित्यग्रहणेन च नियतितः
सकारेऽर्धवान् भवति । ‘प्रति त्विष्टकृतं निराह’^{१०} । ‘यज्ञानाम-
भि संचिदाने’^{११} ॥ ९ ॥

^१ सं. १-७-६.

^२ सं. ६-२-९.

^३ सं. १-१-२.

^४ सं. १-१-५.

^५ सं. १-२-१४.

^६ सं. ३-५-२.

^७ सं. १-५-१.

^८ सं. ६-१-११.

^९ सं. १-५-२.

सवस्थानम् ॥ १० ॥

‘सव’ ‘स्थानं’ इत्येतयोः सकारः षकारं नापद्यते । सवेति पदैकदेशो बहूपादानार्थः । यथा—‘अग्निसवश्चित्यः’^१ । ‘अनुसवनं पुरोडाशान्’^२ । ‘सवनेसवनेऽभि गृह्णाति’^३ । ‘प्रसवाय सावित्रः’^४ । ‘गच्छ गोस्थानम्’^५ ॥ १० ॥

सवेति पदैकदेशग्रहणम् । स्थानमिति पदग्रहणम् । तयोः सकारः षकारं विकारं नैति । ‘अनुसवनं पुरोडाशान्’^२ । ‘तस्मान्मनुसवः’^६ । ‘गच्छ गोस्थानम्’^५ ॥ १० ॥

न धिपूर्वे ॥ ११ ॥

सवः स्थानमित्येतयोः सकारे धिपूर्वे^७ निषेधः न प्रसरति । यथा—‘अधिपवणमसि’^८ । ‘अधिपवणे जिह्वा’^९ । ‘अधिष्ठानमारम्भणम्’^{१०} । धीत्ययं वर्णः पूर्वो यस्मादसौ धिपूर्वः, तस्मिन् ॥ ११ ॥

धिश्चान्दे पूर्व सवस्थानमित्येते पत्वप्रतिषेधं न प्रतिपद्येते । ‘अधिपवणमसि’^८ । ‘अधिष्ठानमारम्भणम्’^{१०} ॥ ११ ॥

१ सं. ६-६-२.

२ सं. ६-६-११.

३ सं. ६-४-११.

४ सं. ६-६-५.

५ सं. १-१-९.

६ सं. ७-५-१६.

७ धिपूर्व.

८ सं. १-१-५.

९ सं. ६-२-११.

१० सं. ४-६-२.

‘वि सृजते शान्त्यै’^१ । उपसर्गपूर्वत्वात् प्राप्तिः । ‘तस्मात्स विस्रस्यः’^२
अवग्रहपूर्वत्वात् प्राप्तिः ॥ ८ ॥

ऋकारो रेफो वा यस्मिन् अस्ति तस्मिन्पदे सकारः
पकारं विकारं नैति । ‘सुसम्भृता त्वा सं भरामि’^३ । ‘वाचो
विसर्जनं देवधीतये’^४ । ‘असंदितो वि सृज’^५ । ‘न विस्रस-
सयेत्’^६ ॥ ८ ॥

अवग्रहः ॥ ९ ॥

अवग्रहस्थः सकारः पकारं नापद्यते, विसर्जनीयश्च । अव-
ग्रह इत्यवग्रहस्थो लक्ष्यते । मध्वाः क्रोशन्तीत्यत्र मध्वस्था यथा ।
यथा च स्थूलो जानातीति स्थूलदेहस्थः । उदाहरणानि—‘तस्यां
देवा अधि संवसन्तः’^७ । ‘अभि समगच्छन्तेति’^८ । ‘यज्ञानामभि
संविदाने’^९ ॥ ९ ॥

अवग्रहस्थः सकारः पकारं विकारं नैति । एतदादेस्स-
कारस्य तदन्तस्य विसर्जनीयस्य च पत्यप्रतिषेधः क्रियते ।
विसर्जनीये त्ययं विशेषविधिना नित्यग्रहणेन च निवर्तितः
सकारेऽर्थवान् भवति । ‘प्रति स्थिष्टकृतं निराह’^{१०} । ‘यज्ञानाम-
भि संविदाने’^{११} ॥ ९ ॥

^१ सं. १-७-६.^२ सं. ६-२-९.^३ सं. १-१-२.^४ सं. १-१-५.^५ सं. १-२-१४.^६ सं. ३-५-१.^७ सं. १-५-३.^८ सं. ६-१-११.^९ सं. १-५-२.

सवस्थानम् ॥ १० ॥

‘सव’ ‘स्थानं’ इत्येतयोः सकारः पकारं नापद्यते । सवेति पदेकदेशो बहुपादानार्थः । यथा—‘अग्निसवश्चित्त्वः’^१ । ‘अनुसवनं पुरोडाशान्’^२ । ‘सवनेसवनेऽभि गृह्णाति’^३ । ‘प्रसवाय सावित्रः’^४ । ‘गच्छ गोस्थानम्’^५ ॥ १० ॥

सवेति पदेकदेशग्रहणम् । स्थानमिति पदग्रहणम् । तयोः सकारः पकारं विकारं नैति । ‘अनुसवनं पुरोडाशान्’^२ । ‘तस्मान्मनुसवः’^६ । ‘गच्छ गोस्थानम्’^५ ॥ १० ॥

न धिपूर्वे ॥ ११ ॥

सवः स्थानमित्येतयोः सकारे धिपूर्वे^७ निषेधः न प्रसरति । यथा—‘अधिपवणमसि’^८ । ‘अधिपवणे जिह्वा’^९ । ‘अधिष्ठानमारम्भणम्’^{१०} । धीत्ययं वर्णः पूर्वो यस्मादसौ धिपूर्वः, तस्मिन् ॥ ११ ॥

धिशब्दे पूर्वे सवस्थानमित्येते पत्यप्रतिषेधं न प्रतिषेधेते । ‘अधिपवणमसि’^८ । ‘अधिष्ठानमारम्भणम्’^{१०} ॥ ११ ॥

१ स. ६-६-२.

२ सं. ६-६-११.

३ सं. ६-४-११.

४ स. ६-६-५.

५ स. १-१-९.

६ सं. ७-५-२६.

७ धिपूर्व.

८ सं. १-१-५.

९ सं. ६-२-११.

१० सं. ४-६-१.

सन्तानेभ्यस्सप्ताभिस्सम्मिताः स्तनाः सी-
तः स्पशस्सक्सनिसनिसनीस्सभेय-
स्सत्त्वासस्यायै ॥ १२ ॥

सन्तानेभ्यः, सप्ताभिः, सम्मितां, स्तनां, सीतं, स्पशः, सक्ः
सनि, सनिः, सनीः, सभेयः, सत्त्वा, सस्यायै एतेषु सकार,
पकारं नापद्यते । यथा—‘परिसन्तानेभ्यस्स्वाहा’^१ । ‘त्रिसप्ताभिः पशु-
कामस्य’^२ । ‘वेदिसम्मितां भिनोति’^३ । ‘द्विस्तनां करोति’^४ । ‘अनु-
सीतं वपति’^५ । ‘तनूपा नः प्रतिस्पशः’^६ । सगिति पदैकदेशो बद्धपादा-
नार्थः यथा—‘पश्चात्पृश्निसकथो भवति’^७ । ‘पृश्निसकथास्त्रयो हैमन्ति-
काः’^८ । ‘पृश्निसकथमा लभेत’^९ । ‘पृश्निसकथाय स्वाहा’^{१०} । ‘तस्मा-
देतद्गोसनि’^{११} । ‘असि स्तनयित्रुसनिरमि’^{१२} । ‘वृष्टिसनीरुप दधाति’^{१३} ।
सनित्येतावतैव सिद्धे किमस्त्विलपदपाठेन ? ‘मृधा वा एषोऽभिप-
ण्णः’^{१४} । ‘निपण्णाय स्वाहा’^{१५} इत्यादौ मा भूदिति । ‘सुसभेयो य
एवम्’^{१६} । ‘अभिसत्त्वा सहोजाः’^{१७} । ‘सुसस्यायै सुपिप्पलाभ्यस्त्वौ-

^१ सं. ७-४-२२.^२ सं. ५-२-६.^३ सं. ५-६-८.^४ सं. ५-१-६.^५ सं. ६-२-६.^६ सं. ५-७-३.^७ सं. २-१-३.^८ सं. ५-६-२३.^९ सं. २-१-३.^{१०} सं. ७-३-१८.^{११} सं. ७-५-२.^{१२} सं. ४-४-६.^{१३} सं. ६-३-१.^{१४} सं. २-४-२.^{१५} सं. ७-१-१९.^{१६} सं. ७-१-८.^{१७} सं. ४-६-४.

पद्मीभ्यः^१ । सन्तानेभ्यः सत्त्वा इत्येतयोरुपसर्गपूर्वत्वात् प्राप्तिः ।
सर्वेषामन्येषामवग्रहपूर्वत्वात् ॥ १२ ॥

सन्तानेभ्य इत्यादीनि ग्रहणानि प्रकारं विकारं न यन्ति ।
'परिसन्तानेभ्यस्स्याहा'^२ । 'त्रिसप्ताभिः पशुकामस्य'^३ । 'चे-
विसम्मितां मिनोति'^४ । 'द्विस्तनां करोति'^५ । 'प्रति तिष्ठन्त्यनु-
सीतं वपति'^६ । 'तनूपा नः प्रतिस्पशः'^७ । सक् इति पदैक-
देशग्रहणम् । 'पृश्निसक्यमा लभेत'^८ । 'पृश्निसक्यधास्त्रयः'^९ ।
'तस्मादेतद्गोसनि'^{१०} । 'स्तनयित्सुसनिरसि'^{११} । 'वृष्टिसनीरुप
दधाति'^{१२} । सक् इति समानरूपग्रहणे 'सृधा वा एषोऽभिप-
णः'^{१३} इत्यादावपि प्रतिषेधः स्यादिति त्रयाणां ग्रहणम् । 'सु-
सभेयो य एवं विद्वाश्चतुरात्रेण'^{१४} । 'अभिसत्त्वा सहोजा
जैत्रमिन्द्र'^{१५} । 'कृष्यै त्वा सुसस्यायै'^{१६} ॥ १२ ॥

न स्वरस्पर्धास्तरिमसाहस्रसारथिस्स्फुर-
न्तीस्तुवृज्योतिरायुश्चतुःपूर्वस्तो॥ १३ ॥

स्वर, स्पर्धाः, स्तरिम, साहस्र, सारथिः, स्फुरन्ती, तुष्ट
इत्येतेषु सकारः, ज्योतिः, आयुः, चतुः एवम्पूर्वश्च 'स्तो' इत्यत्र

^१ स. १-२-२.^२ स. ७-४-२१.^३ सं. ५-२-६.^४ सं. ६-६-८.^५ स. ६-१-६.^६ स. ५-२-५.^७ सं. ५-७-३.^८ स. २-१-३.^९ स. ५-६-२३.^{१०} सं. ७-६-२.^{११} सं. ४-४-६.^{१२} सं. ५-३-१.^{१३} सं. २-४-२.^{१४} सं. ७-१-८.^{१५} सं. ४-६-४.

सकारः 'ऋकाररेफवति' 'अवर्णव्यञ्जन' (६-८, ७) इति चोक्तं निषेधं न आपद्यते, किन्तु पत्वं प्रतिपद्यत इति प्रति-
प्रसवार्थोऽयं नकारः । यथा—'अम्व निप्वर'^१ । 'विप्पर्द्धाश्छन्दः'^२
उपसर्गपूर्वत्वादनयोः प्राप्तिः । 'सुष्टरीमा जुपाणा'^३ । 'ग्रहणस्य
च' (१-२२) इति वचनादकारगृहीतं साहस्रमनेकार्थम् । यथा—
'द्विपाहस्रं चिन्वीत'^४ । 'त्रिपाहस्रो वा अस्तौ'^५ । 'कामयते सुपा-
रयिः'^६ । 'विष्फुरन्ती अमित्रान्'^७ । 'सष्टृप् छन्दः'^८ । 'ज्योतिष्टोमं
प्रथमम्'^९ । 'आयुष्टोमं तृतीयमुप यन्ति'^{१०} । 'चतुष्टोमो अभवत्'^{११} ।
स्तरीमादीनामेपामवग्रहपूर्वत्वात् प्राप्तिः । ज्योतिरादिपूर्वत्वेन किं ?
'यदक्षयास्तोमीयाः'^{१२} । स्तो इति किं ? 'चतुस्तनां करोति'^{१३}
'ज्योतिस्त्वा अस्य'^{१४} ॥ १३ ॥

उक्ताः सकारस्य पत्यनिषेधाः । तेषु 'सयस्थानम्'
(१-१०) इत्यस्य 'न धिपूर्वं' (१-२१) इति भङ्ग उक्तः । अनेन
तु ततोऽन्येषां प्रतिषेधानां कचिद्भङ्ग उच्यते । स्वरस्पर्धा इ-
त्यादीनां सप्तानां ग्रहणानां, ज्योतिः । आयुः । चतुः । इत्येवं-
पूर्वस्य स्तोत्रादस्य च पत्यनिषेधो न भवति । स्वर—'अ-
म्व निप्वर'^१ । स्पर्धाः—'विप्पर्द्धाश्छन्दः'^२ । स्तरीम—'सुष्टरी-

१ म. १-४-१.

२ म. ४-३-१२.

३ म. ५-१-११.

४ माह्वमष्टम.

५ म. ६-६-८.

६ म. ४-६-६.

७ म. ४-३-१२.

८ म. २-४-११.

९ म. ४-३-११.

१० म. ५-३-१.

११ म. ६-१-६.

१२ म. ३-२-४.

मा जुपाणा^१ । साहस्रेति पदैकदेशस्याकारान्तनिर्देशः । 'द्विपाहस्रं चिन्वीत'^२ । 'त्रिपाहस्रो वा असौ'^३ । सारथिः—'कामयते सुपारथिः'^४ । स्फुरन्तो—'विस्फुरन्तो अमित्रान्'^५ । एतेषु 'रेफयति' (६-८) इति निषेधः । स्तुप्—'सष्टुच्छन्दः'^६ । अत्रावर्णपूर्वनिषेधः^७ । "अनुष्टुप्"^८ इत्यत्र तु न निषेधप्रसक्तिरिति नोदाहरणम् । स्तो—'ज्योतिष्टोमं प्रथमम्'^९ । "आयुष्टोमं तृतीयम्"^{१०} । 'चतुष्टोमस्तोमो भवति'^{११} । अत्र व्यञ्जनपूर्वतया निषेधप्राप्तिः^{१२} । एवंपूर्वं इति किम् ? 'अग्निः प्रस्तोता'^{१३} । स्तो इति किम् ? 'चतुस्तनां करोति'^{१४} ॥ १३ ॥

तर्हान् स्तस्मिन्लोकान्विद्वान् स्तान् त्रीन् युष्मान्
 ष्मानूर्ध्वान् अम्बकान् ऋतून् अश्मन् कृण्वन्पि—
 तून् नान्कपालान् स्तिष्ठन्नाद्युदात्ते नेमिर्दे-
 वान्त्सवने पशून् स्तकारपरस्सकारं प्रा-
 कृतो नित्ये प्राकृतो नित्ये ॥ १४ ॥

तर्हान्, तस्मिन्, लोकान्, विद्वान्, तान्, त्रीन्, युष्मान्,
 ऊर्ध्वान्, अम्बकान्, ऋतून्, अश्मन्, कृण्वन्, पितृन्, अनान्,

१ सं. ५१-११.

२ सं. ५-६-८.

३ सं. ४-६-६.

४ सं. ४-३-१२.

५ (६-७) सूत्रे.

६ सं. ७-४-११.

७ सं. ५-३-१२.

८ सं. ३-३-२.

९ सं. ५-१-६.

कपालान्, 'आद्युदात्ते' तिष्ठन्ग्रहणे,^१ नेमिर्देवान्, सवनेपशून् एतेषु ग्रहणेषु 'प्राकृतः' नकारः 'नित्ये' पदे वर्त्तमानः 'तकारपरः' 'सकारम्' आपद्यते । यथा—'शततर्हास्तृहन्ति'^२ । 'तस्मिंस्त्वा दधामि'^३ । 'इमानेव लोकास्तीर्त्वा'^४ । 'य एवं विद्वास्त्रैधातवीयेन'^५ । 'तास्ते दधामि जम्भयोः'^६ । 'त्रीस्तृचाननु'^७ । 'युष्मास्तेऽनु'^८ । 'ऊर्ध्वास्तानुषव्दिमतः'^९ । 'त्र्यम्बकास्तृतीयसवनम्'^{१०} । 'ऋतूस्तन्वते'^{११} । 'अश्मस्ते क्षुत्'^{१२} । 'पुनः कृण्वस्त्वा'^{१३} । 'पितृस्तन्तुरिति'^{१४} । 'प्राणास्तस्यान्तर्यन्ति'^{१५} । 'अपि विकृतम्' (१-५१) इतिवचनादेतद्वति । 'द्वादशकपालास्तृतीयसवने'^{१६} । 'त्रिभिस्तिष्ठस्तिष्ठति'^{१७} । आद्युदात्त इति किं? 'न प्रत्यतिष्ठन्ता वसुकोसि'^{१८} 'अध्यकारादि' (१-५२) इति प्राप्तिः । 'नेमिर्देवास्त्वं परिभूरासि'^{१९} । नेमिरिति किम्? 'जातवेदो वपया गच्छ देवान्त्वहि'^{२०} । 'माध्यन्दिने सवने पशूस्तृतीयसवने'^{२१} । सवन इति किं? 'प्रजां पशून्तेनावर्द्धत'^{२२} ।

^१ तिष्ठन्ग्राह्यमायुशस्ते. ^२ सं. १-५७.

^३ सं. १-६-५.

^४ सं. ३-५-४.

^५ सं. २-४-११.

^६ सं. ४-१-१०.

^७ सं. २-५-१०.

^८ सं. ३-२-५.

^९ सं. ३-२-९.

^{१०} सं. ३-२-२.

^{११} सं. ४-३-११.

^{१२} सं. ४-६-१-

^{१३} सं. ४-७-१३.

^{१४} सं. ५-३-६.

^{१५} सं. ७-१-२.

^{१६} सं. ७-५-६.

^{१७} सं. ५-४-१२.

^{१८} सं. ५-३-६.

^{१९} सं. २-६-९.

^{२०} सं. ३-१-४.

^{२१} सं. ३-२-१.

^{२२} सं. ७-४-१.

तकारपर इति किं ? 'तस्मिन्प्रजापतिः'^१ । प्राकृत इति किं ?
 'तान्तेन शमयति'^२ वैकृतोऽयं नकारः 'मकारस्पर्शपरः'^३
 (५-२७) इति प्राप्तत्वात् । नित्ये इति किं ? 'विद्वान्धस्मेन
 यजेते'^४ अनित्योऽयं तकारः यतः पदसमये नास्ति । तकारः
 परो यस्मादसौ तथोक्तः^५ ॥ १४ ॥

इति त्रिभाष्यरते प्रातिशाख्यविवरणे पष्ठोऽध्यायः.

तर्ह्यस्तस्मिन्नित्यादिषु पदान्तः प्राकृतो नकारः सकारं
 विकारमेति नित्ये तकारे परतः । प्राकृतौ पदरूपे भवः प्राकृतः ।
 नित्यः सार्वत्रिकः । संहिताम्नाये पदाम्नाये च विद्यमान इत्यर्थः ।
 तर्हान्- 'शततरङ्गास्तृहन्ति'^६ । 'तस्मिन्स्त्वा दधामि'^७ । 'इमानेव
 लोकास्तीर्त्या'^८ । 'विद्वास्त्रैधातवीयेन'^९ । 'तास्ते अग्नेः
 ऽपि दधामि'^{१०} । 'त्रीस्त्वृचाननु'^{११} । 'युष्मास्ते नु'^{१२} । 'यानूध्वीस्-
 स्तान्'^{१३} । 'त्रयम्यकास्त्वृतीयसवनम्'^{१४} । 'ऋतूस्तन्वते कवयः'^{१५}
 'अदमस्ते क्षुत्'^{१६} । 'पुन कृण्वस्त्वा'^{१७} । 'पितृस्तन्तुरिति'^{१८}
 'प्राणास्तस्यान्तर्यन्ति प्राणेषु'^{१९} । 'द्वादशकपालास्त्वृतीयसवने'^{२०}

१ सं. ७-१-५.

२ "लोकान् द्रविणवतः" (सं. ५-२-११.) इत्यपि.

३ सं. ५-७-३.

४ सं. ३-२-२.

५ तकारपरः.

६ सं. १-५-७.

७ सं. २-६-६.

८ सं. ३-५-४.

९ सं. २-४-११.

१० सं. ४-१-१०.

११ सं. २-६-१०.

१२ सं. ३-२-५.

१३ सं. ३-१-९.

१४ सं. ३-२-२.

१५ सं. ४-३-११.

१६ सं. ४-६-१.

१७ सं. ४-७-१३.

१८ सं. ५-३-६.

१९ सं. ७-१-३.

२० सं. ७-५-६.

तिष्ठन्नाद्युदात्ते^१ नकारः कार्यभाक् । 'त्रिमिस्तिष्ठस्तिष्ठति'^२ ।
 आद्युदात्त इति किम्? 'प्रजाता न प्रत्यतिष्ठन्ता वसुः'^३ ।
 'अप्यकारादि' (१-६२) इति प्राप्तिः । 'अरा इवाग्ने नेमिदे-
 चास्त्यम्'^४ । नेमिरिति किम्? 'वप्या गच्छ देवान्त्वहि
 होता'^५ । 'माध्यन्दिने सवने पशूस्तृतीयसवने'^६ । सवन इति
 किम्? 'प्रजां पशून्तेनावर्धत'^७ । तकारपर इति किम्?
 'त्रीन्लोकान्'^८ । प्राकृत इति किम्? 'तान्तेन शमयति'^९
 सांहितोऽथ पदान्तनकारः । नित्य इति किम्? 'य एवं वि-
 द्वान्सोमेन'^{१०} अगमोऽत्र तकारः ॥ १४ ॥

इत्याचार्यगार्ग्यगोपालमिश्रविरचिते वैदिकाभरणाख्ये
 प्रातिशाख्यव्याख्याने षष्ठोऽध्यायः.



^१ तिष्ठाप्रत्ययाद्युदात्ते.

^२ म. १-४-१२.

^३ म. १-१-६.

^४ म. २-५-९.

^५ म. ३-१-४.

^६ म. ३-२-९.

^७ म. ३-४-३.

^८ म. २-७-११.

^९ म. ५-५-३.

^{१०} म. ३-२-२.

अथ सप्तमोऽध्यायः.

अथ नकारो णकारम् ॥ १ ॥

अथेत्ययमधिकारः । नकारो णकारमापद्यते इत्येतदधिकृतं वेदि-
तव्यम्, इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः ॥ १ ॥

नकारो णकारमाप्नोतीत्यधिक्रियते । द्विविधं णत्यम् । नाना-
पदीयनिमित्तं समानपदस्थनिमित्तं च । तत्र पदसंहिताऽधिकारेऽ-
स्मिन्नानापदीयनिमित्तमेव वचनाहमिति तद्विहोच्यते ॥ १ ॥

—o—

पुपूकधिसुवस्समिन्द्रास्थूर्युरुवाप्पट्त्रिग्रा-
मनिष्पूर्वः ॥ २ ॥

पु, पू, कधिसुवः, समिन्द्र, अस्थूरि, उरु, वाः, पट्, त्रि, ग्राम,
निः एवम्पूर्वो नकारो णकारमापद्यते । यथा—‘ऊर्ध्व ऊपुण
ऊतये’^१ । ‘इन्द्रो धर्ता गृहेषु नः’^२ इत्यत्र णत्वं न भवति ।
कथम् ? ‘पदग्रहणेषु’ (१-९०) इति वचनात् । ‘मोपूण
इन्द्र’^३ । सुसू इत्येतयोर्यदा पत्वं नास्ति तदा णत्वनिषेधार्थं वे-
कृतग्रहणम् । यथा—‘सुनः । न ऊतये’^१ । ‘सूनः । न इन्द्र’^३ ।
‘ब्रह्मणा कधि सुवर्णं शुक्रम्’^४ । कधीति किं ? ‘सुवर्णं शुक्र-

^१सं. ४-१-४.

^२सं. २-४-५.

^३सं. १-८-३.

^४सं. २-२-१२.

स्वाहा^१ । 'समिन्द्रणो मनसा'^२ । समिति किं ? 'वर्तयेन्द्र
नर्दबुद'^३ । 'अस्थूरिणो गार्हपत्यानि सन्तु'^४ । 'उरुकुडुरुण-
स्कृधि'^५ । 'तस्माद्वार्णाम वो हितम्'^६ । 'पण्णवत्यै स्वाहा'^७ ।
'त्रिणवस्तोमो वसूनाम्'^८ । 'ग्रामणीयं प्राप्नुवन्ति'^९ । 'निर्णे-
निर्जतिं ततोऽधि'^{१०} । विसर्गेण किं ? 'नि नो रयिः सुभोजसम्'^{११}॥

पुपू इत्यादिषु पदेषु पूर्वेषु नकारो णत्वमाप्नोति । पु—
'ऊपुणः'^{१२} । पू—'मोपूणः'^{१३} । नन्वत्र पुपू इत्यनयोरन्यतरस्य
ग्रहणे "अपि विकृतम्" (१-११) इति परिभाषया इतरस्यापि
निमित्तत्वं किं न स्यात् ? तदुच्यते—विहितविकारयोगाद्विकृतं
भवति । न चात्र पुशब्दस्य दीर्घादेशो विधीयते । पू इत्य-
स्य तु यद्यपि ह्रस्वादेशो विधीयते । तथाऽप्यसौ विभागविप-
यत्यात्संहितायां नोपकरोति । अतः उभयं गृह्यते । तथा क्रमा-
ध्याये पत्याभावविषये णत्वं न भवति । प्रकृतिरूपस्य विकृ-
तत्याभावात् । यथा—'ऊर्ध्व उ । ऊपुणः । सुनः । न ऊतये'^{१४} ।
'मोपूणः । मो इति मो । सूनः । न इन्द्र'^{१५} । कृधिसुवः—'ब्रह्मणा
कृधि सुवर्ण शुक्रम'^{१६} । कृधीति किं ? 'सुवर्णं धर्मस्स्वाहा' । समि-
न्द्र—'समिन्द्रणो मनसा'^{१७} । समिति किम् ? 'इन्द्रं नर्दबुद'^{१८} ।

१ सं. २-१७-२.

२ म. २-४-४४

३ सं. ३-३-१०.

४ ,, २-३-२.

५ ,, २-६-११.

६ ,, ५-६-१.

७ ,, ७-२-१५.

८ ,, ४-२-९.

९ ,, ३-४-२.

१० ,, ७-२-१०.

११ ,, २-२-१२.

१२ ,, ४-१-४.

१३ ,, १-८-१.

१४ ,, २-२-१२.

१५ ,, २-२-१२.

अस्थूरि—‘अस्थूरणो गार्हपत्यानि सन्तु’^१ । उरु—‘उरुदु-
णस्कृधि’^२ । वाः—‘तस्माद्वाणामि वो हितम्’^३ । पद्—‘पणवत्ये
स्वाहा’^४ । त्रि—‘एवा त्रिणामन्’^५ । ग्राम—‘ग्रामण्यो गृहे’^६ ।
‘सर्वे ग्रामण्यम्’^७ । निः—‘यन्निणिजा’^८ ॥ २ ॥

—००००—

हन्यादुप्यमानं च ॥ ३ ॥

चकारो निष्पूर्वत्वमन्वादिशति । निश्शब्दोत्तरयोर्हन्यादुप्यमान-
मित्येतयोर्ग्रहणयोर्नकारो णकारमापद्यते । यथा—‘योर्नेर्गर्भं निर्-
हण्यात्’^९ । ‘निरुप्यमाणमभि मन्त्रयेत्’^{१०} । अन्वादेशः किमर्थः ?
‘न नि हन्यान्न लोहितम्’^{११} ॥ ३ ॥

चशब्देन निष्पूर्वं इत्यन्वादिश्यते । आनन्तर्यार्थ^{१२} वचनम् ।
निश्शब्दे पूर्वं हन्यादुप्यमानमित्यनयोर्नकारो णत्वमाप्नोति । ‘यो-
र्नेर्गर्भं निर्-हण्यात्’^९ । ‘निरुप्यमाणमभि मन्त्रयेत्’^{१०} । अन्वादे-
शेन किम् ? ‘अग्निरनूत्थाय हन्यात्’^{१३} । विसर्गेण किम् ?
‘न नि हन्यात्’^{११} ॥ ३ ॥

—००००—

पारीपरिपरीप्रपूर्वः ॥ ४ ॥

पारी, परि, परी, प्र एवंपूर्वो नकारो णकारमापद्यते । यथा—

^१ स. ५-७-२.

^२ स. २-६-११.

^३ स. ६-६-१.

^४ स. ७-२-१५.

^५ स. २-१-११.

^६ स. १-८-९.

^७ स. ७-४-५.

^८ स. ४-६-८.

^९ स. ६-६-९.

^{१०} स. १-६-८.

^{११} स. २-६-१०.

^{१२} अनन्तरार्थ.

^{१३} स. ३-४-१०.

‘पारीणहस्येशे’¹ । ‘परि णो रुद्रस्य’² । ‘वीरवन्तं परीणसम्’³ ।

‘प्रणो देवी सरस्वती’⁴ ॥ ४ ॥

पारीत्यादिषु पदेषु पूर्वेषु नकारो णत्वमाप्नोति । ‘पारी-
णहस्येशे’¹ । ‘अग्रं परिणयति’⁵ । ‘वीरवन्तं परीणसम्’³ ।

प्रणिनाय महते’⁶ ॥ ४ ॥

अवर्णव्यवेतोऽपि ॥ ५ ॥

अपिशब्दः पर्याद्यन्वादेशकः । पर्यादिपूर्वो नकारोऽवर्णव्यव-
हितोऽपि⁷ णत्वं भजते । यथा—‘अग्रं पर्यणयन्तु’⁸ । ‘पर्या-
णीयाहवनीयस्य’⁹ । ‘प्राणाय स्वाहा’¹⁰ । ‘अनु प्राण्यात्प्रथ-
माम्’¹¹ । अवर्णव्यवेत इति किं? ‘परि मिनुयात्’¹² । ‘प्रमि-
नाम’ व्रतानि’¹³ ॥ ५ ॥

अपिशब्देनात्र परिप्रपूर्व इत्यन¹⁴योरेन्वादेशः । न केवलम्,
न्यस्य । कुतः? अवर्णग्रहणसामर्थ्यात् । परिप्रपूर्वस्य ह्रस्वदी-
र्घाभ्यां¹⁵ व्यवायोऽस्ति । प्रपूर्वस्य त्वकारेणैव । तावन्मात्रान्वा-
देशे त्वकारव्यवेत इति द्रूयात् । प्रतिपत्तिलाघवात् । तथा ‘न-
तकारपरः’ (७-१६) इति प्रतिषेधसामर्थ्याच्च परिपूर्वोऽप्यन्वा-

¹ सं. ६-२-१.

² सं. ४-६-१०.

³ सं. २-२-१२.

⁴ सं. १-८-२२.

⁵ सं. २-३-४.

⁶ सं. १-३-५.

⁷ व्यवेतोपि.

⁸ सं. २-३-४.

⁹ सं. ७-१-६.

¹⁰ सं. ५-१-१९.

¹¹ सं. ५-५-५.

¹² सं. ६-२-६.

¹³ सं. १-१-१४.

¹⁴ परिपूर्वः प्रपूर्व इत्युभः, ¹⁵ हि ह्रस्वदीर्घाभ्यां.

दिदयते । स हि तदेकविध्यः । अननन्तराथोऽयमारम्भः । परि-
पूर्वः प्रपूर्वश्च अवर्णव्यवेतो नकारो णत्वमाप्नोति । “अग्रं पर्य-
णयत्”^१ । ‘आप्नोद्ग्रं पर्याणीयाहवनीयस्य’^२ । ‘प्राणाय स्वाहा’^३ ।
अवर्णेति किम् ? ‘प्रेन्द्राप्नो विश्वा’^४ । ‘इन्द्रः प्र स्रौतु’^५ ॥ ६ ॥

वाहनउह्यमानोयानमयन्यवेनवञ्च ॥ ६ ॥

वाहनः, उह्यमानः, यानं, अयन्, यवेन, वन् एषु ग्रहणेषु
चकाराकृष्टप्रपूर्वेषु नकारो णत्वं भजते । यथा—‘प्रवाहणो वह्नि-
रसि’^७ । ‘मोह्यमाणोऽधिपतिः’^८ । ‘प्रयाणमन्वन्धे’^९ । अय-
नितिपदेकदेशो बहुपादानार्थः । ‘तरमादादित्यः प्रायणीयः’^{१०} ।
‘प्रायणीयं कार्यम्’^{११} । ‘प्रायणमेवा प्रतिष्ठा’^{१२-१३} । ‘प्रायणीयस्य
पुरोऽनुवाक्याः’^{१४} । ‘प्रायणीयेऽहन्’^{१५} । ‘प्रयवेण पञ्च’^{१६} । वह्नि-
ति पदेकदेशो बहुपादानार्थः । ‘यदि वा तावत्प्रवणम्’^{१७} । ‘आ-
हवनीयात्प्रवणं स्यात्’^{१८} । अन्वादेशेन किम् ? ‘असि हव्य-
वाहनः’^{१९} । ‘उदयनं वेद’^{२०} ॥ ६ ॥

१ सं. २-३-४.

२ सं. ७-१-६.

३ सं. ७-१-१९.

४ सं. ४-२-११.

५ „ ३-५-५.

६ ‘परिमिनुयात्’ (सं. ६-२-६.) इति काचित्कं प्रत्युदाहरणान्तरम्.

७ „ १-३-३.

८ सं. ४-४-९.

९ „ ४-१-१.

१० „ ६-१-५.

११ „ १-६-११.

१२ ‘प्रायणं प्रतिष्ठाम्’.

(सं. १-६-११.)

१३ सं. ७-२-८.

१४ सं. ४-३-११.

१५ सं. ३-४-१२.

१६ सं. ६-२-६.

अयमप्यनन्तरार्थ आरम्भः । चशब्देन प्रपूर्वं इत्यन्वा-
दिश्यते । वाहन इत्यादिषु नकारः प्रशब्दे पूर्वे णत्वमाप्नोति ।
वाहनः—“प्रवाहणो वहिः”¹ । उह्यमानः—“प्रोह्यमाणः”² । या-
नम्—“यस्य प्रयाणम्”³ । अयन्निति पदैकदेशः अनेकसङ्गहार्थः ।
“यो वै यज्ञस्य प्रायणं प्रतिष्ठाम्”⁴ । “प्रायणीये च”⁵ । यवेन-
“तासामु यन्ति प्रयवेण”⁶ । वन्निति पदैकदेशग्रहणमुत्तरार्थम् ।
“यदि वा तावत्प्रवणमासीत्”⁷ । अन्वादेशेन किम् ? ‘अग्नेः
पुरीषवाहनः’⁸ । ‘उदयनं वेद’⁹ । ‘अकृन्तन् यवेन’¹⁰ । ‘स्तेना-
सस्तस्करा वने’¹¹ ॥ ६ ॥

प्रापूर्वश्च ॥ ७ ॥

चकाराकृष्टे¹² वन्निति ग्रहणे नकारः प्रा इत्येवंपूर्वो णकारं
भजते । यथा—‘प्रावणेभिस्सजोपसः’¹³ ॥ ७ ॥

चशब्देन वन्नित्यन्वादिश्यते । प्रापूर्वो वन्नित्यत्र नकारो
णत्वमाप्नोति । ‘प्रावणेभिस्सजोपसः’¹³ ॥ ७ ॥

इन्द्रोऽयजुःपूर्वं एनं केन ॥ ८ ॥

इन्द्रः, अयजुः इत्येवंपूर्वयो¹⁴ रेनं केन इत्येतयोर्नकारो णत्वं

¹ सं. १-३-३.

² सं. ४-४-९.

³ सं. ४-१-१.

⁴ सं. १-६-११.

⁵ „ ३-६-२०.

⁶ „ ४-३-११.

⁷ „ २-४-१२.

⁸ „ ४-२-४.

⁹ „ २-६-८.

¹⁰ „ ४-१-१०.

¹¹ चकाराकृष्ट.

¹² „ ४-२-४.

¹³ „ पूर्वः.

भजते । यथा—‘इन्द्र एणं प्रथमः’^१ । ‘अयजुष्केण क्रियते’^२ ।
‘एवम्पूर्व इति किं?’ ‘रुद्र एनं भूत्वा’^३ । ‘ब्रह्मवादिनः केन’^४
‘एनं केनेति किं?’ ‘इन्द्रो नेपदति’^५ ॥ ८ ॥

इन्द्रः, अयजुः इत्यनयोः पूर्वयोः यथाक्रमं एनं केन इ-
त्यनयोः नकारो णत्थमाप्नोति । ‘इन्द्र एणं प्रथमः’^१ । ‘अय-
जुष्केण’^२ । एवंपूर्व इति किम्? ‘ईश्वरा एनं प्रवहः’^३ । ‘प्री-
क्षोः केनाप इति’^४ । एनमिति किम्?^५ ‘इन्द्रो नस्तत्र वृ-
त्रहा’^६ । केनेत्यजुके विधिनिर्विषयस्स्यात् । अनन्तरासम्भवात् ॥

नृश्रीपूर्वो मनाः ॥ ९ ॥

नृ श्री इत्येवम्पूर्वो मना इत्यत्र नकारो णकारं भजते । यथा—
‘नृमणा अजस्रम्’^{१०} । ‘श्रीमणाश्शतपयाः’^{११} । ‘एवम्पूर्व इति किं?’
‘सुमना उपागहि’^{१२} ॥ ९ ॥

नृ श्री इत्यनयोः पूर्वयोर्मना इति नकारो णत्थमाप्नोति ।
‘नृमणा अजस्रम्’^{१०} । ‘श्रीमणाश्शतपयाः’^{११} । नृश्रीपूर्व इति
किम्? ‘यो हतमनाः’^{१३} । मना इत्यजुके विधिनिर्विषयस्स्यात् ।
अनन्तरासम्भवात् ॥ ९ ॥

१ सं. ४-६-३.

२ सं. ६-१-२.

३ सं. ३-४-१०.

४ „ ७-४-१०.

५ सं. ५-७-२.

६ „ ३-४-९.

७ „ २-६-५.

८ अनन्तरं मा भूत् इत्यपि प्रत्युदाहरणात्पूर्वं पाठः.

९ „ ४-६-४.

१० „ १-३-१४.

११ सं. ४-६-३.

१२ „ ३-३-११.

१३ „ २-२-८.

अङ्गानामोनेगानिगानां ग्यानियामेन ॥ १० ॥

अङ्गानां, ओने, गानि, गानां, ग्यानि, यामेन. एषु नकारः
संहितायां णत्वं भजते । यथा—‘यत्त्र्यङ्गाणां५ समवद्यति’^१ ।
‘आयुषि दुरोणे’^२ । ‘अति दुर्गाणि विश्वा’^३ । ‘पुरोगाणां चक्षुषे’^४ ।
‘सुवर्ग्याण्यासन्’^५ । ‘अन्तर्यामिणान्तरधत्त’^६ ॥ १० ॥

अङ्गानामित्यादिष्विङ्ग्योत्तरपदेषु नकारोऽवग्रहसंहितायां
णत्वमाप्नोति । अङ्गानाम्—‘यत्त्र्यङ्गाणां५ समवद्यति’^१ । ओने—
‘वायविष्टये दुरोणे’^२ । गानि—‘अति दुर्गाणि विश्वा’^३ । गानां—
‘सखीनां पुरोगाणाम्’^४ । ग्यानि—‘सुवर्ग्याण्यासन्’^५ । यामेन—
‘तानिन्द्रोऽन्तर्यामेण’^६ ॥ १० ॥

रपःपूर्वो हवन्यह्वेहन् ॥ ११ ॥

हवनी, अह्वे, हन् एषु ग्रहणेषु नकारो रेफपूर्वः प इत्ये-
वम्पूर्वो वा णत्वं भजते । यथा—‘अग्निहोत्रहवणी च’^१ ।
‘शरद्यपराह्वे’^२ । हन्निति पदैकदेशो बहुपादानार्थः । ‘रक्षोहणम्’^३
‘वेष्णवी रक्षोहणौ’^४ । ‘वृत्रहणं पुरन्दरम्’^५ । एवम्पूर्व इति
किं ? ‘साह एवास्मे’^६ । ‘वल्लहन्’^७ ॥ ११ ॥

१ सं. ६-३-१०.

२ सं. १-२-१४.

३ सं. १-१-१४.

४ सं. ३-२-४.

५ सं. ६-३-६.

६ सं. ६-४-६.

७ सं. ३-२-१२.

८ सं. १-६-८.

९ सं. २-१-२.

१० „ १-३-२.

११ सं. ३-५-११.

१२ सं. ६-६-११.

र प इत्यनयोः पदान्तयोः पूर्वयोः हवनी अहे हन्
इत्येतेषां नकारो णत्वमाप्नोति । रपूर्वस्तावत्—‘अग्निहोत्रहव-
णी च’^१ । ‘अपरान्ते’^२ । हन्नितिपदैकदेशोऽपि ग्राह्य एव । प-
दमात्रग्रहणे तु प इति निमित्तग्रहणमनर्थकं स्यात् । तत्पूर्व-
कार्यभाजोऽसम्भवात् । रपूर्वस्य तु हन्पदस्य सम्भवेऽपि^३
तद्वीर्यस्य विधेः ‘अन्तश्च’ (१-१६) इति निषेधस्य चैकविषय-
त्वाद्विधিনিषेधाद्युभायप्यनारम्भणीयौ स्याताम् । तत्सामर्थ्यात्प-
दैकदेशस्याप्यत्र ग्रहणं युक्तमिति स उदाह्रियते—‘वृत्रहणं
‘पुरन्दरम्’^४ । ‘वृत्रहणा जुपेथाम्’^५ । पःपूर्वस्तु हन्शब्द एव
‘सम्भवति’ । स च पदैकदेश एव ‘रक्षोहणं वाजिनम्’^६ । ‘रक्षो-
हणः’^७ । एवंपूर्वं इति किम् ? ‘पण्यहे’^८ । ‘न नि हन्यात्’^९ ।
‘हवनीशब्दप्रत्युदाहरणं शास्त्रान्तरे ॥ ११ ॥



रूपूर्वो मयान्यनी ॥ १२ ॥

मयानि, अनी इत्यत्र रूपूर्वो^{१०} नकारो णत्वं भजते । यथा—
‘दारुमयाणि पात्राणि’^{११} । ‘त्वे वसूनि पुर्वणीक’^{१२} । एवम्पूर्वं
इति किं ? ‘यानि मृन्मयानि’^{१३} । ‘अग्नयेऽनीकवते’^{१४} । रेफ-
ग्रहणेन किं ? ‘स्वनीकसन्दृक्’^{१५} ॥ १२ ॥

१ सं. १-६-८.

२ सं. २-१-२.

३ तत्पूर्वकस्य का.

४ पदत्वसम्भवे.

५ „ ३-६-२१.

६ सं. १-१-१४.

७ सम्भवे.

८ सं. १-२-१४.

९ सं. १-३-२.

१० „ ५-५-१५.

११ सं. २-६-१०.

१२ इत्येतयो रूपूर्वयोः.

१३ सं. ६-४-७.

१४ सं. १-३-१४.

१५ सं. १-८-४.

१६ सं. ४-३-१३.

रुशब्दे पदान्ते पूर्वं मयानि, अनी इत्यनयोः नकारो ण-
त्वमाप्नोति । 'यानि हि दासमयाणि' ¹ । 'त्वं वसुनि पुर्वणोक' ² ।
एवं पूर्वं इति किम् ? 'अदमन्मयानि' ³ । 'स्वनोकसन्दक्' ⁴ ॥

—0—

वाघाप⁵ पूर्वस्तष्टम् ॥ १३ ॥

वाघा इत्येवम्पूर्वः पकारपूर्वश्च तकारः, टकारमापद्यते यथा—
'दावाघाट इति दारु—आघातः' ⁶ । 'आयुष्ट आयुर्दाः' ⁷ । वाघा
इति किं ? 'प्रघात आदित्यानाम्' ⁸ । पपूर्वं इति किम् ? 'अग्निस्ते
तेजः' ⁹ ॥ १३ ॥

एवं नानापदीयनिमित्तं नकारस्य णत्वं विहितम् । तस्य
प्रतिषेधश्च वक्ष्यते । अत्रान्तरं तथयोर्द्वयोरपि मूर्धन्यादेशो
विधीयते । रूपूर्वस्यानुवृत्तिर्लभ्यत इति—

रूपूर्वं इत्यनुवर्तत इत्युक्तम् । आघापूर्वं इति तु कार्यभाज
एव विशेषणमात्रं न निमित्तोपयन्धौ कार्यभापपदैकदेशत्वात् ¹⁰ । पपू-
र्वं इत्यपि तथा नानापदीयत्वनियमाभावात् । तदयमर्थः—रुशब्दे
पूर्वं आघाशब्दात्परस्य ¹¹ तकारस्य टत्वं भवतीति, तथा पूर्व-

¹ स. ६-४-७.

² स. १-३-२६.

³ म. ३-४-११.

⁴ „ ४-३-१३.

⁵ आघाप इति वैदिकभरणपाठः.

⁶ सं. ५-५-१५.

⁷ स. २-५-१३.

⁸ स. ६-१-१.

⁹ „ १-१-२०.

¹⁰ तत्परस्य तकारस्य टत्वदर्शनाच्च इत्यधिकः पाठः.

¹¹ रुशब्दपूर्वस्य.

पदे निमित्ते 'पकारात्परस्य* । नन्वत्र कुतः पूर्वपदस्य निमित्तत्वम्? आघापूर्वेण समभिव्याहारात् पदादिमध्यवर्तिनां मूर्धन्यादेशानां पूर्वपदनिमित्तत्वदर्शनाच्च । आघा—‘दाघाघाटः’^१ । प—‘अग्निष्टद्विभ्वम्’^२ । ‘विप्रा वर्धन्ति सुष्टुतम्’^३ । आघापूर्व इति किम्? ‘उरु ते यज्ञपतिः प्रथताम्’^४ । पूर्वस्य पस्य^५ ट्कारनिमित्तत्वे वर्णसंहिता स्यात् । नानापदीयत्वनियमाभावात् । आघापूर्वस्तष्टमित्येतावदत्रोक्त्या वर्णसंहिताऽधिकारे पपूर्वस्तष्टमित्युक्तं चोद्धिस्तरस्स्यात् । तस्मादत्र पूर्वपदस्य निमित्तत्वमाश्रयितव्यम्-आघापूर्वस्य तु पूर्वपदमात्रनिमित्तत्वे आकारघाशब्दयोः पृथग्विशेषणशङ्कया ‘तेज एवात्मन्धत्ते’^६ । ‘वयं सङ्घातं जेषम’^७ इत्यादौ दत्तं स्यात् । रूपूर्वानुष्टौ तु आघाशब्द एक एवैतद्विशेषणं^८ सिद्धयति । अन्ये त्वस्य सूत्रस्य आदितो वकारमधिकं पठन्तो घाघाशब्दं पकारं चैव निमित्तमाहुः । तेषां वर्णसंहितापत्तेर्णत्वविधिनिषेधयोर्मध्ये सङ्कतिर्न स्यात् ॥ १३ ॥

थश्च ठम् ॥ १४ ॥

वकारः पकारपूर्वत्वाकर्षकः । थकारः पकारपूर्वः, ठकारं भजते । यथा—‘गोष्ठं मा’^{१०} । एवम्पूर्व इति किं? “गच्छ गोस्थानम्”^{११} ॥ १४ ॥

* इति उदे पूर्वे आघाघाटदाघाघाटः एवमादे इर्त्ते पकारात्परस्य त्कार-

टत्वमाप्नोति, इति पाठान्तरम्.

^१ स. १-१-१०.

^२ स. १-१-१४.

^३ स. १-४-४६.

^४ स. १-१-८.

^५ पूर्वस्य.

^६ स. १-५-८.

^७ स. १-१-५.

^८ कार्यभाज एक विशेषणमिति. ^९ प.

^{१०} स. १-१-१०.

^{११} सं. १-१-९.

चशब्दान्वादिष्टपपूर्वस्थकारः पूर्वपदसंहितायां ठत्वमाप्नोति ।
 'आपो हिष्टा मयोभुव' ^१ । 'यविष्ट' ^२ 'आखरेष्टः' ^३ । अन्वादेशेन
 किं? 'चायस्थ' ^४ । नन्वत्र पकारस्य निमित्तत्वेऽप्युपपत्तेः किमर्थं
 निमित्तान्तराश्रयणगौरवमभ्युपगम्यते? नैतदस्ति । न हेतदर्थ-
 मिह पृथक्पदसंहिता परिगृह्यते । किन्त्वन्यार्थं परिगृहीताऽपि
 सम्यध्यते । अतो न गौरवदोषः ॥ १४ ॥

—८०—

न तकारपरः ॥ १५ ॥

वाचापादिविधिरनधिकृतत्वादुत्पन्नप्रध्वंसी । तस्मादत्र ^१ नायं निषेधः
 किन्तु प्रकृतो णत्वविधिरेन विषयीक्रियते । तकारपरो नकारो
 णत्वं नापद्यते । यथा—'पर्यन्तरिक्षात्' ^२ । 'पारीपरिपरीप्रपूर्वः'
 'अवर्णव्यवेतोपि' (७-४, ९) इत्येताभ्यां प्राप्तिः ॥ १५ ॥

अत्र नकारस्य मूर्धन्यादेशः प्रतिषिध्यते । नानन्तरयोस्तथयोः ।
 कुतः? सम्भवात्सम्भवाभ्याम् । तदयमर्थः—तकारपरो नकारो णत्वं
 न प्राप्नोति । 'पर्यन्तरिक्षात्' ^३ । 'अवर्णव्यवेतोपि' (७-९) इति
 प्राप्तिः ॥ १५ ॥

—८१—

नह्यतिनूनंनृत्यन्त्यन्योऽन्याभिरन्यान्यन्त-
 श्रान्तश्च ॥ १६ ॥

नकारो निषेधारूपकः । नह्यति, नूनं, नृत्यन्ति, अन्यः, अन्या-

^१ म. ४-१-१.

^२ म. २-४-१६.

^३ म. १-१-११.

^४ म. १-१-१.

^५ तैत्तिरीय.

^६ तस्मात्तत्र.

^७ म. १-१-१०.

भिः, अन्यानि एतेषु ग्रहणेषु नकारः, पदान्तश्च नकारो णत्वं न भजते । यथा—‘वाससा पर्यानहति’^१ । “अवर्णव्यवेतोऽपि”^२ (७-६) इति प्राप्तिः । ‘प्रनूनं पूर्णवन्धुरः’^३ । ‘परि नृत्यन्ति पदो निघ्नतीः’^४ । ‘प्रान्यश्शसति’^५ । ‘प्रान्याभिर्यच्छति’^६ । ‘प्रान्यानि पात्राणि’^७ । ‘पारीपरिपरीप्रपूर्वः’ (७-४) इत्येषां प्राप्तिः । अनित्येतावता सिद्धे, अन्योऽन्याभिरन्यानीति किं प्रतिपदपाठेन ? ‘अनुप्राणयात्प्रथमाम्’^८ इत्यत्र नेप निषेधः प्रसरति^९ । पदान्तो नकारो णत्वं न भजते । यथा—‘वृत्रहन्धूर विद्वान्’^{१०} । ‘रपः पूर्वः’ (७-११) इति प्राप्तिः ॥ १६ ॥

इति त्रिभाष्यरत्ने प्रातिशाख्यविवरणे सप्तमोऽध्यायः.

नहतीत्यादिषु यो नकारः यश्च पदान्तः स णत्वं न प्राप्नोति । नहति—‘वाससा पर्यानहति’^१ । नूनम्—‘प्रनूनं पूर्णवन्धुरः’^२ । नृत्यन्ति—‘मार्जालीयं परि नृत्यन्ति’^३ । अन्यः—‘प्रान्यश्शसति’^४ । अन्याभिः—‘प्रान्याभिर्यच्छति’^५ । अन्यानि—‘प्रान्यानि पात्राणि’^६ । ‘पारीपरिपरी’ (७-४, ५) इत्यादिसूत्रद्वयेन प्राप्तिः । अन् इति सामान्यरूपग्रहणे ‘अग्रं पर्यणयत्’^{११} इत्यादेरकारव्यवेतस्य सर्वस्य प्रतिषेधप्रसङ्गात् ‘अवर्णव्यवेतोऽपि’ (७-६) इति सूत्रस्य व्याकोपस्स्यात् । अन्तः—‘आ तिष्ठ वृ-

^१ सं. ६-१-११.

^२ „ १-८-५.

^३ सं. ७-५-१०.

^४ सं. ७-५-१.

^५ सं. ५-१-६.

^६ „ ६-६-११.

^७ „ ५-५-५.

^८ प्रसरत्विति.

^९ पदादि यथान्तं क्वाचित्कः

पाठः

^{१०} सं. १-४-४२.

^{११} „ २-३-४.

ब्रह्मरथम्^१ । 'रयः पूर्वः' (७-११) इति प्राप्तिः । ननु—'इन्द्रा-
य त्या वृत्रघ्ने'^२ इत्यादौ हन्शब्दविकारत्वात् 'अपि विकृतम्'
(१-५१) इति घकारात्परस्य नकारस्य यत्वं कस्मान्न भवति ?
तदुच्यते—'पदग्रहणेषु पदं गम्येत' (१-५०) इत्यस्मिन्विषये हि
'अपि विकृतम्' (१-५१) इति विधिर्भवति । इह तु पदं गम्येत
इति न नियमः इत्युपपादितम् । यश्च एतच्छास्त्रविहितविका-
रयोगि तदेव विकृतं गृह्यते । ततश्च 'अपि विकृतम्' (१-५१)
इति परिभाषाया नायं विषय इति प्रापकाभावादेव न भवति ।
न हि वृत्रघ्न इत्यादौ हन्शब्दांशस्य समान्नायसिद्धं मूलशा-
स्त्रसिद्धं वा पदत्वमस्ति । न चास्मिन् शास्त्रे तस्योपधालोपो
यत्वं वा विधीयते । मूलशास्त्रविहितानामपि विकाराणामिह
परिग्रहे तेषां सर्वेषामवश्यं वेद्यत्वापत्तेस्तत्सापेक्षमिदं शास्त्रं
ततोऽपि गुरतरं सल्लाघवार्थतारम्भहेतुमतीयात् । अत एव 'पारो-
परिपरो' (७-४) इत्येवमादिषु नैकशब्दग्रहणं क्रियते । तस्मा-
देतच्छास्त्रविहितादेव विकाराद्विकृतमिह गृह्यत इत्यलमति-
प्रसङ्गेन ॥ १६ ॥

इत्याचार्यगार्ग्यगोपालमिश्रविरचिते वैदिकाभरणाख्ये
प्रातिशाख्यव्याख्याने सप्तमोऽध्यायः.

अथाष्टमोऽध्यायः.

अथ प्रथमः ॥ १ ॥

अथेत्ययमधिकारः । प्रथम इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्, इत उत्तरं
यद्वक्ष्यामः । ‘अथ विसर्जनीयः’ (८-९) इतिपर्यन्तोऽयम-
धिकारः ॥ १ ॥

इह प्रथमो विशेषचर्णः^१ कार्यभाक्त्वेन अधिक्रियते । तस्यै-
वात्र विकारात् अन्यस्य आऽधिकारात् ॥ १ ॥



उत्तमपर उत्तमः सवर्गीयम् ॥ २ ॥

उत्तमपरः प्रथम आत्मनः सवर्गीयमुत्तममापद्यते । यथा—
‘वाङ् आसन्’^३ । ‘पण्वत्यै स्वाहा’^४ । ‘तन्महेन्द्रस्य’^५ । एव-
म्पर इति किं ? ‘वाक्त् आ प्यायताम्’^६ । प्रथम इति किं ? ‘इमां
नो वाचम्’^७ । उत्तमः परो यस्मादसौ उत्तमपरः ॥ २ ॥

उत्तमे पदादौ परतः प्रथमः स्वसमानवर्गीयं उत्तमं प्रति-
पद्यते । “वाङ् आसन्”^३ । ‘पण्वत्यै स्वाहा’^४ । “अवता-

^१ विसर्जनीयपर्यन्तो.

^२ प्रथमस्थो वर्णः.

^३ स. ५-६-९.

^४ छं. ७-२-१५.

^५ ,, ६-५-५.

^६ ,, १-३-९.

^७ सं. ६-४-७.

न्मा नाथितम्^१ । उत्तरसूत्रस्यायमपवादः । उत्तमपर इति किम् ?
 'हव्यवाङ्मुह्यस्यः'^२ । पदसंहितायां किम् ? 'रुक्ममुप
 दधाति'^३ ॥ २ ॥

तृतीयः स्वरघोषवत्परः ॥ ३ ॥

स्वरपरो वा घोषवत्परो वा^४ प्रथमः सर्वाङ्गं तृतीयमापद्यते ।
 यथा—'ऋधगयाङ्मुह्यस्यः'^५ । 'यद्दे होता'^६ इत्यादि । स्वराश्च
 घोषवन्तश्च स्वरघोषवन्तः ते परे यस्मादसौ तथोक्तः ॥ ३ ॥

स्वरेषु घोषवत्सु च पदादिषु परतः प्रथमस्तृतीयं
 प्रपद्यते । 'प्रागयाङ्मुह्यस्यः'^७ । 'विराजसि'^८ । 'हव्य-
 वाङ्मुह्यस्यः'^९ । 'तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्'^{१०} । 'तद्धिरण्यमभवत्'^{११}
 एतत्पर इति किम् ? 'ऋक्च मे'^{१२} । पदसंहितायां किम् ? 'त्रिक-
 कुदा एष यज्ञः'^{१३} । 'परिपतये त्वा गृह्णामि'^{१४} ॥ ३ ॥

ककुब्ज मकारपरः ॥ ४ ॥

ककुब्जस्मिन् ग्रहणे अन्त्यो वर्णो मकारपरः, चकाराकृष्टं
 तृतीयं सर्वाङ्गमापद्यते । यथा—'ककुब्जान्प्रतूर्तिः'^{१५} । ककु-

^१सं. १-२-१२.^२सं. १-४-४६.^३सं. ५-२-७.^४स्वरपरो घोषवत्परश्च.^५सं. १-४-४४.^६सं. २-२-९.^७सं. १-४-१.^८सं. १-३-२.^९सं. १-५-१.^{१०}सं. ६-१-७.^{११}सं. ४-३-९.^{१२}सं. ७-२-५.^{१३}सं. १-२-१०.^{१४}सं. १-७-३.

दिति किं ? 'य उन्माद्येत्' ^१। एवम्पर इति किं ? 'ककुच्छ-
न्दः' ^२ । मकारः परो यस्मादसौ मकारपरः । 'उत्तमपर उत्त-
मः सवर्गीयम्' (८-२) इत्यस्यापवादोऽयम् ॥ ४ ॥

चशब्देन तृतीयमित्यन्वादिश्यते । ककुदित्यत्र प्रथमः सृताय-
मापद्यते ^३ मकारे पदादौ परतः । 'ककुञ्चान्' ^४ । ककुदिति किम् ?
'उन्माद्येत्' ^१ । मकारपर इति किम् ? 'ककुच्छन्दः' ^२ 'उत्तम-
पर उत्तमम्' (८-२) इत्यस्यापवादः ॥ ४ ॥

अथ विसर्जनीयः ॥ ५ ॥

अथेत्ययमधिकारः । अथशब्दो विसर्जनीयं लक्ष्यत्वेनाधिक-
रोति, इत उत्तरं यदुच्यते । 'अथ स्वरपरो यकारम्' (९-१०)
इत्यवधिभूतोऽयमधिकारः ॥ ५ ॥

विसर्जनीयः कार्यभाक्त्वेनाधिक्रियते । अन्यस्य आऽभिधा-
नात् ॥ ५ ॥

रेफमेतेषु ॥ ६ ॥

एतेषु स्वरेषु वोषवत्सु च परतः विसर्जनीयो रेफमापद्यते ।
यथा—'तदग्निराह' ^५ । 'आशीर्म ऊर्जम्' ^६ । एतेष्विति बहुवच-

^१ सं. ३-४-८.

^२ सं. ४-३-१२.

^३ 'ककुदित्यस्मिन्ग्रहणेऽन्त्यो वर्णो मकारपरः प्रथमः सवर्गीयं तृतीयमापद्यते'
इति पाठान्तरम्.

^४ सं. १-७-७.

^५ सं. ४-२-८.

^६ सं. ३-२-८.

नान्तस्य सर्वनाम्नो निर्देशात् स्वरघोषवतां परनिमित्तानामुपादानं
तेषामेव प्रकृतत्वात् । एतेष्विति किं ? 'अग्निश्च म इन्द्रश्च मे' ¹ ॥

एतेषु आसन्नेषु स्वरेषु घोषवत्सु च परतः विसर्जनीयो रेफं
प्रपद्यते । 'प्रजावतोरनमीचाः' ² । 'अग्निर्गृहपतिः' ³ । 'मयोभूर्वातः' ⁴
एतेष्विति किम् ? 'महि चर्चः क्षत्रियाय' ⁵ ॥ ६ ॥



न रेफपरः ॥ ७ ॥

रेफपरो विसर्जनीयो रेफं नापद्यते । यथा—'सुवो रोहाव' ⁶
'अहोरात्रे' ⁷ । घोषवत्त्वाद्देफस्य पूर्वविधिप्राप्तिः । रेफः परो य-
स्मादसौ रेफपरः ॥ ७ ॥

रेफपरो⁸ विसर्जनीयो रेफं न प्रपद्यते । 'जाय एहि सुवो
रोहाव' ⁶ । 'अश्वा रथेभिः' ⁹ ॥ ७ ॥



द्वारभार्वाह्रारविभरजीगरकरनन्तर्विवस्सुवः
पुनरहरहःप्रातर्वस्तश्शमितस्सवितस्स-
नुतस्स्तनुतस्स्तोतर्होतःपितमार्तिर्यष्टरे—
एतेष्टस्त्वष्टः ॥ ८ ॥

हाः, अभाः, वाः, हाः, अविमः, अजीगः, अकः, अनन्तः,

¹ सं. ४-७-६. ² सं. १-२-१. ³ सं. २-४-६. ⁴ सं. ७-४-१७.

⁵ सं. १-८-१२. ⁶ „ १-७-९. ⁷ „ १-५-९. ⁸ „ रेफे परतः.

⁹ „ ४-६-६.

विवः, सुवः, पुनः, अहरहः, प्रातः, वस्तः, शमितः, सवितः,
 सनुतः, स्तनुतः स्तोतः, होतः, पितः, मातः, यष्टः, एष्टः, नेष्टः,
 त्वष्टः. एतेषु विसर्जनीयो रेफमापद्यते, स्वरधोषवत्परः । यथा—
 ‘मा द्वार्मित्रस्य’^१ । ‘योनावमारुखा’^२ । ‘तस्माद्वाणामि वो हितम्’^३
 ‘मा मे प्र हारोस्ति वा इदम्’^४ । ‘अविभस्तन्तमविभरन्निभस्तम्’^५ । ‘ओ-
 पधीरजीगरजीगरोपधीरोपधीरजीगः । अजीगरित्यजीगः’^६ । ‘देव-
 त्राडकरजक्षीरेण’^७ । ‘करावरनुदात्ते पदे’ (८-९) इति वक्ष्यति ।
 तेनैतदपि सिध्यति, ‘अप्यकारादि’ (१-९२) इतिवचनादिति
 चेत् । मैवम् । अनुदात्ते कश्चन्दे तद्भवति । इदं त्वन्यस्वरार्थमपि ।
 यथा—‘अर्वाकरकरर्वाडर्वाडकः’^८ आद्युदात्तस्त्वयम् । ‘यज्ञपरूपोऽ-
 नन्तरित्यै’^९ । ‘अन्तरनाद्युदात्ते’ (८-१०) इति वक्ष्यति ।
 तस्मात् । ‘अन्कारादि च’ (१-९३) इतिवचनात् सिद्ध्यतीति
 चेत् । मैवम् । अनाद्युदात्ते तद्भवति । आद्युदात्तस्त्वयमिति ग्र-
 हणम् । ‘च विवर्धिवश्च च विवः । विवरिति विवः’^{१०} । ‘सुव-
 रासि सुवर्मे’^{११} । ‘पुनरासद्य सदनम्’^{१२} । ‘अहरहर हविर्धानिनाम्’^{१३} ।
 ‘अहारहर’ (८-१३) इतीङ्गान्तो निषिध्यत इत्येवंरूपस्यायं
 नियमः । ‘प्रातरुपसदः’^{१४} । ‘दोषावस्तर्धिया वयम्’^{१५} । ‘हवी३-

^१ सं. १-१-४.^२ सं. ४-२-६.^३ सं. ५-६-१.^४ सं. २-४-१२.^५ सं. २-५-१.^६ सं. ४-६-७.^७ सं. ५-१-७.^८ सं. ४-१-२.^९ सं. ५-२-५.^{१०} सं. ४-२-६.^{११} सं. ५-७-६.^{१२} सं. ४-२-३.^{१३} „ २-६-६.^{१४} „ ६-२-३.^{१५} „ १-६-६.

शशमितरिति ^१ । 'देव सवितरेतत्ते' ^२ । 'द्वेपस्सनुतर्युयोतु' ^३ । 'स्तनु-
तः' इति शाखान्तरे । 'एतः स्तोतरेतेन' ^४ । 'होतर्याविष्ठ सुक्रतो
दमूनाः' ^५ । 'मरुतां पितः पितर्मरुतां मरुतां पितः' ^६ । 'पृथिवि
मातर्मा मा हिंसीः' ^७ । 'अग्ने यष्टरिदं नमः' ^८ । 'अशीयेष्टरे-
ष्टरशीयाशीयेष्टः' ^९ । 'नेष्टः पत्नीं पत्नीं नेष्टर्नेष्टः पत्नीम्' ^{१०} । 'शि-
वस्त्वष्टरिहागहि' ^{११} । स्वरघोषवत्पर इति किं ? 'अभिभस्तं भूतानि' ^{१२}
'पुनस्तेऽमेषाम्' ^{१३} । 'अवर्णपूर्वस्तु लुप्यते' (९-९) इति क्वचि-
छोपप्राप्तिः । 'अथ स्वरपरो यकारम्' (९-१०) इति क्वचिद्य-
त्वप्राप्तिः । 'ओकारमस्सर्वोकारपरः' (९-७) इति क्वचिदो-
त्वप्राप्तिः । ता एताः प्राप्तीः प्रतिपेक्षुं द्वारभाराद्यारम्भः ॥ ८ ॥

एतदादीनि रेफादेशविधायकानि सूत्राणि "ओकारमस्स-
र्वोकारपरः" (९-७) इत्यादीनां चतुर्णां सूत्राणामपवादतयाऽऽर-
भ्यन्ते । ह्राः अभाः इत्यादीनां विसर्जनीयः स्वरेषु रेफव्यति-
रिक्तघोषवत्सु च परतः रेफं प्रपद्यते । अत्र 'न रेफपरः' (८-७)
इत्युक्तत्वात् ^{१४} रेफव्यतिरिक्तघोषवत्सु इति लभ्यते । ह्राः—'हृ-
हृत्थ मा द्वार्यसूनाम्' ^{१५} । अभाः—'योनावभारुखा' ^{१६} । चाः—'त-
स्माद्वार्णाभं चो हितम्' ^{१७} । हा—'मा प्रहायवम्' ^{१८} । 'अप्यकारादि'

^१ सं. ६-३-१०.^२ सं. ३-२-७.^३ सं. १-७-१३.^४ „ ७-४-२०.^५ „ १-२-१४.^६ „ ३-३-९.^७ सं. ३-३-२.^८ „ १-१-१२.^९ „ १-२-११.^{१०} सं. ६-६-८.^{११} सं. ३-१-११.^{१२} सं. २-६-१.^{१३} सं. ४-७-१४.^{१४} इत्यस्यानुवृत्त्या.^{१५} सं. १-१-३.^{१६} सं. ४-२-५.^{१७} सं. ५-६-१.^{१८} सं. २-६-२.

(१-९२) इति यचनात् 'पुनराहार्जांतवेदाः' ^१ इत्यप्युदाहरणम् ।
 अविभः—'तां संवत्सरमविभः' ^२ । 'इतिपरोपि' (८-१२) इति
 परमतं वक्ष्यति. तस्मिन् पक्षे इदमुदाहरणम्—'ताम् । संवत्सर-
 मिति सं—वत्सरम् । अविभरिति' ^३ । न च परमतानुसारेण
 कार्यविधिर्नोपपद्यते । "अनुनासिकेऽनुनासिकम्" (१०-११)
 इत्यादिषु दर्शनात् । एवं 'पितः' इत्यादिष्वपि द्रष्टव्यम् । तथाच—
 'अविभः, पितः' इत्यादीनां रेफादेशस्यान्यथोपपन्नत्वाद्भास्य शास्त्र-
 स्य जट्टायां तात्पर्यं शक्यते कल्पयितुम् । अजीगः—“अजीगारि-
 त्यजीगः” ^४ । “ओपधीः । अजीगारिति” ^५ । स एव परमतसिद्ध
 इतिकरणः पदाध्याये क्रमाध्याये च परिग्रहार्थः । अकः—“अ-
 धरा९ अकः । अकरित्वकः” ^६ । 'यज्ञमेवाकर्णयिष्णो' ^७ । ननु 'करा-
 वरनुदात्ते पदे' (८-९) इति वक्ष्यति. ततः “अप्यकारादि”
 (१-९२) इति यचनात् एतदपि सिध्यति । सत्यम् क्वचित्सि-
 द्ध्यति । “अकस्स लोकम्” ^८ इत्यत्र तु न सिद्ध्यति “अक-
 रिति । सः । लोकम्” ^९ । अनन्तः—“अनन्तरायाय” ^{१०} अत्रागुदा-
 त्तत्वात् 'अन्तरनागुदात्ते' (८-१०) इति न भवति । विवः—
 “असतश्च विवः । विवारिति विवः” ^{११} । सुवः—“सुघरसि सुवर्मे” ^{१२}
 पुनः—“पुनरुर्जा” ^{१३} । अहरहः—अहश्शब्दात्परस्मिन्नहश्शब्दे विस-
 र्जनीयो गृह्यते । “योऽहरहराहृत्य” ^{१४} । प्रातः—“वसन्ता प्रात-
 राग्नेयीम्” ^{१५} । वस्तः—“दोषावस्तीर्धिया वयम्” ^{१६} । शमितः—“शृत-
 हवीऽशमितरिति” ^{१७} । सवितः—“देव सवितरेतत्” ^{१८} । सनुतः—

१ सं. ३-२-६. २ सं. २-५-१. ३ सं. ४-६-७. ४ सं. १-१-१३.

५ „ ३-१-१०. ६ „ ४-१-२. ७ „ ६-४-१२. ८ सं. ४-२-८.

९ सं. ६-७-६. १० सं. १-६-३. ११ सं. १-५-९. १२ सं. १-१-२.

१३ सं. १-६-६. १४ सं. ६-३-१०. १५ सं. ३-२-७.

‘सनुत्तयुपोनु’¹ । “स्तनुतः” इति शाखान्तरे । स्तोतः—“एतँ-
स्तोतरेतेन”² । होतः—‘यथा होतर्मनुषः’³ । पितः—“मरुतां पित-
स्तदहम् । पितरिति”⁴ । मातः—‘पृथिवि मातर्मा मा’⁵ । यष्टः—
‘अग्ने यष्टरिदं नमः’⁶ । षष्टः—‘षष्ट रायः । षष्टरिति’⁷ । नेष्टः—
‘नेष्टः पत्नीम् । नेष्टरिति’⁸ । त्वष्टः—‘देव त्वष्टर्वसुरण्य’⁹ । एवम्पर
इति किम् ? ‘सुचञ्च मूर्धा च’¹⁰ ॥ ८ ॥

करावरनुदात्ते पदे ॥ ९ ॥

कः, आवः इत्येतयोर्विसर्जनीयः पदकाले¹¹ अनुदात्ते पदे वर्त-
मानः स्वरघोषवत्परो रेफमापद्यते । यथा—“मिथुया कर्भागधेयम्”¹²
‘सुरुचो वेन आवः । आवरित्यावः’¹³⁻¹⁴ । अनुदात्त इति किं ?
“कोऽस्येश्वरः”¹⁴ । ‘आवो वाजेषु यं जुनाः’¹⁵ । एवम्पर इति
किं ? ‘अधिपामकस्समष्ट्यै’¹⁶ ॥ ९ ॥

फः, आवः इत्यनुदात्ते पदे वर्तमानो विसर्जनीयः रेफं
प्रपद्यते स्वरेषु रेफव्यतिरिक्तघोषवत्सु च परतः । ‘मिथुया क-
र्भागधेयम्’¹² । ‘वेन आवः । आवरित्यावः’¹³ । अनु-
दात्त इति किम् ? ‘कोऽस्येश्वरः’¹⁴ । ‘आवो वाजेषु’¹⁵ । पद

¹ सं. १-७-२३.

³ सं. ७-४-२०.

³ सं. ४-३-१३.

⁴ सं. ३-३-९.

⁵ सं. ३-३-२.

⁶ सं. १-१-१२.

⁷ सं. १-२-११.

⁸ „ ६-५-८.

⁹ सं. १-३-७.

¹⁰ सं. १-७-९.

¹¹ पदकाले इति क्वचिन्न दृश्यते.

¹² सं. ४-२-८.

¹³ कविजय्यरूपमिदमुदाहरणम्. ¹⁴ सं. २-६-७.

¹⁵ „ १-३-१३.

¹⁶ „ ६-१-७.

इति किम्? पदद्वयस्योत्तरपदे मा भूत्. 'आ वोऽर्वाची' ^१। 'आ वो देयास ईमहे' ^२। पदग्रहणपरिभाषया सिद्धे पदे इत्येकवचनान्तस्याधिकस्य प्रयोगादेतत्सिद्धं भवति ॥ ९ ॥

—०—

अन्तरनाद्युदात्ते ॥ १० ॥

अन्तरित्यस्मिन् पदे अनाद्युदात्ते विसर्जनीयः स्वरघोषवत्परो रेफमाप्नोति । यथा—'अन्तरग्ने रुचा' ^३ । 'अग्निमन्तर्भरिष्यन्ती' ^४ 'अन्तर्योमे मघवन्' ^५ । अनाद्युदात्त इति किं? 'एपोऽन्तोऽन्तं मनुष्यः' ^६ । एवम्पर इति किं? 'अन्तस्ते दधामि' ^७ । अन्तोदात्त इति वक्तव्ये बहुस्वरत्वं बहुपादानार्थम् । अन्यथा ह्यन्तोदात्तस्यैव स्यात् । इह तु न स्यात् । 'अन्तर्वेदि मिथुनौ' ^८ 'अन्तर्योमे मघवन्' ^९ । आद्याद्युदात्तः यस्य तत् आद्युदात्तं, न आद्युदात्तं अनाद्युदात्तं तस्मिन् ॥ १० ॥

अन्तरित्यनुदात्ते पदे वर्तमानो विसर्जनीयो रेफमापद्यते स्वरेषु रेफव्यतिरिक्तघोषवत्सु च परतः । 'अन्तर्हर्वन्तरिक्षम्' ^१ 'अन्तर्वेदि सं वोति' ^{१०} । अनाद्युदात्त इति किम्? 'एषान्तो नास्ति यत्' ^{११} ॥ १० ॥

—॥—

^१ सं. १-४-२२.

^२ सं. १-२-१.

^३ सं. ४-१-९.

^४ सं. ४-१-३.

^५ सं. १-४-३.

^६ सं. ७-२-७.

^७ अनाद्युदात्त इति क्वाचित्कः पाठः.

^८ सं. ७-६-९.

^९ अन्तरित्यनुदात्ते. ^{१०} सं. २-४-९.

^{११} सं. ७-३-१.

आवृत्परः ॥ ११ ॥

आवृत् इत्येवम्परो^१ विसर्जनीयो रेफमाप्नोति । यथा—‘जिन्व-
रावृत्त्वाहा^२’ । ‘उग्ररावृत्त्वाहा^२’ । ‘भीमरावृत्त्वाहा^२’ ॥ ११ ॥

आवृच्छन्दे परतो विसर्जनीयो रेफमापद्यते । ‘जिन्वरावृ-
त्त्वाहा^२’ ॥ ११ ॥

इतिपरोऽपि ॥ १२ ॥

अपिशब्द आवृत्परं विसर्जनीयमन्वादिशति । असौ विसर्ज-
नीयः, इतिपरोऽपि रेफमाप्नोति । “इति श्रुतश्श्रुतरितीति श्रुतः”^३
अन्वादेशः किमर्थः ? “हवनश्रुतो हवम्”^३ । इतिः परः यस्मा-
दसौ इतिपरः ॥ १२ ॥

तद्वचमवर्णपूर्वस्य विसर्जनीयस्योभावलोपयत्त्वानां अप-
वादत्वेन ‘ह्रारभार्’ (८-८) इत्यादिसूत्रैः रेफादेश उक्तः ।
तस्याव्यतिरिक्तव्याप्तिश्च परिहरिष्यते^४ । अत्रान्तरे रेफिविसर्ज-
नीयान्तानां ‘ह्रारभार्’ (८-८) इत्यादिपदानां पदाध्याये परमत-
स्तिद्धो विशेष उच्यते—

प्रग्रहाध्यायवद्ववाख्येयम् । योऽयं रेफी कथितः ‘ह्रारभार्’
(८-८) इत्यादिपदेषु विसर्जनीयः स खलु पदाध्याये इतिपरश्च भवति.
केवलश्च । तत्र यस्य संहितायां निमित्तसंयोगाद्रेफत्वमभिव्यज्यते

^१ इत्येतत्परः.

^२ सं. २-४-७.

^३ सं. २-४-१४.

^४ अव्याप्यतिव्याप्ति परिहरिष्यते,

^५ रेफ.

स पदाध्याये केवलः प्रयुज्यते । अन्यत्र त्वितिपरः । यथा—
 'ह्रस्व मा हाः'^१ । 'अग्निश् स्वे योनावभारुत्वा'^२ इति केवलः 'ताम्'
 संवत्सरमिति सं—वत्सरम् । अविभारिति'^३ । "आत् । इत् ।
 ग्रसिष्ठः । ओषधोः । अजोगरिति'^४ । एवमादिरेतिपरः । सोऽ-
 यं बहुचानां पक्षः । अन्ये तु व्याचक्षते—योऽयमावृत्परो वि-
 सर्जनीयः स इतिशब्दे परतो रेफं प्रपद्यते । अस्य 'अवृत्पा-
 दिति श्रुतरावृत्स्वाहा'^५ इत्यत्र "इति श्रुतः"^६ इत्यस्य कमस्य जटो-
 दाहरणमिति "इति श्रुतश्श्रुतारतीति श्रुतः"^७ इति । तदयुक्तम्
 परनिमित्तान्तरवाते विध्यन्तरे विध्यन्तरोक्तपरनिमित्तसम्बन्धस्य
 कार्यभाजस्सम्बन्धायोगात्, तथाऽभ्युपगमे "ओकारमस्सवोऽका-
 रपरः" (१-३) "घोषवत्परश्च" (१-८) इत्यत्रापि अकारपर-
 तया कचिद्वृष्ट्यैव अकारस्यान्यत्र घोषवत्परत्वे ओभावः स्यात्
 "आ घोऽर्वाची"^८ "आ वो देवास ईमहे"^९ इति । इतरस्य तु
 न स्यात् । "अयज्ञो वा एषः"^{१०} "रजनो वै कौण्यः"^{११} इति । किञ्च-
 एवमनुचिताऽपि कृतिराश्रीयेत यदि किञ्चिदनन्यथासिद्धं समा-
 ज्ञानरूपमनया सिद्धयेत्, न त्वेतदस्ति । नन्वेवमनभ्युपगमे इतिश-
 ब्दपरस्य सर्वस्य विसर्जनीयस्व रेफादेशस्स्यात् । "मा प्र हा-
 रावयोर्वं श्रित इति ते अग्रताम्"^{१२} । ततो वरं कचिज्ज-
 श्यां रेफापादनम्,^{१३} तस्यास्त्वसमाज्ञातत्वात् न हि श-
 क्यते वक्तुमयुक्तोऽत्र^{१४} रेफादेश इति । हन्तैवमुचितार्थाप्रतिभान-

१ सं. १-१-४.

४ सं. ४-६-७.

७ सं. १-२-१.

१० सं. २-५-२.

२ सं. ४-२-६.

५ सं. २-४-७.

८ सं. १-५-७.

११ रेफोपादानम्.

३ सं. २-५-१.

६ सं. १-४-२२.

९ सं. २-३-८.

१२ वक्तुं युक्तोऽत्र.

मूलमेतद्व्याख्यानमित्युक्तं भवति । प्रसिद्धो हि रेफिणां अत्य-
क्करेफाणामितिकरणो बहुधाणां पदान्याये तदभावश्च व्यक्करे-
फाणाम् । प्रसिद्धश्चास्मिन्छास्त्रे तत्रतत्र परमतोपन्यासः ।
प्रसिद्धा च यथोक्ता व्याख्या प्रग्रहाध्याये । अतो नेदं सूत्रं रेफा-
देशस्य विधायकं किन्त्वितिकरणस्येति न जटारूपं दूषयितव्यम् ॥

अहारहस्सुवरनिङ्गचान्तः^१ ॥ १३ ॥

अहाः, अहः, सुवः एतेषु पदेषु विसर्जनीयोऽनिङ्गचान्तः
स्वरघोषवत्परो रेफमापद्यते । यथा—“अहार्जातवेदाः”^२ । “अह-
र्देवानामासीत्”^३ । “सुवर्देवा अगन्म”^४ । अनिङ्गचान्त इति
किं? “अभिपूर्वं त्रचहा भवन्ति”^५ । ‘प्रत्यह्स्वपडहो भवति’^६ ।
“देवसुव इति देव—सुवः”^७ । एवम्पर इति किं? ‘एवमुत्तम-
महस्स्यात्’^८ । “सुवश्च मूर्द्धा च”^९ । “हारभार” (८-८)
आदिसूत्रे^{१०} हारित्यनेनैव ग्रहणेन अहाशब्दस्य “अप्यकारादि”
(१-९२) इतिवचनाद्वेफसिद्धौ सत्यामत्र पुनर्वचनमिङ्गचान्तस्य अहाः-
शब्दस्य प्रतिषेधार्थम् । नन्वेव हारिति वक्तव्यं, “अप्यकारा-
दि” (१-९२) इतिवचनेन कार्यसिद्धेः न तु तत्र गौरवदो-

^१ ‘न्ताः’ इति काचित्को बहुवचनान्तपाठः.

^२ सं. ३-२-५.

^३ सं. १-५-९.

^४ सं. १-७-९.

^५ सं. ७-३-९.

^६ „ ७-४-२.

^७ सं. १-८-१०.

^८ „ ७-२-२.

^९ इति सूत्रे.

पापत्तेरिति चेत् । मेवम् । अनिङ्गचान्त इत्युक्तेरनिङ्गचान्तत्वमपि सम्भावनीयम् । तच्च हारित्येवंरूपे ग्रहणे नास्तीत्यत्रेदं विशेषण-
मनर्थकं स्यात् । तथा सत्पेनरूपे मा भूत् किं त्वकारादित्वे
भवतीति जयन्यः पक्षः न तु सरल इति सूत्रेऽहारिति ग्रहणं
सुतरामुपयुज्यते^१ ॥ १३ ॥

ननु 'ह्यारभाद्' (८-८) इत्यादिसूत्रमयुक्तं अव्याप्त्यतिव्याप्ति-
भ्याम् । तथाहि—अहश्शब्दपूर्वकस्याहश्शब्दस्य रेफादेश उक्तः । सोऽ-
तत्पूर्वके न स्यात् 'रात्रिया अध्यहरभि'^२ 'अहर्मासेन'^३ । किञ्च-
हास्तुवश्शब्दाद्यविशेषेण गृहीतौ । तेन 'पडहा भवन्ति'^४ ।
'ये देवा देवस्तुवस्स्थ'^५ इत्याद्यापि स्यात् । तत्परिहारायेदं सू-
त्रमारभ्यते—

अहाः, अहः, सुवः इत्येतेषु विसर्जनायः इङ्गचान्तेतरः
स्वरेषु रेफव्यतिरिक्तघोषवत्सु च परतो रेफं प्रपद्यते । अ-
निङ्गचस्यान्त इति विग्रहस्त्ययुक्तः, सुवश्शब्दे^६ तदसम्भवात् ।
एतेनेङ्गचान्तव्यतिरिक्तस्य अहश्शब्दस्य रेफादेशविधानादव्याप्तिः
परिहृता । "अध्यहरभि"^२ । "अहर्मासेन"^३ । तथा—हास्तुवश्श-
ब्दयोरपि 'ह्यारभाद्' (८-८) इत्यादिसूत्रे आनेङ्गचान्तयोरेव ग्रहण-
मिति तत्रोक्तेः—'पडहा भवन्ति'^४ 'ये देवा देवस्तुवस्स्थ'^५ इत्यादौ

^१ सरलः कुतः ? "अभ्यमानस्य चार्थस्य नैव युक्तं विशेषणम्" इति

न्यायान् सुतरामहारिति ग्रहणमुपयुज्यते इति क्वचित्कः पाठः.

^२ सं. १-६-९.

^३ सं. ६-७-२०.

^४ सु. ७-४-६.

^५ ,, १-८-१०.

^६ 'नुवर्मानुः' (सं. ३-१-२.) इत्यत्र सुवश्शब्दे इति क्वचित् वृत्त्यते.

नातिव्याप्तिः । नन्वेवं सति 'ह्वारभार्' (८-८) इत्यादिसूत्रे सुवर्ग्रहण-
मनर्थकम् । तद्भावेऽपि कार्योपपत्तेः । नैतदस्ति । इह रेफविसर्ज-
नीयान्तानां 'ह्वारभार्' (८-८) इत्यादीनां पदानामितिकरणो विधि-
तिसत्तः स तेषां पुरस्ताद्विधातुं न शक्यते । 'न रेफपरः' (८-७)
इति प्रतिषेधस्यामन्वयापत्तेः । यद्युच्येत व्याख्यानतस्तदन्वयः प्रतिप-
त्स्यत इति । एवमपि 'ह्वारभार्' (८-८) इत्यादिविधिषु 'रेफमेतेषु'
(८-६) 'न रेफपरः' (८-७) इत्यनयोः अनुवृत्तिर्न स्यात् । इति-
करणविधिव्यवधानात् । तस्मात्तेषां पदानां रेफविधेः पर-
त एवेतिकरणो विधातव्यः । तत्र यदि ह्वारित्यादिसूत्रे सु-
वर्ग्रहणं न क्रियते । तदा 'अहारहः' (८-१३) इत्यादिसूत्रमेवास्य सु-
वर्ग्रहणस्य रेफादेशविधायकं स्यात् । ततः परं त्वितिकरणे विधी-
यमाने 'न भिभ्यां परः' (८-१४) इत्यत्र पुनरुवर्ग्रहणं कर्तव्यमिति
तुल्यं शब्दगौरवम् । एवमपि 'न भिभ्यां परः' (८-१४) इत्यादिना
रेफादेशः प्रतिषिध्यते । नेतिकरण इत्येतच्च दुर्बिज्ञानमिति प्रतिपात्ति-
गौरवमधिकं स्यात् । यथान्यासे तु 'आवृत्परः' (८-११) इत्यन्ते
ग्रन्थे सर्वेषां रेफिणां पदानां गृहीतत्वात्तदनन्तरं युक्तमितिक-
रणविधानम् । न चोक्तदोषाः प्रादुष्युरिति सर्वमनवद्यम् ॥१३॥

न भिभ्याम्परः ॥ १४ ॥

सान्निध्येन लब्धः पूर्वसूत्रोक्तो विसर्जनीयो भिः, म्यां इत्येव-
म्परः न रेफमाप्नोति । अर्थात् अहरित्यत्र विसर्जनीयः परि-
गृह्यते । इतरत्र स्थितस्य एवम्परत्वाभावात् । यथा—“उत्त-
रैरहोभिः”^१ । “शमहोभ्याम्”^२ इति ॥ १४ ॥

अहश्शब्दोऽत्रानुवर्तते । नान्यः । कुतः ? सम्भवासम्भ-
वाभ्याम् । अहश्शब्दे विसर्जनीयो रेफं न प्रपद्यते भिः, भ्यां
इत्यनयोः परतः । 'उत्तरैरहोभिः' । 'शमहोभ्याम्' ॥ १४ ॥

अ२ हश्च सर्वेषाम् ॥ १५ ॥

चकारो निषेधाकर्षकः^१ । अ२ह इत्यस्मिन् ग्रहणे विसर्ज-
नीयो न रेफमामोति । "अहारहः" (८-१३) इति प्राप्तिः
अत्र ग्रहणे केचिदनुस्वारमिच्छन्ति केचिन्नेच्छन्ति । सर्वेषां तेषा-
मेष निषेधो भवति अनुस्वारमिच्छद्भिरपि प्राप्तिरेवं प्रतिपाद्यते—

विधेर्मध्यस्थनासिकयो न विरोधो भवेत् स्मृतः ।

तस्मात् कुर्वन्ति^२ कार्योणि वर्णानां धर्म एव तु ॥

इति । यथा—"अ२ह इन्द्रेमवा२होमुचम्"^३ । "अ२होमुचे
प्र भेरम्"^४ ॥ १५ ॥

अ२ह इति सानुस्वारे अहश्शब्दे विसर्जनीयो रेफं न
प्रतिपद्यते—सर्वेषामाचार्याणां मतात् । 'नैनम२हो अश्रोत्यन्तितो
न'^५ । ननु 'अहारहस्सुचः' (८-१३) इति निरनुस्वारे विहितस्य
रेफादेशस्य सानुस्वारे कुतः प्रसङ्गः ? 'तत्र पूर्वपूर्वं प्रथ-

^१ सं. ४-५-१.

^२ सं. १-३-९.

^३ निषेधमाकर्षति.

^४ करोति.

^५ ,, २-२-७.

^६ सं. १-६-१२.

^७ सं. ३-४-११.

मम्' (५-३) इति नियमेन रेफादेशवेळायामनुस्वारागमाभा-
वात् । अत एव 'यवनहस्वरपरेषु' (१२-४) इति लोपविधेः
'अ२हसोऽ२हतिः' (११-४) इत्यपवादं वक्ष्यति । तेन 'स्वरपू-
र्यं व्यञ्जनम्' (१४-१) इत्यस्मिन् विषयेऽपि अनुस्वारात्परस्य
संयोगादेर्द्वित्वं सिद्धं भवति । नन्वनुस्वारागमोऽपि 'आदि-
र२हतिर२होऽ२होः' (१६-२९) इति विशेषेण विधानात् सर्वत्र
भवन्त्सर्वत्रैव रेफादेशं निवर्तयेत् । तत्र । अनुस्वारविधेः वि-
षयविशेषे तद्विधायकत्वात् । यथा चैवं तथाऽनुस्वारविधौ
दर्शयिष्यामः ॥ १९ ॥

अनवर्णपूर्वस्तु रेफपरो लुप्यते ॥ १६ ॥

अवर्णादन्यस्वरपूर्वो विसर्जनीयो रेफपरो लुप्यते । यथा—
“रेवती रमध्वम्”^१ । एवम्पूर्वं इति किं ? “यो रुद्रो अग्नौ”^२
एवम्पर इति किं ? “रेवतीर्नस्सधमादः”^३ । तुशब्दारम्भाद-
वर्णपूर्वोऽपि “द्वारभार्” (८-८) आदीनां विसर्गो लुप्यते,
पूर्वस्वरश्च दीर्घमापद्यते । यथा—“रुक्मो अन्तरन्ता रुक्मो रुक्मो
अन्तः”^४ । तर्हि “मुयो रोहाव”^५ इत्यत्र लोपदीर्घो किं न स्या-
तां द्विरुक्तत्वादिति ब्रूमः । तत् कथं ? “द्वारभार्” (८-८)
आदिसूत्रे, “अहारहत्सुवः” (८-१३) इत्यत्र च । ननु ‘अहो-
रात्रे’^६ इत्यत्र कथमोत्वं ? अन्यागर्गेन ग्रहणमामर्थ्येनेति ब्रूमः । तत्कथं ?

^१ स. १-३-७.^२ स. १-१-९.^३ स. १-७-१३.^४ सं. ४-१-१०.^५ स. १-७-९.^६ सं. १-५-९.

“अहोरात्रे धृतव्रते” (४-११) इति एवंरूपसाम्यात् ‘अहोरात्राम्याम्’^१
 ‘अहोरात्रयोः’^२ इत्यादि विज्ञेयम् । एवञ्चेत् “अधिपवणे” (४-११)
 इति ग्रहणसामर्थ्येनैव पत्वे सिद्धे^३ “न धिपूर्वे” (६-११)
 इति पत्वनिषेधे निषेधो न विधेयः । सत्वम् । सवशब्दस्य ‘अधि-
 पवणे’ (४-११) इति ग्रहणसामर्थ्येन पत्वं सिध्यतु । स्थानशब्दस्य
 कथं सिद्धयेत् ? ग्रहणादिसामर्थ्याभावात् । तस्मात्तदर्थं वा तत्
 सूत्रं सार्थकमिति सन्तोष्यम्* । तदर्थं वेति गुडनिद्रिकान्यायः । त-
 था हि ग्रहणसामर्थ्यादिति गमनिकामात्रं, कण्ठोक्तित्तु विशेषः ।
 ततः सवशब्दार्थमपि ‘न धिपूर्वे’ (६-११) इति सूत्रमिति
 भावः* । अवर्णादन्यः अनवर्णः, असौ पूर्वं यस्मात् सः
 तथोक्तः रेफः परो यस्मादसौ रेफपरः ॥ १६ ॥

अवर्णादन्यस्वरोऽनवर्णः । तत्पूर्वको विसर्जनीयो रेफपरो
 लुप्यते । ‘यवयारातो रक्षोहणः’^४ । ‘यवागू राजन्यस्य’^५ । ‘ए-
 तद्वै प्रजापते रूपम्’^६ । यतत्पूर्वं इति किम् ? । ‘सोमो राजा व-
 द्दणः’^७ । रेफपर इति किम् ? ‘प्रजावतीरनमीवाः’^८ । मूलशास्त्रे
 त्ववर्णपूर्वस्यापि फस्यच्चि ‘रोरि’^९ इति लोपस्मर्यते । स
 खलु ‘सुवो रोहाव’^{१०} इत्याद्यस्मत्समान्नायविरुद्धत्वान्निवर्त्यः । स
 चात्र तुशब्देन निवर्त्यते । तेन ‘सुवो रोक्ष्यामि’^{११} इत्यादिरूप-
 सिद्धिः । कथं तर्हि ? ‘द्यावा क्षामा रुक्मो अन्तर्वि भाति’^{१२} इत्य-

^१ स. २-६-१०. ^२ स. ५-७-१८. ^३ पत्वात्तद्धेः. ^४ य. १-३-२.

^५ स. ६-२-६. ^६ „ ६-७-१. ^७ „ १-८-१४. ^८ „ १-१-१.

^९ पा. ८-३-१४. ^{१०} स. १-७-६. ^{११} „ ४-१-१०.

* एतादृशमध्यगतो ग्रन्थः इहत्येषु सर्वेष्वेव कोशेषूपलभ्यते । परं तु ‘त-
 दर्थं वा’ इति त्रिभाष्यरत्नायकपूर्वावयवभावप्रदर्शनरूपः टिप्पणीरूप-
 तथा प्रथम ग्रन्थकारेण वाऽन्येन वा लेखकेन लिखितः आधुनिकै-
 र्लेखकैः ग्रन्थ एवान्तर्भावित इति समायते ।

त्र 'रुक्मो अन्तरन्ता रुक्मो रुक्मो अन्तः' इति लोपस्ति-
 ध्यति? उक्तमेतत्—जटायं छान्दसरूपाणि न भवन्ति इति ।
 ततो व्याकरणविहितमेव सन्धिकार्यं भवति । तस्मादत्र तु-
 शब्दस्य व्याचर्त्यमेव साध्यमिति 'तुशब्दारम्भादवर्णपूर्वोऽपि
 'ह्वारभार्' (८-८) आदीनां विसर्गो लुप्यते' इति विपरोतार्थव्या-
 ख्यानं गर्हणीयम् ॥ १६ ॥

दीर्घं च पूर्वः ॥ १७ ॥

तस्माद्रेफपरविसर्जनीयाल्लुप्तात् पूर्वोऽपि यः स्वरो ह्रस्वः स
 च दीर्घमापद्यते । यथा—“रुरू रौद्रः”^१ । ‘तित्तिरी रोहित्’^२
 ‘विष्णू रूपम्’^३ । यदा तस्य विसर्जनीयस्य लोपः तदैव दीर्घ-
 त्वं यथा स्यादित्येवमर्थः चशब्दः ॥ १७ ॥

लोपी यो विसर्जनीय उक्तः तस्मात्पूर्वस्वरो यद्यदीर्घस्त-
 प्रोभयं भवति—विसर्जनीयो लुप्यते तस्मात्पूर्वो ह्रस्वश्च दीर्घं
 प्रपद्यत इति । ‘शिशुं न विप्रा मतिमी रिहन्ति’^४ । ‘स भित्तान-
 स्तन्यत् रोचनस्याः’^५ ॥ १७ ॥

एष्टश्च ॥ १८ ॥

एष्टरित्यस्मिन् ग्रहणे विसर्जनीयो रेफपरोऽवर्णपूर्वोऽपि लुप्यते,

^१ मं. ६-१-२०.

^२ प्रि.भा. ८-२६.

^३ सं. ५-५-२९.

^४ सं. ५-५-१६.

^५ सं. ६-२-६.

^६ „ १-४-८.

^७ „ १-२-२४.

पूर्वस्वरश्च दीर्घः । यथा—‘एष्टा रायः’^१ । चशब्दो लोप-
दीर्घयोराकर्षकः । नन्वेतदनुपपन्नम् । ‘द्वारभार्’ (८-८) आद्यन्तः
पातित्वादेष्टरित्यस्य “रुक्भो अन्तरन्ता रुक्भो रुक्मो अन्तः”^२ इतिवत्
“अनवर्णपूर्वस्तु” (८-१६) इत्यत्र तुशब्देन लोपदीर्घसिद्धेः ।
वक्ष्यमाणमतभेदाश्रयत्वज्ञापनाय गृहीतमेतदुपपन्नतरमिति परिहारः ॥

अवर्णपूर्वाधोऽयमारम्भः । चशब्देनानन्तराक्तं कार्यद्वय-
मभ्यादिश्यते । षष्टदशब्दे विसर्जनीयो रेफपरो लुप्यते । ततः
पूर्वो ह्रस्वो दीर्घं प्रपद्यते । ‘एष्टा रायः प्रेये’^३ ॥ १८ ॥

नैकेषाम् ॥ १९ ॥

एकेषां मते एष्टरिति विसर्जनीयो रेफपरो न लुप्यते ।
अत एव पूर्वस्वरदीर्घाभावश्च । किन्तु “घोषवत्परश्च” (९-८)
इत्योत्वम् । यथा—‘एष्टो रायः’^१ । वररुचिमतमेतत् । माहिपेयभाषितं
त्वम्—एष्टरिति विसर्जनीयो रेफपरो न रेफभाषद्यत इति ।
सिद्धरूपमुभयोः समानम् ॥ १९ ॥

एकेषां मते षष्टदशब्दे यथोक्तौ लोपदीर्घौ न भवतः ।
तत्र ‘सुवो रोहाव’^२ इतिवदोत्वं भवति । ‘एष्टो रायः’^३ ॥ १९ ॥

द्वावुत्तमोत्तरीयस्य रेफम् ॥ २० ॥

उत्तमोत्तरीयस्य शाखिनो मते एष्टरिति विसर्जनीयः, तत्परो रेफश्च द्वावेतौ रेफमापद्यते । यथा—“एष्ट रायः”^१ । अद्यमर्थो वाररुचोक्तः । माहिपेयोक्तस्तु द्वावुत्तमोत्तरीय इति कस्य चिन्नाम तन्मते एष्टरिति विसर्जनीयो रेफपरो रेफमापद्यते । यथा—“एष्टर् रायः”^१ इति ॥ २० ॥

उत्तमोत्तरीयो नाम कश्चिद्विपिः । तस्य मते एष्टरिति विसर्जनीयः ततःपरो रेफश्चेति द्वौवर्णावेकं रेफं प्रतिपद्यते । ‘ए-ष्ट रायः’^१ ॥ २० ॥

साङ्कृत्यस्योकारम् ॥ २१ ॥

साङ्कृत्यस्य मते एष्टरिति विसर्जनीयो रेफपर उकारमापद्यते ततः “उवर्णपर ओकारम्” (१०-९) इत्योत्वम् । यथा—“एष्टो रायः”^१ । अस्य च, “नेकेषाम्” (८-१९) इत्यस्य चादेश-भेदाङ्गदः । मिहोदाहरणं तु समानम् ॥ २१ ॥

द्वाविर्ताह नानुवर्तते । अत एवोत्तरसूत्रे एकवचनान्तं विशेषणं वक्ष्यति । तद्वयमर्थः—साङ्कृत्यो नाम कश्चिद्विपिः । तस्य मते एष्टरित्यत्र विसर्जनीयः उकारं प्रतिपद्यते रेफे परतः ॥

ततः 'आद्गुणः'^१ इति मूलशास्त्रप्रक्रियया 'एष्टो रायः'^२ इति रूपं भवति । तथा च प्रक्रियाभेदस्य प्रतिपादनार्थमिदं सूत्रम् । न तु प्रतिषेधाक्षररूपादन्यस्य रूपस्य ॥ २१ ॥

—०—

उख्यस्य सपूर्वः ॥ २२ ॥

उख्यस्य मते रेफपर एष्टरिति विसर्जनीयः पूर्ववर्णेन सह उकारमापद्यते, इति माहिषयोक्तम् । यथा—'एष्टु रायः'^३ । वाररुचोक्तं तु—एष्टरिति विसर्जनीयो रेफपरः पूर्वण सह रेफ-मापद्यते इति । यथा—'एष्टु रायः'^२ । पूर्वण सह वर्तते इति सपूर्वः । अस्मिन् विकल्पजाले प्रथमं "एष्टश्च" (८-१८) इति सूत्रमेवेष्टम् ॥ २२ ॥

उख्यस्य मते एष्टद्वयादे विसर्जनीयः तस्मात्पूर्वेण वर्णेन सहित उकारं प्रतिपद्यते रेफे परतः । 'एष्टु रायः'^२ । 'नैके-पाम्' (८-१९) इत्यादिसूत्रचतुष्टयं नेष्टम् ॥ २२ ॥

—००—

कखपकारपरप्पमकारपूर्वस्समवग्रहः ॥

अत्र परनिमित्तविशेषणादेतत्पर्यन्ता स्वरघोषवत्परानुवृत्तिर्मन्तव्या । अवग्रहवर्तिविसर्जनीयः ककारखकारपकारपरः पकारमापद्यते, अ-कारपूर्वश्चेन् सकारम् । यथा—“अथो हविष्कृतानाम्”^३ । “ग्रासितं

निष्पिबदति^१ । 'बहिष्पवमान उपसद्यः'^२ । "नमस्कारैरेवैनम्"^३
 'पथस्पथः परिपतिम्'^४ । अवग्रह इति किं ? 'पुष्पावतीः प्रसू-
 वतीः'^५ । 'नमः पितृभ्यः'^६ । ककारश्च खकारश्च पकारश्च
 कखपकाराः, एते परे यस्मादसौ तथोक्तः । अकारः पूर्वो यस्मा-
 दसौ अकारपूर्वः ॥ २३ ॥

इदानीमुपचारो विधीयते—

अवग्रह इति पष्ठयेकवचनस्य स्यादेशाभावश्छान्दसः । अव-
 ग्रहस्य सम्यन्धो विसर्जनीयः पकारं प्रतिपद्यते कखपकारेषु
 परतः । स एवाकारपूर्वश्चेव सकारं प्रतिपद्यते तेज्वेव वर्णेषु
 परतः । अकारपूर्व इति कार्यभाज एवायं निर्देशः । न तु
 निमित्तस्योपबन्धस्य वा । 'ज्योतिष्कृदसि सूर्य'^७ । 'यथा
 स्याद्रसितं निष्पिबदति'^८ । 'चतुष्पादः पशवः'^९ । 'क्राञ्चिपरि-
 मितं यशस्कामाः'^{१०} । 'उत नः परस्पाः'^{१०} । एतत्पर इति किम् ?
 'सपिप्रींघी'^{११} । 'रक्षोर्हणं वाजिनम्'^{११} । अवग्रह इति किम् ?
 आयतनवतीः करोति^{१२} । 'द्रविणावतः फुरुते'^{१३} । अत्राकार-
 पूर्वस्य सत्यविधानादकारंतरस्थरपूर्वविषयं पत्वं घेदितव्यम् ॥ २३

^१ सं. ६-१-९.

^२ सं. ६-४-९.

^३ सं. ६-५-७.

^४ सं. १-१-१४.

^५ सं. ४-२-६.

^६ सं. १-२-८.

^७ सं. १-४-३१.

^८ सं. ५-१-१.

^९ सं. २-२-३.

^{१०} सं. ४-६-१.

^{११} सं. १-२-१४.

^{१२} " १-१-९.

^{१३} " ५-१-११.

आविर्निरिडंशश्वतोऽपसोदेवरिपोऽ५ हसोऽ-
तिदिवोविश्वतोऽश्मनस्तमसः ॥ २४ ॥

आविः, निः, इडः, शश्वतः, अपसः, देवरिपः, अ५ हसः,
अतिदिवः, विश्वतः, अश्मनः, तमसः एषु विसर्जनीयः कखप-
कारपरो यथाविहितं भजते । यथा—“आविष्कृणुष्व”^१ । ‘घृतं
निष्पिबति’^२ । ‘इडस्पदे समिध्यसे’^३ । ‘शश्वतस्कर् हस्ते’^४ । ‘अ-
पसस्पारे अस्य’^५ । “उरोरा नो देव रिपस्पाहि”^६ । देवेति किं !
“स रिपः पातु नक्तम्”^७ । “अ५ हसस्पातु”^८ । “अति दिवस्पाहि”^९
अतीति किं ! “दिवः पृष्ठ५ मुवर्गत्वा”^{१०} । “विश्वतस्परि हवा-
महे”^{११} । “त्वमश्मनस्परि”^{१२} । “उद्वयं तमसस्परि”^{१३} ।
अनवग्रहार्थोऽयमारम्भः ॥ २४ ॥

एतदादय उपचारविधयो नावग्रहविषयाः । आविरित्या-
दिषु विसर्जनीय अकारेतरस्थरपूर्वक कखपकारेषु परतः प-
त्यं प्रतिपद्यते । अकारपूर्वस्सकारम् । आविः—‘आविष्कृणुष्व’^१ ।
निः—‘स्थन यदामयाति निष्कृत’^२ । इडः—‘इडस्पदे’^३ । शश्व-
तः—‘शश्वतस्कर् हस्ते’^४ । अपसः—‘अपसस्पारे अस्य’^५ । देव-

१ सं. २-२-१४.

२ सं. २-३-११.

३ सं. २-६-११.

४ „ २-२-१२.

५ „ ३-२-११.

६ „ १-४-४१.

७ „ ३-२-४.

८ „ १-८-१४.

९ „ ४-१-१.

१० „ १-१-१२.

११ „ ६-१-२.

१२ „ ४-१-१३.

१३ „ ४-२-६.

रिपः—‘आ नो देव रिपस्पाहि’¹ । देवेति किम्? ‘स रिपः पा-
तु’² । अ० हसः—‘दिव्याद० हसस्पातु’³ । अतिदिवः—‘अति
दिवस्पाहि’⁴ । अतीति किम्? ‘उपाश्रितो दिवः पृथिव्योः’⁵ ।
कथं ‘दिवस्परि प्रथमम्’⁶ इति? विध्यन्तरान्दविष्यतीति ।
दिश्वतः—‘इन्द्रं चो विश्वतस्परि’⁷ । अश्मनः—‘त्वमश्मनस्पा-
रि’⁸ । तमसः—‘उद्ग्यं तमसस्परि’⁹ ॥ २४ ॥

कृधिपिन्वपथेपरः ॥ २५ ॥

कृधि, पिन्व, पथे एवम्परो विसर्जनीयो यथाविहितं भजते ।
यथा—“उरुणस्कृधि”¹⁰ । “अपस्पिन्व”¹¹ । “सप्रथा न-
मस्पथे”¹²⁻¹³ ॥ २५ ॥

कृधि, पिन्व, पथे इत्येतेषु परतः विसर्जनीयो यथाहमु-
पचारं प्रतिपद्यते । ‘उत नो मयस्कृधि’¹⁴ । ‘अपस्पिन्व’¹¹ । ‘नम-
स्पथे’¹² ॥ २६ ॥

न सक्रघकारपरे ॥ २६ ॥

स, क्र, न एवम्परे सति कृध्यादौ विसर्जनीयो यथावि-
हितं नापद्यते । यथा—“आमनसः कृधि स्वाहा”¹⁵ । “शं न

¹ स. १-४-४६.

² स. १-२-१४

³ सं. ३-२-४.

⁴ सं. १-८-१४.

⁵ सं. २-६-९.

⁶ स. १-३-१४.

⁷ स. १-६-१२.

⁸ स. ४-१-२.

⁹ स. ४-१-७.

¹⁰ सं. २-६-११.

¹¹ ग. ४-२-४.

¹² स. ४-७-१३.

¹³ एवम्परे इति किं । ‘नमः कृधाश्ने’ (स. ८-५-५.) इत्यधिकः पाठः कश्चित् ।

¹⁴ सं. ४-५-१०.

¹⁵ ॥ २-३-९.

नः कृधि । क्रत्वे ^{११} । रेफेण किं ? “उत नो मयस्कृधि क्षय-
द्वीराय ^{१२} । “उरु क्षयाय नः कृधि । घृतं घृतयोने पिव ^{१३} ॥ २६ ॥

अनन्तरसूत्रोक्तस्यायं प्रतिषेधः । तत्रापि कृधिशब्दस्यैत-
त्सप्तम्यन्तं विशेषणम् । नान्ययोः । कुतः ? सम्भवासम्भवा-
भ्याम् । तदयमर्थः—सकारकशब्दधकारपदोपयन्धपरे कृधिश-
ब्दे परतः उपचारो न भवति । ‘आमनसः कृधि स्वाहा ^{१४} ।
‘मन्यासै शं च नः कृधि । क्रत्वे दक्षाय ^{१५} । ‘उरु क्षयाय नः कृधि ।
घृतं घृतयोने पिव ^{१६} ॥ २६ ॥

पत्नीवेपतीपतेपतयेपतिष्पतिम्परः ॥ २७ ॥

पत्नीवे, पती, पते, पतये, पतिः, पतिं एवम्परो विसर्ज-
नीयो यथाविहितं मजते । यथा—“अतु ब्रह्मणस्पती वेदिम् ^{१७} ।
वे इति किं ? “रेतोधाः पत्नीव इत्याह ^{१८} । “शुभस्पती इद-
महम् ^{१९} । “वास्तोष्पते प्रति ^{२०} । “प्र च्यवस्व भुवस्पते ^{२१} । “वाच-
स्पतये पवस्व ^{२२} । “वाचस्पतिर्वाचमद्य ^{२३} । “वाचस्पति वि-
श्वकर्माणम् ^{२४} । पत् इत्येतावतैव सिद्धे प्रतिपदपाठः ^{२५} । “दिवं
गच्छ सुवः पत ^{२६} इत्यादिनिषेधार्थः ^{२७} ॥ २७ ॥

^१ सं. ३-३-२१.

^२ सं. ४-५-१०.

^३ सं. १-३-४.

^४ सं. २-३-९.

^५ सं. ३-३-११.

^६ सं. १-३-४.

^७ सं. ३-५-६.

^८ „ ६-५-८.

^९ „ ३-२-१०.

^{१०} „ ३-४-१०.

^{११} „ १-२-९.

^{१२} „ १-४-२.

^{१३} „ १-७-७.

^{१४} „ ४-६-२.

^{१५} पाठेन किम् ?

^{१६} „ ४-१-१०.

^{१७} इत्यादि ना भूदिति.

पुनरपि विधय एवारम्यन्ते—

पत्नीवे इत्यादिषु परतो विसर्जनोयो यथार्हमुपचारं प्रतिपद्यते।
पत्नीवे—‘ब्रह्मणस्पत्नी वेदिम्’¹। ‘वे’ इति किम्? ‘रेतोधाः
पत्नीव इत्याह’²। पत्नी—‘उत्पिपीते शुभस्पती इदमहम्’³। पते—
‘चास्तोपपते’⁴। पतये—‘नमस्सदसस्पतये’⁵। पतिः—‘बाबुर्वै
नभसस्पतिः’⁶। पतिं—‘हविषा ब्रह्मणस्पतिम्’⁷। पत् इति सा-
मान्यरूपग्रहणे—‘इन्द्रियावतः पत्नीचन्तम्’⁸। ‘रासभः पत्वा’⁹
इत्यादायतिप्रसङ्गः ॥ २७ ॥

दिवस्सहसस्परिपुत्परः ॥ २८ ॥

दिवः, सहसः इत्यनयोर्विसर्जनीयः परि, पुत् इत्येवम्परो
यथाविहितं भजते । यथा—“दिवस्परि प्रथमम्”¹⁰। “दिवस्पु-
त्राय सूर्याय”¹¹। “सहसस्पुत्रो अदुतः”¹²। अनयोरिति किं?
“पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षात्”¹³। “परुषःपरुषः परि”¹⁴। “पु-
सः पुत्रान्”¹⁵। एवम्पर इति किं? “दिवः पृथिव्याः”¹⁶।
अनेकार्थः पुदिति पदेकदेशः ॥ २८ ॥

¹ सं. ३-६-६.

² सं. ६-५-८.

³ सं. ३-२-१०.

⁴ सं. ३-४-१०.

⁵ ॥ ३-२-४.

⁶ ॥ ३-३-८.

⁷ ॥ २-३-१४.

⁸ ॥ १-४-२७.

⁹ ॥ ४-१-४.

¹⁰ ॥ १-३-१४.

¹¹ ॥ १-३-९.

¹² ॥ ४-१-९.

¹³ ॥ ३-१-१०.

¹⁴ ॥ ४-२-९.

¹⁵ सं. ८-६-९.

यथासहस्रमत्र नेप्यते । अपरिभाषितत्वादव्याप्तिप्रसङ्गा-
च्च । तदयमर्थः—दिवः, सहसः इत्यनयोर्विसर्जनीयः परि, पुत्र
इत्यनयोः परतो यथोचितमुपचारं प्रपद्यते । ‘दिवस्परि’^१
‘दिवस्पुत्राय सूर्याय’^२ । ‘सहसस्पुत्रो अद्भुतः’^३ । एतत्पर इति
किम् ? ‘दिवः पृष्ठं सुवर्गत्वा’^४ ॥ २८ ॥

रायस्पोपरः ॥ २९ ॥

राय इत्यत्र विसर्जनीयः पो इत्येवम्परो यथाविहितं भजते ।
यथा—“पशवो वै रायस्पोपः”^५ । पो इति पदैकदेशो बहु-
पादानार्थः । ‘रायस्पोषेण’^६ । “शन्तनुत्वाय रायस्पोपाय”^७ ।
“रायस्पोपस्य ददितारः”^८ । राय इति किं ? “विभुः पोप
उत त्मना”^९ । पो इत्योकारेण किं ? ‘रायः प्रेये भगाय’^{१०} ॥

रायश्शब्दे विसर्जनीयः पोशब्दे परतः उपचारं प्रपद्यते ।
‘रायस्पोपम्’^{११} । ‘रायस्पोपाय त्वा गृह्णामि’^{१२} । पो इति किम् ?
‘पृष्टा रायः प्रेये’^{१०} ॥ २९ ॥

—८६०३—

^१ सं. १-३-१४.

^२ सं. १-२-९.

^३ सं. ४-१-९.

^४ सं. ४-६-५.

^५ सं. ६-४-६.

^६ सं. १-७-९.

^७ सं. ३-२-५.

^८ सं. ३-२-३.

^९ सं. ३-२-२१.

^{१०} सं. १-२-११.

^{११} सं. १-६-४.

^{१२} सं. १-६-१.

नमस्करोपरः ॥ ३० ॥

नम इति^१ विसर्जनीयः करो इत्येवम्परो यथाविहितं भजते । यथा—“संवत्सरेण नमस्करोमि”^२ । “उभयीभ्यो नमस्करेति”^३ नम इति किं ? “एकहायनादेनः करोति”^४ । करो इति किं ? “नमः कपर्दिने च”^५ ॥ ३० ॥

नम इत्यत्र विसर्जनीयः करोशब्दे परतः उपचारं प्रपद्यते । ‘उभयीभ्यो नमस्करोति’^३ । ‘संवत्सरेण नमस्करोमि’^२ । करोपर इति किम् ? । ‘नमः कपर्दिने च’^५ ॥ ३० ॥

वसुष्कारपरः ॥ ३१ ॥

वसुरित्यत्र विसर्जनीयः ककारपरो यथाविहितं भजते । यथा—“स इधानो वसुष्कविः”^६ । वसुरिति किं ? “विप्रश्शुचिः कविः”^७ । एवम्पर इति किं ? “मयि वसुः पुरोवसुः”^८ । “विश्वावसुः पर्यमुष्णात्”^९ ॥ ३१ ॥

वसुरित्यत्र विसर्जनीयः ककारे परतः उपचारं प्रपद्यते । स इधानो वसुष्कविः^६ । ककारपर इति किम् ? ‘मयि वसुः पुरोवसुः’^८ ॥ ३१ ॥

^१ इत्यत्र.

^४ स. ६-६-३.

^७ स. १-३-१४.

^२ स. ५-५-७.

^५ स. ४-६-२.

^८ स. ३-२-२०.

^३ सं. २-६-९.

^६ स. ४-४-४.

^९ स. ६-१-६.

नाध्वरंविश्वतोऽन्तर्जातोविविशुःपरुःपुनः ॥

अध्वरंविश्वतः, अन्तः, जातः, विविशुःपरुः, पुनः इत्येतेषु विसर्जनीयो यथाविहितं नापद्यते । यथा—“अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि”^१ । “आविनिरिडः” (८-२४) इति प्राप्तिः । अध्वरविशेषणान्निवृत्तिः^२ । अध्वरमिति किम् ? “इन्द्रं वा विश्वतस्परि”^३ । “महादेवमन्तःपार्श्वेन”^४ । “कल्पकार” (८-२३) इति प्राप्तिः । “भूतस्य जातः पतिः”^५ । “पत्नीवैपती” (८-२७) इति प्राप्तिः । “या आविविशुः परुःपरुः”^६ विविशुरिति किम् ? “परुप्परुनुवुन्या विं शस्त”^७ । “पुनःपुनर्ह्यस्मात्”^८ । “कल्पकारपरः” (८-२३) इत्यनयोः प्राप्तिः ॥

अध्वरंविश्वत इत्यादिषु विसर्जनीयं उपचारं न प्रपद्यते । अध्वरं विश्वतः—‘अध्वरं विश्वतः परिभूरसि’^१ । अध्वरमित्युपबन्धाभावे विधिप्रतिषेधयोर्विषयभेदो नावगम्येत । अन्तः—‘महादेवमन्तःपार्श्वेन’^४ । जातः—‘भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्’^५ । विविशुःपरुः—‘या आविविशुः परुःपरुः’^६ । विविशुरित्युपबन्धेन किम् ? ‘वयुना कृणोत परुप्परुः’^७ । पुनः—‘पुनःपुनर्ह्यस्मात्’^८ ॥३२॥

१ स. ४-१-११.

२ काचित्कोऽय पाठः.

३ स. २-६-१२.

४ स. १-४-३६.

५ स. ४-२-८

६ सं. ४-२-६.

७ „ ४-६-६.

८ „ ६-६-१.

धपवति ॥ ३३ ॥

सान्निध्यादत्र परत्र च सूत्रे नञर्थो लभ्यते धकारश्च पकारश्च धपो तावस्मिन् स्त इति धपवत्, तस्मिन् पदे परभूते सति पूर्वो विसर्जनीयो यथाविहितं नापद्यते । यथा—“बहिःपरिधि स्कन्दात्”^१ । “पुरुषःपुरुषो निधनम्”^२ । “उभयतःक्ष्णूर्भवति”^३ । “कलपकार” (८-२३) इति प्राप्तिः । परभूत इति किं ? “अधस्पदं कृणुते”^४ । “शुक्रस्य ज्योतिपस्पते”^{५-६} ॥ ३३ ॥

धकारवति पकारवति चा पदे परतः विसर्जनीय उपचारं न प्रपद्यते । यथा—“बहिःपरिधि स्कन्दात्”^१ । “उभयतःक्ष्णूः”^३ । नन्यत्र धपयति पदे विसर्जनीय इति किं न स्यात् ? “व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः” इति न्यायात्, समान्नायविराधाच्च । तथात्वे हि—“अधस्पदं तर्मी कृधि”^४ । “मधुमतीर्न इयस्कृधि”^५ इत्युपचारो न स्यात् । “बहिःपरिधि”^१ इत्यादौ तु स्यात् ॥

परिवाप्रपरः ॥ ३४ ॥

परिवा, ॥ एवंपरो विसर्जनीयो यथाविहितं नापद्यते । “दिवः परि वाजेषु”^१ । वेति किं ? “दिवस्परि प्रथमम्”^{१०} ।

^१ म. २-६-१.

^२ म. ६-६-३.

^३ म. ५-१-१.

^४ म. १-७-१३.

^५ „ ४-४-४.

^{१०} तस्मिन्निमित्तं निर्दिष्टं पूर्वस्य इत्यधिकः पाठः.

^१ म. १-६-१३.

^२ म. १-४-३.

^३ म. ४-२-११.

^४ म. १-१-१४.

“तस्मादितःप्रदानं देवाः”^१ । प्र इति द्वस्वग्रहणं दीर्घस्या-
प्युपलक्षणम् । यथा—“उद्धापरश्च” (९-२४) इति दीर्घग्र-
हणं द्वस्वोपलक्षणार्थम् । तर्हि “प्रापूर्वश्च” (७-७) इति सूत्रं
व्यर्थम् । प्रशब्दस्यानुवृत्तस्यैव दीर्घोपलक्षकत्वादिति चेत्, उच्यते ।
प्रत्यक्षगृहीतस्यैवोपलक्षकत्वं नानुकुष्टस्येति विज्ञेयम् । तथाहि—
“वाहन उह्यमानः” (७-६) इत्यत्र चकारेण प्रशब्दस्तत्रानु-
कुष्टः । अत्र तु परिवाप्रपर इति प्रत्यक्षगृहीतत्वादुपलक्षकत्वं भवति ।
तथासतीदमप्युदाहरणम्—“वाहिःप्राणो वै मनुष्यः”^२ ॥ ३४ ॥

परिवा, प्र इत्यनयोः परतो विसर्जनीय उपचारं न प्र-
पद्यते । ‘दिवः परि चाजेषु’^३ । वाशब्दाग्रहणे विधिप्रतिषेधयोर्वि-
षयभेदो न स्यात् । न च ‘अदमनस्तमसः’ (८-२४) इत्येतौ प्रतिषेध-
विषयतामर्हतः । तद्ग्रहणवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । प्र इत्यकारान्तग्रह-
णम् । ‘इतःप्रदानं ह्यमुष्मिन् लोके’^४ । ‘वाहिःप्राणो वै’^५ ॥ ३४ ॥

न निर्ण निः ॥ ३५ ॥

निरित्यत्र विसर्जनीयस्य प्रपरत्वेऽपि पत्वनिषेधो न भवति,
पत्वमेव भवतीत्यर्थः । “प्राप्नो निर्णिप्नाश्चो प्राञ्चो निः”^६ ।
“आत्मना परा निष् शुक्रशोचिषा”^७ ॥ ३५ ॥

इति त्रिभाष्यरत्ने प्रातिशाख्यविवरणे अष्टमोऽध्यायः.

^१ ॥ ३-२-९.

^२ छं. ६-१-१

^३ ,, ४-२११.

^४ ,, १-७-३.

^५ ,, ६-४-१०.

निरिति विसर्जनीयस्योपचारप्रतिषेधो न भवति । अत्र शाखान्तरीयो निष्पुरीपादिशब्द उदाहरणम् । तत्र 'अवग्रहः' (८-२३) इति प्राप्तिः । 'अपवति' (८-२३) इति प्रतिषेधः । ननु 'अपिगृह्य प्राञ्चौ निष्कामतः' इत्यत्र 'प्राञ्चौ निः' इति क्रमस्य जटोदाहरणं किं न स्यात् ? जटया एतच्छाखाविषयत्वात् । शाखान्तरं तु 'तनुतः' (८-८) इत्यादिसिद्धयर्थं 'विशाखे, स्तुतशखे' (४-११) इत्यादीनां प्रत्युदाहरणार्थं च विषयतया परिगृहीतम् । तत एव सर्वेनिर्याह्यात्-नासमास्नाता जटाऽस्य शाखस्य विषयतया परिकल्प्या । प्रत्युत अविषयत्वं च जटयाः एकादशाध्याये वक्ष्यत इत्यवोचाम । तस्मान्न जटोदाहरणम् । ततश्च 'प्राञ्चौ निः' प्राञ्चौ प्राञ्चौ निः' इत्येव जटा वक्तव्या । यदप्युदाहृतं कैश्चित् 'आत्मना परा निष्प शुक्रशोचिपा' इति तदप्यनुदाहरणम् । प्रदसङ्ख्याबोधकस्य पञ्चाशत्पदानुक्रमणवाक्यस्य लक्षणरूपतया येदत्याभावात्त्रिविधसमास्नायानन्तर्भूतत्याद्विप्रतिषेधसंहितापाठत्वाच्च । तस्मादुचितांदाहरणापरिज्ञाननिवन्धनोऽयं विषयपरिग्रह इत्यलमनेन ॥ ३९ ॥

इत्याचार्यगार्ग्यगोपालमिश्रविरचिते वैदिकाभरणाख्ये
प्रतिशाख्यव्याख्याने अष्टमोऽध्यायः.

अथ नवमोऽध्यायः.

ऊष्मपरोऽघोषपरो लुप्यते काण्डमाय-
नस्य ॥ १ ॥

ऊष्मपरो विसर्जनीयः काण्डमायनस्य मे लुप्यते तस्मिन्नुष्मण्य-
घोषपरे सति । यथा—“चतुस्तनां करोति”^१ । “वायवस्थो-
पायवस्थ”^२ । काण्डमायनग्रहणं विकल्पार्थं । अन्येषां मते घोष-
वत्परेऽपि ऊष्मणि विसर्जनीयो लुप्यते । यथा—“अदृचस्वाहा”^३
“ये शुक्लास्युस्तम्”^४ । “यो हतमनास्वयंपाप इव स्यात्”^५
“दानकामा मे प्रजास्युः”^६ । एवञ्च विकल्पाश्रयणे सति लक्ष-
णान्तरगतं “येषु पदेषु लुप्यते तानि पदानि प्रवक्ष्यामः” इति
वचनं सरलं भवति । ऊष्मा परो यस्मात् स ऊष्मपरः । न घो-
षवानघोषः । असौ परो यस्मात् स तथोक्तः, तस्मिन्नघोषपरे ॥ १ ॥

विसर्जनीयस्याधिकारोऽनुवर्तते । ऊष्मण्यघोषे वा परत
इत्यर्थो न घटते । ऊष्मग्रहणचैयर्थ्यग्रसङ्गात् । इकाराघोषपर
इति सिद्धेः, परशब्दाभ्यासचैयर्थ्यं च स्यात् । तस्मात्पाठक-

^१ स १-१-६.

^२ सं. १-१-१.

^३ सं. १-८-१३.

^४ सं. २-३-१.

^५ सं. २-२-८.

^६ “अथ चतुस्तं हितायामाकारप्लुतपूर्वो घोषवद्वयघ्नोत्तरवत्तत्कारो वि-
सर्जनीयो येषु पदेषु लुप्यते तानि पदानि वक्ष्यामः” इति समा-
नसन्धिनानुक्रमण्यस्य प्रथमवचनम्.

मेण ऊष्मणस्साक्षात्परत्वमधोपस्य तु तद्वचवधानतश्च परत्वमिहा-
भिमतं वेदितव्यम् । तदयमर्थः—अधोपपर ऊष्मणि परतो वि-
सर्जनीयो लुप्यते¹ । ‘अध्वनस्कङ्गीत’² । ‘मा वस्तेन ईशत’³ ।
‘चायवस्थ’⁴ । ‘निष्टनिहि’⁵ । काण्डमायनस्य ग्रहणं पूजार्थम् ।
न तु विकल्पार्थम् । केचिद्विकल्पार्थमिच्छन्तो धोपवत्परेऽपि ऊ-
ष्मणि परतो लोपमाहुः । ‘अत्र वा एतर्हि यज्ञश्रितः’⁶ ।
‘स्योनस्योनम्’⁷ । तन्न । विकल्पार्थत्वे ‘लोपदशाकल्यस्य’⁸
इतिवत्पक्षान्तरे लोपाभावो हि स्यात् । न तु विषयान्तरे
लोपः । उत्तरसूत्रापवादोऽयम् ॥ १ ॥

अधोपपरस्तस्य सस्थानमूष्माणम् ॥ २ ॥

अधोपरो विसर्जनीयस्तस्याधोपस्य सस्थानमूष्माणं भजते । यथा—
‘यः कामयेत’⁹ । ‘अग्निश्च मे’¹⁰ । ‘उलूकश्शशः’¹¹ ।
‘अग्निस्ते तेजः’¹² । ‘यः पाप्मना गृहीतः’¹³ ॥ २ ॥

अधोपेषु परतः विसर्जनीयस्तस्याधोपस्य समानस्थानमू-
ष्माणमादेशं याति । ‘अनपगाः कुरुते’¹⁴ । ‘वाजश्च प्रसवश्च’¹⁵ ।
‘शुनं नः फालाः’¹⁶ । ‘अग्निश्शुचिद्यततमः’¹⁷ । ‘कृष्णश्वा चतु-
रक्षः’¹⁸ । ‘रोचना दिवश्चथद्वयम्’¹⁹ । ‘पोडशिनप्पोडशित्वम्’²⁰ ।

१ सं. १-७-८.

४ सं. २-६-९.

७ सं. २-२-२.

१० सं. १-१-१०.

१३ सं. १-३-९.

१६ सं. ५-६-१३.

२ सं. १-१-१.

५ सं. १-२-७.

८ सं. ४-७-६.

११ सं. २-१-२.

१४ सं. ४-२-५.

१७ सं. ४-३-१३.

३ सं. ४-६-६.

६ सं. ८-३-१३.

९ सं. ५-५-२८.

१२ सं. १-५-८.

१५ सं. १-३-१४.

१८ सं. ६-६-११.

यथा नस्सर्वमिज्जगदयक्षमम्^१ । 'तेऽपस्स्वाहा'^२ । 'विप्रि-
यास्मः'^३ । अधोपपर इति किम् ? 'नमो रथिभ्यः'^४ ॥ २ ॥

न क्षपरः ॥ ३ ॥

क्षपरो विर्जनीयः पूर्वविधिं न भजते । यथा—'मनः क्षेमै'^५ ।
'उभयतः क्षूर्णभवति'^६ । 'धनाघनः क्षोभणः'^७ । 'पूर्वोऽर्घुः क्षीयते'^८ ।
'द्यौः क्षामा रेरिहत्'^९ । क्षकार*स्याधोपत्वात् प्राप्तिः ॥ ३ ॥

क्षपर इत्यकारान्तग्रहणम् । न तु केवलम् । तथा 'शर्परे
विसर्जनीयः'^{१०} इति च मूलशास्त्रे स्मर्यते । तदयमर्थः—
क्षपरो† विसर्जनीयः परस्य सस्थानमूष्माणं न याति । 'वर्चः
क्षत्रियाय'^{११} । 'द्यौः क्षामा रेरिहत्'^९ । 'धनाघनः क्षोभणः'^७ ।
'मृत्योः क्षेत्राणि'^{१२} । 'उभयतः क्षूर्णभवति'^६ ॥ ३ ॥



कपवर्गपरश्चाग्निवेश्यवाल्मीक्योः ॥ ४ ॥

चकारो निषेधाकर्षकः^{१३} । अग्निवेश्यवाल्मीक्योऽशास्त्रिनोराचार्य-
योभते कवर्गपरः पवर्गपरो वा पूर्वविधिं नापद्यते । 'यः काम-
येत'^{१४} । 'अग्निः पशुरासीत्'^{१५} । कंकारश्च पकारश्च कपो त-

१ सं. ४-५-१.

२ सं. १-८-७.

३ सं. ६-२-२.

४ सं. १-५-४.

५ सं. ५-२-१.

६ सं. ५-१-१.

७ सं. ४-६-४.

८ सं. ३-१-७.

९ सं. १-३-१४.

१० पा. ८-३-३५.

११ सं. १-८-१२.

१२ सं. ७-२-७.

१३ निषेधमाकर्षति.

१४ सं. २-१-२.

१५ सं. ६-७-२६.

*ककार.

†पकारपरो ककारे परतः.

योर्वर्गौ कपवर्गौ तौ परौ यस्मात् स तथोक्तः । एवम्पर इति किं ? 'मधुश्च माधवश्च' ¹ । 'नमस्तल्प्याय' ² । 'आशुशिशानः' ³ । 'यस्तोमं वमिति' ⁴ ॥ ४ ॥

कपयोर्वर्गौ कपवर्गौ । तयोः परतो विसर्जनीयः तत्समानस्थानमूष्माणं न याति आग्निवेश्यवाल्मीक्योर्मते । 'यः कामयेत' ⁵ । 'वायुः पूतः' ⁶ । आग्निवेश्यादिग्रहणं विकल्पार्थम् ॥ ४ ॥

ऊष्मपर एवैकेषामाचार्याणम् ॥ ५ ॥

एकेषामाचार्याणां मते ऊष्मपर एव विसर्जनीयः पूर्वविधिं न भजते । यथा—'आशुः शिशानः' ³ । एवकारेण किं ? 'नमस्तत्त्वाय' ⁷ । 'यः कामयेत' ⁵ ॥ ५ ॥

केषां चिदाचार्याणां मते ऊष्मप्येव परतो विसर्जनीयस्तन्तमूष्माणं याति । तेन 'एवच्छन्दः' ⁸, 'शुनं नः फालाः' ⁹, 'अनपगाः कुरुते' ¹⁰ इत्यादौ ऊष्मादेशो न भवति ॥ ५ ॥

न ह्याक्षिशिक्षायणयोः ॥ ६ ॥

कपवर्गपर ऊष्मपरश्च विसर्जनीयः ह्याक्षिशिक्षायणयोः शाखिनोः पक्षे न खलु पूर्वविधिं भजते । यथा—'यः कामयेत' ⁵ । 'यः

¹ सं. १-४-१४.

² सं. ४-५-९.

³ सं. ४-६-४.

⁴ सं. २-३-२.

⁵ सं. २-१-२.

⁶ सं. १-८-२१.

⁷ सं. ४-३-१.

⁸ सं. ४-३-१२.

⁹ सं. ४-२-६.

¹⁰ सं. १-५-८.

पाप्मना^१ । 'आशुः शिशानः'^२ । एकम्पर इति किं ? 'मनस्तत्त्वाय'^३
कपवर्गादिसूत्रत्रयमनिष्टम् ॥ ६ ॥

छाक्षिष्ठाक्षायणयोर्मते ऊष्मपरो विसर्जनीय ऊष्माणं न याति ।
किन्तु प्रथमद्वितीयपर एव । नेदं सूत्रत्रयमिष्टम् ॥ ६ ॥

ओकारमस्सर्वोऽकारपरः ॥ ७ ॥

अः सर्वो विसर्जनीयः ओत्वं भजते, अकारपरः । अःसर्व इत्यकारेण
सहेत्यर्थः* । 'मेद्धो अमे'^१ । 'समिद्धो अजन्'^२ । 'सोऽब्रवीत्'^३ ।
अः सर्व इति किं ? अन्यथा 'समिद्धो अजन्'^४ इति न सिद्धयेत् ।
'किन्तु 'वर्णस्य विकारलोपो' (१-९६) इति विसर्जनीयमात्रस्य
स्यादोत्वम् । ततः 'ओकारोकारपरः' इत्यौकारे कृते 'औकार
आवम्' (९-१९) इत्यावादेशः । तथासति 'समिद्धावज्जन्'^५ इति स्यात् ।
किञ्च—'अथ स्वरपरो यकारम्' (९-१०) इति यत्वं वा
भवति । तस्मिंश्च 'लुप्येते त्ववर्णपूर्वौ यवकारौ' (१०-१९)
इति लुप्ते 'परश्च परश्च' (१०-२९) इति कार्यान्तराप्रसक्तेः
'समिद्ध अजन्'^६ इति स्यात् । तन्मा भूदिति अः सर्व इत्युक्तम् ॥७॥

अःकारस्सर्वः ओकारमादेशं याति अकारे परतः । सर्व-
ग्रहणादकारविसर्जनीययोरयमेकादेशः । 'रेफमेतेषु' (८-६) इ-
त्यस्यापवादः । 'अथ स्वरपरो यकारम्' (९-१०) इत्यस्य च ।

^१ सं. २-१-३.

^२ सं. ४-६-४.

^३ सं. ४-१-१.

^४ सं. ४-६-६.

^५ सं. ५-१-११.

^६ सं. २-१-२.

*इत्यकारेण सहितो विसर्जनीय इत्यर्थः.

‘योऽस्मान्धूर्वति’^१ । ‘युष्मानिन्द्रोऽवृणीत’^२ । ‘कामेन कृतो
अभि’^३ । ‘पाथो अपोहि’^४ । अकारपर इति किम् ? ‘स
आशच्छत्’^५ । ‘यः कामयेत’^६ ॥



घोषवत्परश्च ॥ ८ ॥

चकार . ओकारमः सर्वं चान्वादिशति । अः सर्वो घोष-
वत्परश्च विसर्जनीय ओत्वं भजते । यथा—‘मा नो मित्रो
वरुणः’^७ । ननु विधौ समाने पृथक्करणमनर्थकमिति चेत्, उत्तरसू-
त्रे तुशब्दव्याख्यानानेन स्फुटीकरिष्यत इति परिहारः ॥ ८ ॥

चशब्देन ‘ओकारमस्सर्वः’ (१-७) इत्यन्वादिश्यते । अःकार-
स्सर्वं ओकारं याति घोषवत्सु परतः । ‘ग्रामण्या गृहे’^८ । ‘अहोरात्रे’^९ ।
‘सुयो रोद्वाच’^{१०} । *अयं ‘रेफमेतेषु’ (८-६) इत्यस्य, ‘अवर्णपूर्व-
स्तु लुप्यते’ (१-९) इत्यस्य चापवादः । ‘अकारघोषवत्परः’ इ-
त्येकसूत्रे कर्तव्ये पृथक्करणं उत्तरार्थम् ॥ ८ ॥

अवर्णपूर्वस्तु लुप्यते ॥ ९ ॥

अवर्णपूर्वो घोषवत्परस्तु विसर्जनीयो लुप्यते । ह्रस्वपूर्वस्य
विकार’^१ एव । दीर्घपूर्वस्य पुनर्पूर्वस्य च लोपः । यथा—‘देवा गातु-

^१ सं. १-१-४.

^२ सं. १-१-६.

^३ सं. १-१-१४.

^४ सं. ३-३-३.

^५ „ ३-१-९.

^६ „ २-१-२.

^७ „ ४-६-८.

^८ „ १-८-९.

^९ „ १-३-११.

^{१०} सं. १-७-९.

^{११} ओकार.

*घोषवत्पर इति किम् ? ‘यः कामयेत’ (सं. ३-१-२.)

विदः^१ । 'विचित्यस्सोमा३ न विचित्या३ इति'^२ । 'ओका-
रमः सर्वोऽकारपरः' (९-७) इति अकारपरत्वं प्रत्यक्षं तुशब्देन
निवर्त्य आनुमानिकं घोषवत्परत्वं परिगृह्यते, सान्निध्यात् । अस्या-
नुवर्तनमेवाभीष्टमत्रेति पूर्वसूत्रद्वयस्य पृथक्करणम् ॥ ९ ॥

अत्राकारपर इति नानुवर्तते । किन्तु घोषवत्पर इत्येव ।
तस्य पृथक्करणसामर्थ्यात् । विसर्जनीयस्त्यधिकृत एव । तद-
यमर्थः—अवर्णपूर्वो विसर्जनीयो लुप्यते घोषवत्सु परतः । ह-
स्वपूर्वकस्य, ओत्वविधानाद्दीर्घप्लुतपूर्वकस्य चैप विधिः । 'अग्नि
या गर्भम्'^३ । 'या रुचः'^४ । 'सोमा३ न विचित्या३ इति'^२ । मू-
लशास्त्रे तु 'हलि सर्वेषाम्'^५ इति, 'भो भगो अघो अपूर्व-
स्य योऽग्नि'^६ इति च लोपस्मर्यते । स इह तुशब्देन
निवर्त्यते । न ह्यसाचिह विधेयः । अस्मच्छाखादौ तथाचिध-
विषयाभावात् ॥ ९ ॥

अथ स्वरपरो यकारम् ॥ १० ॥

अथशब्दोऽधिकारार्थः^७ । स्वरः परो यस्मात् सोऽयं स्वर-
परः । इत उत्तरं यदुच्यते. स्वरपर इत्येवं तत्र निमित्तत्वेनां-
धिकृतं ज्ञातव्यं सान्निध्यादवर्णपूर्व इति लभ्यते । स्वरपरो वि-
सर्जनीयः अवर्णपूर्वो यकारमापद्यते । यथा—^८ आप उन्दन्तु^{१०} ।

१ सं. १-१-१३.

२ सं. ६-१-९.

३ सं. ९-६-१.

४ सं. ४-३-९.

५ पा. ८-३-२२.

६ पा. ८-३-१७.

७ अथेत्ययमधिकारः.

८ सं. १-२-१.

‘ता अद्भुवन्’¹ । ‘नान्वारम्या३ इति’² । स्वरपर इति किं ?
 ‘आपो वरुणस्य’³ । अवर्णपूर्व इति किं ? ‘अग्निरेकाक्षरेण’⁴ ॥१०॥

अथ स्वरपर इति स्वरः परानिमित्तत्वेनाधिक्रियते । अवर्णपूर्वस्त्वित्यनुवर्तते । अवर्णपूर्वो विसर्जनीयः स्वरे परतो यकारादेशं याति । ‘रेफमेतेषु’ (८-६) इत्यस्यापवादः । ‘ब्र-
 तपा असि देव आ मल्येष्व’⁵ । ‘विचित्र्यस्सोमा३ न विचित्र्या३
 इति’⁶ । ‘इन्द्र एवाजायत’⁷ । स्वाप*वादाविषये तु न भवति ।
 स्वरपर इति किम् ? ‘देवो वस्सविता’⁸ । ‘देवा वसव्याः’⁹ ।
 अवर्णपूर्व इति किम् ? ‘इह चर्हि रासदे’¹⁰ । तुशब्देन ‘ओ-
 तो गार्ग्यस्य’¹¹ इति मूलशास्त्रोक्तो विषयो निवर्त्यते । न ह्यत्र
 यत्वं विधेयम् । अस्मच्छाखादौ तथाविधोदाहरणाभावात् ॥१०॥

एकारोऽयम् ॥ ११ ॥

विमृष्टो विसर्गः¹² । इदमिदानीमुच्यते—स्वरपरः पदान्त एका-
 रः अयमिति विकारमापद्यते । यथा—‘इम एवास्मे’¹³ ‘त एनं
 भिपज्यन्ति’¹⁴ ॥ ११ ॥

विसर्जनीयाधिकारो निवृत्तः । अन्यस्य कार्यभाजोऽभि-
 धानात् । एकारः अय इत्येतमादेशं याति स्वरे पदादौ प-

¹ सं. २-३-५.² सं. ६-३-८.³ सं. ५-५-४.⁴ सं. १-७-११.⁵ सं. १-१-१४.⁶ सं. ६-१-९.⁷ सं. ६-१-१.⁸ सं. १-१-१.⁹ सं. २-४-८.¹⁰ सं. २-१-२.¹¹ पा. ८-३-२०.¹² विसर्गो निवृत्तः.¹³ सं. १-४-१०.¹⁴ सं. २-३-११.¹⁵ सं.

रतः । 'त आ वहन्ति'^१ । 'नियुत्वत आ लभेत'^२ । स्वरपर इति किम् ? 'इपे त्वोजं त्वा'^३ ॥ ११ ॥

ओकारोऽवम् ॥ १२ ॥

स्वरपरः पदान्त ओकारः, अवं विकारमापद्यते । यथा—
'विष्णवेहीदम्'^४ ॥ १२ ॥

ओकार अष् इत्येतमादेशं याति स्वरे पदादौ परतः ।
'वायविष्टये'^५ । 'विष्णवुरुक्रम'^६ । स्वरपर इति किम् ? 'वि-
ष्णो हव्यं रक्षस्व'^७ ॥ १२ ॥

नाकारपरौ ॥ १३ ॥

द्विवचनसामर्थ्यं गृहीतो सन्निहितावेकारौकारौ अकारपरौ पूर्ववि-
धिं न प्राप्तुतः । यथा—'मा ते अस्याम्'^८ । 'समिद्धो अज्जन्'^९ ।
'तेऽब्रुवन्'^{१०} इत्यादौ 'एकारोयं,' (९-११) 'लुप्यते त्वकार
एकारौकार*पूर्वः' (११-१) इति सूत्रद्वयं प्रसक्तम् । तत्रापि
पूर्वत्वात् प्रबलं यत्वविधिं निषेद्धुमयमारम्भः । अकारः परो
याम्यां तावकारपरौ ॥ १३ ॥

१ सं. १-१-२.

२ सं. २-२-१.

३ सं. १-१-१.

४ सं. २-४-१२.

५ सं. २-२-१२.

६ सं. ३-२-१०.

७ सं. १-१-३.

८ सामर्थ्यात्.

९ सं. १-६-१२.

१० सं. ५-१-१२.

११ सं. २-५-१.

१२ प्रयत्नवत्त्वविधिनिषेधार्थोऽयं.

* 'एकारओकार' इति वेदिकाभरणपाठः.

अकारपराविति पदच्छेदः । 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः' इति न्यायात् । तदयमर्थः—द्विवचननिर्दिष्टावासन्नावेकारौकारौ अकारे परतः यथोक्तावादेशौ न यातः । 'अपाग्नेऽग्निम्'^१ । 'आरे अस्मे च शृण्वते'^२ । 'ध्रुवोऽसि'^३ । 'प्रियं पाथो अपोहि'^४ । 'अगोअर्घम्'^५ । अकारपराविति किम् ? 'यपद् ते विष्णवास्तः'^६ । 'अग्र इमम्'^७ ॥ १३ ॥

—०—

ऐकार आयम् ॥ १४ ॥

स्वरपरः पदान्न ऐकारः आयं विकारमापद्यते । यथा—
'आसामहा एवेमो द्वादशौ मासौ'^८ ॥ १४ ॥

ऐकारः आय इत्यादेशं याति—स्वरे पदादौ परतः ॥
'हन्तया उ'^९ । 'अन्तरितस्तस्या आ वृश्च्येते'^{१०} । स्वरपर इति किम् ? 'यस्मै कं पुने'^{११} ॥ १४ ॥

—०—

औकार आवम् ॥ १५ ॥

औकारः पदान्नः स्वरपर आवं विकारमापद्यते । यथा—
'अहावनदता हते'^{१२} ॥ १५ ॥

^१ उ. १-१-७.

^४ „ १-२-३.

^७ उ. १-२-६.

^{१०} उ. १-२-९.

^२ उ. १-५-५.

^५ „ ६-१-१०.

^८ „ ३-५-२.

^{११} उ. १-२-१.

^३ स. १-६-२.

^६ „ २-२-१२.

^९ „ १-२-१४.

^{१२} उ. २-६-१.

औकारः आव् इत्यादेशं याति—स्वरे पदादौ परतः । 'उ-
भादाताराविषा५ रयीणाम्'^१ । 'तावन्नूताम्'^२ । स्वरपर इति
किम्? 'तौ देवा अभवन्'^३ ॥ १६ ॥

उकारोऽपृक्तः प्रकृत्या वकारोऽन्तरे ॥ १६ ॥

अपृक्तसंज्ञक उकारः स्वरे पदादौ परतः । अविकृतो
भवतीत्यर्थः । उकारस्वरयोरन्तरे मध्ये वकारश्चागमो भवति ।
यथा—'स उवेकवि५शवर्तनिः'^४ । 'अदन्त्युवेवास्य मनुष्याः'^५ ।
अपृक्त इति किं? 'स्वपत्याय देव'^६ । उकार इति किं?
'भक्षेहि'^७ ॥ १६ ॥

अपृक्तसंज्ञक उकारः स्वरे पदादौ परतः प्रकृत्या भवति ।
न तु वक्ष्यमाणं विकारं याति । किञ्च—तस्योकारस्य परस्व-
रस्य च मध्ये वकार आगमो भवति । 'अदन्त्युवेवास्य'^५ ।
'उचित्यु'^८ । उकार इति किम्? 'उपभृदेहि'^९ । अपृक्त इति
किम्? 'यन्मध्वग्नौ जुहोति'^{१०} । 'उकारः'^{११} प्रकृत्या वकारोऽन्तरे'
इति वक्ष्यामि । एवं च शब्दलाघवं भवति । पदग्रहणपरि-
भाषया अतिप्रसङ्गश्च निवार्यते । किमपृक्तसंज्ञया? अत्रो-
च्यते । 'उकारः प्रकृत्या' इत्युक्तेऽपि 'अन्यह मासा अन्विद्वनानि'^{१२}

१ स. १-१-१६. २ सं. २-६-७. ३ स. ६-४-९. ४ सं. ४-३-१.

५ स. २-३-७. ६ „ ५-५-४. ७ „ ३-२-५. ८ १-१-१२.

९ „ २-३-२. १० यदेव 'उकारः' ११ „ १-७-११.

इत्यादावतिव्याप्तिः 'अन्कारादि च' (१-६३) इति वचनात् । तस्मादपृक्तसंज्ञया भाव्यम् । सा तु वर्णस्यैवेति न तत्र 'अन्कारादि च' (१-६३) इति परिभाषा प्रवर्तते । नन्वयमागमः 'त्रपुमिधुपूर्वः' (५-४) इत्याद्यागमसमोपे किं नोक्तः, 'अपृक्तोकारपूर्वो वकारस्स्वरपरः' इति? तदुच्यते परस्वरनिमित्तकस्यादेशस्यायमपवाद इति आदेशप्रकरण एवोचितो वक्तुमिति ॥ १६ ॥

न तत्तस्मात्सां॒हितः ॥ १७ ॥

तत्, तस्मात् इत्येताभ्यां सांहित उकारोऽपृक्तः पूर्वविधिं न प्राप्नोति । प्रकृत्या अवस्थानं, वकारागमश्च न भवतीत्यर्थः । 'तद्वाहुर्लुप्तमृज्यम्'^१ । 'तस्माद्वाश्यम्'^२ । 'इवर्णोकारो यवकारो' (१०-१९) इति दशमेऽस्य विधिविष्यते । तत् तस्मात् सां॒हित इति किं? 'तत्, उ, आहुः—तद् । उवाहुः'^३ । 'तस्मात्, उ, आश्यम्—तस्माद् । उवाश्यम्'^३ ॥ १७ ॥

सांहितः कृतसन्धानः । स एव सांहितः । तत् तस्मात् इत्येताभ्यां द्वाभ्यां पदाभ्यां सांहित उकारोऽपृक्तः स्वरे परतः प्रकृतिभावं वकारागमं च न याति । 'तद्वाहुः' । 'तस्माद्वाश्यम्'^२ । तत्तस्मादिति किम्? 'स उवेकविंशत्यर्तनिः'^३ । सांहित इति किम्? तत्तस्मात्पूर्वं इत्युक्ते तयोरुपयन्धत्वात्पृथग्भावेऽपि निगन्धः स्यात् । यथा क्रमाध्याये—'तद्—उवाहुः' । 'तस्माद्—उवाश्यम्'^२ । सांहितावस्थायानिवेप्यतेऽयं प्रतिषेधः । तदर्थं सांहितवचनम् ॥ १७ ॥

^१ छ. ७-५-७.^२ छ. ६-१-११.^३ छ. ४-१-१.

ह्रस्वपूर्वो ङकारो द्विवर्णम् ॥ १८ ॥

स्वरपरो ङकारः पदान्तवर्ती ह्रस्वपूर्वो द्विवर्णो द्वित्वं भजते ।
 यथा—‘न्यङ्गुलिः’^१ । ‘त्वा दध्यङ्गुलिः’^२ । ह्रस्वपूर्व इति किं? ‘परा-
 ङावर्तते’^३ । स्वरपर इति किं? ‘सट्ङ्गुसमानैः’^४ । ‘प्रत्य-
 ङ्गुपङ्कहः’^५ । ह्रस्वः पूर्वो यस्मादसौ ह्रस्वपूर्वः । द्वयोर्वर्णयोः
 समाहारः, द्विवर्णम् ॥ १८ ॥

ह्रस्वपूर्व इति कार्यभाज एवायं निर्देशः । न निमित्तस्य;
 परस्वरानिमित्तत्वात् । न चोपबन्धस्य; तस्य पृथग्भावायो-
 गात् । तदयमर्थः—ह्रस्वात्परो ङकारो द्विवर्णं याति, स्वरूपद्वि-
 त्वं याति स्वरे पदादौ परतः । ‘प्रत्यङ्गुपतिष्ठते’^६ । ‘त्वा दध्य-
 ङ्गुलिः’^७ । ‘युङ्ङसि’^८ । ‘प्रतिङ्ङिति प्रति-ङ्ङ’^९ । ह्रस्वपूर्व-
 इति किम् । ‘अद्याङ्गुपानः’^{१०} । ङकार इति किम्? ‘शुङ्गसि तम-
 भि’^{११} । स्वरपर इति किम्? ‘प्रत्यङ्गुसोमो अतिष्ठतः’^{१२} ॥ १८ ॥

नकारश्च ॥ १९ ॥

नकारः पूर्वनिमित्तं द्वित्वं चान्वादिशानि । ह्रस्वपूर्वो न-
 कारो द्विवर्णो भजते स्वरपरः । यथा—‘निरवपत्तिन्द्राय’^{१३} ।

१ स. ६-५-३. २ स. ४-२-३. ३ स. ३-२-९. ४ स. २-२-८.

५ ,, ७-४-२. ६ ,, १-५-९. ७ ,, १-८-१५. ८ स. १-८-१३.

९ स. ६-३-९. १० स. १-३-११. ११ स. २-८-२१. १२ स. २-४-२.

‘अधुवन्नध्रवत्’¹ । एवम्पर इति किं ? ‘निरवपन् यान्येव पुरस्तात्’² । ‘ओमन्वती ते’³ । एवम्पूर्व इति किं ? ‘यानग्रयोऽन्वतप्यन्त’⁴ । ‘विद्वानेतमग्निं चिनुते’⁵ ॥ १९ ॥

चकारः ‘ह्रस्वपूर्वो द्विवर्णम्’ (९-१८) इत्यन्वादिशति । ह्रस्वात्परो नकारः स्वरे पदादौ परतः स्वरूपद्वित्वं याति । ‘दक्षिणमुशान्तम्’⁶ । ‘अस्मिन्नेव लोके’⁷ । ह्रस्वपूर्व इति किम् ? ‘तानजुहोत्’⁸ । नकार इति किम् ? ‘उशिगसि’⁹ । स्वरे परतः इति किम् ? ‘अस्मिन् योनौ’¹⁰ । पदादाविति किम् ? ‘प्रजावतीरनमीवाः’¹¹ । पृथक्सूत्रकरणमुत्तरार्थम् ॥ १९ ॥

अनितिपरो ग्रहोख्ययाज्यापृष्ठ्यहिरण्यवर्णीयेष्वीकारोकार*पूर्वो रेफमाकारपूर्वश्च यकारम् ॥ २० ॥

ग्रहोख्यादिषु विषयेषु ईकारपूर्व ऊकारपूर्वो वा चकाराकृष्टो नकारः अनितिपरः इतोप्येष्टतस्मादन्यस्वरपरो रेफमापद्यते, आकारपूर्वश्चेद्यकारमापद्यते । ग्रहो नाम चतुरोऽन्त्याननुवाकान् वर्जयित्वा ‘आददे ग्रावा’¹² इति प्रश्नः । अग्निकाण्ड¹³ स्याद्यं प्रश्नद्वयं

¹ सं. १-५-१.² सं. २-४-१.³ सं. २-६-१.⁴ सं. ३-२-८.⁵ सं. ५-६-६.⁶ सं. १-२-७.⁷ सं. २-६-२.⁸ सं. ३-४-४.⁹ सं. १-३-३.¹⁰ सं. १-५-६.¹¹ सं. १-१-३.¹² सं. १-४-१.¹³ चतुर्गकाण्ड. § इतीत्ये. * ‘पञ्चाकारऊकार’ इति वादिकाभरणपाठः.

उत्तमानुवाकवर्जं, उख्यं, इत्याख्यायते । उक्ता याज्याः^१ । ‘स-
मिदिशाम्,^२ ‘जीमूतस्य,^३ ‘यदक्रन्दः,^४ ‘मा नो मित्रः,^५ ‘ये
वाजिनम्,^६ ‘अग्नेर्मन्वे,^७ ‘समिद्धो अजन्,^८ ‘गायत्री,^९ ‘क-
स्त्वा^{१०} इत्यनुवाकनवकं पृष्ठचामिति पठ्यते । ‘हिरण्यवर्णाः^{११} इत्य-
नुवाकः हिरण्यवर्णीयः । ग्रहे यथा—‘जहि शत्रूँरपमृधः^{१२} । ‘मरु-
त्वाँइन्द्र^{१३} । उख्ये यथा—‘ये वा वनस्पतीँरनु^{१४} । ‘मधुमाँ
अस्तु सूर्यः^{१५} । याज्यासु यथा—‘ऋतूँरक्तुपते^{१६} । ‘अमवाँ
इमेन^{१७} । पृष्ठचे यथा—‘शत्रूँरनपव्ययन्तः^{१८} । ‘जघनाँ उप
जिघ्रते^{१९} । हिरण्यवर्णीये यथा—‘अग्नीँरप्सुपदः^{२०} । ‘सर्वाँ
अग्नीन्^{२१} । अनितिपर इति किं ? ‘अभ्यवर्तन्त दस्यून्, दस्यू-
निति दस्यून्^{२२} । ‘इडावानितिडा-वान्^{२३} । ग्रहादिष्विति किं ? ‘त्री-
निमान्लोकानिति^{२४} । ‘पशूनेवाव रुन्धे^{२५} । ‘तानिन्द्रोऽन्तर्यामेणा-
न्तरधत्त^{२६} । इतिः परो यस्मादसावितिपरः, न इतिपरः, अनिति-
परः ॥ २० ॥

इतिपरादन्योऽनितिपरः । ग्रहा नाम ‘आददे प्रायाऽस्ति’^{२७}

| | | |
|------------------|---------------|--------------------|
| १ अध्या ३ सू. ९. | २ सं. ४-४-१२. | ३ सं. ४, ६, ६-९. |
| ४ सं. ४-७-१६. | ५ सं. ६-१-१२. | ६ सं. ६, २, ११-१२. |
| ७ सं. ५-६-९. | ८ सं. १-४-४२. | ९ सं. १-४-१९. |
| १० सं. ४-२-८. | ११ „ ४-२-९. | १२ सं. २-२-१३. |
| १३ सं. १-२-१६. | १४ „ ४-६-६. | १५ सं. १-६-२२. |
| १६ „ ३-२-१२. | १७ „ ७-३-२. | १८ „ ५-१-१. |
| १९ „ ६-४-६. | २० „ १-३-१. | |

इत्यादयः पण्डितशदनुवाकाः । एषामन्त्यः ‘सजोपा इन्द्र’¹ इत्यनुवाकः । उख्यं नाम अग्निकाण्डस्यादितः प्रश्नद्वयं याज्यानुवाकव्यतिरिक्तम्—‘युञ्जानः प्रथमम्’² इत्यादिदशानुवाकाः, ‘विष्णोः क्रमोऽसि’³ इत्यादिदश च, एषामन्त्यः ‘आदित्यं गर्भम्’⁴ इत्यनुवाकः । याज्या उक्ताः⁵ । पृष्ठयं अश्वमेधकाण्डस्य आदितो नवानुवाकाः—‘समिदिशाम्’⁶ इत्येषः, ‘जीमूतस्य’⁷ इति चत्वारः, ‘अग्नेर्मन्वे’⁸ ‘समिद्धो अजन्’⁹ इत्येतौ, ‘गायत्री त्रिष्टुप्’¹⁰ ‘कस्त्वा ज्यति’¹⁰ इति द्वौ चेति । ‘हिरण्यवर्णा-इशुचयः पावकाः’¹¹ इत्यनुवाको हिरण्यवर्णीयः । ‘अध्यायानुवाकयोर्लुक्’¹² इति लुक् इहाभावच्छान्दसः । सूक्तं वा त्रयोदशचं हिरण्यवर्णीयम् । ईकार ऊकारपूर्वं इति कार्यभाज एव निर्देशः । आकार पूर्व इति च । प्रकृतिभावस्तु छान्दसः असन्देहार्थः, चशब्द इह यकारादेशसमुच्चयार्थः । ग्रहो-ख्यादिषु ईकारादूकाराश्च परो नकारोऽनितिपरो रेफमादेशं याति, आकारपूर्वश्च यकारं स्वरं पदादौ परतः । ग्रहेषु यथा—‘शत्रूँ रपमृध’¹³ । ‘वृष्टिमाँ इव’¹⁴ । उख्यं यथा—‘पुष्टिमाँ असि’¹⁴ । ‘ये वा वनस्पतीँरनु’¹⁵ । याज्यास्तु यथा—‘ये-मिदँयार ऋतुभिः कल्पयाति’¹⁶ । ‘स त्रीँरेकादशाँ इह’¹⁷ । पृष्ठेषु यथा—‘क्षिणन्ति शत्रूँरनपव्ययन्तः’¹⁷ । ‘अस्माँ अदि-तेरनागाः’¹⁸ । हिरण्यवर्णीयेषु यथा—‘सर्वाँ अग्नीँरप्सुपदः’¹¹ ।

¹ स. १-४-४२.² सं. ४-१-१.³ सं. ४-२-१.⁴ सं. ४-२-१०.⁵ अध्या ३ सू. ९.⁶ „ ४-४-१२.⁷ स. ४-६-६.⁸ „ ४-७-१५.⁹ स. ५-१-११.¹⁰ „ ६-२-११-१२.¹¹ सं. ५-६-१.¹² „ पा. ६-२-६०.¹³ स. १-४-२०.¹⁴ „ ४-२-५.¹⁵ सं. ४-२-८.¹⁶ स. १-१-१४.¹⁷ स. ३-२-११.

अनितिपर इति किम्? 'वृष्टिमानिति वृष्टि—मान्'^१ । 'सुधाति
तान् । तानिति तान्'^२ । 'अपयानिति'^३ । ग्रहोख्यादिष्विति किम्?
'तद्यद्यतीनपावपत्त'^४ । 'पशून्वेवाव रुन्वे'^५ । 'ताननुहोत्'^६ । एत-
त्पूर्य इति किम्? 'उत्तिष्ठन्नोजसा'^७ ॥ २० ॥

—०—

मर्त्यानुदयानमृतान्दुर्यान्सोमपूर्वः सोअ-
स्मानविमान्गोमान्मधुमान्हविष्मान्-
हूतमानार्पेचिकित्वानिडावान्कक्षीवान्-
वाणवान्हिपयस्वान्वशान्विदत्रानमि-
त्रानरान्पोषान्महाश्च ॥ २१ ॥

मर्त्यान्, उदयान्, अमृतान्, दुर्यान् असोमपूर्वः, सो अस्मान्,
अविमान्, गोमान्, मधुमान्, हविष्मान्, हूतमानार्पे, चिकित्वान्,
इडावान्, कक्षीवान्, वाणवान्, हि पयस्वान्, वशान्, विदत्रान्,
अमित्रान्, अरान्, पोषान्, महान् एतेषु ग्रहेषु नकारोऽनि-
तिपरो यकारमापद्यते । अनितिपरत्वाकर्षकोऽयं चकारः ।
विषयाननादृत्य सर्वार्थोऽयमितः परमारम्भः । यथा—'मर्त्या-
आ विवेश'^८ । 'उदयाश्च अजस्रम्'^९ । उदिति किं? 'वयोभि-
रेवायानव रुन्वे'^{१०} । 'उदस्थाममृताश्च अनु'^{११} । 'भद्रान्दुर्या-
अ-
म्येहि'^{१२} । न सोमपूर्वः दुर्यान् इत्यत्र नकारः सोमपूर्वो यत्वं

१ सं. १-४-२०.

२ सं. ४-१-१.

३ सं. ४-१-६.

४ सं. ३-३-७.

५ सं. ५-१-२.

६ सं. ३-४-४.

७ सं. १-४-२०.

८ न्दुयोन्नता.

९ सं. ५-७-६.

१० सं. ४-६-३.

११ सं. ५-२-१०.

१२ सं. १-२-६.

१३ सं. १-६-२.

नापद्यते । 'प्र चरा सोम दुर्यानदित्याः'¹ । 'सो अस्मा५ अधि-
 पतीन्करोतु'² । सो इति किं ? 'इन्द्रो अस्मानस्मिन्'³ ।
 'अविमा५ अश्वी'⁴ । 'गोमा५ अग्रे'⁵ । 'मधुमा५ इन्द्रियावान्'⁶ ।
 अविगोमाध्विति किं ? 'पशुमानेव भवति'⁷ । 'हविष्मा५ आ
 विधासति'⁸ । हूतमानार्पे, हूतमानित्यत्र नकार आर्पे स्वरपरः यत्वं
 भजते । 'देवहूतमा५ इत्युखायाम्'⁹ । आर्पे इति किं ? 'देव-
 हूतमानिति देव-हूतमान्'¹⁰ । आर्पग्रहणसामर्थ्यादितिपरत्वेऽपि यत्वं
 भवति । आर्पे इति काकाक्षिवदुभयत्र सम्बध्यते, ग्रहोख्यादि-
 महान्पर्यन्तम् । आर्पेः स्वयम्पाठ इत्यर्थः । 'चिकित्वा५ अनुम-
 न्यताम्'¹¹ । 'इडावा५ एपः'¹² । 'कक्षीवा५ औशिजः'¹³ । 'वि-
 शल्यो ब्राणवा५ उत'¹⁴ । इडाकक्षीबाणेति किं ? 'करोति र-
 सवानेव भवति'¹⁵ । 'असृश्महि । पयस्वा५ अग्रे'¹⁶ । हीति किं ?
 'ऊर्मेस्त्रान्पयस्वानित्याह'¹⁷ । आर्पे इतिपरत्वान् 'देवहूतमा५ इत्युखा-
 यां जुहोति'¹⁸ इतिवद्यत्वप्राप्तिर्हिग्रहणेन प्रतिपिद्व्यते 'स्तुतो यासि
 वशा५ अनु'¹⁹ । 'सुविदत्रा५ अपि'²⁰ । 'अमित्रा५ अपबाधमानः'²¹ ।
 'अरा५ इवाग्रे'²² । 'पोपा५ अपुष्यत्'²³ । 'अग्रे महा५ अति'²⁴ ॥

¹ छ. १-२-१०.² छ. १-६-६.³ छ. ३-१-९.⁴ छ. ३-१-१०.⁵ छ. ६-२-६.⁶ छ. १-३-१२.⁷ छ. ६-५-३.⁸ काकाक्षिन्यायेनो.⁹ छ. ३-१-४.¹⁰ छ. ५-६-५.¹¹ छ. ४-५-१.¹² छ. २-२-४.¹³ छ. १-४-४६.¹⁴ छ. १-५-३.¹⁵ छ. १-८-५.¹⁶ छ. ४-६-४.¹⁷ छ. १-६-५.¹⁸ छ. ७-१-५.

‘मर्त्यान्’ इत्यादिषु आकारात्परो नकारोऽनितिपरः स्वरे प-
दादौ परतो यकारं याति । ग्रहोल्यादिव्यतिरिक्तदेशार्थमिदं
सूत्रं परं च । मर्त्यान्—‘मर्त्याः आविवेश’^१ । उदयान्—‘उ-
दयाः अजस्रम्’^२ । उदिति किम्? ‘वयोभिरेवायानव रुन्धे’^३ ।
अमृतान्—‘उदस्थाममृताः अनु’^४ । दुर्याज्ञ सोमपूर्वः—‘सुवा-
ग्देव दुर्याः आ वद’^५ । सोमपूर्वस्तु नायं यकारं याति । ‘प्र चरा
सोम दुर्यानिदित्याः’^६ । सो अस्मान्—‘वयं मा सो अस्माः अवहा-
य’^७ । सो इति किम्? ‘प्रदातारस्सोऽस्मानमुत्र’^८ । अविमान्—
‘आवेमाः अश्वो’^९ । गोमान्—‘गोमाः अग्ने’^{१०} । मधुमान्—
‘मधुमाः इन्द्रियावान्’^{११} । अविगोमध्वित्युपबन्धैः किम्? ‘प-
शुमानेव भवति’^{१२} । हविष्मान्—‘हविष्माः आ विवासति’^{१३} ।
हृतमानापे—‘देवहृतमाः इत्युक्तायां जुहोति’^{१४} । ‘युक्त्वा हि
देवहृतमाः अश्वोः अग्ने’^{१५} इत्यत्र तूक्त्यान्यान्तर्भावात्सिद्धम् ।
अग्न्युपानुवाक्ये तु न सिद्धयतीत्यप्राप्तप्राप्तार्थं हृतमान्ग्रह-
णम् । तत्र यथा ऋषिके भवति, एवं पदकालः^{१६} प्रक्षिप्तेऽपीति-
शब्दे परतः स्यात्, तन्निवारणार्थमिहार्पग्रहणम् । ऋषिर्वेदः ।
यथा अग्न्युपानुवाक्ये समान्नायते—‘एतः ह याच तदपिरभ्यनू-
वाचेन्द्रो दधीचो अस्थभिरिति’^{१७} इति । महाभाष्येऽप्युक्तम् ।
“ऋषिर्वेदः पठति—‘शृणोत प्राचाणः’^{१८} इति” इति । ऋषौ भवः
सन्धिरापो वैदिकः अपौरुषेयसन्धिरित्यर्थः । तत्रैवाप्राप्तप्राप्तं

^१ सं. ५-४-९.^२ सं. ४-६-३.^३ सं. ५-२-१०.^४ सं. १-२-८.^५ ,, १-२-१३.^६ सं. १-२-१०.^७ सं. ६-६-१.^८ सं. १-६-६.^९ सं. ३-१-१०.^{१०} सं. ६-२-६.^{११} सं. १-३-१२.^{१२} ,, ६-५-३.^{१३} सं. २-६-११.^{१४} पदकार.^{१५} ,, ५-६-६.^{१६} सं. १-३-१३.

हृतमान्ग्रहणेन क्रियते, न सर्वत्र । ततः—‘देवहृतमानिति देव—हृतमान्’^१ इति विभज्यानुवादाद्यं इतिशब्दे परतः न यकारादेशः । ये तु विभक्तपदात्मको वेद इत्याहुः, तेषां सर्वेऽपि पदसन्धयः पौरुषेयास्स्युः । ततश्च आर्ष इति निर्विपर्ययं स्यात् । ऋषिभिः कृतस्तन्धिरार्ष इति व्युत्पत्त्याश्रयणे तु विभज्यानुवादाद्येऽपि तथात्वमस्तीति व्यावर्त्याभावादार्षग्रहणमनर्थकं स्यात्, अनिष्टं च न निघर्ततेत्यास्तामेतत् ॥ चिकित्त्वान्—‘चिकित्वाः अनु मन्यताम्’^२ । इडावान्—‘इडावाः एषो असुर’^३ । कक्षीवान्—‘कक्षीवाः औशिजः’^४ । वाणवान्—‘वाणवाः उत’^५ । इडाकक्षीवाणेति किम् ? ‘स्ववानेव भवति’^६ अत्र मान् वान् इत्यनयोः प्रत्युपबन्धपाठः वैचिज्यात्मको चिस्पष्टार्थः । हि पयस्वान्—‘असृक्षमाहि । पयस्वाः अग्ने’^७ । ह्येत्युपबन्धस्य व्यावर्त्यं शाखान्तरे । ‘ऊर्जस्वान्पयस्वानित्याह’^८ इति तु न प्रत्युदाहरणम्, इतिपरत्वात् । न च ‘अनितिपरः’ (९-२०) इत्यनेन पौरुषेयस्यैवेतिकरणस्य पर्युदासः, अविशेषनिर्देशात् । ‘हृतमानार्षे’ इत्यार्षग्रहणस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च । यशान्—‘यशाः अनु’^९ । विद्वान्—‘सुविदवाः अर्षति’^{१०} । अमित्रान्—‘अमित्राः अपवाधमानः’^{११} । अरान्—‘अराः इवाग्ने’^{१२} । पोषान्—‘पोषाः अपुष्यत्’^{१३} । महान्—‘अग्ने महाः असि’^{१४} । आकारपूर्वं इत्येतदुत्तरार्थमिहानुवर्तते ॥ २१ ॥

—०—

१ सं. २-६-११.

२ सं. ३-१-४.

३ सं. १-६-६.

४ सं. ५-६-५.

५ सं. ४-५-१.

६ सं. ३-१-२.

७ सं. १-४-४५.

८ सं. १-७-३.

९ सं. १-८-५.

१० सं. ४-६-४.

११ सं. २-५-२.

१२ सं. ७-१-९.

इन्द्रो मेऽकरुद्धमिहाऽप्येत्वगन्मेडेन्यानायजि-
ष्ठआचर्त्तुर्कुर्वतादुहददितिरग्रेऽधरान्त्सप-
त्नानलम्परश्च ॥ २२ ॥

इन्द्रो मे, अकः, ऊर्द्ध, इहा, अप्येतु, अगन्म, ईडेन्यान्, आ-
यजिष्ठः, आच, ऋतु, अकुर्वत, अदुहत्, अदितिः, अग्रे, अध-
रान्त्सपत्नान्, अलं इत्येवम्परो नकार आकारपूर्वी यकारमापद्यते ।
चकार आकारपूर्वत्वाकर्षकः । यथा—“सपत्नाः इन्द्रो मे”^१ ।
मे इति किम् ? ‘युष्मानिन्द्रोऽवृणीत’^२ । ‘निग्राभेणाधरा-
अकः’^३ । ‘यूयं देवाः ऊर्द्धम्’^४ । ‘अग्ने देवाः इहा वह’^५ । दी-
र्घेण किम् ? ‘यज्ञियानिह यान् हवामहे’^६ । ‘धर्मो देवाः
अप्येतु’^७ । एत्विति किम् ? ‘विद्वानपि अन्येषु’^८ । ‘सुवर्देवाः
अगन्म’^९ । ‘ईडामहे देवाः ईडेन्यान्’^{१०} । ‘देवाः आयजिष्ठस्वस्ति’^{११} ।
‘देवाः आ च वक्षत’^{१२} । यजिष्ठश्चेति किम् ? ‘यानाऽवह उशतः’^{१३} ।
‘वाजो देवाः ऋतुभिः’^{१४} । ‘वित्वा कामाः अकुर्वत’^{१५} । ‘यज्ञोऽ-
सुराः अदुहत्’^{१६} । ‘विवस्वाः अदितिः’^{१७} । ‘अग्निस्ताः अग्रे’^{१८} ।

१ सं. १-१-१३.

२ सं. १-१-५.

३ सं. १-३-८.

४ सं. १-३-१४.

५ सं. १-६-१०.

६ सं. ६-१-६.

७ सं. १-७-९.

८ सं. २-६-९.

९ सं. ४-३-१३.

१० सं. ४-६-३.

११ सं. १-४-४४.

१२ सं. ४-७-१२.

१३ सं. १-५-९.

१४ सं. १-७-१.

१५ सं. १-६-३.

१६ सं. ३-१-४.

‘अन्याः अधरान्धसपत्नान्’¹ । सपत्नानिति किम् ? ‘भ्रातृव्या-
नधरान्पादयामि’² । ‘पुरोडाशाः अलङ्कुर्वन्ति’³ । अन्वादेशः
किमर्थः ? ‘परिधीनकुर्वन्ति’⁴ । तत्तत्पदग्रहणे कर्तव्ये परपदग्रह-
णम्, अनार्षेऽपि संहिताविधावग्रहणस्य च यत्वं स्यात् इति, नैमि-
त्तिकस्य च निमित्तापेक्षत्वात् । ग्रहणस्य यथा—‘अमर्त्यो मर्त्याः
आ विवेश—मर्त्याः अमर्त्यः’⁵ । ‘उदस्थाममृताः अनु—अमृताः
अस्थाम्’⁶ । एवं नैमित्तिकस्य ग्रहणस्य—‘अग्नेऽविमाः अश्वी—
अविमाः अविमाः अग्ने’⁷ । ‘उदयाः अजस्वं—उदयाः अयाः
उदुदयान्’⁸ । एवमग्रहणस्य नैमित्तिकस्य—‘अग्निस्ताः अग्ने—
ताः अग्निः’⁹ । ‘अन्याः अधरान्धसपत्नान्—अन्याः अधरा-
नधरानन्याः अन्याः अधरान्’¹⁰ । एवं सर्वत्र नकारस्य यकारो-
त्पत्तिर्द्रष्टव्या ॥ २२ ॥

इन्द्रो मे इत्यादिषु स्वरेषु पदादिषु परतः आकारपूर्वो न-
कारो यकारं याति । इन्द्रो मे—‘सपत्नाः इन्द्रो मे’¹⁰ । स इति
किम् ? ‘वृद्धानिन्द्रः’¹¹ । अक—‘अधराः अकः’¹⁰ । ऊढुम्—
‘देवाः ऊढुम्’¹² । इहा इत्यस्योदाहरणं शाखान्तरे । आ इ-
त्युपबन्धेन किम् ? ‘यज्ञियानिह यान् हवामहे’¹³ । अप्येतु—‘ते-

1 सं. ३-२-८.

2 सं. ३-५-३.

3 सं. ६-३-१.

4 सं. ६-२-१.

5 सं. ६-७-९.

6 सं. १-२-८.

7 सं. १-६-६.

8 सं. ४-६-३.

9 सं. ३-१-४.

10 सं. १-१-१३.

11 सं. २-३-२.

12 „ १-३-८.

13 „ १-६-१०.

न यज्ञो देवाः अन्येतु^१ । एत्विति किम्? 'वत्यजानपीध्मे'^२ ।
 अगन्म—'सुवर्देवाः अगन्म'^३ । ईडेन्यान्—'देवाः ईडेन्यान्'^४ ।
 आयजिष्ठः इत्यस्योदाहरणं शाखान्तरे । आ च—'देवाः आ च
 वक्षत्'^५ यजिष्ठः, च, इत्युपवन्धाभ्यां किम्? 'यानाऽवह उश-
 तः'^६ । ऋतु—'देवाः ऋतुमिः'^७ । अकुर्वत—'कामाः अकुर्वत'^८ ।
 अदुहत्—'यज्ञोऽसुराः अदुहत्'^९ । अदितिः—'विवस्वाः अदि-
 तिः'^{१०} । अग्ने—'अग्निस्ताः अग्ने'^{११} । अधराण्यसपत्नान्—'अन्याः
 अधरान्यसपत्नान्'^{१२} । सपत्नानिति किम्? 'भ्रातृव्यानधरान्'^{१३} ।
 अलम्—'पुरोडाशाः अलङ्कुर्वति'^{१४} । आकारपूर्वं इत्यनुवृत्त्या
 किम्? 'ते कार्पम्यमयान्परिधीनकुर्वत'^{१५} । अत्र 'मर्त्यानुदयान्'
 (९-२१) इत्यादिघत्कार्यभाजां ग्रहणे कर्तव्ये निमित्तानां ग्रहणं
 ग्रन्थलाघवार्थम् । तथाहि—यत्र निमित्तविशेषग्रहणाभावेऽपि कार्यं
 सिद्धयति, तत्र कार्यभाज्येष पदानि निरुपवन्धानि सोपवन्धा-
 नि वा गृह्यन्ते, न तु निमित्तविशेषाः, यथा—'मर्त्यानुदयान्'
 (९-२१) इति । यत्र तु कार्यभाजां अग्रहणेऽपि कार्यं सि-
 द्ध्यति, तत्र निमित्तविशेषा एव निरुपवन्धाः सोपवन्धा वा
 गृह्यन्ते । यथा—'कृधिपिन्वपथेपरः' (८-२५) 'न सक्र-
 द्यकारपरे' (८-२६) इति । एवं कार्यभाङ्निमित्तयोरन्यतर-
 स्य ग्रहाणाङ्ग्रन्थलाघवं भवति । तद्यथा—कार्यभाङ्नाग्रहणे
 निमित्ताग्रहणाङ्गलाघवं स्यात् । निमित्तभेदेऽपि कार्यसिद्धिश्च ।

१ सं. १-६-२.

२ सं. २-२-८.

३ सं. १-३-९.

४ ,, २-६-९.

५ ,, ४-६-३.

६ ,, १-४-४४.

७ ,, १-१-१४.

८ ,, १-५-९.

९ ,, १-३-१.

१० ,, १-६-३.

११ ,, २-१-४.

१२ ,, २-२-८.

१३ ,, ३-५-३.

१४ ,, ६-३-१.

१५ ,, ६-३-१.

यथा दुर्यानिनि—‘दुर्याः आ चद’^१ । ‘दुर्याः अभ्येहि’^२ । नि-
मित्तमात्रग्रहणेऽपि कार्यभाजोऽनुपादानालाघवं कार्यभागेऽपि
कार्यसिद्धिश्च । यथा आवृत्पर इति—‘जिन्वरावृत्स्वाहा’^३ । ‘उ-
ग्ररावृत्स्वाहा’^४ । यत्र तु कार्यभाजान्नात्रग्रहणे निमित्तभेदो न स-
म्भवति, निमित्तमात्रग्रहणे च ‘कार्यभागेदः, तत्रेतराप्रयोग’^५
कृतमेव लाघवं लभ्यते नान्यत् । यथा—‘देवते, मेध्ये, तृण्णे,
तृचे’ (४-११) इति, ‘द्वारौ...चरावः...परः’ (४-३८) इति
च । ततश्च येषां पदानां त्रिविधेऽपि समाम्नाये निमित्तभेदः कार्यभा-
गेदो वा न सम्भवति, तेऽन्वयीतराप्रयोगकृतस्य ‘ग्रन्थलाघव-
स्यास्तित्वध्रौव्यात्, जटायां निमित्तभेदकार्यभागेदयोरपि छान्दसं
कार्यं नापादनीयम् । अन्यथोपपन्नत्वात् । ततश्च ‘मर्त्यान्’ (९-२१)
इत्यादेः पूर्वपदेन व्युत्क्रमणसन्धौ यकारादेशो न भवति । ‘अमर्त्यो
मर्त्यान्मर्त्यान्मर्त्योऽमर्त्यो मर्त्यान्’^६ । ‘इन्द्रो मे’ (९-२२) इत्यादेश्च
परपदेन व्युत्क्रमणसन्धौ यत्वं न भवति । ‘अकुर्वत वरुणप्रघासा-
न्वरुणप्रघासानकुर्वताकुर्वत वरुणप्रघासान्’^७ । न ह्यसमाम्नातेषु
सन्धिषु युक्तं छान्दसं कार्यं, समाम्नातवल्लभ्यं हि तदित्युक्त-
मेव^८ । न हि तत् शास्त्रतात्पर्यविदो विपहन्ते । तथा हि—
‘अशान्तावास्तां ते देवाः’^९ इत्यत्र—‘आस्तां ते त आस्तामा-
स्तां ते’^{१०} इत्यस्यां जटायां तेशब्दे प्रग्रहसंज्ञाप्रकृतिभावाव-
ल्लपोऽपि नानुमन्यते । किमुत शास्त्रतात्पर्यविदास्तिकः ? ‘त-
स्मादेवंजातीयकं वालिशभापितं छान्दसकार्यं जटायां अभ्यु-

^१ सं. १-२-१३.^२ सं. १-६-३.^३ सं. २-४-७.^४ सं. ५-७-९.^५ सं. १-२-२.^६ समाम्नातवल्लिहितमेव.^७ सं. २-५-८.

पगच्छन्तो बालदै*ष्टिका अल्पज्ञास्तत्त्वविद्भिः सम्यक्प्रतिबोधयि-
तव्या इत्येवमर्थमिहास्माभिः प्रपञ्चितम् ॥ २२ ॥

न रश्मीन्नुपयान्यमान्पतङ्गान्त्समानान-
र्चान्यजीयान् ॥ २३ ॥

रश्मीन्, श्रपयान्, यमान्, पतङ्गान्, समानान्, अर्चान्, यजी-
यान् एषु ग्रहणेषु नकारः स्वरपरोऽपि न खलु रेफं यकारं वा
भजते । यथा—‘पुरुषा च रश्मीननु’^१ । ‘अदितिश्श्रपयानिति’^२-
उक्तत्वादनयोः प्राप्तिः । ननु ‘अदितिश्श्रपयान्’^२ इत्यस्य इतिपर^२
त्वादेव निषेधे सति ग्रहणमनर्थकमिति चेत् । आर्षि इतिपरत्वात्
पुनः प्राप्तिः । तन्मा भूदिति ब्रूमः । ‘सुयमानूतये’^३ पृष्ठचत्वात्
प्राप्तिः । ‘पतङ्गानसन्दिताः’^४ याज्यात्वात् प्राप्तिः । ‘समानानु-
शन्नन्ने’^५ । ‘अर्चानिन्द्रावाणः’^६ । ‘यजीयानुपस्थे मातुः’^७ ।
एषामपि याज्यात्वात् प्राप्तिः ॥ २३ ॥

रश्मीनित्यादिषु नकारो यथाविहितं रेफं यकारं वा न
याति स्वरे पदादौ परतः । रश्मीन्—‘पुरुषा च रश्मीननु’^१ ।
श्रपयानित्यस्यादाहरणं . शास्त्रान्तरीये ग्रहोक्त्यादौ द्रष्टव्यम् ।

१ सं. ४-१-२.

२ सं. ४-१-५.

३ सं. ४-५-१५.

४ सं. १-२-१४.

५ सं. ४-२-१३.

६ „ १-६-१२.

७ „ १-२-१४.

* बालदै.

‘अदितिदभ्रयानिति’¹ इत्यत्र त्वितिपरत्वाच्चास्ति प्राप्तिः । न च व्युत्क्रमस्य जटायामनिति²शब्दपरतयाऽस्ति प्राप्तिः, अनाम्ना-
तसन्धौ छान्दसकार्याभावस्योक्तत्वात् । यमान्—‘सुयमानूतये’³ ।
पतङ्गान्—‘पतङ्गानसन्दितः’⁴ । समानान्—‘समानानुशत्रग्ने’⁵ ।
अर्चान्—‘अर्कमर्चानिन्द्रावाणः’⁶ । यजीयान्—‘यजीयानुपस्थे
मातुः’⁷ ॥ २३ ॥

—0—

उदधापरश्चोदधापरश्च ॥ २४ ॥

उत्, अथा इत्येवम्परो नकारो यथाविहितं रेफं यकारं वा
नापद्यते । चकारो निषेधाकर्षकः । यथा—‘अमित्रानुन्नयामि’⁸ । उ-
दिति किम्? ‘त्रीरुत द्यून्’⁹ । ‘विद्वानथा भव’¹⁰ । दीर्घोऽत्र
ह्रस्वोपलक्षणमपि । यथा—‘विद्वानथ । अथा भव’¹⁰ । यथासं-
हितास्थमेव निमित्तमत्र स्वकायं करोति निषेधरूपम् । यथा—‘अमि
त्रानुदुदमित्रानमित्रानुत्’⁸ । विनिरप्येवं यथासंहितास्थनिमित्त एवं* सर्वत्र
भवतीत्यवोचाम । यथा—‘सो अस्मा अस्मान्त्स सो अस्मान् ।

¹ सं. ४-१-५.

² न चास्य क्रमस्य जटायामदिति. ³ सं. ४-७-१५.

⁴ सं. १-२-१४.

⁵ सं. ४-३-१३.

⁶ सं. १-६-१२.

⁷ सं. १-३-१४.

⁸ सं. ४-१-१०.

⁹ सं. २-१-११.

¹⁰ सं. ३-२-११.

* निमित्तेरेव.

अस्माꣳ अवहायावहायास्माꣳ अस्माꣳ अवहाय^१ । एवमादि
वेदितव्यम् ॥ २४ ॥

इति त्रिमाप्यरत्ने प्रातिशाख्यविवरणे नवमोऽध्यायः.

उत्, अथा इत्यनयोः परतो नकारो यथाविहितमन्त-
स्थादेशं न याति । 'ब्रह्मणाऽमित्रानुन्नयामि'^२ । 'विद्वानथा
भव'^३ । 'अपि विकृतम्' (१-५१) इति चक्षुनाद्विकृतयोरपि भ-
वत्ययं निषेधः । 'अमित्रानुन्नयामि'^२ । 'विद्वानथा भव'^३ ॥२४॥

इत्याचार्यगार्ग्यगोपालमिश्रविरचिते वैदिकाभरणाख्ये
प्रातिशाख्यव्याख्याने नवमोऽध्यायः.



अथ दशमोऽध्यायः

अथैकमुभे ॥ १ ॥

‘अथ’ इत्ययमधिकारः । उभे अक्षरे एकं रूपं^१ सजातीयमापद्यते इत्येतदधिकृतं वेदितव्यं, इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः ॥ १ ॥

उभे इति सामान्यविचक्षया नपुंसकलिङ्गनिर्देशः । ते तु वर्णात्मके । ‘वर्णस्थ विकारलोपौ’ (१-५६) इति परिभाषणात् । अक्षरापेक्षया वा नपुंसकनिर्देशः । पदान्तश्च पदादि-
श्चेत्युभौ वर्णावेकं विकारं गच्छत इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम् ।
स्वरपराधिकारश्च वर्तते ॥ १ ॥

दीर्घः समानाक्षरे सवर्णपरे ॥ २ ॥

समानाक्षरे आत्मनः सवर्णपरे सति पूर्वपरीभूते एते उभे दीर्घमेकमाप्नुतः । यथा—‘गृहीप्वान्तरितम्’^२ । ‘रात्नाऽसीन्द्राण्ये’^३
‘सूपस्या देवः’^४ । सवर्णः परः यस्मा दसौ सवर्णपरः, तस्मिन् ॥ २ ॥

समानाक्षरे सवर्णपरे सति उभे एकं दीर्घमादेशं गच्छतः । यं प्रति सावर्ण्यमस्ति । ‘अन्तरिक्षमिवाक्षीद्धम्’^५ ।
‘यथा वा आयतां प्रतीक्षते’^७ । ‘तदेवावरुन्धे’^६ । ‘अथ मे पुन-

^१ एकरूपं.

^२ स. १-१-८.

^३ सं. १-१-२.

^४ स. १-२-२.

^५ सवर्णस्वरपरे.

^६ सं. ६-४-६.

^७ ,, ३-२-६.

^८ ,, ५-७-१.

देहीति^१ । 'दधतूखे'^२ । 'यदपतूलयाञ्जीत'^३ । समानाक्षर इति किम्? 'एत एतान्ग्रहानपश्यन्'^४ । 'भूत्या ऐन्ध'^५ । सवर्णपर इति किम्? 'अपेन्द्र द्विपतो मनः'^६ ॥ २ ॥

अथावर्णपूर्वे ॥ ३ ॥

'अथ' इत्ययमधिकारः । अवर्णपूर्वे सतीत्येतदधिकृतं वेदितव्यं, इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः । इदमधिकारान्तरम्, 'उपसर्गपूर्व आरम्' (१०-९) इतिपर्यन्तम् । अवर्णश्चासौ पूर्वश्च अवर्णपूर्वः, तस्मिन् ॥ ३ ॥

अवर्णः पूर्वो यस्मिन् सन्धौ तस्मिन्निति विषयतया सन्धिरधिक्रियते ॥ ३ ॥

इवर्णपर एकारम् ॥ ४ ॥

अवर्णपूर्वे इवर्णपरे च सति, ते उभे अक्षरे एकारमामुतः । यथा— 'नेष्टिर्भवति'^७ । 'महेन्द्रायं'^८ । इवर्णश्चासौ परश्च इवर्णपरः, तस्मिन् ॥

अवर्णपूर्वे इवर्णपरे सन्धौ उभे एकमेकादं गच्छतः । 'नेष्टिर्भवति'^९ ॥ ४ ॥

^१ स. २-१-२.

^२ सं. ४-१-६.

^३ सं. ६-१-१.

^४ सं. ६-६-८.

^५ सं. २-२-८.

^६ सं. ३-६-८.

^७ सं. २-५-५.

^८ सं. ६-६-२१.

^९ 'नेष्टिर्भवति.' (२-५-६) 'प्रेयमगाव.' (१-१-२) 'चक्षुषा प्रक्षे.' (१-१-४) 'पुनरेत्य निः.' (२-३-१२) 'दक्षिणार्धं परिक्षेत.' (३-२-४) इवर्णपर इति किम्? 'श्रुमाष्टिनाऽवोक्षति.' (५-४-५) इत्यपि ऋचिक्तः पाठः.

उवर्णपर ओकारम् ॥ ५ ॥

अवर्णपूर्वे उवर्णपरे च सति, ते उभे^१ ओकारमाप्नुतः । यथा—
'इपे त्वोर्जे त्वा'^२ ॥ ५ ॥

अवर्णपूर्वे उवर्णपरे सन्धावुभे एकमोकारं गच्छतः । 'इ-
ध्मावर्हिः प्रोक्षति'^३ । 'इपे त्वोर्जे त्वा'^२ । 'इपे त्वोपधीः'^४ । 'इन्द्र-
स्योरुमा विश'^५ । उवर्णपर इति किम् ? 'अभिददि कृत्वाऽवेक्षेत'^६
ये 'त्वस्मिन्नभ्यायेऽक्षरसंहितैव विधीयत इत्याहुः, तेषां 'प्र-
उगचितं चिन्वीत'^७ इत्यादावपि ओकार एकादेशस्स्यात् । न-
न्वेवं सति 'प्रोगचितं चिन्वीत'^७ इति रूपापत्तेः अवर्णोवर्णप्रकृ-
तित्वं न संविज्ञायेत । सत्यम् । अयं हि सर्वासामक्षरवर्ण-
संहितानां स्वभावः यद्विधित एव प्रकृतिरवगम्यते प्रायशो
न त्वध्ययनात् । न हि 'पितृणां सदनमसि'^८ इत्यादिषु ण-
कारस्य नकारः प्रकृतिरित्यध्ययनादवगम्यते । अपि तर्हि विधि-
त एव ॥ ५ ॥



एकारैकारपर ऐकारम् ॥ ६ ॥

अवर्णपूर्वे एकारैकारपरे च सति ते उभे^१ पूर्वापरीभूते ऐकार-
माप्नुतः । यथा—'सं ब्रह्मणा पृच्यस्वैकताय'^{१०} । 'सोमैन्द्रा बभ्रुल-
लामास्तूपराः'^{१०} । एकारश्च ऐकारश्च एकारैकारौ, तयोः समाहारः,

^१ उभे अधरे.

^२ सं. १-१-१.

^३ सं. २-६-५.

^४ सं. १-३-७.

^५ „ १-२-७.

^६ सं. ६-६-७.

^७ सं. ५-४-११.

^८ सं. १-३-२.

^९ सं. १-१-८.

^{१०} सं. १-६-१९.

एकारैकारम् । समाहारे द्वन्द्वः । तच्च तत् परं च एकारैकारपरं,
कर्मधारयः । तस्मिन्, एकारैकारपरे । एवमुपरितनेऽपि सूत्रे
समासः ॥ ६ ॥

अवर्णपूर्वे एकारपरे ऐकारपरे च सन्ध्यालुभे ऐकारमेकादेशं
गच्छतः । 'अयैता आहुतीः' * । 'सैतं मन्त्रमपश्यत्' ^१ । 'वाचमेवै-
न्द्रीमात्मन्' ^२ । 'स्वाहेन्द्रः प्राणः' ^३ । एतत्पर इति किम् ? 'अघा-
रुन्धौपधीः' ^४ ॥

ओकारैकारपर औकारम् ॥ ७ ॥

अवर्णपूर्वे ओकारैकारपरे च सति, ते उभे औकारमामुतः ।
यथा—'ब्रह्मौदनं पचेत्' ^५ । 'दान्नाऽपौम्भन्' ^६ ॥ ७ ॥

अवर्णपूर्वे ओकारपरे औकारपरे च सन्धौ उभे औकारमेकादेशं
गच्छतः । 'अधौपधीरन्तगता दहति' ^७ । 'पिता जनितौपधी-
नाम्' ^८ । 'अघारुन्धौपधीः' ^९ । 'अरुणो ह स्माहौपधेशिः' ^{१०} । 'यज-
मानेन सम्मितौदुम्बरी' ^{११} । एतत्पर इति किम् । 'तेनैव प्रजा-
स्सृजते' ^{११} ॥ ७ ॥

१ सं. १-६-४.

२ सं. १-६-१०.

३ सं. १-२-१०.

४ सं. ७-४-२.

५ सं. ५-७-२.

६ सं. २-४-१३.

७ सं. १-५-९.

८ सं. ४-६-२.

९ सं. ६-२-९.

१० सं. ६-२-१०.

११ सं. १-७-४.

* सं. २-४-६.

अरमृकारपरे ॥ ८ ॥

अवर्णपूर्वे ऋकारपरे च सति ते उभे^१ अरमिति विकारमा-
मुतः^२ । यथा—‘ अर्द्धर्च एकाम्^३ । ‘ आग्नेय्यर्चाऽऽग्नीध्रम्^४ ॥ ८ ॥

अवर्णपूर्वे ऋकारपरे सन्धौ उभे अद् इत्यादेशं गच्छतः ।
‘ एवर्णयात्^५ । ‘ शवसर्तप्रजात^६ । ऋकारपर इति किम् ?
‘ यत्रैव यक्षमहदान्^७ ॥ ८ ॥

उपसर्गपूर्व आरम् ॥ ९ ॥

‘ अवर्णपूर्वे’ (१०-३) इत्यनुवर्तते । तस्मादुपसर्गपूर्व इत्यविशेषो-
क्तावप्य^८वर्णान्तो य उपसर्गस्तस्यैव ग्रहणम् । ऋकारः सान्निध्याल्लभ्यते ।
उपसर्गपूर्वे ऋकारपरे च सति उभे^१आरमिति विकारमामुतः ।
यथा—‘ उपाच्छति^२ । ‘ अवाच्छति^३ । ‘ ऋतव्या उपोपात्तव्या
ऋतव्या उप^४ । अवर्णान्तोपसर्गविशेषणेन किम् । ‘ व्युद्धं वा
एतत्^५ । उपसर्गश्चासौ पूर्वश्च तस्मिन्, उपसर्गपूर्व ॥ ९ ॥

अवर्णपूर्वाधिकारादुपसर्गावर्णपूर्वे ऋकारपरे सन्धौ उभे आद्
इत्यादेशं गच्छतः । ‘ नार्तिमार्छति^६ । ‘ स इन्ध्वे तमुपार्छति^७ ।
पूर्वसूत्रस्यायमपवादः । जटायां व्युत्क्रमणसन्धौ नायं विधिः,

^१ उभे अक्षरे.

^२ „ १-६-१०.

^३ सं. ३-१-६.

^४ सं. १-५-२.

^५ सं. १-८-२२.

^६ „ ७-२-८.

^७ पोक्तोप्य.

^८ „ १-५-९.

^९ सं. २-६-३.

^{१०} सं. ५-३-१.

^{११} „ ५-१-२.

अनाम्नातसन्धेरेतच्छाविषयत्वात् । 'ऋतव्या उपोषर्तव्या .ऋत-
व्या उप'^१ । मूलशास्त्रे हि 'उपसर्गादिति धातौ'^२ इति धात्वृकार एव
परतः वृद्धिर्विधीयते । यत्र तु व्युत्क्रमणवशादुपसर्गस्य धा-
त्वृकारपरत्वं 'नेन्द्रियेण वीर्येण व्युध्यतेऽप.वा एतस्मात्'^३ इति
तत्रापि नायं विधिः, 'उपसर्गाः क्रियायोगे'^४ इति स्मरणात् ।
कामतिक्रियायोगिनः 'अप'^५ इत्यस्य ऋद्धिक्रियां प्रत्युपसर्ग-
त्वाभावात् । तस्मात् 'ऋध्यतेऽपापर्यत ऋध्यतेऽप'^६ इत्येवमेव
भवितव्यम् । अवर्णपूर्वं इति किम् ? 'यज्ञस्य वै समुद्धेन'^७ ।
उपसर्गपूर्वं इति किम् ? 'उभाभ्यां नर्ध्येत'^८ । ऋकारपर इति किम् ?
'नमो भरन्त एमसि'^९ ॥ ९ ॥

उदात्तमुदात्तवति ॥ १० ॥

उदात्तधर्मविशिष्टे वर्णे पूर्वतः परत उभयतो वा स्थिते सति
ते उभे अप्येकोदेशमापन्ने उदात्तधर्ममेकस्मानुतः उदात्तोऽस्यास्ती-
त्युदात्तवान्, तस्मिन् उदात्तवति । समानाक्षरमारभ्य^१ सर्वस्मिन्ने-
कीभावे यथाक्रममुदात्तानुदात्तस्वरितपूर्वे उभयोदात्ते^२ चोदाहरणानि
दर्शयिष्यामः । यथा—'सवितं प्रार्पयतु'^३ । 'ब्रह्म यच्छापा-
न्नेऽग्निम्'^४ । 'याज्यैवैनम्'^५ । 'पूषाऽऽधत्त'^६ । 'दिवीव चक्षुः'^७ ।^८

१ स. ५-३-१.

२ पा. ६-१-७१.

३ सं. २-२-१.

४ पा. १-४-७९.

५ सं. १-६-१०.

६ ,, ६-६-१०.

७ स. १-६-६.

८ उपसर्गान्त इत्यधिकम्.

९ स्वरितानां पूर्वले

परत्वे उभयोदात्तत्वे.

१० स. १-२-२.

११ ,, २-२-७.

१२ ,, २-२-६.

१३ ,, १-५-१.

१४ ,, १-३-६.

‘अद्य वसु वसतीतीन्द्रो हि देवानाम्’¹ । ‘मैत्रावरुणीत्याह’² ।
 ननु ‘सूत्रीयम्’³ इत्यत्रोदात्तेनैकादेशे सति किं न स्यात् अयं विधिः ?
 उदात्तपूर्वाधिकारे सति ‘ऊभावे च’ (१०-१७) इति सूत्रेण
 स्वरितस्य विशेषविधानादिति ब्रूमः । ‘रेतो दधातूथसकथ्योः’⁴ ।
 ‘वनस्पतयोऽनूत्तिष्ठन्ति’⁵ । ‘ता दिक्षूपादधत्’⁶ । एवं समानाक्षर-
 संहितायामेकीभावोऽन्यत्रापि’ द्रष्टव्यः । एवमवर्णपूर्वत्वेऽपि वक्ष्यते—
 ‘सेमां नो हव्यदातिम्’⁷ । ‘तं घेदग्निः’⁸ । ‘कार्येति सवनमुखाथसवन-
 मुखात्’¹⁰ । ‘संदु होता’¹¹ । ‘प्रोक्षितं गोपायत’¹² । ‘ऊर्जस्स्थोर्ज-
 वो भक्षीयेति’¹³ । ‘स्वायुपोदोषधीनाम्’¹⁴ । ‘इमे एवोप धत्ते’¹⁵ ।
 ‘नेनं प्रत्योपति’¹⁶ । ‘एक एव यजेतैकः’¹⁷ । ‘अथैकमुत्थानम्’¹⁸ ।
 ‘यन्नैका रशानाम्’¹⁹ । ‘इन्द्रियमेवैन्द्रेण’²⁰ । ‘वि हि तदवैर्यतेति’²¹ ।
 ‘देवेभ्य ऐन्धेन्ध देवेभ्यो देवेभ्य ऐन्ध’²² । ‘क्षत्रस्य चौजसे’²³ ।
 ‘स्वाहोपधीभ्यः’²⁴ । ‘सौपधीरनु रुध्यसे’²⁵ । ‘प्रौक्षीः केनाप इति’²⁶ ।
 ‘अरुणो ह स्माहोपवेशिः’²⁷ । ‘आग्नेय्यर्च्चाऽऽग्नीध्रम्’²⁸ । ‘सैवास्यर्द्धिः’²⁹ ।

1 सं. २-५-३.

2 सं. २-६-७.

3 सं. ६-२-४.

4 सं. ७-४-१९.

5 „ ७-४-८.

6 „ ५-६-५.

7 अत्रापि.

8 „ ४-६-६.

9 „ २-६-११.

10 सं. ७-५-५.

11 „ १-१-१४.

12 „ ७-१-१२.

13 „ १-२-६.

14 „ १-२-८.

15 सं. ५-२-७.

16 „ १-५-९.

17 सं. ७-२-१०.

18 सं. ७-२-९.

19 सं. ६-६-४.

20 सं. ६-६-५.

21 सं. ७-१-५.

22 सं. २-५-९.

23 „ ३-३-१.

24 „ १-८-१३.

25 „ ४-२-३.

26 „ २-६-६.

27 „ ६-१-९.

28 „ ३-१-९.

29 „ ६-६-१०.

‘ऐन्ध ऋषिष्ठुतः’^१ । ‘एवं ऋषिरस्वदयत्’^२ । ‘नार्त्तिमाच्छेति’^३ ।
 ‘अवाच्छेत्येवम्’^४ । एवमादि ॥ १० ॥

उक्ता एकांशः । तेषामिदानीं स्वरादिगुणविधिरारभ्यते—
 उदात्तवति सन्धौ विकारभाजोरुभयोरन्यतरस्य घोदात्तत्वे स-
 ति उभे उदात्तमेकादेशं गच्छतः । ‘यश्चमेवावरुन्ध’^५ इत्युभ-
 योरुदात्तयोरुदात्तता^६ । ‘प्रेयमगात्’^७ । ‘सैतं मन्त्रम्’^८ । ‘वसन्तमे-
 वर्तूनाम्’^९ इति पूर्वस्य । ‘पूतीगन्धस्यापहृत्यै’^{१०} ‘उज्जितिमनूजेषम्’^{१०} ।
 ‘सम्मितौदुम्बरी भवति’^{११} । ‘अवाच्छेति’^४ । ‘यथाऽक्षोऽनुपाक्तः’^{१२}
 इति परस्य । उदात्तवतीति किम् ? ‘अथाग्रवीत्’^{१३} । ‘अथ
 क्रास्य’^{१३} ॥ १० ॥

अनुनासिके अनुनासिकम् ॥ ११ ॥

‘अप्रग्रहास्तमानाक्षराण्यनुनासिकान्येकेषाम्’ (११-१) इति ये-
 पां मतं तानुद्दिश्यायं विधिः^{१४} । तस्मिन् उदात्तवत्यनुनासिके
 पूर्वतः परत उभयतो वा स्थिते सति ते उभे अप्यक्षरे अनुनासि-
 कधर्ममेकमाप्नुतः । उक्तान्येवोदाहरणानि । एतदनिष्टम्^{१५} ॥ ११ ॥

१ सं. २-५-१.

२ सं. ५-१-१०.

३ सं. १-६-२.

४ सं. २-६-३.

५ सं. २-६-१.

६ स्वरितत्वे अनुदात्तत्वे

चोदाहरणम्—इति कचित्.

७ सं. १-१-२.

८ सं. १-५-४.

९ सं. २-२-२.

१० सं. १-६-४.

११ पा. ६-२-१०.

१२ सं. ३-२-११.

१३ सं. ५-७-४.

१४ अनुनासिकान्येकेषामित्येकेषां मतम् । तानुद्दिश्यायं विधिः.

१५ एतदनिष्टम् इति काचित्कः पाठः.

एवैः¹ । आर्षस्वरपर इति किं ? 'बुधिया ईरते ईरते बुधिया
बुधियेरते'² । 'ज्या इयमियं ज्या ज्येयम्'³ । 'पूपा एत्वेतु
पूपा पूपेतु'⁴ । 'अमिनन्त एवैरेवैरमिनन्तामिनन्तैवैः'⁵ । आर्ष-
स्वरपर इति किम् ? 'असि स्वधा स्वधाऽस्यसि स्वधा'⁶ ।
'असि मा माऽस्यसि मा'⁷ । 'आ पूपा पूपाऽऽपूपा'⁸ । 'सुपर्णा अ-
मिनन्तामिनन्त सुपर्णास्सुपर्णा अमिनन्त'⁹ । इदमेव प्रत्युदाह-
रणम् । न तु 'स्वधाऽसि'¹⁰ 'प्रमाऽसि'¹¹ 'प्रपाऽसि'¹² 'ज्येयम्'¹³
'अमिनन्तैवैः'¹⁴ इत्यादि । जटायामपि तृतीयपर्यायस्य प्रकृति-
त्वात् ॥ १३ ॥

धा, मा, पा इत्यवर्णोत्तिपरो यथोक्तमेकादेशं न गच्छति ।
तथा 'बुधिया' इत्यादिषु अवर्ण आर्षे वैदिके सन्धौ यथोक्तमेकादेशं
न गच्छति । धा—'स्वधा असि'¹⁵ । मा—'प्रमा असि'¹⁶ । पा—
'प्रपा असि त्वमग्न इयक्षवे'¹⁷ । अस्तिपर इति किम् ? 'दशधे-
न्द्रियम्'¹⁸ । 'माऽघशः सः'¹⁹ । बुधिया—'प्र बुधिया ईरते'²⁰ । ज्या—'ज्या
इयः समने'²¹ । आपूपा—'आ पूपा एत्वा वसु'²² । आङ्गुपधन्धेन
किम् ? 'तं पूपाऽऽधत्त'²³ । अमिनन्त—'अमिनन्त एवैः'²⁴ । आर्षे
सन्धावित्यस्य व्यावर्त्य द्वाखान्तरे । तत्र हि परमज्यापदस्य
विभज्यानुवादार्थे पदकाले प्रक्षिप्ते²⁵ इतिशब्दे परतः प्रकृति-

¹ सं. ३-१-११.

² सं. ४-३-१३.

³ सं. ४-६-६.

⁴ सं. २-४-५.

⁵ " १-१-९.

⁶ " ४-४-११.

⁷ " २-६-१२.

⁸ " ५-६-३.

⁹ " १-१-१.

¹⁰ सं. १-६-१.

¹¹ पदकारप्रक्षिप्ते इत्यपि पाठः. काचित्कः.

बुद्धावस्स्यात्^१ । 'परमज्येति परम—ज्या' इति ज्ञेयते । अन्ये तु जडायां पुनरनुक्रमणे यस्त्वमाज्ञातसन्धिः, तस्यैवानार्पत्वं परिकल्प्य प्रत्युदाहरन्ति—'बुद्धिया ईरत ईरते बुद्धिया बुद्धि-
येरते'^२ इति । तदतितुच्छम् । न हि वैदिकस्य सन्धेः पुनः प्रयोगमात्राद्वैदिकत्वमपैति^३ । तथा सति संहितास्त्रायस्य क्रमा-
स्त्रायस्य च ग्रहणधारणार्थेषु उपांक्षातेष्वपि प्रकृतिभावो^४ न
स्यात् । तस्मात् 'बुद्धिया ईरत ईरते बुद्धिया बुद्धिया ईरते'^५
इत्येव^६ जडा वक्तव्या । यदप्युच्यते 'असिपरः' इत्यत्रापि आर्प-
ग्रहणं सम्बध्यते, तेन 'धा असि स्वधा असि'^७ इत्यत्र 'असि
स्वधा'^८ इति क्रमस्य जडायां धाशब्दस्य व्युत्क्रमणासिद्धमसिपर-
त्वमाश्रित्य ग्राम्बुक् प्रकृतिभावो व्यावर्त्यते; ततश्चानाम्नातस-
न्धेरपि एतच्छास्त्रविषयत्वं लभ्यत इति । तदप्यसारम् ।
आर्पग्रहणस्य परवाक्यान्वितस्य पूर्ववाक्यान्वये प्रयत्नकारणा-
भावात् । न च विधिद्वयस्यैकसूत्रोपदेशः एकोपाधि धिना
अनुपपद्यमानः सूत्रस्यान्वयं कल्पयितुमर्हति स ह्यन्यथैवोप-
पद्यते^९ । अयं पूर्वस्यैकादेशस्य प्रतिषेधतया विषयैक्यात्मक-
स्य, मुख्यापाधेर्विद्यमानत्वान् । अपि च पूर्ववाक्यस्थस्य
कचिदाकांक्षायोग्यतावशादुत्तरवाक्येऽन्वय उपपद्यते अनुवृत्ति-
सम्भवात् । न तु विपर्ययः । अनुवृत्त्यसम्भवात् । न चैवं-
विधाभिः कुसृष्टिभिर्जडाया एतच्छास्त्रविषयत्वं शक्यकल्प-
नम् । 'रायेस्त इन्द्रः पूर्वश्च' (११-९) इत्यस्मिन् सूत्रे अवि-

^१ धो न स्यात्.^२ सं. ४-३-१३.^३ पुनः प्रयोगमात्राद्वैदिकत्वमापतति.^४ उपांगानेष्वपि वाक्येषु प्रकृतिवद्भावो.^५ इत्येवमेव.^६ सं. १-१-९.^७ एकोपाधिर्नोपपद्यमानस्तसूत्राद्यस्यान्वयं कल्पयितुमर्हति न ह्येतदेवोपपद्यते.

‘अप्रग्रहास्समानाक्षराणि’ (१५-६) इति परमतं वक्ष्यति । तद्विषयोऽयं विधिः । तत्र पदान्तस्यैव अनुनासिकविधानादनुनासिके पूर्वं सतीति योज्यम् । तथा सति अनुनासिकमेकमादेशमुभे गच्छतः । पूर्वसूत्रोक्तान्यत्राप्युदाहरणानि ॥ ११ ॥

स्वरितानुदात्तसन्निपाते स्वरितम् ॥ १२ ॥

स्वरितानुदात्तयोस्सन्निपाते एकादेशे सत्युभावपि तौ स्वरितमापद्येते । यथा—‘कन्येव तुत्रा’^१ । ‘छर्वा-छव्योपाकृताय’^२ । ‘याज्येषा वै सप्तपदा’^३ । ‘अथ कास्य’^४ । इह स्वरितस्याविशेषेण ग्रहणे नित्यंस्वरित एव गृह्यते । तस्य सव्यञ्जनानामक्षराणां च^५ पदावयवानामुत्पत्तिकाल एव सम्भवात् । अन्येषां तु पदोत्पत्तिकालादूर्ध्वमक्षराणां पदानां वा संहितायां ‘उदात्तात् परोऽनुदात्तः’ (१४-२९) इति विधानात् । ‘तस्मिन्ननुदात्ते पूर्वं उदात्तः’ (१२-९) इत्यादि च । तस्मान्नित्यस्यैव मुख्यत्वम् । ‘सामान्योक्तौ’ च सत्यां मुख्ये सम्प्रत्ययः’ इति तस्यैव स्वीकारो युक्तः । ‘अथाब्रवीत्’^६ इत्यादौवेकादेशसरोदात्तानन्तरभावित्वात् ‘उदात्तात् परोऽनुदात्तस्वरितम्’ (१४-२९) इत्यनेनैव स्वरितत्वं विज्ञेयम् ॥

स्वरितानुदात्तयोः सन्निपातो यस्मिन् सन्ध्ये स तथोक्तः । तस्मिन्मुभे स्वरितमेकादेशं गच्छतः । ‘भ्रातृव्यदेवत्योपभृत्’^७ ।

^१ अनुनासिकस्य.

^२ सं. ३-१-११

^३ सं. ६-७-२०.

^४ सं. २-६-२.

^५ सं. ५-७-४.

^६ तस्य सर्वव्यञ्जनानामक्षराणां च.

^७ सामान्योक्तौ.

^८ सं. ३-२-११.

^९ सं. २-५-१.

‘अतस्य पठ्याऽसि’^१ । ‘अथैता आहुर्ताजुहोति’^२ इत्यादौ न स्वरितानुदात्तसन्निपातोऽस्ति तत्र हि पूर्वसूत्रविहितत्वादेकादेशः प्रथमं भवति । ततस्स्वरितादेश इति । अन्ये तु नित्यस्वरितस्य मुख्यत्वात्तत्रैवायं विधिर्भवतीत्याहुः । तथात्वे अन्यान्यपि स्वरितकार्याणि तत्रैव स्युर्नान्यत्र ॥ १२ ॥

न धामापासिपरो बुधियाज्याऽऽपूपाऽमिन-
न्तार्पे ॥ १३ ॥

धा, मा, पा, एतेष्वन्त्यस्वर आर्पपाठे असिपरः, बुधिया, ज्या, आपूपा, अमिनन्त एतेष्वन्त्यस्वर आर्पे पाठे स्वरपरः पूर्वविधिं न प्राप्नोति । यथा—‘स्वधा अस्युर्वी’^३ । ‘संहस्रस्य प्रमा असि’^४ । ‘धन्वन्निव प्रपा असि’^५ । ‘असिपर इति किं?’^६ ‘स्वधेति स्व-धा’^७ । ‘प्रमेति प्र-मा’^८ । ‘प्रपेति प्र-पा’^९ । आर्पे इति किं? ‘स्वधा अस्यसि स्वधा स्वधाऽसि’^३ । ‘प्रमा अस्यसि प्रमा प्रमाऽसि’^४ । ‘प्रपा अस्यासि प्रपा प्रपाऽसि’^५ । ‘प्र बुधिया ईरते’^{१०} । ‘ज्या इयम्’^{११} । ‘आ पूपा एत्वा वसु’^{१२} । आकारः किमर्थः? ‘तं पूपाऽऽधत्त’^{१३} । ‘आ ते सुपर्णा अमिनन्त

^१ सं. ५-१-६.^२ सं. २-४-६.^३ सं. १-१-९.^४ सं. ४-४-११.^५ सं. २-५-१२.^६ असिपर इति किम्?

‘सत्त्वा सन्धाऽभूत्’ (१-७-८.) ‘माऽह तेजः’ (४-२-९).

^७ सं. ४-३-१३.^८ सं. ४-६-६.^९ सं. २-४-५.^{१०} सं. १-५-१.

पयत्वस्य स्पष्टमुपदेक्ष्यमाणत्वात् ॥ १३ ॥

—0—

एष्टरेतेनमन्नोन्नन्नोष्ठिवःपरो लुप्यते ॥ १४ ॥

एष्टः, एतन, एमन्, ओन्नन्, ओष्ठ, एवः इत्येवम्पर-
अवर्णो लुप्यते । 'अथावर्णपूर्वे' (१०-३) इत्यनुवर्तना^१दव-
र्ण इति लप्यते । 'अशीयेष्टा रायः'^२ । 'शमितार उपेत-
न'^३ । 'अपां त्वेमन्त्सादयाम्यपां त्वोन्नन्त्सादयामि'^४ । 'स्वाहो-
ष्टाम्याम्'^५ । ओष्ठशब्दस्य सर्वावस्थस्य ग्रहणं भवति, 'ग्रहणस्य च'
(१-२२) इति वचनात् । 'उपयाममधरेणोष्ठेन'^६ । 'निरमि-
मतेवश्छन्दः'^७ । अत्रर्णो लुप्यत इति किं ? 'शित्योष्ठदिश-
तिष्ठुः'^८ । 'शित्योष्ठाय स्वाहा'^९ ॥ १४ ॥

पष्टरित्यादिषु परेषु अवर्णः पदान्तो लुप्यते । पष्टः—
'सुत्यामशीयेष्टा रायः'^{१०} । एतन—'शमितार उपेतन'^{११} । एमन्—
'अपां त्वेमन्त्सादयामि'^{१२} । ओन्नन्—'अपां त्वोन्नन्त्सादयामि'^{१३} ।
ओष्ठेति पदैकदेशग्रहणम् । 'अधरेणोष्ठेन'^{१४} । 'स्वाहोष्टाम्याम्'^{१५} ।
पयः—'निरमिमतेवश्छन्दः'^{१६} । अवर्ण इति किम् ? 'शित्यो-
ष्ठः'^{१७} । एतत्पर इति किम् ? 'इपे त्वोर्जे त्वा'^{१८} ॥ १४ ॥

—0—

^१ इत्यनुवर्तमाना.

^२ सं. १-२-११.

^३ सं. ३-१-४.

^४ सं. ४-३-१.

^५ सं. ७-३-१६.

^६ सं. ५-७-१२.

^७ सं. ९-३-५.

^८ सं. ५-६-१४.

^९ सं. ७-३-१७.

^{१०} सं. १-२-११.

^{११} सं. ३-१-४.

^{१२} सं. ४-३-१.

^{१३} सं. ५-७-१२.

^{१४} सं. ७-३-१६.

^{१५} सं. १-१-१.

इवर्णोकारौ यवकारौ ॥ १५ ॥

अवर्णपूर्वाधिकारो निवृत्तः । स्वरपराधिकारस्तु वर्तते । 'अथ स्वरपरो यकारम्' (९-१०), इति, पूर्वाध्यायैः प्रक्रान्तः । इवर्णो-
कारौ' पदान्तोऽस्ति, स्वरपरो यथासख्येन यवकारावापद्येते । 'अभ्य-
स्थात्' ^१ । 'तवोभ्यश्चाम' ^२ । 'आ पूषा एत्वा वसु' ^३ । दीर्घस्य
प्रग्रहत्वविधानात् प्लुतस्य सन्धिनिषेधात् उकारस्य कारोत्तरत्वं कृतं—
'इवर्णोकारौ यवकारौ' इति ॥ १५ ॥

अवर्णपूर्वाधिकारो निवृत्तः । इवर्णश्च उकारश्च यथाक्रमं य-
कार वकारं चादेशं गच्छतः, स्थरे पदादौ परतः । 'अत्यन्या-
नगाम्' ^४ । 'सरस्वत्याज्यभागा' ^५ । 'जुह्वास्यः' ^६ । 'अन्वह मासाः' ^७ ।
स्वरपर इति किम् ? 'दधि मधु घृतमाप' ^८ ॥ १६ ॥

उदात्तयोश्च परोऽनुदात्तस्वरितम् ॥ १६ ॥

चकार पूर्वसूत्रोक्तनिमित्तिनाविवर्णोकारावन्वादिशति । उ-
दात्तयोरिवर्णोकारयो परोऽनुदात्त स्वरितमापद्यते । 'व्येवेनेन' ^९ ।
'अपस्वमे' ^{१०} । उदात्तयोरिति किं ? 'नीचा तं धक्ष्यतसम्' ^{११} ।

१ स. ४-२-८

२ स. १-३-१४.

३ स. २-४-५.

४ स. १-३-५.

५ स. २-२-५.

६ स. १-४-४६.

७ स. १-५-१३.

८ स. २-३-२.

९ स. ६-३-११.

१० स. ४-२-११.

११ स. १-२-१४.

‘मध्वग्रौ जुहोति’¹¹ । परोऽनुदात्त इति किं ? ‘तद्यदृच्यध्यक्ष-
राणि’¹² । ‘स त्वै यजेत’¹³ । ‘इन्ना उपस्तीर्णम्’¹⁴ ॥ १६ ॥

चशब्द इवर्णोकारौ कार्यभाजावन्वादिशति । तयोर्नुदात्त-
योर्यकारत्रकारादेशे ततःपरोऽनुदात्तः स्वरितं गच्छति । ‘न्यु शीर्-
पाणि मृड्मु’¹⁵ । ‘इन्द्रियाण्येव भवति’¹⁶ । ‘स त्वेयेष्टापूर्ती’¹⁷ । उदात्त-
योरिति किम् ? ‘अध्यवोचदधिवक्ता’¹⁸ । ‘अधिपत्न्यसि’¹⁹ । ते
अवन्त्वस्मान्²⁰ । परोऽनुदात्त इति किम् ? ‘दुर्या५ अभ्येहि’²¹ ।
‘स त्वै यजेत’²² ॥ १६ ॥

ऊभावे च ॥ १७ ॥

चकारः पूर्वमूत्रस्योदात्तत्वात्वाकर्षकः, परस्य चानुदात्तत्व-
मन्वादिशति¹¹ । पूर्वणोदात्तेन परस्यानुदात्तस्य ऊभावे क्रियमाणे
स्वरितं जानीयात् । यथा—‘सूजीयमिव’¹² । ‘सुद्राता’¹³ ।
‘मामूत्तिष्ठन्’¹⁴ । ‘दिक्षूपं दधाति’¹⁵ । पूर्वणोदात्तेनेति किं ?
‘सूपस्था देवः’¹⁶ । परस्यानुदात्तस्येति किं ? ‘ता दिक्षूपादधत्’¹⁷ ॥

१ सं. २-२-२.

२ सं. २-४-११.

३ सं. २-६-६.

४ सं. १-६-७.

५ सं. १-६-३.

६ ,, २-१-६.

७ सं. १-७-३.

८ सं. ४-५-१.

९ सं. ४-४-२.

१० सं. २-६-१२.

११ चकारः उदात्तपूर्वत्वानुदात्तपरत्वाकर्षकः.

१२ सं. ६-२-४.

१३ ,, ७-१-८.

१४ सं. ७-५-२.

१५ ,, ५-१-६.

१६ ,, १-१-२.

चशब्देन पूर्वसूत्रपदानि चशब्दव्यतिरिक्तान्यन्वादिश्यन्ते ।
 तेषां यथोचितं विपरिणामः । उदात्तस्योकारस्य परेणानुदात्ते-
 नोकारेण सह ऊभावे सति ताबुमौ स्वरितमादेशं गच्छतः ।
 गुणप्रधानोऽयं विधिः । गुणिस्वरस्य 'दीर्घसमानाक्षरे' (१०-२)
 इति विहितत्वात् । 'सूत्रोयमिव' ^१ । 'सूत्राता' ^२ । 'मासूत्तिष्ठ' ^३ ।
 उदात्तस्येति किम् ? 'दधतूखे' ^४ । परेणानुदात्तेन किम् ? 'ता
 विक्षूपादधत' ^५ । 'उदात्तमुदात्तवति' (१०-१०) इत्यस्यायमप-
 वादः ॥ १७ ॥



न श्येती मिथुनी ॥ १८ ॥

श्येती, मिथुनी इत्येतयोरन्त्यस्वरो यथाविहितं यत्वं नापद्यते ।
 यथा—'श्येतेन श्येती अकुरुत' ^१ । 'न मिथुनी अभवन्' ^२ ॥ १८ ॥

श्येती मिथुनी इत्येतयोः यथोक्तं सन्धिकार्यं न भवति
 स्वरे परतः । 'श्येतेन श्येती अकुरुत' ^३ । 'न मिथुनी अभवन्' ^४ ॥



लुप्येते त्ववर्णपूर्वौ यवकारौ ॥ १९ ॥

अवर्णपूर्वौ स्वरपरौ यकारवकारौ लुप्येते । यथा—'आप
 उन्दन्तु' ^१ । 'श्रुक् अस्मिन्नोपतो स्वात' ^२ । 'न पितृत्वा' ^३

^१ सं. १-२-४.

^२ सं. ७-१-८.

^३ सं. ७-५-२.

^४ सं. ४-१-६.

^५ सं. ५-५-५.

^६ सं. ५-६-८.

^७ सं. ५-३-६.

^८ सं. १-२-१.

^९ सं. १-१-१.

इति ¹¹ । 'इम एवास्मै' ¹² । 'आतामहा एवेमौ' ¹³ । 'वायवि-
ष्टये दुरोणे' ¹⁴ । 'अहावनदत' ¹⁵ । 'मर्त्या आविवेश' ¹⁷ ।
एवम्पूर्वाविति किं ? 'अभ्यस्थात्' ¹⁸ । 'हृत्स्वसः' ¹⁹ । तु-
शब्द इतरो यकारौ निवर्तयन्नादेशप्राप्तयोरेवानद्योर्लोपविषयत्वं
द्योतयति । अवर्णः पूर्वं याम्यां ताववर्णपूर्वो ॥ १९ ॥

अवर्णपूर्वो इति कार्यभाजं एवायं निर्देशः । अवर्णपरौ
यकारौ लुप्येते स्वरे पदादौ परतः । तुशब्देनात्र लोपान-
न्तरप्रसङ्गि यत्स्वरसन्धिकार्यं 'दीर्घसमाताक्षरे' (१०-२) इत्यादि
तद्विनियत्येते । 'तस्या इन्द्र एवाजायत' ¹⁰ । 'त आ वहन्ति' ¹¹ ।
'अक्षित्या उन्नये' ¹² । 'महा इन्द्रः' ¹³ । 'कुविरसुनो गा इष्टये' ¹⁴ ।
'तावग्रूताम्' ¹⁵ । 'अथ स्वरपरो यकारम्' (९-१०) इत्यादिधि-
धिभिरेयां यवादेशः । अचर्णपूर्वाविति किम् ? 'अत्यन्यानगाम्' ¹⁶ ।
'मन्यह मासाः' ¹⁷ । स्वरे परत इति किम् ? 'एतदुदयनं य एवं
वेद' ¹⁸ । पदादाविति किम् ? 'वायवस्थ' ¹⁹ ॥ १९ ॥

¹ सं. ६-१-९.

² सं. २-४-१०.

³ सं. ७-६-२.

⁴ ,, २-२-१२.

⁵ ,, ५-६-१.

⁶ वाय इष्टये, अहा अनदत, इत्यभ्युपगमादङ्कारे एवास्मै सूत्रस्योदाहारे
मायितुमर्हतः.

⁷ ,, ५-७-९.

⁸ ,, ४-२-८.

⁹ ,, ४-२-११.

¹⁰ ,, ६-१-२.

¹¹ ,, १-१-२.

¹² ,, १-१-१२.

¹³ ,, १-४-२०.

¹⁴ ,, २-६-११.

¹⁵ ,, २-६-७.

¹⁶ सं. १-१-६.

¹⁷ सं. १-७-११.

¹⁸ सं. १-६-१२.

¹⁹ ,, १-१-१.

नोख्यस्य ॥ २० ॥

उख्यस्य शाखिनः पक्षे अवर्णपूर्वो यवकारौ न लुप्येते ।
उक्तान्येवोदाहरणानि ॥ २० ॥^१

उख्यस्य शाखिनः पक्षे अवर्णपूर्वो यवकारौ न लुप्येते ।
उक्तान्येवोदाहरणानि ॥ 'तस्या यिन्द्र येवाजायत'^१ । 'अथ स्वर-
परो यकारम्' (९-१०) इत्यादिविधिभिरेपां यवकारादेशः । अवर्णपू-
र्वाविति किम्? 'अत्यन्यानगाम्'^२ । 'अन्वह मासाः'^३ । स्वरपर
इति किम्? 'उदयनं य एवं वेद'^४ ॥ नेदं सूत्रद्वयमुक्तमिष्टम् ॥ २० ॥

—०—

वकारस्तु साङ्कृत्यस्य ॥ २१ ॥

सान्निध्यान्निषेधो लभ्यते । साङ्कृत्यस्य मते अवर्णपूर्वो व-
कारो न लुप्यते, यकारस्तु लुप्यत एवेत्यर्थः । 'वायविष्टये'^५ ।
'अहावनदत्'^६ । पूर्वाचार्यमतनिवर्तकः तुशब्दः । सूत्रमिदमेवेष्टम् ।
न तु पूर्वद्वयं परद्वयं च ॥ २१ ॥

तुशब्दो यकारं विनिवर्तयति । ततो यलोपचिप्ये पूर्वव-
त्सन्धिकार्यनिवृत्तिः । साङ्कृत्यस्य मते यथोक्तो यकारो न

^१सं. ६-१-३.

^२सं. १-३-६.

^३सं. १-७-१३.

^४सं. १-६-११.

^५सं. २-२-१२.

^६सं. ५-६-१.

लुप्यते—उकारे ओकारे च^१ विषये न त्वेवं यकारः । लुप्यत एवेति यावत् । 'त्वमग्ने व्रतपा असि'^२ । 'त आ वहन्ति'^३ । 'गविष्टयेऽग्ने'^४ । 'तावधूताम्'^५ ॥ २१ ॥

उकारौकारपरौ लुप्येते माचाकीयस्य ॥ २२

यकारवकाराववर्णपूर्वौ उकारौकारपरौ लुप्येते, यथासद्वृत्त्यं माचाकीयस्याचार्यस्य मतेन^६ । 'आप उन्दन्तु'^७ । 'शतक्रव उद्व२शम्'^८ । 'या जाता ओषधयः'^९ । एवम्पराविति किं? 'त एनं भिषज्यन्ति'^{१०} । 'वायविष्टये'^{११} । लुप्येते इति इह पुनरारम्भः पूर्वसूत्रद्वयस्थितनञ्सम्बन्धशङ्कानिराकरणार्थः ॥ २२ ॥

माचाकीयस्य मते अवर्णपूर्वौ वकारो लुप्यते उकारे ओकारे च^१ पदादौ परतः । बहुचानामयं पक्षः । लुप्यत इति पुनर्यच्चनं प्रतिषेधनिवृत्त्यर्थम् ॥ अत्र 'वाय उक्थेभिर्जरन्तः' इत्यादि दशतप्यामुदाहरणं द्रष्टव्यम् । एवंपर इति किम्? 'वायवापाहि दर्शता' । अन्ये तु 'लुप्येते' इति द्वियचनान्तं पठन्तो यवकारयोर्यथाक्रमं निमित्तद्वयसम्बन्धमाहुः ॥ २२ ॥

^१ ओकारे औकारे च.

^२ सं. १-२-३.

^३ सं. १-२-२.

^४ सं. २-६-११.

^५ „ २-६-७.

^६ मते.

^७ सं. १-२-१.

^८ सं. १-६-१२.

^९ सं. ४-२-६.

^{१०} „ २-३-११.

^{११} „ २-२-१२.

लेशो वात्सप्रस्यैतयोः ॥ २३ ॥

वात्सप्रस्य मते यकारवकारयोः अवर्णपूर्वयोर्लेशः स्यात् ।
लेशो नाम लुप्तवदुच्चारणम् । एतयोरित्युकारौकारपरो निर्दिशति ।
उक्तान्येवोदाहरणानि ॥ २३ ॥

लुप्यत इत्यन्वयः । वात्सप्रस्य मते एतयोर्यवकारयोः
लेशः एकदेशः यथोक्तविषये लुप्यते । एकदेशस्तु ध्रूयते ।
तान्येवोदाहरणानि । न चेदं सूत्रद्वयमिष्टम् ॥ २३ ॥

न प्लुतप्रग्रहौ ॥ २४ ॥

न खलु प्लुतः प्रग्रहश्च सन्धिविधिं भजते^१ यथा—‘अस्तु ही^२
इत्यग्रूताम्^३ । ‘ते एनमभि^४ । इत्यादिविधौ निषिद्धे अन्य-
स्मिश्चानारभ्यमाणे प्रकृतिवद्भवति ॥ २४ ॥

प्लुतश्च प्रग्रहश्च यथोक्तं सन्धिकार्यं न गच्छतः स्वरे
पदादौ परतः । प्लुतः—‘छिनच्ची^५ इति^६ । ‘मुन्सोकां^७ इति
सु—दलोकां^८ । प्रग्रहः—‘इन्द्रवायू इमे सुताः^९ । ‘सो
एवैतस्य^{१०} । ‘अच्छिद्रे इति^{११} । ‘बहुले इति^{१२} । ‘उमे
इति^{१३} ॥ २४ ॥

^१न खलु प्लुतप्रग्रहौ सन्धिविधिं भजते.

^२स. ७-१-६.

^३सं. २-५-६.

^४स. १-७-२.

^५सं. १-८-१६.

^६सं. १-४-४.

^७स. २-५-५.

^८सं. ४-१-३.

परश्च परश्च ॥ २५ ॥

चकाराकृष्टयोर्धकारवकारयोर्लोपे सति परः सन्धिर्न भवति ।
यथा—‘आप् उन्दन्तु’^१ । ‘अग्र इमम्’^२ । सान्निध्यान्निषेधो
लभ्यते । ननु लोपे सतीत्येतावतैवालं, यकारवकारयोरिति
किं? ‘सेडु होता’^३ । ‘सैनाऽनीकेन’^४ । ‘सौषधारनु’^५
इत्यादि ॥ २५ ॥

इति त्रिभाष्यरत्ने प्रातिशाख्यविवरणे दशमोऽध्यायः.

चशब्देन प्रतिषेधः अन्वादिश्यते । अनन्तरोक्ताप्लुता-
त्परस्वरौ यथोक्तं सन्धिकार्यं न गच्छति स्वरे पदादौ परतः ।
‘अग्रा३ इ इत्याह’^६ । ‘यक्षपता३ उ इति’^७ । प्लुतादिति किम्?
‘नार्तिमार्छति’^८ । नेदं सूत्रमिष्टम् । अन्ये तु यवलोपात्परस्य
स्वरस्य सन्धिकार्यमनेन सूत्रेण निषिध्यत इति इष्टार्थचिपयं
व्याचक्षते । तद्विचारितरमणीयम् । तथाहि—यवलोपस्यान-
यिपयस्य स्वरसंन्धेस्तद्विधायेव तुशब्देन निवर्तितत्वात् न
तदर्थमिदं सूत्रमारम्भणीयम् । न चानेन तत्रत्यस्वरसन्धिः श-
फ्यो निवारयितुम् । न्यायविरुद्धं हि व्यचक्षितस्य यवलोपस्याव-
धित्वाधरणम् । ग्रन्थच्छायाविरुद्धं च । यदीह यवलोप-

^१ सं. १-२-१.

^२ सं. १-१-५.

^३ सं. १-१-१४.

^४ सं. ४-१-११.

^५ सं. ४-२-३.

^६ सं. ६-५-८.

^७ ॥ ६-६-२.

^८ ॥ २-५-२.

स्यावाधित्वमैपिप्यदाचार्यस्तदा तद्विध्यनन्तरमेव 'नपरः' इति
 ब्रूयात्* । दोषवच्च तस्यावधित्वाश्रयणम् । 'एतस्ते अग्ने राध
 पेति'^१ । 'इड एह्यदित णहि'^२ इत्यादावाङ्ः प्रकृतिभावप्रसङ्गात् ।
 इष्टार्थाविषयं हीदं सूत्रं परैरिष्यते । न हि दोषवन्तं विधिं सू-
 त्रकारा वदन्ति । ततो यवलोपमवधिमिच्छन् सूत्रकारः 'पूर्वञ्च'
 इत्येव ब्रूयात् । एवं हि स्वरपराधिकाराभ्यातिप्रसङ्गः । तस्मा-
 न्नायमर्थोऽभिमतः सूत्रकारस्य इत्यलमतिप्रपञ्चेन ॥ २५ ॥

इत्याचार्यगार्ग्यगोपालमिश्रचिरचिते वैदिकाभरणाख्ये
 प्रातिशाख्यव्याख्याने दशमोऽध्यायः.

—०६०३—

अथैकादशोऽध्यायः.

लुप्यते त्वकार एकारओकारपूर्वः ॥ १ ॥

एकार्पूर्व ओकारपूर्वो वा अकारो लुप्यते । यथा—‘तेऽ-
द्यन्’^१ । ‘सोऽववीत्’^२ । तुशब्दो ‘न प्लुतप्रग्रहो’ (१०—२४) इति
निषेधसम्बन्धं निवर्त्तयतीति केचित् । स्वरपराधिकारं निवारयती-
त्यपरे सञ्चिरन्ते । एकारोकारौ^३ पूर्वौ यस्मात् सः, तथोक्तः ॥ १ ॥

एकारओकारेति प्रकृतिभावश्चान्दसोऽसन्देहार्थः । एकारे
ओकारे च पूर्वं सति अकारः पदादिर्लुप्यते । ‘प्रयुजेऽग्नये’^४ ।
‘घर्मोऽसि’^५ । एतत्पूर्वं इति किम् ? ‘तमस्या अजाऽभ्यरन्ध’^६ ।
तुशब्देन मूलशास्त्रोक्त एकादेशपक्षो विनिवर्त्यते । तत्र हि लघुत-
रमस्थायि लोपमनाश्रित्य ‘अमिपूर्वः’^७ ‘एङि पररूपम्’^८ इत्या-
दिना प्रतिपत्तिगौरवयुक्तमपि स्थायिरूपस्यैकादेशत्वमाध्रीयते ।
तन्निबन्धनमन्तादिवद्भावादि यथा स्यादिति । इह तु तदभावा-
लघुतरमाश्रित्य इतरः पक्षो निवर्त्यते ॥ १ ॥

अथालोपः ॥ २ ॥

‘अथ’ इत्ययमधिकारः । अलोऽ उच्यते, इत्येतदधिकृतं

^१गु. २-५-१.

^२सं. २-१-२.

^३एकारओकारौ.

^४” १-२-२.

^५सं. १-१-८.

^६सं. ६-१-६.

^७पा. ६-१-१०७.

^८पा. ६-१-१४.

वेदितव्यम्, इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः । न लोपः, अलोपः, लोपा-
भाव इत्यर्थः ॥ २ ॥

अलोप इति लोपाभाव उच्यते । स इहानन्तरोक्तस्याक्ता-
रस्य अधिक्रियते । अत्र चतस्रः कक्ष्या भवन्ति । पूर्वसूत्रं
प्रथमकक्ष्या । तदपवादभूतं 'धातारातिरूप' (११-३) इत्यादि-
कमलोपविधानं द्वितीया । तदपवादभूतमनन्तराध्यायस्थं लो-
पविधानं तृतीया । तदपवादभूतमास्मिन्नध्याये अलोपविधानं
चतुर्थीति ॥ २ ॥

धातारातिरूपवाजपेयजुष्टश्येनायोऽङ्गध्रुव-
क्षितिरियमेवत्तायाऽग्नि*मूर्द्धारुःप्रथमो-
पोत्तमविकर्पविहव्यहिरण्यवर्णीश्वराज्या
महापृष्ठये ॥ ३ ॥

धातारातिरित्यादिष्वनुवाकेषु एकारपूर्वं ओकारपूर्वो वा अकारो
न लुप्यते । 'धाता रातिः' ^१ इत्यत्र यथा — 'निधिपतिने' अग्निः ^१ ।
रातिरिति किं ? 'धाता देवेभ्योऽमुरान्' इति शाखान्तरे ।
'उपप्रयन्तो अध्वरम्' ^२ इत्यत्र यथा — 'आरे अरोगे च' ^२ ।
'देव सवितः प्रसुव' ^३ इत्यादिष्वनुवाकानां वाजपेयसंज्ञा । अत्र
यथा — 'ते नो अर्वन्तः' ^३ । 'ते अग्ने अश्वम्' ^३ । 'जुष्टो वाचः' ^४

*मेवेयुरग्नि' इति 'वदिकामरंण्यपठः

^१ स. १-४-४४.

^२ स. १-५-५.

^३ स. १-७-७, ८.

^४ स. ३-१-१०.

इत्यत्र यथा—‘यस्ते अशुः’^१ । ‘यो द्रप्सो अशुः’^१ ।
 ‘श्येनाय पत्त्वने’^२ इत्यत्र यथा—‘नमः पितृभ्यो अभि’^२ ।
 ‘विश्वे अरपा एष्वते’^३ । उख्ये यथा—‘गृणन्ति विश्वे
 अमृतस्य’^४ । ‘नमो अस्तु सर्पेभ्यः’^५ । ‘ध्रुवक्षितिः’^६ इत्यत्र
 यथा—‘विश्वे अभि गृणन्तु’^६ । ‘अग्निर्द्रप्सो अपाम्’^७ । क्षिति-
 रिति किं ? ध्रुवेत्यकारान्तस्यं यदि ग्रहणं स्यात् । ‘ध्रुवोसि
 ध्रुवोऽहम्’^८ इत्यत्रापि भवेदिति । ‘इयमेव सा या’^९ इत्यत्र यथा—
 ‘केतुं कृण्वाने अजरे’^९ । ‘त्रयो घर्मासो अनु’^{१०} । इयमित्ये-
 तावतैवालं किमन्येः ? ‘इयं ते शुक्र तनूः’^{११} इत्यत्र ‘सगर्भ्योऽनु
 सखा’^{१२} इति मा भूदिति । सा येति पदद्वयं मन्दधियां प्रतिपत्त्य
 र्यमिति केचित् । अन्ये त्वन्यथाऽपि कथयन्ति । अस्यानुवाक-
 स्य शेषभूता या ऋगन्यत्र स्थिता साऽपि स्वीकर्तव्येति । यथा—
 ‘ये अपरीषु पश्यान्’^{१३} । ‘अग्निर्मूर्द्धा दिवः’^{१४} इत्यत्र यथा—‘स
 योजते अरुपः’^{१५} । ‘एना वो अग्निम्’^{१६} । मूर्द्धेति किं ? ‘अग्नि-
 र्मा दुरिष्ठात्’^{१७} इत्यत्र ‘यो मेऽन्ति दूरे रातीयति’^{१८} इति माभूदिति ।
 रुद्रप्रश्नस्य प्रथमोपोत्तमानुवाकयोर्यथा—‘नमो अस्तु नीलप्रीवाय’^{१९-२०}

१ सं. ३-१-१०.

२ सं. ३-२-८.

३ सं. ४-१-१.

४ ,, ४-२-८.

५ सं. ४-३-४.

६ ,, १-६-२.

७ सं. ४ ३-११.

८ सं. १-२-४.

९ सं. १-४-३३.

१० सं. ४-४-४.

११ सं. १-६-३.

१२ सं. ४-६-१.

१३ यस्ताम्रो अरुपः’ (सं. ४-६-१.) ‘दापे अन्धसस्पते’ (सं. ४-५-१०.) इत्यापि
 क्वाचित्कमुदाहरणान्तरम्.

‘उत मा नो अभैकम्’^१ । उत्तमस्य पूर्वतः सन्निकृष्टः उपोत्तमः । ‘अ-
श्मन्नूर्जम्’^२ इत्याद्यनुवाकपञ्चकस्य विकर्षसंज्ञा । तत्र यथा—
‘अन्यं ते अस्मत्’^३ । ‘पावको अस्मभ्यम्’^४ । ‘यो नस्सतो अ-
भि’^५ । ‘रायस्पोषे अधियज्ञो अस्थात्’^६ । ‘वाजो नस्सस’^७ इत्या-
द्यनुवाकत्रयस्य विहव्यसंज्ञा—तत्र यथा—‘विश्वे अद्य मरुतः’^८ ।
‘देवासो अधि वोचत’^९ । हिरण्यवर्णीये यथा—‘एको देवो
अप्यतिष्ठत्’^{१०} । याज्यामु यथा—‘सुपथा राये अस्मान्’^{११} ।
‘कामेन कृतो अभि’^{१२} । ‘समिद्दिशाम्’^{१३} ‘जीमूतस्य’^{१४} ‘यद-
क्रन्दः’^{१५} ‘मा नो मित्रः’^{१६} ‘ये वाजिनम्’^{१७} ‘अग्नेर्मन्त्रे’^{१८}
पण्णामेपामनुवाकानां महापृष्ठ्यसंज्ञा । तत्र यथा—‘विवस्वद्वाते
अभि नः’^{१९} । ‘सोमो अधि ब्रवीतु’^{२०} । महेति किं? ‘पृथिवी
तेऽन्तरिक्षेण’^{२१} ॥ ३ ॥

धातारातिरित्यादिषु पञ्च^१ सप्तत्यनुवाकेषु एकारपूर्वं ओकार-
पूर्वञ्च पदादिरकारो न लुप्यते । धातारातिः—‘निधिपति-
र्नो अग्निः’^२ । उपप्रयन्तः—‘आरे अस्मे च’^३ । ‘देव सवितः
प्र सुध यज्ञम्’^४ इत्यादयः षडनुवाका वाजपेयसंज्ञाः—‘ते अग्ने अश्व-
मायुञ्जन्ते अस्मिन्’^५ । ‘ते नो अर्वन्तः’^६ । ‘सुपुये अग्ने’^७ ।

^१ सं. ४-६-१०.

^२ सं. ४-६-१.

^३ सं. ४-६-२.

^४ सं. ४-६-३.

^५ सं. ४-७-१२.

^६ सं. ४-७-१४.

^७ सं. ५-६-१.

^८ सं. १-१-१४.

^९ सं. ४-४-१२.

^{१०} सं. ४, ६, ६-९.

^{११} „ ४-७-१९.

^{१२} सं. ४-६-६.

^{१३} सं. ५-२-१२.

^{१४} चतुः.

^{१५} सं. १-४-४४.

^{१६} „ ३-२-५.

^{१७} „ १-७-७, ८.

^{१८} „ १-७-१०.

‘मध्वो अग्रम्’¹ । जुष्टो वाचो भूयासम्—‘यस्ते अ२शुः’² ।
 ‘यो द्रप्सो अ२शुः’³ । श्येनाय पत्न्ये—‘पितृभ्यो अभि ये नः’⁴ ।
 उख्ये—‘विश्वे अमृतस्य’⁵ । ‘यो अग्निरग्नेः’⁶ । ध्रुवक्षितिः—
 ‘तं त्वा विश्वे अभि गृणन्तु’⁷ । इयमेव सा या—‘चतुष्टोमो अभवत्’⁸ ।
 ईयुष्टे ये—‘ये अपरीपु’⁹ । अन्ये त्वियमेव सा येति पठन्तः तत्स-
 हचारित्वादुत्तरानुवाकेऽपि कार्यं भवतीत्याहुः । तत्र स्फुटोऽति-
 प्रसङ्गः । न च सहोपयोगलक्षणं सहचारित्वनियामकम् । तत्रापि
 ‘सम्पदयामि’¹⁰ इति पञ्चमन्त्रानुवाकेऽप्यतिप्रसङ्गात् । अग्निर्मुर्धा—
 ‘त्वामग्ने अग्निरसो गुहा’¹¹ । ‘नमस्ते रुद्र मन्यवे’¹² इत्याद्येकादशा-
 नुवाकाः रुद्रसंज्ञाः । तेषु प्रथमोपोत्तमयोरनुवाकयोः ‘नमस्ते
 रुद्र मन्यवे’¹³ इत्यनुवाकः प्रथमः । उपोत्तम उपान्त्यो ‘द्रापे अ-
 न्धसस्पते’¹⁴ इति । आद्ये—‘नमस्ते अस्तु धन्वने’¹⁵ । उपान्त्ये—
 ‘द्रापे अन्धसस्पते’¹⁶ । ‘अश्मभूर्जम्’¹⁷ इत्यादयः पञ्चानुवाकाः वि-
 फर्पसंज्ञाः—‘न तत्प्राणो अजरः’¹⁸ । ‘पुरो अग्निर्मेवेह’¹⁹ । ‘वा-
 जो नस्सप्त’²⁰ इत्यादयः त्रयोऽनुवाकाः विहव्यसंज्ञाः—‘विश्वे
 अद्य मगतः’²¹ । ‘वाजो अस्मे’²² । ‘देवास्तो अधिवोचता मे’²³ । ‘हिर-
 ण्यवर्णाः’²⁴ इत्यनुवाको हिरण्यवर्णीयः—‘सत्यानृते अथपद्यन् जना-
 नाम्’²⁵ । ‘उभा यामिन्द्राग्नी’²⁶ प्रभृति ‘अग्निर्वृत्राणि’²⁷ पर्यन्तं प्रश्नोत्त-
 मानुवाका याज्यासंज्ञास्त्युः, ‘युक्त्वा हि’²⁸ इत्यनुवाकश्च । तेषु यथा-

¹ छ. १-७-१२.

² सं. ३-१-१०.

³ सं. ३-२-८.

⁴ „ ४-२-२.

⁵ „ ४-२-१०.

⁶ „ ४-३-४.

⁷ सं. ४-३-२१.

⁸ „ १-४-३३.

⁹ „ १-५-६.

¹⁰ छ. ४-४-४.

¹¹ छ. ४-५-१.

¹² सं. ४-६-१०.

¹³ छ. ४-६-१.

¹⁴ सं. ४-६-५.

¹⁵ सं. ४-७-१२.

¹⁶ छ. ४-७-१४.

¹⁷ सं. ५-६-२.

¹⁸ सं. १-१-१४.

¹⁹ „ ४-२-१३.

²⁰ „ २-६-११.

‘ययो अस्मासु धुक्च’^१ । ‘सुपथा राये अस्मान्’^२ । ‘विशो अ-
 स्या अदब्धः’^३ । ‘यो नो दूरं अघशः’^४ । ‘रुद्रो असुरः’^५ । ‘यशो
 अस्मासु धेहि’^६ । ‘पृष्टो अग्निः’^७ । ‘इन्द्रस्य घर्मो आताथिः’^८ ।
 ‘वावशाने अन्वापो अजिहत’^९ । ‘बृहस्पते अति यदयो अर्हात्’^{१०} ।
 ‘चसुभिर्नो अब्यात्’^{११} । ‘नमस्ते अश ओजसे’^{१२} । ‘इश आरूपे
 अन्नम्’^{१३} । ‘सुविदग्रो अस्मे’^{१४} ॥ ‘समिद्दिशाम्’^{१५} ‘जीमूतस्य’^{१६} ।
 ‘यदक्रन्दः’^{१७} । ‘मा नो मित्रः’^{१८} । ‘ये वाजिनम्’^{१९} । ‘अग्नेर्मन्वे’^{२०} इति
 पण्णामनुवाकानां महापृष्ठचसंज्ञा—‘विवस्वद्वाते अभि नः’^{२१} ।
 ‘धर्मं आस्थिरम्’^{२२} ॥ ३ ॥

अ२हसोऽ२हतिरनिष्टतोऽवन्त्वस्मानवद्याद- हनि च ॥ ४ ॥

चकारो ‘धातारातिः’ (११-३) इत्यादिविषयान्वादेशकः । अ२
 हसः, अ२हतिः, अनिष्टतः, अवन्त्वस्मान्, अवद्यात्, अहनि इत्येतेषु
 ग्रहणेषु ‘धातारातिः’ (११-३) इत्यादिस्थलान्तर्वीतिष्वेकारपूर्व ओका-
 रपूर्वो वा अकारो न लुप्यते । यथा—‘प्रमुञ्चन्तो नो अ२हसः’^{११} ।
 ‘परिद्वेपसो अ२हतिः’^{२०} । ‘वर्द्धतां ते अनिष्टतः’^{२५} । ‘ते अवन्त्व-

१ सं. १-१-१४.

२ सं. १-२-१४.

३ सं. १-३-१४.

४ सं. १-४-४६.

५ सं. १-५-११.

६ सं. १-६-१२.

७ सं. १-७-१३.

८ सं. १-८-२२.

९ सं. २-१-११.

१० सं. २-६-११.

११ सं. ४-३-१३.

१२ सं. ४-४-१२.

१३ सं. ४, ६, ६-६.

१४ सं. ४-७-१५.

१५ सं. ४-१-७.

स्मान्^१ अस्मानिति किं ? 'ते नोऽवन्तु पितरः'^१ । 'मित्रमहो
अवद्यात्'^२ । 'शुचिशुक्रे अहनि'^३ । 'यवनह' (१२-४)
परत्वादिषु प्राप्यमाणलोपेषु अलोपोऽयं विहितः । अन्वादेशः कि-
मर्थः ? 'स एवेनं पाप्मनोऽहसो मुञ्चति'^४ ॥ ४ ॥

चशब्दो 'धातारातिः' (११-३) इत्यादीननुवाकानन्यादिशति ।
तत्र 'यवनहस्वरपरेषु' (१२-४) इत्यस्यापवादार्थः^५ एष पुनर्विधिश्च-
तुर्थकक्ष्या । अनुस्वारस्य तु विधास्यमानत्वेन अव्ययधायकत्वं
पुरस्ताद्विशितम् । तस्मादहसोऽहसो हतिरित्यनयोर्ग्रहणम् । अह-
सः—'प्रमुञ्चन्तो नो अहसः'^६ । अहसि—'परिद्वेषसो
अहसिः'^७ । अनिष्टृतः—'वर्धतां ते अनिष्टृतः'^८ । अवन्यस्मान्-
'अधिगुवन्तु ते अवन्यस्मान्'^९ । अस्मानित्युपबन्धेन किम् ?
'ते नोऽवन्तु पितरः'^१ । अवद्यात्—'मित्रमहो अवद्यात्'^२ । अहनि—
'शुचिशुक्रे अहन्योजसीना'^३ । अन्वादेशाभावे द्वितीयकक्ष्या
विज्ञायेत तथाच—'स एवेनं पाप्मनोऽहसो मुञ्चति'^४ इत्यत्र
अलोपस्स्यात् ॥ ४ ॥

अनुधर्मासआपोमर्तोरथस्त्वोदंतेवातःपूर्वः॥

अत्र विसर्गान्तानामोत्वमापन्नानां पूर्वनिमित्तत्वमिति विज्ञेयम् ।
धर्मासः, आपः, मर्तः, रथः, त्वः, दंते, वातः इत्येवम्पूर्वः अन्वि-

^१स. २-६-१२.

^२स. १-२ १८.

^३स. ४-४-१२.

^४म. २-२-७.

^५इत्यपवादवाधानार्थः.

^६स. ४-१-१३.

^७स. २-६-१२.

^८स. ४-१-७.

त्यत्र अकारो न लुप्यते । यथा—‘त्रयो घर्मासो अनु’^१ ।
 ‘तस्मादापो अनु’^२ । ‘यदा ते मर्तो अनु’^३ । ‘अनु त्वा रथो
 अनु’^४ । ‘पीयति त्वो अनु’^५ । ‘शुक्रमादत्ते अनुहाय’^६ ।
 ‘धनुस्तद्वातो अनु’^७ । अन्विति किं ? ‘वातोऽभिपवते’^८ ।
 एवम्पूर्वं इति किं ? ‘अनु गावोऽनु भगः’^९ ‘यवनह’ (१२
 -४) स्वरपरत्वनिषेधार्थोऽयमारम्भः ॥ ५ ॥

घर्मास इत्यादिषु पदेषु पूर्वेष्वनुशब्दस्याकारो न लुप्यते
 अत्रान्वादेशकाभावेऽपि सामर्थ्यादादितः पञ्चानां चतुर्थकस्यात्वं
 वेदितव्यम् । घर्मासः—‘घर्मासो अनुज्योतिपायुः’^१ । आपः—
 ‘तस्मादापो अनु स्थन’^२ । मर्तः—‘यदा ते मर्तो अनु’^३ । रथः—
 ‘अनु त्वा रथो अनु’^४ । त्वः—‘पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति’^५ ।
 दत्ते वात इत्येते तु द्वितीयकस्याविषये । दत्ते—‘शुक्रमा-
 दत्ते अनुहाय’^६ । वातः—‘वातो अनु वातु ते’^७ । एतत्पूर्वं इति
 किम् ? ‘अनु गावोऽनु भगः’^८ । ‘सोऽनु ध्यायति’^९ ॥ ५ ॥

अभिवात्वपश्च ॥ ६ ॥

‘चकारो वात इत्यन्वादिशति । अभिवातु, अपः इत्येतयो-
 रकारो वातःपूर्वो न लुप्यते । यथा—‘मयोभूर्वातो अभिवातु’^१ ।

१ सं. ४-२-११.

२ सं. ५-६-२.

३ सं. ४-६-७.

४ सं. ४-२-२.

५ सं. ३-२-२.

६ सं. ५-६-७.

७ सं. ५-४-९.

८ सं. ३-१-२.

९ सं. ७-४-१७.

वात्विति किं ? 'वातोऽभिपवते'¹ । 'यद्वातो अपो अगमत्'² ।
अन्वादेशेन किं ? 'अव रुन्धेऽपोऽग्रेऽभि व्याहरति'³ ॥ ६ ॥

चशब्देन वातःपूर्वं इत्यन्वादिश्यते । वात इत्यस्मिन् पूर्वं
अभिधातु, अप इत्येतयोरकारो न लुप्यते । द्वितीयकक्ष्येयम् ।
आभवातु — 'मयोभूर्वातो अभिधातु'⁴ । वात्विति किम् ? 'वातोऽ-
भि पवते'⁵ । अपः — 'यद्वातो अपो अगमत्'⁶ अन्वादेशेन किम् ?
'सोऽपः प्राचिशत्'⁷ ॥ ६ ॥

अन्वगमश्च ॥ ७ ॥

अप इति चकारोऽन्वादिशति । अनु, अगमत् इत्येतयोर-
कारो न खल्वपःपूर्वो लुप्यते । यथा—'अपो अन्वचारिपम्'⁸ ।
'अपो अगमदिन्द्रस्य'⁹ । एवम्पूर्वं इति किं ? 'पशवोऽनूदा-
यन्'¹⁰ ॥ ७ ॥

चशब्देनाप इत्यन्वादिश्यते । पूर्वं इति च । अप इत्य-
स्मिन् पूर्वं अनु, अगमत् इत्येतयोरकारो न लुप्यते । अत्रानुग्रहणं
द्वितीयचतुर्थकक्ष्ययोः भवति । 'अपो अन्वचारिपम्'⁸ इत्यचभृ-
थानुवाके याग्याकाण्डे च ग्रहणात् । अगमदिति तु द्वितीयस्या-

¹सं. ६-४-९.

³„ ६-४-३.

⁵सं. २-६-६.

⁷सं. २-१-६.

²सं. ७-४-२०.

⁴„ ७-४-१७.

⁶„ १-४-४६.

मेव । 'यद्वातो अपो अगमत्' ^१ । अन्वादेशव्यावर्त्यमनुशब्द एव । तत्पूर्वतरसूत्रे दर्शितम् ॥ ७ ॥

आपःपूर्वोऽद्भिरपांनपादस्मान् ॥ ८ ॥

अद्भिः, अपांनपात्, अस्मान् एतेषु अकार आपःपूर्वो न लुप्यते । यथा—'समापो अद्भिरगमत्' ^२ । 'देवीरापो अपां नपात्' ^३ । नपादिति किं? 'वारुणीरापोपां च' ^४ । 'आपो अस्मान्मातरः' ^५ । एवम्पूर्वं इति किं? 'सोऽस्मान्पातु' ^६ ॥ ८ ॥

आप इत्यस्मिन् पूर्वं अद्भिरित्यादिषु अकारो न लुप्यते । द्वितीयकक्ष्येयम् । अद्भिः—'समापो अद्भिरगमत्' ^२ । अपां नपात्—'देवीरापो अपां नपात्' ^३ । नपादिति किम्? 'वारुणीरापोऽपाम्' ^४ । अस्मान्—'आपो अस्मान्मातरः' ^५ । आपः पूर्व इति किम्? 'यथा वारुणोऽद्भिः' ^७ । 'अयमिह प्रदातारस्स्मोऽस्मान्मुत्र' ^८ ॥ ८ ॥

रायेसइन्द्रःपूर्वश्चाकारपरे ॥ ९ ॥

चकाराकृष्टे अस्मान्ग्रहणे अकारपरे वर्तमानोऽकारो रायेसः, इन्द्रः एवम्पूर्वो न लुप्यते । रायेपूर्वस्थोदाहरणं शाखान्त, रे । अथवा जटायां भवति यथा—'राये अस्मान्मात्राये

^१ सं. ७-४-२०.

^२ सं. १-१-८.

^३ सं. १-१-२.

^४ सं. २-२-९.

^५ सं. १-२-१.

^६ सं. ५-५-५.

^७ सं. ७-५-२३.

^८ सं. ६-६-९.

राये अस्मान्^१ । 'संहितायां^२ तु नोदाहरणम्, अकारपरत्वा-
भावात्, तर्हि तत्र कथमलोप इति चेत् । 'त्रिपदप्रभृति'
(१-६१) पुनरुक्तत्वादिति ब्रूमः । 'मा सो अस्मा५ अवहाय'^३ ।
'इन्द्रो अस्मानस्मिन्'^४ । अकारपर इति किं ? 'सोऽस्मान्पा-
तु'^५ । एवम्पूर्वं इति किं ? 'स्मोऽस्मानमुत्र'^६ । अकारः
परो यस्मात् असौ अकारपरः तस्मिन् ॥ ९ ॥

चशब्दोऽस्मान्शब्दमन्वादिशति । अकारपर इत्युपबन्ध-
निर्देशः । राये, सः, इन्द्रः इत्येतेषु पूर्वेषु अकारपरे अस्मान्-
शब्दे अकारो न लुप्यते । उपबन्धः सःपूर्वमात्रार्थः । तत्र हि
सम्भवव्यभिचाराभ्यामेपाऽर्थवान् भवति । रायेपूर्वं तु न सम्भवः
इन्द्रःपूर्वं तु न व्यभिचारः । रायेपूर्वस्योदाहरणं शाखान्तरे 'धाता-
रातिः' (११-३) इत्यादिव्यतिरिक्तदेशे द्रष्टव्यम्, यत्रान्यतः प्राप्तिर्न
विद्यते । सःपूर्वः--'सो अस्मा५ अधिपतोन् करोतु'^७ । अकारपर इति
किम् ? 'सोऽस्मान्पातु'^५ । इन्द्रःपूर्वः--'मरुत इन्द्रो अस्मान-
स्मिन्'^४ । ननु रायेपूर्वस्वशाखायामस्ति--'अग्ने नय सुपथा
राये अस्मान्'^१ इति । सत्यम् । अन्यतस्सिद्धत्वाच्चास्योदाहरणं
भवितुमर्हति । याज्याकाण्डस्थस्य "धातारातिः" (११-३) इत्यादि-
सूत्रेण अलोपस्सिद्धः । दाक्षिणाकाण्डस्थस्य च 'यथोक्तं पुन-
रुक्तं त्रिपदप्रभृति' (१-६१) इति । तस्मात् सुष्ठूक्तम् 'शाखा-
न्तरेऽस्योदाहरणम्' इति । ननु च अकारपरत्वमस्य न सम्भव-

^१ सं. १-१-१४.^२ यथा : हिता, यथासंहितायां इति पाठान्तरे.^३ सं. ५-७-९.^४ सं. १-१-१.^५ सं. ५-५-६.^६ सं. ६-६-१.^७ सं. १-६-६.

तीत्युक्तं नोपपद्यते, जटायां तत्सम्भवात्, 'राये अस्मान्स्माग्राये
 राये अस्मान्'^१ इति । तस्मात्सःपूर्ववद्रायेपूर्वेऽपि सम्भव-
 व्यभिचाराभ्यां अकारपर इत्युपबन्धोऽर्थवानेव भवति । ततश्च
 रायेग्रहणं स्वशाखायामेव 'अग्रे नय सुपथा'^१ इत्यस्मिन् पादे 'धाता-
 रातिः' (११-१) इत्यादिसूत्रप्राप्तस्य अलोपस्य विषयनियमार्थतया ल-
 ब्धावकाशमेव भवति । अतः नास्य शाखान्तरविषयत्वं कल्प-
 यितव्यम् । स्वशाखायामलब्धावकाशो हि विधिः शाखान्तर-
 विषयत्वकल्पनयोपपादयितव्यः । यथा—'अहारहस्सुवर्गनि-
 झयान्तः' (८-१३) इत्यत्र महास्सुवर्गग्रहणं 'ह्वारभार्' (८-८)
 इत्यादिसूत्रप्राप्तस्य विषयनियमार्थम्, अहर्ग्रहणं त्वप्राप्तप्राप-
 णार्थम्, एवं अत्रापि रायेग्रहणं प्राप्तनियमार्थम्, सइन्द्रोग्रहणं
 तु अप्राप्तप्रापणार्थमित्यापद्यते । तथा च सति संहितास्त्राये
 कथमलोपः प्राप्नोति ? 'राये अस्मान् विश्वानि देव'^१ इत्यका-
 रपरत्वाभावात् । अत्रोच्यते - जटायादशास्त्रविषयत्वाभ्युपगमा-
 देवायं दुष्परिहारोऽनर्थः आपद्यते । न तु तत्सूत्रकारस्या-
 भिमतम् । यद्यसौ तदैपिष्यत् 'रायेसइन्द्रःपूर्वश्चाकारप-
 रे' इति न ब्रूयात्, किन्तु 'राये पूर्वश्च' 'सइन्द्रःपूर्व-
 श्चाकारपरे' इति सूत्रद्वयमेव कुर्यात् । अपि च शास्त्रान्ते
 'पदव्रतमविशेषज्ञः' (२४-६) इति संहितापदक्रमरूपस्य त्रिवि-
 धस्यैव समान्नायस्य विषयतां वक्ष्यति । तस्माज्जटा नास्य
 शास्त्रस्य विषय इति सिद्धम् । तथा सत्यकारपर इत्येतद्राये-
 पूर्वस्य न संभवतीति । रायेग्रहणं न प्राप्तस्य नियमार्थं भवति
 अपितर्ह्यप्राप्तप्रापणार्थमेव । एवं सति स्वशाखायां अवकाशा-
 भावादस्य शाखान्तरविषयत्वं कल्प्यते । अतो न कश्चिदलोपः ।

ननु यदि जटा प्रातिशाख्यस्याविषयः तदा 'प्रातिशाख्यादिशास्त्रा-
 सर्वशिक्षाविशारदः । बुद्धिशक्तिसमेतो यः स जटां वक्तुमर्ह-
 ति' इति शिक्षाविरोधस्स्यात् ॥ नैतदस्ति । न ह्यत्र प्रातिशा-
 ख्यमात्रेण जटा निर्वहतीत्युच्यते । अपि तु तेन तदादिशा-
 खैः शिक्षादिभिश्चेति । तस्माच्छिक्षाव्याकरणान्यपि जटायामुपयु-
 ज्यन्त एव । तत्र समान्नातांशेषु प्रातिशाख्यमुपयुज्यते । अ-
 समान्नातांशेषु तु शिक्षाव्याकरणानीति विवेकः । तथा हि
 शास्त्राविशेषवर्तिकायां विशेषप्रधानं हि प्रातिशाख्यम् । कार्यवि-
 शेपाश्च ते समानानैकमूलाः शिक्षाव्याकरणानि तु सर्ववेदलोकसा-
 धारणत्याग्रेषोपिकस्य प्रातिशाख्यस्य विषयं परिहृत्य प्रवर्तन्त
 इति । ननु यदि प्रातिशाख्यमपि जटायामुपयुज्यते कथं तर्हि
 प्रातिशाख्यस्याविषयो जटेत्युच्यते ? धूयताम्—क्रमो हि जटा-
 याः प्रकृतिः, "संहिता प्रकृतिः प्रोक्ता पदस्यैतत्क्रमस्य तु ।
 जटायः प्रकृतिस्त्वेव एवं नित्यं निबोधत" इति शिक्षावच-
 नात् । क्रमस्तु तत्तज्जटायः आद्यन्तयोर्वर्तते । तत्र जटायः-
 दशास्त्राविषयत्वेऽपि तत्प्रकृतिभूतस्य क्रमस्य शास्त्रविषयत्वात्
 जटायामपि क्रमांशे प्रातिशाख्यमुपयुज्यत इत्यविरोधः । ननु—
 यद्यनान्नातसन्धौ प्रातिशाख्यं न प्रवर्तते, तदा जटायः कम्प-
 स्वरौ न स्यात् । न ह्यसौ व्याकरणे स्मर्यते । सत्यम् । दि-
 क्षायां तु स्मर्यत एव । साऽपि जटायामुपयुज्यत एवेति त-
 द्दिहेतुः कम्पस्वरौ भवेत्येव । तस्माज्जटायामनान्नातांशे शि-
 क्षाव्याकरणोक्तमेव कार्यं भवतीति लिङ्गम् । यानि तु वैक-
 ल्यिकानि सन्निवर्णानि यथा 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा'^१
 'वा पदान्तस्य'^२ इत्यादीनि, तत्र तत्र यतरदस्मच्छाखायां दृष्टं तत-

रदेव जटायामुपादीयते । छान्दसकार्योणि तु सर्वाणि नो-
पादेयानीत्येवं सर्वत्रानुसन्धेयम् ॥ ९ ॥

तेपूर्वोऽद्यान्धोऽशुः अग्ने ॥ १० ॥

अद्य, अन्धः, अशुः, अग्ने एतेष्वकारः, ते इत्येवम्पूर्वो न
लुप्यते । यथा—‘पशुं पशुपते ते अद्य’^१ । ‘उपो ते अन्धः’^२ ।
‘अशुना ते अशुः’^३ । ‘यत्ते अग्ने तेजस्तेनाहम्’^४ । एतेष्वि-
ति किं? ‘तेऽग्नये प्रवते’^५ । तेपूर्व इति किं? ‘प्रथमोऽशु-
श्च स्कन्दति’^६ । ‘तेन त्वां दधेऽग्ने अङ्गिरः’^७ ॥ १० ॥

तेशब्दे पूर्वं अद्य, अन्धः, अशुः, अग्ने इत्येतेषामादि-
रकारो न लुप्यते । यथा—‘पशुपते ते अद्य वधामि’^१ । ‘उ-
पो ते अन्धः’^२ । ‘अशुना ते अशुः’^३ । ‘यत्ते अग्ने तेजः’^४ ।
तेपूर्व इति किम्? ‘अमा वै नोऽद्य’^५ । द्वितीयकस्येयम् ॥ १० ॥

मेपूर्वश्च ॥ ११ ॥

चकाराकृष्टे अग्र इत्यस्मिन् अकारो मे इत्येवम्पूर्वो न
लुप्यते । यथा—‘यन्मे अग्ने अस्य’^१ । ‘इमा मे अग्र इष्ट-

१ स. ३-१-४.

२ स. २-४-४.

३ सं. १-२-६.

४ सं. ३-५-३.

५ „ २-४-१.

॥ „ ३-१-८.

७ सं. १-२-१२.

८ „ २-५-३.

९ इत्यस्मिन्ग्रहणे.

१० „ १-६-२.

काः ^{११} । मेपूर्वं इति किम् ? 'तेन त्वा दधेऽग्ने अङ्गिरः' ^{१२} । अन्वादेशेन किं ? 'प्राणश्च मेऽपानश्च मे' ^{१३} । 'तदशकं तन्मेऽराधि' ^{१४} ॥ ११ ॥

चशब्देनाग्नेशब्दोऽन्वादिश्यते । मेशब्दे पूर्वं अग्नेशब्दस्यादिरकारो न लुप्यते । 'यन्मे अग्ने अस्य' ^{१५} मेपूर्वं इति किम् ? 'तेन त्वा दधेऽग्ने अङ्गिरः' ^{१२} । अन्वादेशेन किम् ? 'तदशकं तन्मेऽराधि' ^{१४} । द्वितीयकक्ष्येयमपि । तस्मात् 'अकारमपर उदात्तः' (१२-५) इत्यनेनास्य न विरोधः । तस्य 'धाता रातिः' (११-२) इत्यादिस्मृतिविषयत्वात् । ततश्च 'अग्ने अङ्गिरः' ^{१२} इत्यग्नेशब्दः प्रत्युदाहरणं भवत्येव ॥ ११ ॥

अस्याश्विनाऽपरा च ॥ १२ ॥

मेपूर्वं इति चकारोऽन्वादिशति । अस्य, अश्विना, अपरा एतेष्वकारो मेपूर्वो न लुप्यते । 'वियन्तु देवा हविषो मे अस्य' ^{१६} । 'पुनर्मे अश्विना युवम्' ^{१७} । 'यद्वा मे अपरागतम्' ^{१८} ॥ १२ ॥

चशब्देन मेपूर्वं इत्यन्वादिश्यते । मेशब्दे पूर्वं अस्येत्यादीनामादिरकारो न लुप्यते । अस्य—'हविषो मे अस्य' ^{१६} । अ-

^१स. ४-४-११.

^२स. १-२-१२.

^३स. ४-७-२.

^४स. १-६-६.

^५स. १-६-२.

^६स. १-५-१०.

^७स. १-२-५.

^८स. ६-६-७.

श्विना-‘पुनर्मे अश्विना युवम्’^१ । अपरा-‘यद्वामे अपरागतम्’^२ ।
अन्यादेशेन किम् ? ‘कोऽस्येश्वरः’^३ ॥ १२ ॥

नःपूर्वोऽसदग्निरघान्तमोऽभ्यस्मिन्नद्यपथि ॥

असत्, अग्नि, अघ, अन्तमः, अभि, अस्मिन्, अद्यपथि एते-
ष्वकारो नः इत्येवम्पूर्वो न लुप्यते । यथा—‘सुपारा नो असद्वशे’^४ ।
‘अयं नो अग्निर्वरिवः’^५ । ‘रक्षा माकिर्नो अवशश्स ईशत’^६ ।
‘अग्ने त्वं नो अन्तमः’^७ । ‘स्विष्टि नो अभि’^८ । ‘शिक्षा नो
अस्मिन्’^९ । ‘तेभिर्नो अद्य पथिभिः’^{१०} । पथीति किं ? ‘नोऽद्य
वसु वसतीति’^{११} । नःपूर्व इति किं ? ‘तस्मादश्वाद्वर्द्धभोऽसत्तरः’^{१२} ।
‘सोऽग्निर्जातः’^{१३} । ‘उत्तरतोऽघायुरभि दासति’^{१४} । ‘तेऽस्मिन्नेच्छन्तः’^{१५} ।
एतेष्विति किं ? ‘ते नः पान्तु ते नोऽवन्तु’^{१६} ॥ १३ ॥

नदशब्दे पूर्वं असत् इत्यादीनामादिरकारो न लुप्यते ।
असत्-‘सुपारा नो असद्वशे’^४ । अग्निः-‘अयं नो अग्निर्वरिवः’^५ इत्य-
ध्वरकाण्डे । अघ-‘रक्षा माकिर्नो अवशश्स ईशत’^६ इति ग्रहकाण्डे ।
अन्तमः-‘अग्ने त्वं नो अन्तमः’^७ । अभि-‘स्विष्टि नो
अभि’^८ । अस्मिन्-‘शिक्षा नो अस्मिन्’^९ । अद्यपथि-‘तेभिर्नो अद्य

१ स. ३-२-५.

३ सं. ६-९-७.

३ स. २-६-७.

४ स. १-२-३.

५ स. १-३-४.

६ स. १-४-२४.

७ सं. १-५-६.

८ सं. ३-१-५.

९ „ ७-५-७.

१० „ ७-५-२४.

११ „ २-५-२.

१२ „ ५-१-२.

१३ „ ६-१-४.

१४ „ ५-७-३.

१५ „ ७-२-१०.

पथिभिः^{११} । पथोति किम् ? 'अमा वै नोऽद्य'^{१२} । नःपूर्वं इति किम् ?
'ओषधयोऽस्तत्पुरुषः'^{१३} ॥ १३ ॥

नमः पूर्वोऽग्नेऽश्वेभ्योऽग्नियाय ॥ १४ ॥

अग्ने, अश्वेभ्यः, अग्नियाय एतेष्वकारो नमःपूर्वो न लुप्यते ।
'नमो अग्नेवधाय च'^{१४} । 'नमो अश्वेभ्योऽश्वपतिभ्यः'^{१५} । 'नमो अ-
ग्नियाय च'^{१६} । नमःपूर्वं इति किं ? 'अपोऽग्नेऽपि व्याहरति'^{१७} । ए-
तेष्विति किं ? 'नमोऽग्नयेऽप्रतिविद्धाय'^{१८} ॥ १४ ॥

नमश्शब्दे पूर्वं अग्र इत्यादीनां आदिरकारो न लुप्यते ।
अग्ने—'नमो अग्नेवधाय च'^{१४} । अश्वेभ्यः—'नमो अश्वेभ्यः'^{१५} । अग्नि-
याय—'नमो अग्नियाय च'^{१६} । नमःपूर्वं इति किम् ? 'अग्ने शुचोऽग्र
इमम्'^{१९} ॥ १४ ॥

आविन्नस्सोमः पूर्वोऽग्निपरः ॥ १५ ॥

आविन्नः, सोमः एवम्पूर्वोऽकारो अग्निपरो न लुप्यते । अग्निपदे-
कदेशः शाखान्तरे बहूपादानार्थः । 'आविन्नो अग्निर्गृहपतिः'^{१०} ।

^१ सं. १-५-२४.

^२ सं. २-५-३.

^३ सं. २-१-५.

^४ „ ४-५-८.

^५ „ ४-५-३.

^६ „ ४-५-५.

^७ „ ६-४-३.

^८ „ १-५-१०.

^९ १-१-५.

^{१०} „ १-६-१२.

‘सोमो अग्निरुप देवाः’^१ । एवम्पूर्व इति किं ? ‘सोऽग्निर्जा-
तः’^२ । एवम्पर इति किं ? ‘आविन्नोऽयमसौ’^३ ॥ १५ ॥

आविन्नस्सोम इत्यनयोः पूर्वयोः अग्निशब्दपरोऽकारो न लुप्यते ।
‘आविन्नो अग्निः’^४ । ‘सोमो अग्निः’^१ । एतत्पूर्व इति किम् ?
‘संवत्सरोऽग्निश्चित्यः’^५ । अग्निपर इति किम् ? ‘आविन्नोऽय-
मसौ’^३ ॥ १५ ॥



धीरासोऽदब्बासएकादशासऋषीणांपुत्रश्शार-
यतिऽपाढःपितारःपृथिवीयज्ञासतेये —
गृह्णाम्यग्रेवाऽपजज्ञेसऽस्फानोयुवयो-
र्यःपृष्ठेपतिर्वोगोशुष्मःपुवस्समिद्धऋषभः
पाथोवचोवर्षिष्ठेजुपाणोयोरुद्रोवृष्णःपूर्वः

धीरासः, अदब्बासः, एकादशासः, ऋषीणां पुत्रः, शार्यतिः,
अपाढः, पितारः, पृथिवीयज्ञे, आसतेये, गृह्णाम्यग्रे, वाऽपजः,
जज्ञे, सऽस्फानः, युवयोर्यः, पृष्ठे, पतिर्वः, गो, शुष्मः, पुवः,
समिद्धः, ऋषभः, पाथः, वचः, वर्षिष्ठे, जुपाणः, योरुद्रः,
वृष्णः एवम्पूर्वो न सस्वकारो लुप्यते । यथा—‘धीरासो अनु-

^१ सं. ३-२४.

^२ सं. ५-१-४.

^३ सं. १-४-२२.

^४ अग्नि.

^५ „ ५-६-७.

दृश्य यजन्ते ¹ । 'अदव्वासो अदाम्यम्' ² । 'एकादशासो
 अप्सुपदः' ³ । 'ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः' ⁴ । ऋषीणा-
 मिति किं ? 'यस्य पुत्रोऽजातः' ⁵ । 'यथा शार्योते अपिवः' ⁶ ।
 'अपादो अग्निः' ⁷ । 'त्वत्पितारो अग्ने देवाः' ⁸ । 'पृथिवी
 यज्ञे अस्मिन्' ⁹ । पृथिवीति किं ? 'ते माऽस्मिन् यज्ञे' ⁹ इत्यत्र
 जटायां—'अस्मिन् यज्ञे यज्ञेऽस्मिन्नास्मिन् यज्ञे' ⁹ । 'अध्यासते मे
 अन्तरिक्षे' ¹⁰ । आसत इति किं ? 'पृथिव्यां येऽन्तरिक्षे' ¹¹ ।
 'मयि गृह्णाम्यग्ने अग्निम्' ¹² । गृह्णामीति किं ? 'अष्टौकृत्वोऽ-
 ग्नेऽभिपुणोति' ¹³ । 'इडावा एषो असुर' ¹⁴ । वानिति किं ?
 'शुक्र एषोऽन्तोऽन्तं मनुष्यः' ¹⁵ । 'प्रथमं यज्ञे अग्निः' ¹⁶ । 'स-
 ष् स्फानो अभि रक्षतु' ¹⁷ । समिति किं ? 'गयस्फानोऽग्निषु' इति
 शाखान्तरे । 'युवयोर्यो अस्ति' ¹⁸ । युवयोरिति किं ? 'योऽप्सु
 भस्म' ¹⁸ । 'नाकस्य पृष्ठे अधि' ¹⁹ । 'यज्ञपतिर्वो अत्र' ²⁰ ।
 पतिरिति किं ? 'न वोऽभागानि हव्यम्' ²¹ । 'गोअर्धमेव सोमं
 करोति' ²² । 'अप्यकारादि' (१-५२) इति वचनात् 'अगो-

| | | |
|--------------|---------------|---------------|
| 1 सं. २-१-९. | 2 सं. १-१-१०. | 3 सं. १-४-११. |
| 4 „ १-३-७. | 5 „ १-५-८. | 6 „ १-४-१८. |
| 7 „ १-५-१०. | 8 „ १-६-५. | 9 „ ३-२-५. |
| 10 „ ३-५-४. | 11 „ ४-६-११. | 12 „ ६-७-९. |
| 13 „ ६-४-५. | 14 „ १-६-६. | 15 „ ७-२-२. |
| 16 „ २-२-४. | 17 „ ३-३-८. | 18 „ ५-२-२. |
| 19 „ ३-५-५. | 20 „ ५-७-७. | 21 „ ५-१-१. |
| 22 „ ६-१-१०. | | |

अर्थम्^१ इति चोदाहरणम् । 'उच्छृम्पो अग्रे यजमानाय'^२ ।
 'अग्रे पुत्रो अग्रे गृवः'^३ । 'समिद्धो अज्जन्'^४ । 'द्यामृष-
 भो अन्तरिक्षम्'^५ । 'प्रियं पाथो अपीहि'^६ । 'उग्रं वचो अ-
 पावधीम्'^७ । 'वर्षिष्ठे अधि नाके'^८ । 'जुपाणो अतुराज्यस्य
 वेतु'^९ । 'यो रुद्रो अग्नौ यः'^{१०} । य इति किं ? 'यदुपतृन्धा-
 द्बुद्रोऽस्य'^{११} । 'वृष्णो अश्वस्य सन्दानम्'^{१२} ॥ १६ ॥

धोरास इत्यादिषु पूर्वेषु पदादिरकारो न लुप्यते । धोरा-
 सः—'तां धोरासो अनुदश्य यजन्ते'^{१३} । अदध्यासः—'अद-
 ध्यासो अदाभ्यम्'^{१४} । एकादशासः—'एकादशासो अप्सुपदः'^{१५} ।
 ऋषीणां पुत्रः—'ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः'^{१६} । ऋषीणामि-
 ति किम् ? 'यस्य पुत्रोऽजातस्त्यात्'^{१७} । शार्याते—'यथा शा-
 र्याते अपिवस्तुतस्य'^{१८} । अपाढः—'अपाढो अग्निः'^{१९} । पिता-
 रः—'त्यत्पितारो अग्ने'^{२०} । पृथिवी यज्ञे—'उरुधारा पृथिवी यज्ञे
 अस्मिन्'^{२१} । पृथिवीत्युपबन्धव्यावर्त्यं शास्त्रान्तरे । जदायां तु
 अलोपप्राप्त्यभावाच्च तत्र प्रत्युदाहरणं युक्तम् । आसते ये—
 'अध्यासते ये अन्तरिक्षे'^{२२} । आसत इति किम् ? 'ये पृथि-
 व्यां येऽन्तरिक्षे'^{२३} । गृह्णाम्यग्रे—'मयि गृह्णाम्यग्रे अग्निम्'^{२४} ।

१ स. ६-१-१०.

२ स. १-६-२.

३ स. १-१-६.

४ ,, ५-१-११.

५ ,, १-२-८.

६ ,, ३-३-३.

७ ,, १-२-११.

८ ,, १-१-८.

९ ,, १-३-४.

१० ,, ५-५-९.

११ ,, ६-३-९.

१२ ,, २-४-७.

१३ ,, १-१-९.

१४ ,, १-१-१०.

१५ ,, १-४-११.

१६ ,, १-३-७.

१७ ,, १-५-८.

१८ ,, १-४-१८.

१९ ,, १-६-१०.

२० ,, १-६-५.

२१ ,, ३-५-४.

२२ ,, ४-६-११.

२३ ,, ५-७-९.

गृह्णामीति किम्? 'अपोऽग्नेऽग्निं व्याहरति'¹ । वा५पपः—'इडा-
वा५ एपो असुर प्रजावान्'² इति याजमाने । चानिति किम्?
'लुवो वा एपोऽग्नेः'³ । जज्ञे—'इतः प्रथमं जज्ञे अग्निः'⁴ ।
सङ् स्फानः—'सङ्स्फानो अभि रक्षतु'⁵ । समित्युपवन्धव्यावर्त्यं
शाखान्तरे । युवयोर्यः—'युवयोर्यो अस्ति'⁶ । युवयोरिति
किम्? 'योऽग्निः होतारमवृथाः'⁷ । पृष्ठे—'नाकस्य पृष्ठे अधि रो-
चने'⁸ । पतिर्वः—'यज्ञपतिर्वो अन्न'⁹ । पतिरिति किम्? 'आ-
वोऽर्वाची सुमतिः'¹⁰ । गो—'पशवो गो अश्वानेव'¹¹ । 'अप्य-
कारादि' (१-५२) इति वचनात् 'अगो अर्घम्'¹² इत्यपि भवति ।
शुष्मः—'उच्छुष्मो अग्ने'¹³ । पुवः—'अग्ने पुवो अग्ने गुवः'¹⁴ ।
समिद्धः—'समिद्धो अग्ने मे दीदिहि'¹⁵ । ऋपभः—'यामृपभो
अन्तरिक्षम्'¹⁶ । पाथः—'प्रियं पाथो अपीहे'¹⁷ । वचः—'उग्रं
वचो अपावधीम्'¹⁸ । द्वितीयकक्ष्येयमिति कृत्वा—'भोवचोदधान'
(१२-६) इत्यनेन न विरोधः । तस्य 'धातारातिः' (११-३)
इत्यादिसूत्रविषयत्वात् । वरपिष्ठे—'वरपिष्ठे अधि नाके'¹⁹ जुपाणः—
'जुपाणो असुराज्यस्य धेतु'²⁰ । योरुद्रः—'यो रुद्रो अग्नौ यो अ-
प्सु'²¹ । य इति किम्? 'ता५ रुद्रोऽवास्तृजत्'²² । वृष्णः—'वृ-
ष्णो अ५ शुः याम्'²³ ॥ १६ ॥

१ सं. ६-४-३.

२ सं. १-६-६.

३ सं. ६-३-१०.

४ ,, २-२-४.

५ ,, ३-३-८.

६ ,, ३-६-४.

७ ,, २-५-९.

८ ,, ३-६-५.

९ ,, ६-७-७.

१० ,, १-४-२२.

११ ,, ६-२-९.

१२ ,, ६-१-१०.

१३ ,, १-६-२.

१४ ,, १-१-५.

१५ ,, १-२-८.

१६ ,, ३-३-३.

१७ ,, १-२-११.

१८ ,, १-१-८.

१९ ,, १-३-४.

२० ,, ५-६-९.

२१ ,, ६-२-३.

२२ ,, १-४-२.

अरतिमंस्ययज्ञस्यातिद्रुतोऽतियन्त्यनृणोऽ-
विष्यन्ननमीवोऽन्नेष्वर्चिरजीतानज्यानिम-
ह्रियाअम्बाल्यर्वन्तमस्त्वकृणोदङ्गिरोऽपसु-
योअस्कभायदच्युतोऽश्वसानिरस्थभिरशि-
श्रेदङ्गेऽग्निय' ॥ १७ ॥

अरतिम्, अस्ययज्ञस्य, अतिद्रुतः, अतियन्ति, अनृणः, अवि-
ष्यन्, अनमीवः, अन्नेषु, अर्चिः, अजीतान्, अज्यानिम्, अह्रियाः,
अम्बालि, अर्वन्तं, अस्तु, अकृणोत्, अङ्गिरः, अपसुयः, अस्क-
भायत्, अच्युतः, अश्वसनिः, अस्थभिः, अशिश्नेत्, अङ्गे, अग्निय
एतेष्वकारो न खल्वेकारपूर्व ओकारपूर्वो वा लुप्यते । यथा—‘मूर्द्धनिं
दिवो अरतिम्’^{१२} । ‘यन्मे अग्ने अस्य यज्ञस्य’^{१३} । यज्ञस्येति
किं ? ‘एतेऽस्यामुष्मिन्’^{१४} । ‘प्रत्यङ्मुखोऽसौ अतिद्रुतः’^{१५} ।
‘पश्यन्तो अतियन्ति’^{१६} । द्रुतोयन्तीत्याभ्यां किं ? ‘नैन सो-
मोऽति पवते’^{१७} । ‘तदग्ने अनृणो भवामि’^{१८} । ‘नयवसे अवि-
ष्यन्’^{१९} । ‘स्वावेशो अनमीवः’^{११०} । ‘ये अन्नेषु विविध्यन्ति’^{१११} ।
‘जातवेदो यो अर्चिः’^{११२} । ‘शरदो अजीतान्’^{११३} । ‘तेषां यो
अज्यानिम्’^{११४} । ‘तिरो अह्रिया मा मुहुताः’^{११५} । ‘अम्बे अम्बा-

^१दङ्गेऽग्नि इति पाठान्तरम्.

^२सं. १-४-१३.

^३सं. १-६-२.

^४सं. ६-१-१०.

^५„ १-४-२१.

^६„ ३-२-२.

^७„ ६-५-११.

^८„ ३-३-८.

^९„ ४-४-३.

^{१०}„ ३-४-१०.

^{११}„ ४-५-११

^{१२}„ ५-७-८.

^{१३}„ ६-७-२.

^{१४}„ ७-३-१३.

लि^१ । 'यो अर्वन्तं जिघांसति'^२ । 'बहिंस्ते अस्तु बालिति'^३ ।
 'इत इन्द्रोः अकृणोत्'^४ । 'अग्ने अङ्गिरो योऽस्याम्'^५ । 'यो
 अप्सु य ओपधीषु'^६ । य इति किं ? 'अश्वोऽप्सुजो वेतसः'^७ ।
 'यो अस्कभायदुत्तरम्' (१-२-१३) 'मदाय रसोऽच्युतः' (१-२-१)
 'यो भक्षो अश्वसनिः'^८ । सनिरिति किं ? 'अश्वेभ्योऽश्वपति-
 म्यः'^९ । 'इन्द्रो दधीचो अस्थभिः'^{१०} । भिरिति किं ? 'श-
 मस्थभ्यो मज्जम्यः'^{११} इत्यत्र जटायाम्—'अस्थभ्यो मज्जम्यो
 मज्जम्योऽस्थभ्योऽस्थभ्यो मज्जम्यः'^{११} । 'वरुणो अशिश्रेत्'^{१२} ।
 'अङ्गेअङ्गे नि देध्यत्'^{१३} । अघ्नियेत्य^{१४} कारगृहीतः पदैकदेशो बहू-
 पादानार्थः । 'एतानि ते अघ्निये नामानि'^{१५} । 'यदापो अ-
 घ्निया वरुणेति'^{१६} । 'पयो अघ्नियासु दृष्टु'^{१७} ॥ १७ ॥

अरतिमित्यादीनामादिरकार एकारौकारयोः पूर्वयोर्न लुप्यते।
 यथा—अरतिम्—'मूर्धानं दिवो अरतिम्'^{१८} । अस्ययज्ञस्य—
 'यन्मे अग्ने अस्य यज्ञस्य'^{१९} । यज्ञस्येति किम् ? 'सुवर्ग्योऽस्य
 भयति'^{२०} । अतिद्रुतः—'प्रत्यङ्स्तोमो अतिद्रुतः'^{२१} । अतियन्ति—
 'तयोः पश्यन्तो अनियन्त्यन्यम्'^{२२} । द्रुतो यन्तीति किम् ?

१ सं ७-४-१९.

२ सं. ७-४-१९.

३ सं. ३-३-१०.

४ " १-१-१२.

५ " १-२-१२.

६ " ६-५-९.

७ " ५-३-१२.

८ " ३-२-५.

९ " ४-६-३.

१० " ५-६-६.

११ " ५-२-१२.

१२ " १-८-१०.

१३ " १-३-१०.

१४ अप्रित्य इति पाठान्तरम्.

१५ " ७-१-६.

१६ " १-३-११.

१७ " १-२-८.

१८ " १-४-१३.

१९ " १-६-२.

२० " ५-५-३.

२१ " १-८-११.

२२ " ३-२-२.

‘परो मृजेयतोऽतीहि’^१ । अनृणः—‘तदग्रे अनृणो मचामि’^२ । अवि-
प्यन्—‘नयवसे अविप्यन्’^३ । अनमोवः—‘स्वावेशो अनमीवो
भवा नः’^४ । अन्नेषु—‘ये अन्नेषु वि विध्यति’^५ । अर्चिः—‘जातवेदो
यो अर्चिः’^६ । अजीतान्—‘शरदो अजीतानिन्द्रः’^७ । अज्यानिम्—
‘यो अज्यातिमर्जीतिमावहात्’^८ । अह्वियाः—‘तिरो अह्विया मा सु-
हुताः’^९ । अम्यालि—‘अम्ये अम्यालि’^{१०} । अर्वन्तम्—‘यो अर्व-
न्तम्’^{११} । अस्तु—‘सुमतिष्ठे अस्तु’^{१२} । अकृणोत्—‘इत इन्द्रो
अकृणोत्’^{१३} । अक्षिरः—‘अग्रे अक्षिरः’^{१४} । इत्यध्वरकाण्डे । अप्सुयः—
‘यो अप्सु य औपधीषु’^{१५} । य इति किम्? ‘योऽप्सु भस्म
प्रवेशयति’^{१६} । अस्कभायत्—‘यो अस्कभायदुत्तरम्’^{१७} । अच्युतः—
‘मदाय रसो अच्युतः’^{१८} । अश्वसनिः—‘यो भक्षो अश्वसनिः’^{१९}
सनिरिति किम्? ‘योऽश्वमेधेन’^{२०} । अस्थभिः—‘इन्द्रो दधीक्षो
अस्थभिरिति’^{२१} । भिरित्यस्य व्यावर्त्यं शास्त्रान्तरे ॥ अशिभेत्—
‘तनुवं वरुणो अशिभेत्’^{२२} । अङ्गे—‘प्राणो अङ्गेअङ्गे’^{२३} । अग्नि-
येति पदैकदेशोऽनेकग्रहणार्थः । ‘यदापो अग्निया वरुणेति’^{२४} ।
‘एतानि ते अग्निये’^{२५} । ‘पयो अग्नियास्तु इह्यु’^{२६} ॥ १७ ॥

- १ सं. १-८-६.
४ सं. ३-४-१०.
७ „ ६-७-२.
१० सं. ७-४-१५.
१३ „ ३-२-३२.
१६ „ १-२-१३.
१९ सं. ५-३-१२.
२२ सं. १-३-१०.
२५ सं. १-२-८.

- २ सं. ३-३-८.
३ „ ४-५-११.
६ „ ७-३-१३.
११ „ १-४-४५.
१४ „ ५-५-६.
१७ सं. १-२-६.
२० सं. ६-६-६.
२३ „ १-३-११.

- ३ सं. ४-४-३.
६ „ ५-७-८.
९ „ ७-४-१९.
१२ „ १-१-१२.
१५ सं. ५-२-२.
१८ सं. ३-२-५.
२१ सं. १-८-१२.
२४ „ ७-१-६.

अध्वर स्वरपरे ॥ १८ ॥

अध्वर इत्यस्मिन् ग्रहणे स्वरपरे वर्तमानोऽकारो न खल्वेकारौकारपूर्वो वा लुप्यते । यथा—‘सत्यधर्माणो अध्वरे’^१ । ‘हविष्मान्देवो अध्वरः’^२ । ‘उपप्रयन्तो अध्वरमित्याह’^३ । अत्र ‘त्रिपदप्रभृति’ (१-६१) न्यायो न^४ प्रसरति तल्लक्षणासम्भवात् । स्वरपर इति किं ? ‘शुग्वा अग्निस्तोऽध्वर्युम्’^५ ॥ १८ ॥

अकारान्ततया निर्दिष्टे अध्वर इत्यस्मिन् ग्रहणे स्वरपरे आदिभूतोऽकार एकारौकारपूर्वो न लुप्यते । ‘सत्यधर्माणो अध्वरे’^१ । ‘हविष्मान्देवो अध्वरः’^२ । ‘उपप्रयन्तो अध्वरमित्याह’^३ इत्यत्र ‘त्रिपदप्रभृति’ (१-६१) न्यायो न^४ प्रसरति तल्लक्षणासम्भवात् । स्वरपर इति किम्^५ ‘शुग्वा अग्निस्तोऽध्वर्युं यजमानम्’^६ । ‘अन्धोऽध्वर्युस्स्यात्’^७ ॥ १८ ॥



स पूर्वस्यार्धसदृशमेकेपामर्धसदृशमेकेपाम् ॥ १९ ॥

योऽयमकारोऽलुप्तः स पूर्वस्य एकारस्य ओकारस्य वा अर्धमात्रसदृशं कालं भजते इत्येकेपामृपीणां मतम् । अध्यर्धमात्रः

^१ सं. १-२-१.

^२ सं. १-३-१२.

^३ सं. १-५-७.

^४ न्यायेन न.

^५ „ ५-६-२.

^६ स्वरपर इति कार्यभागविशेषणेन किम्,

^७ „ ५-१-२.

स्यादित्यर्थः । उक्तान्येवोदाहरणानि विशेषादर्शनात् । अर्धेन
सदृशः अर्धसदृशः, तं अर्धसदृशम् ॥ १९ ॥

इति त्रिभाष्यरत्ने प्रातिशाख्यविवरणे एकादशोऽध्यायः.

योऽयमकार एकारौकारपूर्वो न लुप्यते, स खलु स्वस्मा-
त्पूर्वस्य घर्णस्यार्धेन सदृशः रूपमुपागच्छति इत्येकेषामाचार्याणां
मतम् । यथा—‘ते ए अग्रे अश्वमायुञ्जन्’^१ इत्येकारस्यार्धेन ॥
‘यो रुद्रो ओ अग्नौ यो अप्सु’^२ इत्योकारस्य । सोऽयं छन्दोगा-
वान्तरचरणानां सात्यमुग्निराणायनीयानां पक्षः । अस्मच्छ्रुत्वादौ
तु न विद्यन्ते । अत एवानयोर्वर्णयोः वर्णसमास्त्राये न पाठः ॥ १९ ॥

इत्याचार्यंगार्ग्यगोपालमिः विरचिते वैदिकाभरणारख्ये.

प्रातिशाख्यव्याख्याने एकदशोऽध्ययः.

अथ द्वादशोऽध्यायः.

अथ लोपः ॥ १ ॥

‘अध’ इत्ययमधिकारः । अकारस्य लोप उच्यते, इत्येतदधिकृतं वेदितव्यं, इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः । ‘धातारातिः’^१(११-३) इत्यादिविषयोऽयमध्यायारम्भः ॥ १ ॥

अनेन ‘धातारातिः’ (११-३) इत्यादिसूत्रस्यापवादभूतोऽकारलोपविधिरारभ्यते ॥ १ ॥

असि ॥ २ ॥

‘असि’ इत्यस्मिन् अकारो लुप्यते, एकारौकारपूर्वः^१ । यथा—
‘सुपर्णोऽसि गरुत्मान्’^२ । ‘मथोऽसि पृथिव्यसि’^३ ॥ २ ॥

अस्तीतिपदे अकारो ‘धातारातिः’ (११-३) इत्यादिष्वनुवाकेषु एकारौकारपूर्वो लुप्यते । ‘आर्द्वो अग्नेऽस्यायुः’^४ । ‘उपयामृ-
होतोऽसि नृपश्च’^५ । ‘दिशोऽसि ध्रुवाऽसि’^६ । ‘समुद्रोऽसि नभस्वान्’^७ ॥ २ ॥

^१ एकारपूर्व ओकारपूर्वो वा.

^२ सं. ४-१-१०.

^३ सं. ४-२-९.

^४ सं. १-५-५.

^५ सं. १-७-१२.

^६ सं. ४-१-६.

^७ सं. ४-७-१२.

न गर्भस्सन्नद्धोयमोभद्रःपूर्वः ॥ ३ ॥

गर्भः, सन्नद्धः, यमः, भद्रः एवम्पूर्वः सान्निध्याल्लब्धे असी-
त्यस्मिन् अकारो न लुप्यते । 'गर्भो अस्यापधीनाम्' ^१ । 'स-
न्नद्धो असि वाडयस्व' ^२ । समिति किं ? 'उपनद्धोऽसुरः' ^३ इति
केचिदुदाहरन्ति, तद्धिन्त्यम् । 'धातारातिः' (१.१-३) इत्याद्यन्तः-
पातित्वाभावात्, असिशब्दादर्शनाच्च । मुख्यं तु शाखान्तरे विज्ञेयं
प्रत्युदाहरणम् । 'असि यमो अस्यादित्यः' ^४ । 'त्वं भद्रो असि
क्रतुः' ^५ ॥ ३ ॥

किमविशेषेण ? नेत्युच्यते—

तेष्वनुवाकेषु गर्भ इत्यादिषु पूर्वेषु असीत्यकारो न लुप्यते'
गर्भः—'स जानो गर्भो असि' ^६ । सन्नद्धः—'गोभिस्सन्नद्धो असि' ^७ ।
समित्युपयन्धव्यावर्त्य शाखान्तरे । यमः—'असि यमो असि' ^४ ।
भद्रः—'त्वं भद्रो असि' ^५ ॥ ३ ॥

यवनहपरः^७ स्वरपरेषु ॥ ४ ॥

यकारवकारनकारहकारररोऽकारो लुप्यते, तेषु यकारादिषु स्वर-
परेषु सत्सु । यथा—'हिरण्यशृङ्गोऽयो अस्य पादाः' ^८ । 'वनस्पतेऽव-

^१ सं. ४-२-३.

^२ सं. ४-६-६.

^३ सं. ४-४-९.

^४ सं. ४-६-७.

^५ सं. ४-३-१३.

^६ „ ४-१-४.

^७ यवनह.

सृजा रराणः^१ । 'वरेण्योऽनुप्रयाणम्'^२ । 'जम्भयन्तोऽ-
हिम्'^३ । स्वरपरेष्विति किं? 'शुक्रं ते अन्यत्'^४ । 'अग्रे
अह्नाहितः'^५ ॥ ४ ॥

कार्यभाज एवायं निर्देशः । य, घ, न, ह इत्येतेभ्यो
व्यञ्जनेभ्यः स्वरपरेभ्यः पूर्वोऽकारः एकारोकारपूर्वस्तेष्वनुवा-
केषु लुप्यते । य—'हिरण्यशृङ्गोऽयो अस्य'^६ । घ—'वाजे-
वाजेऽवत'^७ । न—'इन्द्रं सखायोऽनु'^८ । ह—'हवामहेऽहोमु-
चम्'^९ । 'जम्भयन्तोऽहिं घृक्म्' । 'रजसो विसारेऽहिः'^{१०} । यव-
नहेति किम्? 'यतो जातो अरोचथाः'^{११} । स्वरपरेष्विति
किम्? 'यमुभिर्नो अव्यात्'^{१२} । 'ये अन्तरिक्षे'^{१३} । 'दुबुहे
अह्वयः'^{१४} ॥ ४ ॥

जकारग्रपर उदात्तः ॥ ५ ॥

जकारपरो ग्नपरश्च अकार उदात्तो लुप्यते । यथा—'ओ-
जोऽनायथाः'^{१५} । 'शुचिः पावक वन्द्योऽग्ने'^{१६} । उदात्त इति
किं? 'न तत्प्राणो अमरः'^{१७} । 'निधिपतिर्नो अग्निः'^{१८} ॥ ५ ॥

^१ सं. ४-१-८.

^२ सं. ४-१-१०.

^३ सं. १-३-८.

^४ सं. ४-१-११.

^५ सं. ४-१-१.

^६ सं. ४-६-७.

^७ सं. ४-७-११.

^८ सं. ४-६-४.

^९ सं. १-६-१२.

^{१०} सं. १-१-११.

^{११} सं. ४-२-४.

^{१२} सं. २-१-११.

^{१३} सं. ४-२-८.

^{१४} सं. १-६-६.

^{१५} सं. १-६-१२.

^{१६} " १-१-१४.

^{१७} " ४-६-१.

^{१८} " १-४-४४.

अयमपि कार्यभावप्रधानो निर्देशः । अ इत्यकारान्तग्रह-
णम् । अकारात् गकारनकारसंयोगाच्च पूर्वोऽकार उदात्त ए-
कारौकारपूर्वः तेष्वनुवाकेषु लुप्यते । 'पुरो नोऽजस्रया' ^१ ।
'शुचिः पावक घन्धोऽग्ने' ^२ । एतत्पर- इति किम् ? 'आरे
अस्मे च' ^३ । उदात्त इति किम् ? 'धामा ह यत्ते अजर' ^४ ।
'त्वः हाग्ने अग्निना' ^५ ॥ ६ ॥

मोचचोदधानस्स्थेपूर्वश्च ॥ ६ ॥

अपर इति चकारो ज्ञापयति । मः, वचः, दधानः, स्थे
इत्येवम्पूर्वो अपरोऽकारो लुप्यते । यथा—'अङ्गिरस्वदच्छेमोऽग्निम्' ^६
म इत्यत्र पदैकदेशग्रहणं ^७. सङ्क्षेपार्थम् । 'अङ्गिरस्वद्वरिष्यामोऽ-
ग्निम्' ^८ । 'वचोऽग्ने भरता बृहत्' ^९ । 'दधानोऽग्निर् होता' ^{१०} ।
'सधस्थेऽग्निं पुरीष्यम्' ^{११} । अन्वादेशः किमर्थः ? 'सधस्थे अधु-
त्तरस्मिन्' ^{१२} । अपरस्यानुदात्तार्थोऽयमारम्भः ॥ ६ ॥

चशब्देन अपर इत्यन्वादिश्यते । अनुदात्तार्थोऽयमार-
म्भः । मः, वचः, दधानः, स्थे इत्येतेषु पूर्वेषु अपरः अका-
रः तेष्वनुवाकेषु लुप्यते । 'अङ्गिरस्वदच्छेमोऽग्निम्' ^६ । 'पू-
र्व्यं वचोऽग्ने' ^९ । 'दमेदमे सप्तस्त्रा दधानोऽग्निः' ^{१०} । 'पृथि-

१ सं. ४-६-५.

२ सं. १-३-१४.

३ सं. १-६-५.

४ सं. ३-१-११.

५ सं. १-४-४६.

६ अपरोऽनुदात्तोऽप्यकारो.

७ सं. ४-१-२.

८ मो इत्यपदग्रहण.

९ सं. ३-२-११.

१० सं. ४-१-३.

व्यासदस्थेऽग्निम्^१ । अन्वादेशेन किम् ? 'नमो अस्तु सर्प-
प्यः'^२ । 'अग्निं खनिष्यन्त उपस्थे अस्याः'^३ ॥ ६ ॥

अभ्यावर्त्तिन्नपूपमपिदधाम्यद्यान्वदितिश्श-
र्माग्नेर्जिह्वामग्नयःपप्रयोऽस्माकमस्मेध-
त्ताश्माश्वाश्रुतिरश्यामामाऽर्यमन्नस्म-
त्पाशानस्मिन्त्यज्ञेऽस्ताऽव्यथमानाऽभि-
द्रोहमधाय्यदोऽथोदुग्धाअरिष्टाअरथाअ-
र्चन्त्यन्तरस्यामत्रस्थान्नायाङ्गिरस्वदक-
रम् ॥ ७ ॥

अभ्यावर्त्तिन्, अपूपम्, अपिदधामि, अद्यान्, अदितिश्शर्म,
अग्नेर्जिह्वाम्, अग्नयःपप्रयः, अस्माकम्, अस्मेधत्, अश्मा, अश्वा-
श्रुतिः, अश्याम, अमा, अर्यमन्, अस्मत्पाशान्, अस्मिन्त्यज्ञे,
अस्ता, अव्यथमाना, अभिद्रोहम्, अधायि, अदः, अपो, अदुग्धाः,
अरिष्टाः, अरथाः, अर्चन्ति, अन्तरस्याम्, अत्रस्थ, अन्नाय, अ-
ङ्गिरस्वत्, अकरम् एतेष्वकारो लुप्यते, एकारोकारपूर्वः । यथा-
'अग्नेऽभ्यावर्त्तिन्'^४ । आवर्त्तिन्निति किं ? 'कामेन कृतो अभ्या-

^१ सं. ४-१-३.^२ सं. ४-२-८.^३ सं. ४-१-२.^४ " ४-२-१.

नडर्कम्^१। 'भद्रशोचेऽपूषं देव'^२। 'अग्नेऽपिदधाम्यास्ये'^३। दधा-
मीति किं? 'वद्धो-अपि कक्ष आसनि'^४। 'अनु नोऽद्यानु-
मतिः'^५। अन्विति किं? 'प्रतत्ते अद्य शिपिविष्टनाम'^६। 'अधि
घवीतु नोऽदितिश्शर्म यच्छतु'^७। शर्मेति किं? 'यथा नो
अदितिः करत्'^८। 'अध्वरं नोऽग्नेर्निह्वामभि गृणीतम्'^९। निह्वा-
मिति किं? 'प्रताददन्ते अग्नेः'^{१०}। 'ते नोऽग्नयः पप्रयः'^{११}।
पप्रय इति किं? 'पुरीष्यासो अग्नयः'^{१२}। 'नरोऽस्माकमिन्द्र'^{१३}।
'विश्वेऽस्मे धत्त'^{१४}। धत्तेति किं; 'द्वविणं वाजो अस्मे वा-
जस्य प्रसवम्'^{१५}। 'परि वृद्धि नोऽश्वा भवतु'^{१६}। अश्वाश्रुतिः
अश्वा इत्यस्य यत्रयत्र श्रुतिः, तत्रतत्र ल्येपः। 'वृषपा-
णयोऽश्वा रथेभिः'^{१७}। श्रुतिरिति किं? 'प्रचेतसोऽश्वान्'^{१८}।
'भरन्तोऽश्वायेव'^{१९}। दीर्घग्रहणेन किं? 'चपालं ये अश्वयू-
पाय तक्षति'^{२०}। 'क्षत्रं नो अश्वो वनताम्'^{२१}। 'वाजयन्तोऽश्याम
द्युम्रम्'^{२२}। 'पुनस्तेऽमैषाम्'^{२३}। 'ये तेऽर्यमन्'^{२४}। 'तेऽस्मत्पाशान्'^{२५}।
पाशानिति किं? 'अन्यं ते अस्मत्'^{२६}। 'यः पिता तेऽस्मिन्

१ सं. १-१-१६.

२ सं. ४-२-२.

३ सं. ४-१-१०.

४ सं. १-७-८.

५ सं. ३-३-११.

६ सं. २-२-१२.

७ सं. ४-६-६.

८ सं. ३-४-११.

९ सं. ४-१-८.

१० सं. १-७-७.

११ सं. ४-२-४.

१२ सं. १-४-४४.

१३ सं. ४-७-१२.

१४ सं. ४-६-८.

१५ सं. ४-६-९.

१६ सं. १-३-१४.

१७ सं. ४-७-१४.

१८ सं. २-३-१४.

१९ सं. ४-३-१३.

२० सं. ४-६-१.

यज्ञे ¹ । यज्ञ इति किं ? 'ते अस्मिञ्जवमादधुः' ² । 'प्र-
सितिं द्रूणानोऽस्ताऽसि' ³ । 'मा सुपर्णोऽव्यथमाना' ⁴ । 'जनेऽ-
भिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि' ⁵ । 'द्रोहमिति किं ? 'बृहस्पते अभि
शस्तेः' ⁶ । 'सुमन्मेऽधायि मन्म' ⁷ । 'येऽदो रोचने दिवः' ⁸ ।
'मह्यमग्नेऽथो सीद' ⁹ । 'शूर नोनुमोऽदुग्धाः' ¹⁰ । 'पूर्वेऽरिष्ठा-
स्याम' ¹¹ । 'पवयोऽरथाः' * । 'गायत्रिणोऽर्चन्ति' * । 'अभि शू-
शुचोऽन्तरस्याम्' ¹² । 'अस्त्रामिति किं ? 'रुक्मो अन्तर्विभाति' ¹³ ।
'येऽत्र स्थ पुराणाः' ¹⁴ । 'स्थेति किं ? 'त्वष्टा नो अत्र वरिवः' ¹⁵ ।
'रायस्पोपोऽन्नाय त्वा' ¹⁶ । 'पृथिव्यास्तपस्थेऽङ्गिरस्वत्' ¹⁷ । 'अ-
हं तेभ्योऽकरं नमः' ¹⁸ ॥ ७ ॥

अभ्यावर्तिन्नित्यादीनामादिरकारः एकारौकारपूर्वः तेष्वनु-
वाकंपु लुप्यते । अभ्यावर्तिन्—'अग्नेऽभ्यावर्तिन्' ¹⁹ । आवर्ति-
न्निति किम् ? 'अभि वीरो अभि सत्त्वा' ²⁰ । अपूपम्—'मद्र शोचेऽ-
पूपम्' ²¹ । आपेदधामि—'अग्नेऽपि दधामि' ²² । दधामोति किम् ?

¹ सं. २-६-१२.² „ १-७-७.³ सं. १-२-१४.⁴ सं. ४-२-९.⁵ सं. ३-४-११.⁶ „ ४-१-७.⁷ „ ४-६-८.⁸ सं. ४-२-८.⁹ सं. ४-१-९.¹⁰ सं. २-४-१४.¹¹ सं. ४-७-१४.¹² सं. ४-१-१०.¹³ सं. ४-२-४.¹⁴ „ १-४-४४.¹⁵ „ १-७-९.¹⁶ „ ४-१-६.¹⁷ „ ४-५-२.¹⁸ „ ४-२-१.¹⁹ सं. ४-६-४.²⁰ „ ४-२-२.

* सं. १-६-१९.

‘ग्रीवायां चन्द्रोऽपि कक्षे’^१ । अद्यानु—‘अनु नोऽद्यानुमतिः’^२ ।
 ‘अन्विति किम्?’ ‘यस्ते अद्य कृण्वत्’^३ । अदितिश्शर्म—‘अ-
 धि व्रवोतु नोऽदितिश्शर्म यच्छतु’^४ । शर्मति किम्? ‘यथा नो अ-
 दितिः करत्’^५ । अग्नेर्जिह्वाम्—‘ऊर्ध्वमध्वरं नोऽग्नेर्जिह्वाम्’^६ । जि-
 ह्वामिति किम्? ‘व्रता ददन्ते अग्नेः’^७ । अग्नयःपप्रयः—‘ते नोऽ-
 ग्नयः पप्रयः पारयन्तु’^८ । पप्रय इति किम्? ‘पुरीष्यासो अग्न-
 यः’^९ । अस्माकम्—‘अयुष्योऽस्माकं सेनाः’^{१०} । अस्मेधत्त—
 ‘विश्वेऽस्मे धत्त’^{११} । धत्तेति किम्? ‘आरे अस्मे च शृण्वते’^{१२} ।
 अश्मा ‘कृज्जति पारि वृद्धि नोऽश्मा’^{१३} । अश्वाद्युतिरिति श्रुति-
 प्रवृण्णादपदात्मिकाऽपि गृह्यते—‘वृषपाणयोऽश्वा रथेभिः’^{१४} । ‘प्र-
 चेतसोऽश्वान्’^{१५} । दोर्घेण किम्? ‘ते अग्ने अश्वमायुजन्’^{१६} । अ-
 श्याम् ‘वाजयन्तोऽश्याम् युजन्’^{१७} । अमा—‘निगुतः पुनस्तेऽमै-
 पाम्’^{१८} । अर्यमन् ‘ये तेऽर्यमन्’^{१९} । अस्मत्पाशान्—‘तेऽस्मत्पाशान्प्र-
 मुञ्चन्त्वहसः’^{२०} । पाशानिति किम्? ‘तनूषु यज्ञं कृतमेनो
 अस्मत्’^{२१} । अस्मिन्यधे—‘यः पिता तेऽस्मिन् यज्ञे’^{२२} । यज्ञ इति
 किम्? ‘नव्ये देष्णे शस्ते अस्मिन्त उक्थे’^{२३} । अस्ता—‘प्रसि-
 त्तिं द्रूणानोऽस्ताऽसि’^{२४} । अव्यथमाना—‘मा सुपर्णोऽव्यथमाना’^{२५} ।
 अभिद्रोहम्—‘जनेऽभिद्रोहम्’^{२६} । उपवन्धव्यावर्त्यमुक्तम् । द्रोह-

१ सं. १-७-८.

२ सं. ३-३-२१.

३ सं. ४-२-२.

४ सं. ४-६-६.

५ सं. ३-४-११.

६ सं. ४-१-८.

७ सं. १-७-७.

८ सं. ४-२-४.

९ सं. ४-६-४.

१० सं. १-४-४४.

११ सं. १-५-५.

१२ सं. १-३-२४.

१३ सं. ४-७-१४.

१४ सं. २-३-१४.

१५ सं. ४-६-१३.

१६ सं. १-८-२२.

१७ सं. २-६-१२.

१८ सं. १-७-१३.

१९ सं. १-२-१४.

२० सं. ४-२-६.

मिति किम् ? 'बृहस्पते अभिशस्तेः'¹ । अधायि—'सुमन्मेऽधा-
यि'² । अदः—'येऽदो रोचने दिवः'³ । अथो—'महामग्नेऽथो सी-
द'⁴ । अवुग्धाः—'शूर नोनुमोऽवुग्धाः'⁵ । अरिष्टाः—'पूर्वेऽरिष्टा-
स्याम्'⁶ । अरथाः—'ये पवयोऽरथाः'⁷ । अर्चन्ति—'गायत्रि-
णोऽर्चन्ति'⁸ । अन्तरस्याम्—'शुशुचोऽन्तरस्याम्'⁹ । अस्यामिति
किम् ? 'विदधे अन्तरेपास्'¹⁰ । अत्रस्थ—'येऽत्र स्थ पुराणाः'¹¹ ।
स्थेति किम् ? 'त्वं नो अत्र सुतात्'¹² । अन्नाय—'रायस्पोषोऽ-
न्नायं त्वा'¹³ । अङ्गिरस्वन्—'सधस्थेऽङ्गिरस्वत्'¹⁴ । अकरम्—'अहं
तेभ्योऽकरं नमः'¹⁵ ॥ ७ ॥

—o—

गाहमानोजायमानोहेतयोमन्यमानोवनस्प-
तिभ्यःपतेस्त्रिधस्तपसस्वधावोभामितोऽ-
ग्नयायोऽध्वर्योऽक्तोपूर्वः ॥ ८ ॥

गाहमानः, जायमानः, हेतयः, मन्यमानः, वनस्पतिभ्यः, पते,
स्त्रिधः, तपसः, स्वधावः, भामितः, अग्नयः, आयो, अध्वर्यो,
क्तो इत्येवम्पूर्वोऽकारो लुप्यते । यथा—'गाहमानोऽदायः'¹⁶ ।
'जायमानोऽह्नां केतुः'¹⁷ । 'हेतयोऽन्यमस्मत्'¹⁸ । 'मन्यमानोऽ-

¹ सं. ४-१-७.

² सं. ४-६-८.

³ सं. ४-२-८.

⁴ सं. ४-१-९.

⁵ सं. २-४-१४.

⁶ सं. ४-७-१४.

⁷ सं. १-६-१२.

⁸ सं. २-१-११.

⁹ सं. ४-२-४.

¹⁰ सं. ४-१-११.

¹¹ सं. १-७-९.

¹² सं. ४-१-६.

¹³ सं. ४-६-१.

¹⁴ सं. ४-६-४.

¹⁵ सं. ४-५-१०.

मस्यम् ^{११} । 'वनस्पतिभ्योऽधिसम्भृताम्' ^{१२} । वनस्पतीति किं ? 'नमः
 पितृभ्यो अभि' ^{१३} । 'अन्नपतेऽन्नस्य' ^{१४} । 'नि हो अति स्त्रिघोऽत्य-
 चित्तिम्' ^{१५} । 'तपसोऽधि जातः' ^{१६} । 'देव स्वधावोऽमृतस्य धाम' ^{१७} ।
 स्वधेति किं ? 'अन्या वो अन्यामवतु' ^{१८} । 'भामितोऽमित्रस्य' ^{१९} ।
 'यानग्नयोऽन्वतप्यन्त' ^{२०} । उकारस्य वकारविक्रियायां व्यञ्जनपरो
 नकार इति 'यवनह' (१२-४) निषेधाभावादलोपे प्राप्ते तदप-
 वादोऽयम् । 'अग्नेऽद्वघायोऽशीततनो' ^{२१} । 'अध्वर्योऽवेरपाः' ^{२२} ।
 'शतक्रतोऽनु ते दायि' ^{२३} । अत्र 'यवनह' (१४-४) इत्या-
 दिनैव लोपे सिद्धे पुनरस्य ग्रहणं नियमार्थम् । आयोऽध्वर्यो-
 क्रतो इत्येतत्पदत्रयपूर्वाकारस्येव लोपः । न त्वितरत्र प्रग्रहपूर्वस्येति ।
 यथा—'इमे अश्विना संवत्सरः' ^{२४} ॥ ८ ॥

गाहमान इत्यादिषु पूर्वेषु अकारः पदादिस्तेष्वनुष्वाकेषु
 लुप्यते । गाहमानः—'सहसा गाहमानोऽदायः' ^{२५} । जायमानः—
 'जायमानोऽह्नाम्' ^{२६} । हेतयः—'यास्ते सहस्रं हेतयोऽन्यम्' ^{२७} ।
 मन्यमानः—'मन्यमानोऽमर्त्यम्' ^{२८} । वनस्पतिभ्यः—'वनस्पतिभ्योऽधि
 सम्भृताम्' ^{२९} । वनस्पतीति किम् ? 'प्रमातृभ्यो अधि कनिक्वत्' ^{३०} ।
 पते—'अन्नपतेऽन्नस्य' ^{३१} । स्त्रिघः—'निहो अतिस्त्रिघोऽति' ^{३२} । तपसः—

१ सं. १-४-४६.

२ सं. ४-६-१.

३ सं. ३-२-८.

४ सं. ४-२-३.

५ सं. ४-१-७.

६ सं. ४-२-१०.

७ सं. ३-१-११.

८ सं. ४-२-६.

९ सं. १-६-१२.

१० सं. १-१-१३.

११ सं. ६-४-३.

१२ सं. २-६-१२.

१३ सं. ५-६-४.

१४ सं. ४-६-४.

१५ सं. २-४-१४.

१६ सं. ४-५-१०.

१७ सं. ४-१-४.

‘तपसोऽधिजातः’¹ । स्वधावः—‘देव स्वधावोऽमृतस्य’² । स्वधे-
ति किम् ? ‘शतं वो अम्ब धामानि’³ । भामितः—‘इन्द्रभामितोऽ-
मित्रस्य’⁴ । अग्नयः—‘यानग्नयोऽन्वतप्यन्त’⁵ । अत्रान्वित्यवग्रहस्य
उत्तरखण्डसन्धानात्परमेव पूर्वपदसन्धानं भवति । तत्र तु⁶
स्वरपरत्वाभावात् ‘यवनह’ (१२-४) इति लोपविधिर्न प्रवर्तते
इति अत्र लोपो विधीयते । एतदन्तो ‘धातारातिः’ (११-३) इत्या-
दिसुब्रह्मपादः । आयो—‘अग्रेऽदन्धायोऽशीततनो’⁷ । अध्व-
र्यो—‘अध्वर्योऽघेरपा’ इत्याह⁸ । क्रतो—‘शतक्रतोऽनु ते दाधि’⁹ ।
ननु आयोऽध्वर्यो इत्येताभ्यां परस्य ‘लुप्यते त्वकारः’ (११-१)
इत्यनेन लोपस्तिच्छः । क्रतोपूर्वस्यापि ‘यवनहस्वरपरेषु’
(१२-४) इति पुनर्विधानात्तिच्छ एव । न चात्र ‘न-मृतप्रग्र-
हो’ (१०-२४) इति निषेधः प्रवर्तते । निषेध्यस्य सन्धिका-
रस्याभावात् । न ह्यस्मिन् शास्त्रे एकादेशो विधीयते । न
चान्यो विकारः । अत्रोच्यते—सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय * भू-
यति । इह प्रग्रहसंज्ञेभ्यः ओ¹⁰कारेभ्यः¹¹ परे ये पदादयः
अकारारतेष्वायोऽध्वर्योऽक्रतोपूर्व एव लुप्यते । नान्य इति निय-
म्यते । ततश्च ‘ते अत्रुः आवापृथिवी’¹² । ‘उरो अन्तरिक्ष’¹³
इत्यादिषु अकारलोपो न भवति । अत्र च लोपविधौ प्रायः
पदादेरकारस्य लोपो विधीयते । तेन पदादिरिति लोपे

¹ सं. ४-२-१०.² सं. ३-१-११.³ सं. ४-२-६.⁴ सं. १-६-१२.⁵ सं. ३-२-८.⁶ तथाच सति अत्र.⁷ सं. १-१-१३.⁸ सं. ६-४-३.⁹ सं. २-६-१२.¹⁰ ओ.¹¹ एकांगीकारेभ्यः.¹² सं. २-५-२.¹³ सं. १-३-८.

* विधिर्नियमाय.

† पादा.

विहिते शेषोऽलोपविधिरल्पेनैव ग्रन्थेन निवर्तयितुमर्हति । तथाऽपि गुरुतरौऽयं ग्रन्थः प्रणीतः सूत्रकृता, पादविभागविज्ञानस्य छन्दशास्त्रतत्त्वावगतिसाध्यतया अस्य शास्त्रस्य तत्सापेक्षत्वापत्तेः अतिगौरवप्रसङ्गाच्च 'ये' अग्रथेताममितेभिः^३ इत्यादीनामृचां विभागस्तु सुगम एव । अवसानस्यौ^४ द्वौ पाद^५ समुदायौ एकैकगति^६ स्थूललक्षणेनापि चेद्यत्वात् ॥ ८ ॥

तस्मिन्नुदात्ते पूर्व उदात्तस्स्वरितम् ॥ ९ ॥

यमधिकृत्यायं प्रबन्ध उक्तः, तस्मिन् अकारेऽनुदात्ते लुप्ते सति पूर्व एकार ओकारो वा उदात्तः स्वरितमापद्यते । यथा—'तेऽब्रुवन्'^७ । 'सोऽब्रवीत्'^८ ॥ ९ ॥

तस्मिन् पदादावकारेऽनुदात्ते लुप्ते सति ततः पूर्व एकार ओकारो वा प्रकृत्या उदात्तस्स्वरितमुपगच्छति । 'गोष्ठेऽस्मिन् क्षयेऽस्मिन्'^९ । 'सोऽभवत्सोऽविभेत्'^{१०} । यत्र तु पूर्वोऽनुदात्तः स्थरितो वा तत्र न लोपलक्षणस्वरभेदः । यथा—'अवध्यायोऽशीततनो'^{११} । 'ता वैदेह्योऽभवन्'^{१२} । 'दिशां धीर्यंश्चिनुते'^{१३} ॥ ९ ॥

१ प्रतिपत्तिगौरव.

२ तेन 'ये.

३ सं. ४-७-१५.

४ अवसानवन्ता.

५ पद.

६ एकैकगति.

७ अस्मिन्.

८ सं. २-५-१.

९ सं. २-१-२.

१० सं. १-५-६.

११ सं. २-२-८.

१२ सं. १-१-१३.

१३ ; २-१-४.

१४ ,, ५-१-६.

उदात्ते चानुदात्त उदात्तम् ॥ १० ॥

तस्मिन् एवाकारे उदात्ते लुप्ते पूर्वं एकार ओकारो वा अनु-
दात्त उदात्तमापद्यते । यथा—‘अवरुन्धतेऽसत्रं वै’^१ । ‘अन-
पतेऽन्नस्य नः’^२ ॥ १० ॥

चशब्दः तस्मिन् पूर्वं इत्युभयमन्यादिशति । उदात्ते अका-
रे पदादौ लुप्ते पूर्वं एकार ओकारो वा प्रकृत्याऽनुदात्त उदात्त-
मुपगच्छति । ‘इन्द्रियाणि शतक्रतोऽनु ते दापि’^३ । ‘तेन त्वां द-
धेऽग्ने अक्षिरः’^४ । यत्र तु पूर्वश्चोदात्तस्तत्र न विकारः । ‘तेऽ-
दित्याः समध्रियन्त’^५ । ‘सोऽसुराननु यक्षोऽपाक्रामत्’^६ ॥ १० ॥

—०—

स्वरितश्च सर्वत्र स्वरितश्च सर्वत्र ॥ ११ ॥

उदात्त इति चशब्दो ज्ञापयति । तस्मिन्कारे उदात्ते लुप्ते
सर्वत्र एकार ओकारो वा स्वीस्त उदात्तमापद्यते । यथा—
‘मेपजं गवेऽध्वाय’^७ । ‘ओजोऽजायथाः’^८ । सर्वत्रेति वचनान्नि-
त्यंस्वरितेष्वपि तथैव तद्विधानं स्यात् । ‘उक्थ्योऽथातिरात्रः’^९ ॥

इति त्रिभाष्यरत्ने प्रातिशाख्यविवरणे द्वादशोऽध्यायः.

इति प्रथमः प्रश्नः.

^१ अस्मिन्.

^२ सं. २-५-१२.

^३ सं. ३-३-७.

^४ सं. ५-१-५.

^५ सं. ७-३-८.

^६ सं. १-२-१३.

^७ सं. १-८-६.

^८ सं. ४-२-३.

^९ सं. ६-१-५.

^{१०} सं. १-६-१२.

चशब्देनास्मि^१मुदात्ते पूर्वं उदात्तमित्यन्यादिश्यते । अस्मिन्^२
पदादावकारे उदात्ते लुप्ते सति ततः पूर्वस्वरित उदात्तमुपग-
च्छति । 'अथोक्थ्योऽथातिरात्रः'^३ । 'सर्वत्रेत्युच्यते—न केवल-
मकारलोपविषये स्वरित उदात्तमुपगच्छति । अपि तु सदर्प-
दीर्घादिविषयेऽपि यत्रयत्रैतस्य स्वरितस्यैकादेशो^४ विधीयते ।
'पितृदेवत्याऽतिखाता'^५ । 'न चेतव्येति रुद्रः'^६ । ननु तत्तद्विधिव-
शादेयं तत्रतत्र स्वरितस्योदात्तत्वसिद्धेः किमर्थोऽयं सर्वत्रेति
यत्नः ? तदुच्यते—करिष्यति^७ ह्याचार्यः—'सयकारवकारं त्व-
क्षरं यत्र स्वर्यते स्थिते पदेऽनुदात्तपूर्वंऽपूर्यं वा नित्य इत्येव जानी-
यात्' (२०-२) इति । नित्यस्वरितस्य तु विकारो नोपपद्यते ।
न हि विनाशी नित्यत्वव्यपदेशमर्हति । तस्मात् 'उदात्तमुदात्त-
यति' (१०-१०) इत्येतन्नित्यस्वरितव्यतिरिक्तविषयं मन्तव्यम् ।
इह तु नित्यस्वरितव्यतिरिक्तमेवोदाहरणं अन्येष्टव्यम्^८ । 'अ-
ग्नयेऽन्नयते'^९ । 'ओजोऽजायथाः'^{१०} । 'अध्वर्योऽध्वरपाः' इत्याह^{११}
इति । एतच्छृङ्गापनोदनार्थं सर्वत्रेत्युच्यते । तत्रायमाशयः—'नित्य
इत्येव जानीयात्' (२०-२) इत्यनेन विधिसाध्यत्वमेवास्य निव-
र्त्यते, स्वतस्सिद्धत्वात् न तु विनाशित्वमपि । तस्मान्नित्यस्व-
रितस्यापि 'उदात्तमुदात्तयति' (१०-१०) इत्यादिविकारो
भवत्येव । न चास्मिन् सूत्रे नित्यस्वरितव्यतिरिक्तो विषयस्स-
म्भवति । तथाहि—

^१ चशब्देन तस्मिन्.^२ तस्मिन्.^३ सं. ७-१-६.^४ स्वरितस्योदात्त एकादेशो, स्वरितादेशो^५ सं. २-६-४.^६ सं. ५-४-१०.^७ पठिष्यति.^८ एवेष्टव्यम्.^९ सं. २-२-४.^{१०} सं. १-६-१२.^{११} सं. ६-४-३.

पदान्तयोरेकारौकारयोर्नित्यस्वरितो भवति वा ? आहोस्वित्
 'उदात्तात्परोऽनुदात्तस्वरितम्' (१४-२९) इत्येतद्विधिसिद्धो वा ?
 तत्र द्वितीयस्त्वित् न सम्भवति परसूत्रविहितत्वात् 'तत्र पूर्वं
 पूर्वं प्रथमम्' (५-३) इति हि परिभाषितम् । तस्मादेतत्सूत्र-
 प्रवृत्तिविषये नित्य एव स्वरितस्तम्भवति । विधिवलात्तस्यैव विकारोऽभ्युपगन्तव्यः । एवं च नित्यस्यापि विधिना नित्यत्वभङ्गा-
 द्विधिसाध्यत्वराहित्यमेव निज्यत्वमिति विषयान्तरेऽपि विहितो वि-
 कारो भवत्येव । तथा चास्मिन् सूत्रे अविनाशित्वस्य भङ्गादे-
 यान्यत्रापि तद्गज्यत इति प्रकटनार्थं सर्वत्रेति यत्नोऽस्मिन्नेव
 सूत्रे क्रियते यथाचैतत्सूत्रप्रवृत्तियेळायाम्—'उदात्तात्परोऽनुदात्त-
 स्वरितम्' (१४-२९) इत्येष स्वरितो न भवति, एवं 'स्वरि-
 तात्सहितायामनुदात्तानां प्रचय उदात्तश्रुतिः' (२१-१०) इति
 प्रचयोऽपि न भवति । ततश्च लुप्तादकारादुदात्तात्पूर्वस्य प्रच-
 यत्वासम्भवादुदात्तस्य च विकाराभावादनुदात्तस्वरितावेवात्रो-
 पादायोदात्तत्वं^१ विहितमित्यनुसन्धेयम् ॥ ११ ॥

इत्याचार्यगार्ग्यगोपालमिश्रविरचिते वैदिकाभरणाख्ये
 प्रातिशाख्यव्याख्याने द्वादशोऽध्यायः.

प्रथमः प्रश्नस्तमातः.

^१ एवं च नित्यस्याविनाशित्वभङ्गा. नित्यस्वरितस्याविनाशित्वभङ्गा.

^२ स्वरितयोरेवात्रोपयोगात्तावेवात्रोपादाय तयो रुदात्तत्व.

अथ त्रयोदशोऽध्यायः.

अथ मकारलोपः ॥ १ ॥

‘अथ’ इत्ययमधिकारः । मकारस्य लोप उच्यते, इत्येतदधिकृतं वेदितव्यं, इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः । मकारस्य लोपः, मकारलोपः ॥ १ ॥

अथेत्ययमधिकारः । अनेन पदान्तस्य मकारस्य लोपोऽधिक्रियते ॥ १ ॥

रेफोष्मपरः ॥ २ ॥

रेफपरश्चोष्मपरश्च पदान्तो मकारो लुप्यते । यथा—“प्रत्युष्ट रक्षः”^१ । “स रक्षितं मे ब्रह्म”^२ । “त पडहानि”^३ । “स समिद्युवसे”^४ । “त्व ह यद्यविष्ठय”^५ । एवम्पर इति किं ? “इदं वामास्ये”^६ । पदान्त इति किं ? “तस्मात्ताम्रा आपः”^७ रेफश्च ऊष्मा च रेफोष्माणौ, तौ परौ यस्मात् सः तथोक्तः ॥

रेफे ऊष्मसु च पदादिषु परतो मकारो लुप्यते । यथा—प्रत्युष्ट रक्षः^१ । ‘सृक् स रक्षाय’^२ । ‘त पत पोडशितमपश्यत्’^३

^१ स. १-१-२.

^२ स. ४-१-२०.

^३ स. ५-५-२.

^४ ,, २-६-११.

^५ स. ३-३-११.

^६ ,, ६-४-२.

^७ स. १-६-१२.

^८ स. ६-६-११.

‘अग्निः होतारम्’^१ । एतेष्विति किम्? ‘यं कामं कामयते’^२ ।
पदादिष्विति किम्? ‘यद्धूम्नो भवति’^३ ॥ २ ॥

यवकारपरश्चैकेपामाचार्याणाम् ॥ ३ ॥

यकारपरो वकारपरो वा मकारो लुप्यते, इत्येकेषां मतम् ।
य एवास्य पञ्चमाध्याये सवर्णापत्तिं प्रतिषेधन्ति^४ तेषामेवैष लोप-
विधिः इति तानन्वादिशति चकारः सिंहावलोकनन्यायेन । यथा—
“त्वयज्ञेष्वीड्यः”^५ । “तवा एतयजमानः”^६ । एवम्पर
इति किं? “यं कामं कामयते”^७ । यकारश्च वकारश्च यव-
कारौ । तौ परो यस्मात् सः, तयोक्तः । नैतत् सूत्रमिष्टम् ॥

पदाद्योर्यवकारयोश्च परतः मकारो लुप्यते^८ इत्येकेपामाचा-
र्याणां मतम् । येषां मते मकारस्य यवपरस्य परसवर्णादेशो नि-
षिद्धः पञ्चमाध्याये । ‘अग्ने यं यज्ञम्’^९ । ‘संवत्सरमुख्यम्’^{१०} । नैतत्
सूत्रमिष्टम् ॥ ३ ॥

न सःसामिति^{१०} रापरः ॥ ४ ॥

रा इत्येवंपरः सं, सां इत्येतयोर्ग्रहणयोर्मकारः न लुप्यते ।

^१ सं. १-४-१०.

^२ सं. ७-१-१.

^३ सं. २-१-१५.

^४ प्रतिषिद्ध्यन्तः. प्रतिषेधयन्ति.

^५ सं. १-१-१४.

^६ सं. ५-६-५.

^७ पदन्ते मकारः यवकारयोश्च परतः लुप्यते इति पाठान्तरम्.

^८ सं. ४-१-११.

^९ सं. ५-६-५.

^{१०} मिति तु.

यथा—“प्र सम्राजम्”^१ । “साम्राज्याय सुकृतुः”^२ । स०सा-
मिति किं ? “श०राजत्रोपधीभ्यः”^३ । रापर इति किं ? “स०
रराणः”^४ । “पदान्तश्च व्यञ्जनपरः प्राकृतः” (१४-२८) इति
वक्ष्यमाणं द्वित्वनिषेधं इतिशब्दो^५ निवारयति । तस्मादत्र द्वित्व-
सिद्धिः^६ ॥ ४ ॥

सं, साम्, इत्यनयोर्मकारो राशब्दे परतो न लुप्यते ।
यथा—‘सम्राडसि’^७ । ‘साम्राज्याय सुकृतुः’^८ । स०सामिति किम् ?
‘इन्द्र० राजानम्’^९ । रापर इति किम् ? ‘स०शितं मे’^{१०} । दीर्घ-
ण किम् ? ‘देवा हस्तान्धस०रभ्यच्छप्’^{११} । मूलशास्त्रे तु ‘मोराजि-
समः कौ’^{१२} इति स्मर्यते । तस्यैवायं विधान्तरेण निर्देशः ।
तस्मात् ‘तोते रायस्सं देवि’^{१३} इत्यत्र जटायामयं प्रतिषेधो न भव-
ति, क्विन्तत्वाभावात् । इतिकरणोऽर्थान्तरप्रतीतिनिवार-
णार्थः । तदभावे त्रयाणां निमित्तत्वं विज्ञायेत । ‘स०सां नरा-
परः’ इत्युक्तेऽपि संसांनरा इति निमित्तानि परमतविषयाणि स्युः
निषेधश्च न स्यात् । सर्वत्र च कार्यभाजः पूर्वमेव नञ् निर्दि-
श्यते^{१४} । अतो विपर्ययश्च न युक्तः । एवं च कार्यभाङ्निमित्त-
विवेकार्थमतिकरणो मध्ये प्रयुज्यते ॥ ४ ॥

—०—

^१सं. १-६-१२.

^२सं. १-८-१६.

^३सं. ३-२-३.

^४सं. १-४-४४.

^५तुल्यो.

^६इतिशब्दः संसामित्यनयोरेवैति समर्थयति इत्यधिकं क्वचित्,

^७सं. १-३-३.

^८सं. १-८-१६.

^९सं. २-३-६.

^{१०}सं. ४-१-१०.

^{११}सं. ६-२-४.

^{१२}पा. ८-३-२५.

^{१३}सं. १-२-५.

^{१४}सर्वत्र कार्यभाङ् पूर्व निर्दिश्यते.

अथ वर्णानाम् ॥ ५ ॥

अथ इत्ययमधिकारः । वर्णानां संहिता वक्ष्यते, इत्येतदधि-
कृतं वेदितव्यम् । अथवा अर्थशब्दः पदसंहितानिषेधकः ॥ ५ ॥

इदानीं वर्णानां संहिता विषयत्वेन अधिक्रियते । सा द्वि-
विधा—वर्णसामान्यसंहिता, वर्णविशेषसंहिता चेति । द्वितीयाऽपि
द्विविधा—अक्षरसंहिता, अङ्गसंहिता चेति । एवं त्रिविधा वर्णसं-
हिता इह वर्तिष्यते । तेन यत्रापि नानापदीयनिमित्तः कार्यविधिः
“नावग्रहपूर्वः” (१६-११) इति तत्रापि वर्णयोर्वर्णगणयोर्वा सं-
हिता, न पूर्वोत्तरयोः पदयोः । तत्र नानापदीयस्य शब्दरूपस्य
निमित्तत्वमेव भवति, न तु संहिताप्रकृतित्वमपि । अत एव
स्त्रादिषु नानापदीयस्यापि निमित्तत्वमुक्तमुपपद्यते । अपिचात्र
वर्णसंहिताधिकारादतः पूर्वं पदसंहितेति सिद्धम् । तत्र वर्णाश्रयं
यत्कार्यं विधीयते तदपि तत्संयुक्तपदस्य निमित्तभूतपदसन्धाने
भवतीति वेदितव्यम् ॥ ५ ॥

ऋकारर्काररपपूर्वो नकारो णकारश्च समा- नपदे ॥ ६ ॥

समानपदे एकपदे ऋकारऋकाररेफपकारपूर्वो नकारो णकार-
माप्नोति । यथा—“त्रिभिर् ऋणवा जायते”^१ । “त्वश्चेतु-
णाम्”^२ । “एष वा ऋचो वर्णः”^३ । “ऋणोमि”^४ । एव-

^१ सं. ६-३-१०.

^२ सं. ४-३-१३.

^३ सं. ६-१-३.

^४ सं. १-१-११.

म्पूर्व इति किं ? “देवानां वा अन्तम्”^१ । समानपद इति किं ?
 “एभिर्नो अर्कैः”^२ । समानं च तन् पदं च, समानपदं, तस्मिन् ॥ ६

समानपदे एकास्मिन्नेव पदे ऋकारादिवर्णेषु पूर्वेषु नका-
 रो णत्वमाप्नोति । यथा—ऋ—‘स्वधाकारो हि पितृणाम्’^३ । ऋ—
 ‘त्वः होतृणामस्यायजिष्ठः’^४ । र—‘जाङ्गिरस्यूर्ध्वम्रदाः’^५ । प—
 ‘पूष्णो रङ्क्षः’^६ । ‘विष्णो हव्यम्’^७ । अत्र विध्यनुसारेण नकारः
 प्रकृतिरित्यवगम्यते । एतत्पूर्व इति किम् ? ‘अग्निया देवभागम्’^८
 समानपद इति किम् ? ‘सवितुनेत्राः’^९ । ‘वृहस्पतिर्नो हविषा’^{१०} ॥

व्यवेतोऽपि ॥ ७ ॥

अपिशब्दः ऋकाराद्याकर्षकः । उक्तनिमित्तपूर्वो नकारः, अ-
 न्येन व्यवहितोऽपि णत्वमाप्नोति । यथा—“अपरशुवृक्णं दहति”^{११}
 “आ रमणं कुरुते”^{१२} । “अधिपवणे”^{१३} । “रूपमाणः प्रति-
 ष्ठाकामः”^{१४} ॥ ७ ॥

समानपदे ऋकारादिषु पूर्वेषु वर्णान्तरव्यवेतोपि नकारो
 णत्वमाप्नोति । यथा—ऋ—‘वृक्णात्परा भविष्यन्तः’^{१५} । र—‘सो-
 मानह स्वरणम्’^{१६} । प—‘इयक्षमाणा भृगुभिः’^{१७} ॥ ७ ॥

^१ सं. ७-६-८.

^२ सं. ४-४-४.

^३ सं. ६-३-२.

^४ सं. ४-३-१३.

^५ सं. १-२-२.

^६ सं. १-३-१०.

^७ सं. १-२-३.

^८ सं. १-१-१.

^९ सं. १-८-७.

^{१०} सं. १-२-२.

^{११} „ ५-१-२०.

^{१२} सं. ६-५-११.

^{१३} सं. ४-७-८.

^{१४} „ ३-४-३.

^{१५} सं. २-५-१.

^{१६} „ १-९-६.

^{१७} „ ४-६-५.

हिरण्मयम् ॥ ८ ॥

हिरण्मयम् इत्यस्मिन् ग्रहणे नकरो णत्वमाप्नोति । यथा—
“हिरण्मयं दाम दक्षिणा”¹ । “स्पर्शपरः” (१३-१५) इति
वक्ष्यमाणप्रतिषेधस्य प्रतिप्रसवार्थमिदं सूत्रम् ॥ ८ ॥

अत्र “प्राकृताः” (१३-१४) इति वक्ष्यमाणमेतदादिसूत्रविष-
यम् । तदयमर्थः—हिरण्मयमित्यत्र नकारो णत्वमाप्नोति । स च
णकारः प्राकृतः । ‘हिरण्मयं पुरुषम्’² ॥ ८ ॥

पाणि-गण-पुण्य-कण्व-काण-गाण-वाण-वे- णु-गुण-मणि-प्रवादेषु पूर्वः ॥ ९ ॥

पाणीत्यादिशब्दानां प्रवादेषु पूर्वः प्रथमो णकारः प्रकृत्यैव
वेदितव्यः । प्रकर्षेण वादः प्रवादः लिङ्गविभक्तिभेदसमासत-
द्धितादिभिर्निर्देश इत्यर्थः । यथा—“सुपाणिस्त्वङ्गुरिः”³ । “वृष-
पाणयोऽश्वाः”⁴ । “हिरण्यपाणिमूतये”⁵ । “गणानां त्वा गण-
पतिम्”⁶ । “गणा मे मा वितृषन्”⁷ । “गणेन गणम्”⁸ ।
“दूरे अमित्रश्च गणः”⁹ । “पुण्यो भवति वसन्तमृतूनाम्”¹⁰
“सा मा सर्वान् पुण्यान्”¹¹ । “कण्वा अभि प्रगायत”¹² । “त-

¹ सं. २-४-१३.

² सं. ५-२-७.

³ सं. ३-१-११.

⁴ सं. ४-६-६.

⁵ सं. १-४-२५.

⁶ पा. २-३-१४.

⁷ सं. ३-१-८.

⁸ सं. ६-४-७.

⁹ सं. ४-६-६.

¹⁰ सं. १-६-११.

¹¹ सं. ७-१-७.

¹² सं. ४-३-१३.

स्यै काणो या^१ । “गाणपत्यान्मयोभूरेहि”^२ । “विशल्यो
वाणवाꣳ उत”^३ । “वेणुर्वैणवी भवति”^४ । “वेणुना वि मि-
मीते”^५ । “यद्वेणोस्सुपिरम्”^६ । “यथा गुणे गुणम्”^७ ।
“मणिना रूपाणि”^८ । ननु गणशब्दप्रवादत्वाद्गाणग्रहणमयुक्तम् ।
मैवम् । गणप्रवादत्वे सति तद्वेत् किन्तु गणपतिशब्दप्रवादोऽयम् ।
पूर्व इति किं ? “गणानां त्वा”^९ । “वेणुना वि मिमीते”^५ ।
“मणिना रूपाणि”^८ इत्यादिपूत्तरस्य^{१०} णत्वं मा भूदिति ॥ ९ ॥

एतदादिषु चतुर्षु सूत्रेष्वनियतः प्रतिसम्यन्धी^{१०} निमित्ताभा-
वात् । पाण्यादिशब्दानां प्रवादेषु प्रथमो नकारो णत्वमाप्नोति ।
स च प्राकृतः । लिङ्सङ्ख्याताद्धितकृतरूपभेदाः प्रवादाः ।
यथा—पाणि ‘सुपाणिस्स्वङ्गुरिः’^{११} । ‘हिरण्यपाणिम्’^{१२} । ‘वृष-
पाणयः’^{१३} । गण—‘दूरे अमित्रश्च गणः’^{१४} । ‘गणेन गणम्’^{१५} । ‘ग-
णा मे मा’^{१६} । ‘गणानां त्वा गणपतिम्’^{१७} । पुण्य—‘स पुण्यो भव-
ति’^{१८} । ‘पुण्यान्लोकान्’^{१९} । कण्व—‘यामस्य कण्वः’^{२०} । ‘कण्वा
अभि प्र गायत’^{२१} । काण—‘तस्यै काणः’^{२२} । ‘अकाणया’^{२३}
गाण—‘गाणपत्यान्मयोभूरेहि’^{२४} । नन्वयं गणप्रवादत्वात्पृथग्ग्रहणं
नार्हति । नैतदास्ति ॥ न ह्ययं गणशब्दस्तद्धितान्तः किन्तु गण-

- | | | |
|-------------------------|----------------|-----------------|
| १ सं. २-५-१. | २ सं. ४-१-२. | ३ सं. ४-५-१. |
| ४ ,, ६-१-१. | ५ ,, ६-२-५. | ६ सं. ७-२-४. |
| ७ सं. ७-३-२४. | ८ सं. २-३-१४. | ९ उत्तरनकारस्य. |
| १० अनियतः प्रतिसम्यन्ध. | ११ सं. ३-१-११. | १२ सं. १-४-२६. |
| १३ सं. ४-६-६. | १४ ,, ४-६-५. | १५ ,, ५-४-७. |
| १६ ,, ३-२-८. | १७ ,, २-६-२२. | १८ ,, ७-२-७. |
| १९ ,, ४-६-९. | २० ,, ४-३-२३. | २१ ,, ६-१-६. |

पतिशब्दस्य तद्धितान्तस्यैकदेशः । तस्माद्युक्तं पृथग्रहणम् ।
 वाण—‘यत्र वाणाः’^१ । ‘विशल्यो वाणवा५ उत’^२ । वेणु—‘वेणु-
 र्वेणवी भवति’^३ । “वेणुना वि मिमीते”^४ । गुण—‘यथा गुणे गु-
 णमन्वस्यति’^५ । ‘सैतद्विगुणमपश्यत्’^६ । ‘माणिना रूपाणि’^७ ।
 प्रयादेष्विति किम् ? ‘धमसो देवपानः’^८ । ‘तनूपानीः पर्यूह-
 ते’^९ । ‘पुनरूर्जा’^{१०} । ‘क्लन्येव तुष्ठा’^{११} । ‘यदग्ने यानि कानि’^{१२} ।
 ‘अयं वेनश्चोदयत्’^{१३} । ‘मन्यासं शं च नः रुधि’^{१४} ॥ ९ ॥



पणिपणिंवीयमाणऊण्योः ॥ १० ॥

पणि, पणिं, वीयमाणः, ऊण्योः एषु ग्रहणेषु णकारः
 प्रकृत्यैव विज्ञेयः । अप्रवादार्योऽयमारम्भः । “अग्ने देव पणिभिः”^{१५} ।
 “पणिं गोषु स्तरामहे”^{१६} । “वीयमाणः । तं त एतम्”^{१७} । ‘ऊ-
 ण्योः कचिक्रतुम्’^{१८} ॥ १० ॥

पणित्यादिषु नकारो णत्वमाप्नोति । स च प्राकृतः । यथा-
 पणि—‘आग्ने देव पणिभिः’^{१५} । पणिम्—‘पणिं गोषु’^{१६} । उभयग्रहणं
 ‘यद्ध स्या ते पनीयसी’^{१८} इत्यादौ णत्वनिवृत्त्यर्थम् । वीयमाणः—
 ‘पणिभिर्वीयमाणः’^{१७} । ऊण्योः—‘ऊण्योः कचिक्रतुम्’^{१८} ॥ १० ॥



| | | |
|---------------|----------------|----------------|
| १ सं. ४-६-४. | २ सं. ४-५-१. | ३ सं. ५-१-१. |
| ४ सं. ५-२-५. | ५ ,, ७-२-४. | ६ सं. ५-२-५. |
| ७ सं. ७-३-१४. | ८ सं. २-५-९. | ९ सं. ५-७-३. |
| १० सं. १-५-३. | ११ सं. ३-१-११. | १२ सं. ४-१-१०. |
| १३ सं. १-४-८. | १४ सं. ३-३-११. | १५ ,, १-१-१३. |
| १६ ,, २-६-११. | १७ ,, १-२-६. | १८ ,, ४-४-४. |

टवर्गपरः ॥ ११ ॥

टवर्गपरो णकारः प्रकृत्यैव वेदितव्यः । “ श्रितिकण्ठाय च ”^१ ।
 “ कण्डूयेत पामनं भावुकाः ”^२ । टवर्गः परो यस्मात् सः,
 तथोक्तः ॥ ११ ॥

टवर्गे परतो नकारो णत्वमाप्नोति स च प्राकृतः । ‘ शुण्ठो
 दक्षिणा ’^३ । ‘ पिण्डान् प्र यच्छति ’^४ । एतत्पर इति किम् ? ‘ अन्या
 वो अन्यामवतु ’^५ ॥ ११ ॥

चङ्कुणफणत्स्थूणौहिणुयाद्धिणोतिकौणेयोऽ-
 णिष्ठाउल्वणमुगणाश्रुतिश्रुपुणीकावाणि-
 जायाणवश्चाट्णारस्स्थानुंतूणवेवीणा-
 यामश्लोणयापणेतवाणीःकल्याणीकुण -
 पंवाणश्शतशोणाश्रुतिर्धाणिकामेणी ॥

१२ ॥

चङ्कुण, फणत्, स्थूणौ, हिणुयात्, हिणोति, कौणेयः, अणि-
 ष्ठाः, उल्वणम्, उगणाश्रुतिः, चुपुणीका, वाणिजाय, अणवश्च, आ-
 ट्णारः, स्थानुं, तूणवे, वीणायां, अश्लोणया, पणेत, वाणीः,
 कल्याणी, कुणपं, वाणश्शत, शोणाश्रुतिः, धाणिका, मेणी

^१ सं. ४-६-५.

^२ सं. ६-१-३.

^३ सं. १-८-१७.

^४ सं. २-३-८.

^५ सं. -४-२-९.

एषु ग्रहणेषु णकारः प्रकृत्यैव वेदितव्यः । यथा—“अवभृथ
 नि चङ्कुण ”¹ । “अन्वापनीफणत् ”² । “अयस्स्यूणावुदितौ ”³ ।
 “आतृव्याय प्र हिणुयात् ”⁴ । “एवासौ प्रहिणोति ”⁵ । “रज-
 नो वै कौणेयः ”⁶ । “येऽणिष्ठास्तान् ”⁷ । “यज्ञ उल्वणं
 क्रियते ”⁸ । यत्रयत्र श्रुतिः उगणाग्रहणस्य तत्रतत्र णत्वं
 करणीयम् । यथा—“आव्याधिनीरुगणा उत ”⁹ । “उगणाभ्य-
 स्तृहतीभ्यः ”¹⁰ । “चुपुणीका नामासि ”¹¹ । “वाणिजाय कक्षा-
 णां पतये ”¹² । “प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे ”¹³ । चेति किं ?
 “अनवस्ते रथम् ”¹⁴ । “एतं वै पर आट्टणारः ”¹⁵ । “यस्था-
 णुहन्ति ”¹⁶ । “या तूणवे ”¹⁷ । “या वीणायाम् ”¹⁷ । “अश्लोण-
 याऽससशफया ”¹⁸ । “पणेतागोअर्धम् ”¹⁹ । “इन्द्रं वाणीरनू-
 पत ”²⁰ । “कल्याणी रूपसमृद्धा ”²¹ । “पुरुपकुणपमश्वकुणपम् ”²² ।
 “वाणश्शततन्तुर्भवति ”²³ । शतेति किं ? “ऋतावानश्चयमानाः ”²⁴ ।
 “शोणा धृष्णू ”²⁵ । श्रुतिरिति किं ? “शौणाय स्वाहा ”²⁶ ।

1 सं. १-४-४५.

4 „ २-२-६.

7 „ २-५-५.

10 „ ४-६-४.

13 „ ४-७-४.

16 „ ७-३-१.

18 „ ६-१-१०.

22 „ ७-२-१०.

25 „ ७-४-२०.

2 सं. २-७-८.

5 „ २-२-६.

8 „ ३-४-३.

11 „ ४-४-५.

14 „ १-६-१२.

17 „ ६-१-४.

20 „ १-६-१२.

23 „ ७-६-९.

26 „ ७-३-१८.

3 सं. १-८-१२.

6 „ २-३-८.

9 „ ४-१-१०.

12 „ ४-६-२.

15 „ ५-६-५.

18 „ ६-१-६.

21 „ ७-१-६.

24 „ २-१-११.

" निजल्गुलीति धाणिका " ¹ । " वनस्पतीनामेणी " ² । मकारेण किं ! " उभयतएनी स्यात् " ³ ॥ १२ ॥

चक्रुणेत्यादिषु नकारो णत्वमाप्नोति । स च प्राकृतः ।
चक्रुण—'अवभृथ नि चक्रुण' ⁴ । फणत्—'अन्वापनीफणत्' ⁵ । स्थू-
णौ—'अयस्स्थूणायुदितौ' ⁶ । हिणुयात्—'आलुव्याय प्र हिणुयात्' ⁷ ।
हिणोति—'एवास्मै प्र हिणोति' ⁸ । कौण्यः—'रजनो वै कौण्यः' ⁹ ।
अणिष्ठाः—'येऽणिष्ठास्तान्' ¹⁰ । उल्वणम्—'यदेव यज्ञ उल्वणं
क्रियते' ¹¹ । 'अनुल्वणं वयत' ¹² । उगणाश्रुतिरिति श्रुतिग्रहणादप-
दात्मकमपि गृह्यते 'उगणा उत' ¹³ । 'नम उगणाभ्यः' ¹⁴ । चुपुणीका-
'चुपुणीका नामासि' ¹⁵ । वाणिजाय—'मन्त्रिणे वाणिजाय' ¹⁶ । अणव-
श्च—'प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे' ¹⁷ । 'चेत्युपवन्धेन किम् ? ' अन्-
वस्ते रथम्' ¹⁸ । आद्गारः—'एतं वै पर आद्गारः' ¹⁹ । स्थाणुम्—
'यस्स्थाणुः हन्ति' ²⁰ । तूणवे—'या तूणवे' ²¹ । वीणायाम्—'या
वीणायाम्' ²² । अश्लोणया—'अकाणयाऽश्लोणया' ²³ । पणेत—
'क्रीणामीति पणेत' ²⁴ । वाणीः—'इन्द्रं वाणीरनूपत' ²⁵ । कल्या-
णी—'कल्याणी रूपसमृद्धा' ²⁶ । 'कल्याणी कीर्तिः' ²⁷ । कुणपम्—
'एष ह वै कुणपमंति' ²⁸ । वाणश्शत—'वाणश्शततन्तुर्भवाति' ²⁹ ।

१ सं ७-४-१९.

२ सं ६-५-१५.

३ सं ७-१-६.

४ सं १-४-४५.

५ सं. १-७-८.

६ सं १-८-१२.

७ सं. २-२-६.

८ सं. २-२-६.

९ सं. २-३-८.

१० सं. २-५-५.

११ सं. ३-४-३.

१२ सं. ४-१-१०.

१३ सं ४-५-४.

१४ सं ४-४-५.

१५ सं ४-६-२.

१६ सं. ४-७-४.

१७ सं १-६-१२.

१८ सं. ५-६-५.

१९ सं. ७-३-१.

२० सं. ६-१-४.

२१ सं ६-१-६.

२२ सं ६-१-१०.

२३ सं. १-६-१२.

२४ सं. ७-१-६.

२५ सं. ७-२-१०.

२६ सं. ७-५-९.

शतेति किम् ? 'ऋतावानश्चयमानाः' ^१ । शोणाश्रुतिरिति धूतिग्रह-
णादपदात्मकेऽपि भवति । 'शोणा धृष्णू नृवाहसा' ^२ । 'शोणाय
स्वाहा' ^३ । धाणिका—'निजल्गुलीति धाणिका' ^४ । मेणी—'व-
नस्पतीनामेणी' ^५ । मकारोपबन्धेन किम् ? 'उभयतपेनी स्यात्' ^६ ॥

—०—

अवग्रहो वृषण्छीर्षण्ब्रह्मण्णक्षण्चर्मण्चर्पण् ॥

॥ १३ ॥

वृषण्, शीर्षण्, ब्रह्मण्, अक्षण्, चर्मण्, चर्पण् एतेषु ग्र-
हणेष्ववग्रहस्थो णकारः प्रकृत्यैव विज्ञेयः । "वातो अपां वृष-
णान्" ^७ । "शीर्षणान्मेध्यो भवति" ^८ । "ब्रह्मणुन्तो देवाः" ^९ ।
"अक्षण्वते स्वाहा" ^{१०} । "चर्मणुते स्वाहा" ^{११} । चर्पणग्रहणस्य
शाखान्तरे विज्ञेयमुदाहरणम् । "मित्रस्य चर्पणीधृतः" ^{१२} इति
केचिदुदाहरन्ति । तन्न साधु । "अन्तो लोपात्" (१३-१५)
इति वक्ष्यमाणप्रतिषेधप्रतिप्रसवार्थमुक्तत्वादेवां ग्रहणानां चर्पणीधृत
इत्यत्र णकारस्य पदान्तत्वाभावात् । अथवा "ऋकारर्काररप" ^{१३}
(१३-६) आदिप्राप्तेरत्र णकारो वैकृत इति शङ्कानिराकरणार्थ-
मेतानि ग्रहणानीत्यन्ये मन्यन्ते । तथासति "मित्रस्य चर्पणी-

^१ सं. २-१-११.

^२ सं. ७-४-२०.

^३ सं. ७-३-२८.

^४ सं. ७-४-१५.

^५ सं. ५-५-१५.

^६ सं. ७-१-६.

^७ सं. २-१-११.

^८ सं. ७-५-२५.

^९ सं. ६-४-२०.

^{१०} सं. ७-५-१२.

^{११} सं. ३-४-११.

धृतः¹¹ इत्युदाहरणं रमणीयम् । अवग्रह इति किं ? “वृष-
न्नग्ने विश्वान्यर्य आ¹² । “तस्मात् सप्तशीर्षन्¹³ । “ब्रह्म-
न्विशं वि¹⁴ । “अक्षन्नमीमदन्त¹⁵ । “पशूनां चर्मन्¹⁶ । अव-
ग्रहस्थोऽवग्रह इति लक्ष्यते ॥ १३ ॥

वृषणित्यादिर्योऽवग्रहस्तत्र नकारो णत्वमाप्नोति । स च
प्राकृतः । वृषण्—‘वृषण्यतीमन्वाह¹⁷ । शीर्षण्—‘शीर्षण्य-
न्मध्यः¹⁸ । ब्रह्मण्—‘ब्रह्मण्यत्योप दधाति¹⁹ । अक्षण्—‘अक्षण्यते²⁰ ।
चर्मण्—‘चर्मण्यते स्थाहा²¹ । सर्पणित्यवग्रहश्चाखान्तरे । अवग्र-
ह इति किम् ? ‘इद्यसे वृषन्²² । ‘सप्त शीर्षन् प्राणाः²³ ।
‘ब्रह्मन्नेव विशम्²⁴ । ‘अक्षन्नमीमदन्त²⁵ । ‘पशूनां चर्म-
न्मिमीते²⁶ ॥ १३ ॥

ऋणपणप्णम्णरावृण चेति प्राकृताः॥

ऋण्, पण्, प्ण्, म्ण्, रावृण् अत्र एते पदैकदेशा बहु-
पादानार्थमुक्ताः । ऋणादिष्वेपु च णकाराः प्राकृता एवेति वि-
ज्ञेयाः । ‘स्वयमातृणामुप¹¹ । ‘असंतृणो हि हन्¹² । ‘स्वय-
मातृण्य ज्योतिः¹³ । ‘अभिपण्णो यस्मात्¹⁴ । ‘निपण्णाय स्वा-
हा¹⁵ । ‘दश मासा निपण्णा आसन्¹⁶ । ‘पूष्णो रूहा अपा-

१ सं. ३-४-११.

२ सं. ४-४-४.

३ सं. ५-१-७.

४ सं. २-३-३.

५ सं. १-८-६.

६ सं. ६-१-९.

७ सं. २-६-८.

८ सं. ७-५-२५.

९ सं. ५-७-८.

१० सं. ७-५-१२.

११ सं. ५-२-८.

१२ सं. ६-२-११.

१३ सं. ५-७-६.

१४ सं. २-४-२.

१५ सं. ७-१-१९.

१६ सं. ७-५-१.

म्^{११} । 'पूष्णा सयुजा'^{१२} । 'पूष्णे प्रपथ्याय'^{१३} । 'अर्यम्णे चरुम्'^{१४} ।
 'दधिक्रावृणः'^{१५} । 'आग्रावृणः'^{१६} । प्राकृतशब्दोऽयं पाण्यादिष्वेव
 चर्पणपर्यन्तेषु मुख्यः । चतसृषु संहितासु णत्वसद्भावात् । ऋणो-
 त्यादिषु तु न मुख्यः । किन्तु प्राप्त्यभावेऽपि णत्वप्रापणार्थः ।
 तथाहि—ऋणणादौ पूर्वणकारस्य स्पर्शपरत्वान्निषेधः, उत्तरस्य तव-
 र्गीयव्यवहितत्वात् णम्णाग्रहणयोस्तु 'अलोपात्' (१३-१९)
 इति निषेधः । ग्रहणसामर्थ्यादेव णत्वं सिध्यतीति चेत्, एवं-
 स्वभावत्वेमेव ग्रहणस्यापि मूलमिति परिहारः । किञ्च—अन्वाचये
 वर्तमानश्चकारोऽप्येतेषु णत्वममुख्यमिति द्योतयति । मुख्यं चेच्चत-
 सृषु संहितासु विद्येत, न चात्र विद्यते । तथाहि—'अभिपण्ण
 इत्यभि-सन्नः',^{१७} 'निपण्णयेति नि-सन्नाय'^{१८} इत्यत्र पदसंहितायाम् ।
 पूषन्नर्यमैन्निति नकारान्तशब्दयोः 'पूष्णो रङ्गो',^{१९} 'अर्यम्णे चरुम्'^{२०}
 इत्यादिसिद्धरूपत्वादत्र वर्णसंहितायामेतत्साहचर्यादेकसूत्रस्थयोरपि ऋ-
 णपण्णयोर्वर्णसंहितायां णत्वभावो मन्तव्यः । प्रसिद्धपदसमभिव्या-
 हारेण अप्रसिद्धपदार्थसमर्पणं सर्वशास्त्रविदः सर्वे खलु स्वीकुर्वन्ते ।
 तस्मादस्मदुक्त एव युक्तः प्राकृतशब्दार्थः ॥ १४ ॥

ऋणणादिषु नकारो णकारमाप्नोति, इत्येते हिरण्मयादिषा-
 वृण्णान्ता णकाराः प्राकृता वेदितव्याः । ऋण्ण—'स्वयमात्-

सं. १-३-१०.

२ सं. ४-१-२.

३ सं. ५-३-२९.

४ सं. २-३-४.

५ सं. १-५-११.

॥ ॥ ६-३-२.

७, २-४-२.

८ सं. ७-१-१९.

णामुप दधाति ^१ । 'असंतृष्णे हि ^२ । पण्ण—'एपोऽभिपण्णः ^३ ।
 'निपण्णाय स्वाहा ^४ । ण्ण—'वृष्णो अंशुभ्याम् ^५ । 'पौष्णं
 चरु ^६ । ण्णो—'अर्यं णो चरं निः ^७ । 'इन्द्राय सुत्रां णो ^८ ।
 रावृष्ण—'दधिक्रावृष्णः ^९ । 'आग्रावृष्णः ^{१०} ॥ १४ ॥

नन्वत्र 'नकारो णकारम्' (१३-६) इत्यधिकृत्य विकारत्वेन
 विहिता हिरण्मयादिशब्देषु णकाराः प्राकृता इति विप्रतिषिद्ध-
 मिदमभिधीयते । न चानिमित्तत्वात्प्राकृतत्वं युक्तं वक्तुम् । ^१ 'हि-
 रण्मयम्', ^{११} 'धीयमाणः', ^{१२} 'हिणुयात्', ^{१३} 'वृण्ण', ^{१४} इत्यादिषु नि-
 मित्तपूर्वकत्वदर्शनात् ॥ न च पाण्यादिशब्देषु तदभावाद्युक्तम् ।
 तत्रापि तथाविधान् शब्दान् पृथगनुक्रम्य अन्ते अनिमित्तत्व-
 मेव यक्तव्यम्, न तु प्राकृतत्वम् । किञ्च—अनिमित्तस्य विधे-
 यत्वे सर्वं विधेयं स्यात् ॥

अत्रोच्यते—विकारत्वेन विहितानां णकाराणां यद्यपि मुख्यं
 प्राकृतत्वं न सम्भवति. तथाऽपि निमित्ताभावभाषित्वलक्षणं
 गौणं प्राकृतत्वमिहाश्रित्य प्राकृता इत्युच्यन्ते । न च हिर-
 ण्मयादियु असिद्धो निमित्ताभावः, हिरण्मयशब्दे तावत् 'स्पर्श-
 परः' (१३-१५) इति प्रतिषेधेन विधौ बाधिते त्वधिनियन्धनं
 निमित्तत्वमपि बाध्यते । 'धीयमाणः' ^{१२} 'ऊण्योः' ^{१५} 'हिणुयात्' ^{१३}

^१ सं. ६-२-८.^२ सं. ६-२-११.^३ सं. २-४-२.^४ सं. ७-१-१९.^५ सं. १-४-२.^६ सं. १-८-२.^७ सं. २-३-४.^८ सं. १-८-९.^९ सं. १-५-११.^{१०} सं. ६-३-२.^{११} „ २-४-१३.^{१२} सं. १-१-१३.^{१३} सं. २-२-६.^{१४} „ २-६-८.^{१५} सं. १-२-६.

‘हिणोति’ इत्यादिषु तु पूर्वपदपृथग्भावेऽपि णत्वमिष्यते । ‘वृ-
पण्’ इत्यादिषु ‘अन्तः’ (१३-१५) इति प्रतिषेधाच्चिमित्तत्व-
वाधः पूर्ववत् । ऋण्णपण्योः ‘स्पर्शपर’ (१३-१५) त्व ‘त-
वर्ग’ (१३-१५) व्यचायलक्षणात्प्रतिषेधात् । ण्णम्योः ‘भ-
लोप’ (१३-१५) लक्षणात् । रावण इत्यत्र तूभयतः । तस्मा-
च्चिमित्ताभावभावित्वलक्षणं गौणं प्राकृतत्वं सर्वत्रास्त्येव । य-
दपरमुक्तं अनिमित्तस्यापि विधेयत्वे सर्वं विधेयं स्यादिति ।
तत्र ॥ यथा हि—अनिमित्ता अपि प्रग्रहा विधीयन्ते, प्रयोज-
नसद्भावात्, एवं पाणिगणादिष्वस्तन्देहार्थं णत्वविधानमुपपद्यते ।
हिरण्मयादिषु त्वर्थात्प्रतिप्रसचात्मको विधिस्तम्पद्यते ॥ ननु
पाण्यादिषु शब्देषु कुतस्तन्देहः? तदुच्यते—अन्यत्र सर्वत्र
णकारस्य निमित्तपूर्वकत्वदर्शनात्पाण्यादिशब्देषु निमित्ताभावा-
ण्णत्वाभावशङ्कया भवेत्सन्देहः तदपनोदनार्थं तेऽपि णत्वं
विधीयते ॥ १४ ॥

न सुपुत्रोऽग्नियुष्मानीतोऽन्तोऽलोपातस्पर्शप-
रो व्यवायेषु शसचटतवर्गीयेषु ॥ १५ ॥

सुपुत्रः, अग्नि, युष्मानीतः एतेषु नकारो णत्वं नापद्यते ।
यथा—‘सुपुत्रस्तूर्यरश्मिः’^१ । ‘इन्द्राग्निभ्यां त्वा’^२ । ‘यु-
ष्मानीतो अभयम्’^३ ॥ अन्तः पदान्तो नकारो णत्वं नापद्यते ।

^१ घ. २-२-६.^२ सं. २-५-८.^३ सं. ३-४-७.^४ „ ४-४-५.^५ „ २-१-११.

‘पितृन् हविषे अत्ते’^१ । ‘प्र मृणीहि शत्रून्’^२ ॥ अलोपादकार-
लोपात्परोपि नकारो णत्वं नापद्यते । यथा—‘वृत्रघ्न इन्द्राय
त्वा’^३ । ‘वृत्रघ्नस्तोमाः’^४ । नन्वत्र निमित्तनिमित्तिनोर्भिन्नपद-
स्थत्वाद्विषमो दृष्टान्तः । सत्यत् । सिंहावलोकनन्यायेन प्रथमे
प्रश्ने सप्तमाध्यायशेषोदाहरणरूपेण घटते । तत्र च समानपद-
त्वनियमो नास्ति । घ्न इत्यस्य हन्शब्दविकृतत्वात् ‘रपःपूर्वो
हवनी,’ (७-११) इति प्राप्तिः ॥ स्पर्शपरश्च नकारो णत्वं
नाप्नोति । ‘संक्रन्दनोऽनिमिषः’^५ । ‘अव रुन्धे ताप्यम्’^६ । ‘नख-
निर्भिन्नम्’^७ । स्पर्शोऽत्राप्रसिद्धलक्षणाविषयो विवक्ष्यते । अन्यथा
‘पूर्णा पश्चात्’^८ इत्यादौ णत्वं न स्यात् । ‘रेफात् परं च’
(१४-४) इति हि प्रसिद्धलक्षणं, तन्मूलं च पूर्णेत्यत्र द्वित्वम् ।
प्रसिद्धपदेन किं ? ‘नखनिर्भिन्नम्’^७ इत्यादावपि कथञ्चिद्भ्रूलक्षणमूलत्वं
संभवति । किं तल्लक्षणमिति चेत् ? ‘द्वितीयचतुर्थयोः’ (१४-९)
इत्यत्र सूत्रे ‘व्यञ्जनोत्तरयोः’ (१४-९) इति वाचो युक्त्यन्त-
रमिति ब्रूमः । तस्य लक्षणं^९ तत्रैव स्फुटीकरिष्यते महता प्र-
बन्धेन । स्पर्शः परो यस्मादसौ, स्पर्शपरः ॥ शसचटतवर्गीयेषु
व्यवायेषु व्यवधायिकेषु सत्सु नकारो णत्वं नापद्यते । यथा—

१ स. २-६-१२.

२ सं. १-२-१४.

३ सं. १-४-१.

४ ,, ४-७-१६.

५ पदस्थत्व.

६ सं. ४-६-४.

७ ,, २-४-११.

८ स. १-८-९.

९ स. ३-५-२.

१० लक्षणत्वं.

‘रशनामा दत्ते’¹ । ‘अग्ने रसेन’² । ‘रोचन्ते रोचना दिवि’³ ।
 ‘सोम राजानम्’⁴ । ‘प्रकीडिनः पयोधाः’⁵ । ‘पृतना जयेम’⁶ ।
 ‘जनप्रथनाय’⁷ । ‘ऋकारर्कार’ (१३-९) आदिप्राप्तेः प्रतिषेधोऽ-
 यं विहितः ॥ १९ ॥

सुपुन्नः, अग्नि, युष्मानीतः इत्येतेषु नकारः समानपद-
 स्थान्निमित्ताण्णकारं नाश्रुते । सुपुन्नः—‘सुपुन्नस्सूर्यंरदिमः’⁸ ।
 अग्नि—‘इन्द्राग्निभ्याम्’⁹ । युष्मानीतः—‘युष्मानीतो अभयम्’¹⁰ ॥
 अन्त इति पदान्तो नकारः समानपदस्थान्निमित्ताण्णत्वं नाप्नो-
 ति—‘गृहान्मे तर्पयत’¹¹ । ‘अपानेन पितृन्’¹² । ‘ते देवा अहु-
 यन्’¹³ । ‘व्यानेन मनुष्यान्’¹⁴ ॥ अलोपादिति—अन्नन्तस्य प्रातिप-
 दिकस्य भसंज्ञाविषये ‘अलोपोऽनः’¹⁵ इति मूलशास्त्रविहिता-
 दकारलोपात्परो नकारः समानपदस्थान्निमित्ताण्णत्वं नाप्नोति ।
 अत्र ‘प्रतिदीप्तः प्रतिदीप्ता’¹⁶ इति शास्त्रान्तरीयमुदाहरणम् ।
 वृत्रघ्ने’¹⁷ । ‘वार्त्रघ्नः’¹⁸ इत्यादि तु नोदाहरणम्, समानपदनिमित्ता-
 भावेन प्राप्यभावात् । नापि नानापदीयनिमित्तकं णत्वविधान-
 मस्यास्तीत्युपपादितम् । तत्सद्भावकल्पनायामपि सप्तम एवा-
 ध्याये तत्प्रतिषेध्यम् । न च तथोक्तं सूत्रकृता । तस्मान्नाय-

¹ सं. ६-३-६.² सं. १-४-४६.³ सं. ७-४-२०.⁴ „ १-७-१०.⁵ „ ४-३-१३.⁶ „ ३-५-३.⁷ „ ३-२-८.⁸ „ ३-४-७.⁹ „ ४-४-६.¹⁰ „ २-१-११.¹¹ „ ३-१-८.¹² „ १-७-२.¹³ „ २-६-६.¹⁴ पा. ६-४-१३४.¹⁵ ‘प्रतिपिप्तः प्रतिपिप्ता’.¹⁶ „ १-४-१.¹⁷ „ १-८-१५.

मर्थोऽभिमतस्तस्य ॥ स्पर्शपर इति—स्पर्शात्पूर्वो नकारः समा-
नपदस्थाग्रिमित्ताण्णत्वं नामोति । 'ग्रीवा अपि कृन्तामि'^१ ।
'ग्रन्थि ग्रन्थातु'^२ । 'अमीष्टकां तृन्दन्ति'^३ । 'तदंवाव रुन्धे'^४ ।
'नखनिर्भिन्नम्'^५ ॥ तथा शकारसकाराभ्यां चवर्गादिभिश्च त्रि-
भिवर्गः व्यवाये^६ नकारः समानपदस्थाग्रिमित्ताण्णत्वं नामोति ।
श—'रशनामा दत्ते'^७ । स—'रसेन तेजसा'^८ । चवर्गः—'इन्द्राग्नी
रोचना दिवः'^९ । 'सोमः राजानम्'^{१०} । टवर्गः—'इष्टेन एकम्'^{११} ।
'अधिष्ठानमारम्भणम्'^{१२} । तवर्गः—'जयत्येव तां पृतनाम्'^{१३} । 'अ-
चिता रथानाम्'^{१४} । 'नखनिर्भिन्नम्'^{१५} ॥ १६ ॥

पृक्तस्वरात्परो ङो ङं पौष्करसादेः पौष्कर- सादेः ॥ १६ ॥

पृक्तस्वरात् ऋकारात् परो ङकारो दुस्स्पृष्ट^{१५}संज्ञो ङकारमाप-
द्यते, पौष्करसादेर्मते । यथा—'मृडातीदृशे'^{१६} । पृक्तस्वरादिति
किं ? 'नळं प्लवम्'^{१७} इति शाखान्तरे । पौष्करसादिग्रहणं
पूजार्थं न तु विकल्पार्थम् । मूर्धस्थानतया दुस्स्पृष्ट^{१५}ङङकारयोः^{१८}
सादृश्यमस्तीति व्याकरणानुसारी सूत्रपाठोऽयम् । कथमनुसारित्व-

- | | | |
|---------------|---------------|-----------------------------------|
| १ सं. १-२-६. | २ सं. १-१-२. | ३ सं. ५-६-४. |
| ४ ,, २-३-७. | ५ ,, १-८-९. | ६ चकारादिभिः पञ्चदशभिर्व्यवाये च. |
| ७ ,, ६-३-६. | ८ ,, १-४-४६. | ९ ,, ४-२-११. |
| १० ,, १-७-१०. | ११ ,, ७-३-११. | १२ ,, ४-६-२. |
| १३ ,, ३-४-४. | १४ ,, ४-६-४. | १५ ,, दुस्स्पृष्ट. |
| १६ ,, १-१-१४. | १७ आ. ४-७. | १८ दुस्स्पृष्टङङकारयोः. |

मिति चेत् ? तथाहि—‘स्थानेऽन्तरतमः’^१ । स्थाने प्राप्यमाणानां वर्णानामन्तरतमस्सदृशतम आदेशो भवतीति ॥

सूत्रस्य पाठान्तरमपि व्याख्यायते—‘पृक्तस्वरात्परो लो ङं पौष्करसादेः’ अत्र समानपद इत्यस्यानुवर्तनं विज्ञेयम् । पौष्करसादेः शाखिनः समानपदे पृक्तस्वरादकारात्परो लकारो ङकारमापद्यते । यथा—‘ते नो मृडयन्तु’^२ । पृक्तस्वरादिति किं ? ‘इलान्दं भवति’^३ । समानपद इति किं ? ‘पितृलोकं सेमेन’^४ । सहचरितत्वादेकस्य निषेद्धे इतरस्यापि ‘पितृलोककामस्य’^५ इत्यस्य समानपदत्वे सत्यपि निषेधो भवति । इदमपि पाठान्तरं ब्रह्मादृतम् ॥

इति त्रिभाष्यरत्ने प्रातिशाख्यविवरणे त्रयोदशोऽध्यायः.

पृक्तस्वरो नाम ऋकारः लृकारश्च, रेफलकारसंपृक्तत्वात् । तस्मात्परो ङकारः ङकारमाप्नोति पौष्करसादेर्मतात् । ‘मृडातोदशे’^६ । ‘तया नो यद् मृडय’^७ । पौष्करसादिग्रहणं पूजार्थम् ॥ १६ ॥

इत्याचार्यगार्ग्यगोपालमिश्रविरचिते वैदिकामरणाख्ये
प्रातिशाख्यन्याय्याने त्रयोदशोऽध्यायः.

^१ वा. १-१-५०.

^२ म. २-६-२.

^३ ,, ४-६-१.

^४ अ. ४-४-१.

^५ ,, ६-६-४.

^६ अ. २-२-९.

^७ ,, १-१-१४.

अथ चतुर्दशोऽध्यायः.

स्वरपूर्वं व्यञ्जनं द्विवर्णं व्यञ्जनपरम् ॥ १ ॥

स्वरपूर्वं व्यञ्जनं व्यञ्जनपरं द्विवर्णमापद्यते । यथा—“उरु-
पूमथस्व”^१ । एवम्पूर्वं इति किं? “तत् प्रवाते”^२ । व्यञ्जनपरं
इति किं? “उरुरुदुरुगस्कृधि”^३ । व्यञ्जनमिति किं? “प्रउग-
मुक्थम्”^४ । स्वरः पूर्वो यस्मात् तत् स्वरपूर्वम् । व्यञ्जनमस्मात् परं
इति व्यञ्जनपरम् । द्वयोर्वर्णयोः समाहारो द्विवर्णम् ॥ १ ॥

स्वरे पूर्वं व्यञ्जने च परे तन्मध्यवर्ति व्यञ्जनं द्विवर्णं
रूपद्वयमश्नुते । ‘अक्क५ रिहाणाः’^५ । ‘आज्जचमसि’^६ । ‘एक-
व्वता देवाः’^७ । ‘ता वैदेह्योऽभवन्’^८ । तथा अनुस्वारस्य तु
परसूत्रविधेयत्वेन अव्यवधायकत्वमुक्तमष्टमाध्याये । तेनानुस्वा-
रात्परस्य संयोगादेरनेन विधिना द्वित्वं भवति । ‘इन्द्र५ स्व-
राजानम्’^९ । ‘संवत्सरोणा५ स्वास्तिम्’^{१०} । अनुस्वारस्य तु पर-
सूत्रविधेयस्यापि संयोगपरत्वे द्वित्वमिष्यते—

अनुस्वारो द्विरुच्येत संयोगे परतस्स्थिते ॥

इति शिक्षावचनात् ॥ एकव्यञ्जनपरस्य तु न भवति । ‘माऽ-
ग्रश५सः’^{११} । ‘प्रत्युष्ट५ रक्षः’^{१२} ॥ १ ॥

^१ सं. १-१-८.

^२ सं. ६-४-७.

^३ सं. २-६-११.

^४ सं. ४-४-२.

^५ „ १-१-१३.

^६ „ १-६-१.

^७ „ ६-२-६.

^८ „ २-१-४.

^९ „ २-३-६.

^{१०} „ ३-१-९.

^{११} „ २-१-१.

^{१२} „ १-१-२.

लवकारपूर्वस्पर्शश्च पौष्करसादेः ॥ २ ॥

चोच्चारसादेः नन्वे लकारपूर्वो वकारपूर्वो वा स्पर्शो द्विवर्णमापद्यते ।
यथा—“कल्पाञ्जुहोति”^१ । “विभूदावृत्ते”^२ । स्वरपूर्वत्वं द्वित्वं
चान्वादिशति चकारः । स्पर्श इति किं? “कल्याणी रूपसमृद्धा”^३
“वायव्यम्”^४ । एवम्यपूर्वं इति किं? “कूश्माञ्छकभिः”^५ । “तत्त्वदै
वद्गोत्तमि”^६ । लकारश्च वकारश्च लवकारौ, तौ पूर्वौ यस्मान्न तः
उपोक्तः ॥ २ ॥

चशब्दस्तमुच्यते । लवकाराभ्यां परस्पर्शो द्वित्वमङ्गते ।
चशब्दाद्भवकारौ च । ‘यद्विरग्यशलकैः’^७ । ‘तद्रुल्लगु’^८
‘वनुल्लवणं वयत’^९ । ‘यद्वल्मीकः’^{१०} । ‘दधिक्रावृष्णः’^{११} । ‘ए
यत्पोभदावृत्ते’^{१२} । लवकारपूर्वं इति किम्? श्रूयतान्—स्वरपू
र्वप्रहपनुत्तरार्थमिहानुवर्तते । तत्र यथान्यासे स्वरपूर्वाभ्यां त
वाभ्यां परस्पर्श इति योजना । लवकारपूर्वप्रहजानावे उ
त्तरपूर्वः स्पर्श इति स्यात् । तत्तु पौष्करसादेरपि नैव ।
तन्ना भूदिति तदुच्यते । स्पर्श इति किम्? ‘विशतभो
दाजवान्’^{१३} । ‘यव्वचायै गव्वचायै’^{१४} । नेदं सूत्रमिष्टम् ॥ २ ॥

१ सं. ५-४-८.

४ „ १-८-७.

२ „ ५-४-२.

१० „ ५-१-२.

१५ इरनु.

२ सं. ३-५-८.

५ „ ५-७-२३.

३ „ ६-२-८.

११ „ १-६-११.

१६ „ ४-५-१.

३ सं. ७-१-६.

६ „ ६-१-१६.

८ „ ३-४-२.

१२ „ १-१-११.

१३ „

स्पर्श एवैकेपामाचार्याणाम् ॥ ३ ॥

एकेषां आचार्याणां मते लवकारपूर्वः स्पर्श एव द्विवर्णत्वमाप्नोति । अनेनावधारणेन सूत्रान्तरारम्भणेन च पोष्करसादिमते लवकारयोश्च द्वित्वमस्तीति गम्यते । इदमेव सूत्रमिष्टं न तु पूर्वसूत्रम् । पूर्वोक्ता-
न्येवोदाहरणानि ॥ ३ ॥

एकेपामाचार्याणां मते लवकाराभ्यां परस्स्पर्श एव द्वित्व-
मश्नुते न तु तौ लकारवकारावपि । तान्येवोदाहरणानि ॥ ३ ॥

रेफात्परं च ॥ ४ ॥

रेफात्परं व्यञ्जनं द्विवर्णमापद्यते । यथा—‘अर्चन्त्यर्कमर्किणः’^१ ।
‘अक्षर्चेण वे’^२ । ‘ऊर्म्वा उदुम्बरः’^३ । स्वरपूर्वत्वाद्वित्वयोः आकर्षकः
चकारः । ननु व्यञ्जनपरत्वाकर्षकः किं न स्यात् ? नेति ब्रूमः । निय-
माभावात् । तथाहि—“अथ न” (१४-१४) इत्युत्तरत्राधिकारे नि-
षेधः “अवसन्ति” (१४-१५) “ऊर्म्मा स्वरपरः” (१४-१६) इति ।
एतन्निषेधद्वयेन रेफात्परस्य व्यञ्जनस्य व्यञ्जनपरत्वे स्वरपरत्वे
तदभावे च द्वित्वमस्तीति निश्चीयते । कथम् ? अप्रसक्तप्रतिषेधा-
नुपपत्तेः । स्वरपूर्वत्वात्वादेशेन किं ? “व्रचम्बकम्”^४ इत्यादौ
मा भूदिति । किञ्च—“अचो रहाम्यां द्वे”^५ इति पाणिनीयसूत्रे-

१ स. १-६-१२.

२ स. ७-५-९.

३ स. ५-१-१०.

४ स. १-८-६.

५ पा. ८-४-४६.

णापि स्वरपूर्वत्वे सत्येव द्वित्वं विधीयते । तस्यायमर्थः—अच
उत्तरो यो रेफहकारो ताम्यामुत्तरस्य यरो द्वे भवत इति । त-
त्रापि स्वरपूर्वत्वं दृश्यते । केचिदेवमूचुः—स्वरपूर्वादि^१ शब्दवदरेफ-
पूर्वमिति वाच्ये रेफात्परमिति वाचोयुक्तचन्तरमर्थान्तरं समर्थयति^२ ।
“अहर्देवानाम्”^३ इत्यादौ वैकृतेरेफादुत्तरस्य न स्यात् द्वित्व-
मिति । तदेतदध्ययनविरुद्धपद्धतिमध्यास्ते । वयं तु वदामो वाचो-
युक्तचन्तरप्रयोजनम्—रेफपूर्वमित्युक्ते विरुद्धविग्रहेण सूत्रं सन्दिग्धं
स्यात्, रेफात् पूर्व रेफपूर्वमिति भवति एष विग्रह इति चेत्,
अध्यायादिसूत्रेणैतत् गतम् । ततः पौनरुक्त्यमस्य सूत्रस्यापद्येत ।
ननु पौनरुक्त्यभयादेव विरुद्धविग्रहं निवारयामः । नेयं सरला
वृत्तिः । “प्रक्षालनाद्धि पङ्क्तस्य दूरादस्पर्शनं वरम्” इति न्या-
यात् । अत्र विरुद्धशङ्कालेशोपि नावकाशं लभतामिति वाचो-
युक्तचन्तरेण सूत्रमाचार्यः प्रोवाच ॥ ४ ॥

चशब्देन स्वरपूर्वं व्यञ्जनं द्विचर्णमित्येतानि पदान्यन्वादि-
श्यन्ते न स्पर्शः । कुतः ? परमिति नपुंसकनिर्देशात् । अत्र
रेफपूर्वं चेति बहुमीहिनिर्देशे कर्तव्ये रेफात्परमिति व्यस्तनिर्देशः
क्रियते; अन्यादेशालभ्यस्वरपूर्वशब्दो रेफविशेषणं यथा स्या-
दिति । तदयमर्थः—स्वरपूर्वाद्रेफात्परं व्यञ्जनं द्वित्वमश्नुते ।
तयोक्तं मूलशाखे—“अचो रहाभ्यां द्वे” इति । तद्यथा—“म-
जांय त्या”^४ । “एषमोनुष्टुप्”^५ । “ऊर्मिणीर्ममधुमत्तमाः”^६ । “अध्य-

^१ मारपूर्वादि.

^३ ग. १-१-१.

.. १-१-२.

^२ “प्रधान्तरस्वोदाहरणमच्यते” इत्यादिः पाठः.

^४ पा. ८-४-४६.

^५ ग. १-१-२.

^६ ग. १-४-१.

यर्धुर्वा अतिजाम्^१ । 'दादृश्यम्'^२ । 'नमो वप्प्याय च'^३ । स्वरपूर्-
 र्वादिति किम् ? 'त्रयम्यकं यजामहे'^४ । व्यञ्जनपरमिति तु नान्वा-
 दिदयते ; अवसाने द्वित्वप्रतिषेधसामर्थ्यात् । तत्र ह्यनेनैव सूत्रे-
 ण प्राप्तिः ॥ ४ ॥

—0—

द्वितीयचतुर्थयोस्तु व्यञ्जनोत्तरयोः पूर्वः ॥५

स्वरपूर्वयोर्व्यञ्जनोत्तरयोर्द्वितीयचतुर्थयोस्तु पूर्व आगमो भवति ।
 यथा क्रमेण द्वितीयस्य प्रथमः, चतुर्थस्य तृतीयः । यथा—“विक-
 ख्याय चक्षुषा त्वमभि तिष्ठ”^५ । “मेग्म्या विद्युतो वाचः”^६ ।
 द्वितीयचतुर्थयोरिति किं ? “आद्यमस्यान्नम्”^७ । एवम्पूर्वयोरिति किं ?
 “वद्वथ स्वयमभिगूतयि नमः”^८ । “पद्भ्यां द्वे सवने”^९ । एव-
 म्परयोरिति किं ? “उखाये सद्ने”^{१०} । “मेषायते स्वाहा”^{११} ।
 प्रथमसूत्रेण प्रसक्तं द्वित्वं निवर्तयति तुशब्दः । अन्ये त्व-
 न्यथा मन्यन्ते पूर्वागमस्य द्वित्वं निवारयतीति । नेतत्सारम् ।
 “सवर्णसवर्गीयपर” (१४-२२) इत्युत्तरत्र निषेधादेव तस्य
 निवृत्तेः^{१२} ॥

अत्र केचिदाहुः—व्यञ्जनपरयोः इति वाच्ये वाचोयुक्तचन्तरम-
 र्थान्तरं सूचयति । सांहितासांहितसाधारणं परानेमित्तमुक्तं,

^१ सं. ३-१-१०.

^२ सं. ३-२-२.

^३ सं. ४-५-७.

^४ सं. १-८-६.

^५ सं. ४-१-२.

^६ सं. ५-२-११.

^७ सं. २-२-६.

^८ सं. ३-२-८.

^९ सं. ६-१-६.

^{१०} सं. ४-१-९.

^{११} सं. ७-५-११.

^{१२} तन्निवृत्तेः.

तत् इहान्यतरस्याममनिमित्तत्वे प्राप्तेऽसांहितपदानां^१ नित्यत्वा-
 त्त्तद्रूपमेव न्यास्यमिति कृत्वा वैकृतव्यञ्जनपरत्वे सति नैत-
 द्विधानं भवति । यथा—“अभ्यस्थात्”^२ इत्यादि । नायं
 पक्षः । अध्ययनविरोधात् मूलसूत्रविरोधाच्च । तथाहि—मूलसूत्रे
 खरपूर्वत्वे व्यञ्जनमात्रपरत्वे च सति विहितं द्वित्वमत्र निषिध्यते ।
 न तु तत्र व्यञ्जनं विशेषितम् तदपवादकत्वादत्रापि तद्विशेषो
 वक्तुमयुक्तः । शिक्षादिपरीक्षणादध्ययनानुरोधाच्च वाचोयुक्तचन्तरा-
 भिप्रायोऽस्माभिरभिधीयते अपवाद्यापवादकयोरनयोर्नियमो नास्ति,
 किमिति—खरपूर्वत्वे सति व्यञ्जनपरमेव व्यञ्जनं द्वित्वं भजते,
 द्वितीयचतुर्थौ तु व्यञ्जनपरावेव पूर्वांगमं भजत इति । किन्तु
 प्राचुर्याभिप्रायेणेदं सूत्रद्वयं प्रवृत्तम् । कथं नियमाभावः ? अन्यथाऽपि
 कुत्रचित् कार्यद्वयदर्शनात् । “अत्ता हवींश्चि”^३ । “अन्नपत्ते”^४
 इत्यादौ द्वित्वम् । “प्रच्छच्छन्दः”^५ । “आद्वि त्वं देव प्रयता”^६ इत्यादौ
 पूर्वांगमः । “ता हस्ते”^७ इत्यत्र तु प्राप्ते सत्यामपि नेदं
 कार्यं दृश्यत इति च नियमाभावः । शिक्षा चैवं वक्ष्यति—
 खरात् पूर्वस्य वर्णस्य कचिद्वित्वं च कस्यते ।

न च वर्गद्वितीयस्य न चतुर्थे कथञ्चन ॥^८

व्याख्यातं च वचनमेतद्विद्वद्भिः—

^१ अगाहितानां.

^२ स. ४-२-८.

^३ च.

^४ स. २-१-१२.

^५ स. ४-२-१.

^६ स. ४-३-१२.

^७ स. १-१-२.

^८ कदाचन.

कुत्रचित् खरयोर्मध्ये द्वित्वं लभ्यानुसारतः ।

पूर्वागमस्तथा तत्र ज्ञेयो वर्णविचक्षणैः ॥

एवंरूपमनियमं सूचयितुं व्यञ्जनोत्तरयोरिति युक्तचन्तरस्वीकारः^१ ।

व्यञ्जनमुत्तरं याभ्यां तौ व्यञ्जनोत्तरो, तयोः ॥ ५ ॥

तुशब्दो द्वित्वं निवर्तयति । द्वितीयचतुर्थयोस्तु व्यञ्जनो-
त्तरत्यनिमित्तं द्वित्वं न भवति । किन्तु तस्मिन् विषये तस्मा-
त्तस्मात्पूर्वो वर्ण आगमो भवति । यथा—‘व्यव्यन्महिपः’^२ । ‘यदा-
पो अग्नियाः’^३ । ‘पाभ्यंत आच्छद्यति’^४ । ‘शिशवो न शुभ्राः’^५ ।
नन्वयं द्वितीयचतुर्थयोः पूर्ववर्ण आगमः किं पुरस्ताद्भवति ? उत्तो-
परिष्टात् ? तदुच्यते—पूर्वं इति तन्त्रेण शब्दद्वयमिहोपात्तम् ।
तेन पूर्ववर्णागमः तस्मात्तस्मात्पूर्वो भवतीति च सिद्ध्यति ।
द्वितीयचतुर्थयोरिति किम् ? ‘योनिश्शपयम्’^६ । ‘याचजैवास्वैपा’^७ ।
व्यञ्जनोत्तरयोरिति द्वित्वविषयनिर्देशेन किम् ? ‘उद्गात्रा सङ्ख्या-
पयति’^८ । अत्र केचिद्व्याचक्षते—व्यञ्जनपरमिति प्रथमसूत्रनि-
र्दिष्टं निमित्तमत्र व्यञ्जनोत्तरयोरिति शब्दान्तरेणानुबदन् सूत्र-
कारः अनयोऽभयोऽसूत्रयोः अव्याप्त्यादिदोषप्रस्ततां दर्शयति ।
तेन ‘अत्वफकाय’^९ ‘नीचादुश्वा’^{१०} ‘अत्ता हवीऽपि’^{११} इत्यादौ
व्यञ्जनपरत्वाभावेऽपि ककारादीनां द्वित्वं सिद्धं भवति ; अव्या-
प्तत्वात्प्रथमसूत्रस्य । तथा—‘सूकः सऽशाय’^{१२} इत्यादौ अनुस्वा-
रस्य द्वित्वाभावश्च सिद्धो भवति, अतिव्याप्तत्वात् । एवम्—

^३ उत्तरस्वीकारः

^२ स. १-५-३.

^३ सं. १-३-११.

^४ स. ६-३-९.

^५ स. ४-३-१३.

^६ „ ५-६-९.

^७ स. १-५-७.

^८ सं. ६-५-८.

^९ सं. ७-५-१२.

^{१०} सं. २-३-१४.

^{११} स. २-६-३२.

^{१२} सं. १-६-१३.

‘अक्खिद्रा अजायन्त’¹ । ‘समिद्धो अजन्’² इत्यादौ पूर्वागमश्च
 सिद्धो भवति; शब्दाप्तत्वादस्य सूत्रस्य । सोऽयं शास्त्रतात्पर्या-
 नवगतिमूलस्य परिहाराप्रतिभानस्य प्रभावः³ यत्समानार्थस्य
 शब्दान्तरस्य प्रयोगं व्याजीकृत्य सूत्रद्वयं दूष्यते । तथाहि—
 न हि समानार्थशब्दान्तरयोगोऽर्थान्तराय कल्पते । तथात्वे पर्या-
 यशब्दोत्सादप्रसङ्गात् । तथा—‘वर्णः कारोत्तरो वर्णाख्या’ (१-१६)
 ‘ह्रस्वो वर्णोत्तरस्त्रयाणाम्’ (१-२०) इत्यादिषु न कश्चिद्विशेषो
 विद्यते । एवं मूलशास्त्रे ‘वा’ ‘उभयथा’ ‘अन्यतरस्याम्’ इति
 गुरुतरगुरुतमशब्दप्रयोगेऽपि ॥ एकव्यञ्जनपरेऽनुस्वारे अतिप्रसङ्ग-
 स्तु नास्त्येयं, तस्य परसूत्रविधेयत्वात्⁴ । संयोगपरे तु द्वित्वं
 शिक्षावचनेन साधितम् । शिक्षोक्तविशेषस्य च ग्राह्यत्वं द्विती-
 याध्याये ‘उरः कण्ठदिशरां मुखम्’ (१-३) इत्युरोग्रहणसाम-
 र्थ्यात्तिद्धम् । यदपरमुक्तम्—‘अत्यकाय’⁵ । ‘अक्खिद्राः’⁶ इत्या-
 दावव्याप्तिरिति, तत्र वदामः इह खल्यप्राप्तप्रापणार्थमसन्देहार्थं
 च द्वित्यादिकार्यं विधीयते । यथा—‘इमे त्वा’⁷ । ‘पशून्पाहि’⁸ ।
 ‘ऋतमस्यूतसदनमसि’⁹ । ‘अन्वह भासाः’¹⁰ इत्येवमादिषु द्वित्वमप्राप्त-
 प्रापणार्थं पदावस्थायामभावात् । ‘ऊर्जस्वतीः’¹¹ । ‘रयिमस्मै’¹² ।
 ‘अश्मा भवतु’¹³ । ‘अन्या यो अन्यामवतु’¹⁴ इत्यादावसन्देहा-
 र्थम् । एवं पूर्वागमश्च ‘अनुस्यातारम्’¹⁵ । ‘आछयति’¹⁶ । ‘अ-
 न्योचतु’¹⁷ इत्यादावप्राप्तप्रापणार्थः । ‘व्यस्यन्महिषस्तुवः’¹⁸ । ‘अ-

१ स. १-५-८.

४ प्राप्तप्रापणयत्वात्.

७ स. १-१-९.

१० „ ४-६-६.

१३ स. ६-१-९.

२ स. ६-१-११.

५ स. ७-५-१२.

८ स. १-७-१३.

११ „ ४-१-६.

१४ स. ६-५-१.

३ प्रतानः.

६ स. १-१-१.

९ स. १-१-७.

१२ स. १-१-८.

१५ स. १-६-१.

धियाः^१ इत्यादावसन्देहार्थः । तस्मात् यत्र पदावस्थायामसन्दि-
ग्धं द्वित्वं पूर्वागमश्च दृश्यते—‘अत्यक्काय’^२ । ‘नीचादुष्ठा’^३ इत्यादौ
‘अस्त्रिद्राः’^४ । ‘समिद्धः’^५ इत्यादौ च न तद्विषयं शास्त्रप्रणयनयत्नं
परमर्पयः कुर्वन्ति । व्यक्तोक्तं चैतत् पूर्वैश्शास्त्रतात्पर्यविद्धिः—

कुत्र चित्स्वरयोर्मध्ये द्वित्वं लक्ष्यानुसारतः ।

पूर्वागमस्तथा तत्र त्रेयो वर्णाविचक्षणैः ॥ इति ॥

ये तु इदमेव वचनमनयोस्तूत्रयोरव्याप्तिबोधकं मन्यन्ते, न-
मन्तेभ्यः ॥ तदाहुर्नितिविदः—

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् ।

लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ॥ इति ॥

फक्चित्ताद्यत्पदसंहितावशादेव द्वित्वमवगम्यते । यथा—‘रु-
क्कामः’^६ । ‘त्रिष्टुग्नैष्मो’^७ । ‘तच्चादुः’^८ । ‘तज्जयानाम्’^९ । ‘एतत्ते’^{१०}
‘अस्तभ्राद्याम्’^{११} । ‘उद्भिद्-स्तभान्’^{१२} । ‘याश्च निवपति’^{१३} । ‘देवा-
सुरास्तंयत्ताः’^{१४} इत्यादौ । अतो न तत्राप्यव्याप्तिरिति
सर्वमनवद्यम् ॥ ९ ॥



रेफपूर्वयोश्च नित्यम् ॥ ६ ॥

“रेफात्परं च” (१४-४) इत्यस्यापवादकमेतत् । द्विवचनेन

१ सं. १-१-१.

२ सं. ७-६-१२.

३ सं. २-३-१४.

४ „ ३-५-८.

५ „ ५-१-११.

६ „ २-२-३.

७ सं. ४-३-२.

८ „ ७-१-५.

९ „ ३-४-४.

१० सं. १-४-४३.

११ सं. १-२-८.

१२ सं. १-३-१.

१३ सं. ६-३-१.

१४ सं. १-५-१.

द्वितीयचतुर्थौ गृह्येते सविशेषणौ । रेफपूर्वयोरनयोर्नित्यं पूर्वागमो भवति । आगमान्वादेशकः चकारः । यथा—“ऊर्ध्वो भव”^१ । “अर्ध्ववाङ्”^२ । नित्यमिति किं ? खरपरत्वेऽपि भवत्वेतदिति । यथा—“अर्थेतस्स्थापाम्”^३ । “मूर्खा तज्जघन्याम्”^४ । “गो-अर्गमेव”^५ ॥ ६ ॥

चशब्देन पूर्वं इत्यन्यादिश्यते । समुच्चयार्थो वा । रेफपूर्वयोश्च द्वितीयचतुर्थयोर्द्वित्वं न भवति । किन्तु—नित्यं पूर्वागमो भवति । यथा—“मूर्खा तज्जघन्याम्” । “अथ स धनाधो भवति”^६ । “उत्तरार्धं वर्षिष्ठम्”^७ । “अर्थेतस्स्थ”^८ । केचिदस्मिन्धिपये द्वितीयचतुर्थयोर्द्वित्वं मन्यन्ते । तन्मतनिराकरणार्थं नित्यग्रहणम् । अत एव पृथक्सूत्रारम्भश्च वेदितव्यः ॥ ६ ॥

लकारपूर्वे च ॥ ७ ॥

चतुर्थागमयोराकर्षकः चकारः । चतुर्थे स्पर्शे लकारपूर्वे सति पूर्वागमो भवति । यथा—“प्रगल्बभोऽस्य”^९ । “अपग-ल्लभो जायते”^{१०} । “नमो मध्यमाय चापगल्लभाय च”^{११} । लकारः पूर्वः यस्मात् स लकारपूर्वः ॥ ७ ॥

चशब्दः पूर्ववत् । एकवचनं तु द्वितीयस्यासम्भवात् । पृथक्सूत्रकरणं च तदसम्भवापनार्थम् । तदयमर्थः—लका-

^१ सं. १-२-१४.

^२ सं. ६-६-२.

^३ सं. १-८-११.

^४ सं. ७-१-६.

^५ सं. ६-१-१०.

^६ सं. २-२-६.

^७ सं. ६-६-४.

^८ „ २-६-६.

^९ „ ४-५-६.

रात्परे चतुर्थे च द्वित्वं न भवति, किन्तु नित्यं पूर्वागमो भवति । यथा—“प्रगल्भोऽस्य जायते”^१ । “नमो मध्यमाय चाप्रगल्भाय च”^२ । अत्रापि परमतनिरासार्था नित्यग्रहणानुवृत्तिः ॥ ७ ॥

उपसर्गपाथएपोऽत्यातिधामपरमभूतेपूर्वेषु छिखिभुजेषु च ॥ ८ ॥

उपसर्गपूर्वेषु, पाथएपः, अति, आति, धाम, परम, भूते एवम्पूर्वेषु च सत्सु, छि, खि, भुज इत्येतेषु पूर्वागमो भवति । चकार आगमान्वादेशकः । यथा—“आच्छृणोति”^३ । “नम आ-
खिलदते च प्रखिलदते च”^४ । “अयश्मया परिबुभुज”^५ । जेति किं ?
“विभु- च मे प्रभु- च मे”^६ । “या च विच्छन्दाः”^७ ।
खीति किं । “निखातं मनुष्याणाम्”^८ । “अधि खादति”^९ । उप-
सर्गपूर्वं इति किं ? “सछन्दाः”^{१०} । एतान्युपसर्गपूर्वाणि । अन्या-
न्यप्युच्यन्ते—“अपूप्येति पाथः । एपच्छागः”^{११} । पाथ इति
किं ? “ऋतुभिर्वा एप छन्दोभिः”^{१२} । “अतिच्छन्दसमुप”^{१३} ।
“सवित्र आतिच्छन्दसाय”^{१४} । “धामच्छदिव”^{१५} । “परमच्छदो
वरे”^{१६} । “यद्वृतेच्छदा सामानि”^{१७} ॥ ८ ॥

१ सं. २-५-५.

२ सं. ४-५-६.

३ सं. ५-१-७.

४ सं. ४-५-९.

५ „ ४-५-९.

६ सं. ४-७-४.

७ सं. ५-२-११.

८ सं. ६-३-४.

९ सं. ६-२-११.

१० सं. ४-६-८.

११ सं. ७-५-१५.

१२ सं. ५-३-८.

१३ सं. ७-५-१४.

१४ सं. २-४-१०.

१५ „ ४-६-२.

१६ सं. ७-५-९.

उपसर्गेषु पाथएष इत्यादिषु च पूर्वेषु छकारे स्त्रिशब्दे
 भुजशब्दे च पूर्वागमो भवति । विभुजयोरपि सामर्थ्यादादिव-
 र्णस्य पूर्वागम इति सिद्धं भवति । उपसर्गः—‘आच्छेत्ता’¹ ।
 ‘विच्छिन्नं यज्ञम्’² । पाथ एषः—‘प्रियमप्येति पाथ. । एष-
 चञ्जगः’³ । पाथ इति किम् ? ‘ऋतुभिर्वा एष छन्दोभिः’⁴ ।
 अति—‘अतिच्छन्दसोत्तमया’⁵ । आति—‘सवित्र आतिच्छन्दसा-
 य’⁶ । धाम—‘अश्वये धामच्छदे’⁷ । परम—‘परमच्छदो वरे’⁸ ।
 भूते—‘यजूतेच्छदाः सामानि’⁹ । एतेषु छकारस्य । विभुज-
 योरुपसर्गपूर्वयोरेव । वि—‘नम आप्तिदते च प्रप्तिदते च’¹⁰ ।
 भुज—‘अवक्षमया परिभुज’¹¹ । जेति किम् ? ‘विभु च मे’¹² ।
 एतत्पूर्वेष्विति किम् ? ‘विभञ्जनस्य छाया’¹³ । ‘छन्दोभिरिति
 छन्दः—भिः’¹⁴ । ‘छन्दस्वती इति छन्दस्वती’¹⁵ । ‘छिनत्ती’¹⁶
 इति छिनत्ति’¹⁷ । ‘समुद्रं छन्द’¹⁸ । ‘सया सखिभ्यो धरिवः’¹⁹ ।
 छपिभुजेप्पिति किम् ? ‘ऋजुमाधारयति’²⁰ । ‘माऽति धाक्’²¹ ।
 ‘पितृणां निष्कृतम्’²² । ‘विभु च मे प्रभु च मे’²³ । नन्विदं सूत्रं पदसं-
 हिताधिकारे यक्तुं युक्तम् । कुतः ? पदसंहिता²⁴ विपर्ययात् ।
 सत्यम् । लाघवार्थं विहोच्यते । तत्र चेत्कचिच्चकारः कचि-

1 सं १-१-२.

2 सं १-५-१०.

3 सं ४-६-८.

4 सं ५-५-१६.

5 सं. ५-२-२.

6 सं ५-५-१४.

7 सं. २-४-२०.

8 सं. ४-६-२.

9 सं. ७-५-९.

10 सं. ४-५-९.

11 सं. ४-५-१.

12 सं. ४-८-४.

13 सं १-३-२.

14 सं ४-३-११.

15 सं १-७ २.

16 सं. ६-३-१२.

17 सं ३-३-१६.

18 सं. २-५-११.

19 सं. १-२-८.

20 सं. ६-३-४.

21 पदसन्धि.

त्ककारः कचिद्वकारः इत्यागमत्रयं विधेयमिति शब्दगौरवं भवति । इह पूर्वागमाधिकाराल्लघवं सिद्धयति ॥ ८ ॥

अधोपादूष्मणः परः प्रथमोऽभिनिधानस्पर्शपरात्तस्य सस्थानः ॥ ९ ॥

स्पर्शपरादधोपादूष्मणः परः प्रथम आगमस्तस्य स्पर्शस्य सस्थानः समानस्थानोऽभिनिधानो भवति । अभिनिधीयत इति अभिनिधानः, आरोपणीय इत्यर्थः । वेदान्तरे तस्याभावाद्नारोपणीयत्वम् । यथा—“यः कामयेन”^१ । “अश्नुमन्मूर्जम्”^२ । “ग्रीष्मे मध्यन्दिने”^३ । “अयस्मयं विवृत”^४ । “यः प्याप्मना”^५ । अधोपदिति किं । “शरद्यपराक्”^६ । ऊष्मण इति किं । “रुक्ममुप दधाति”^७ । स्पर्शपरादिति किं ! “इष्ट्वा चैव तद्वज्रेण च”^८ । सूत्रमिदमेवेष्टम् । न तु परद्वयम् ॥ ९ ॥

स्पर्शपरादधोपादूष्मणः परः तस्य स्पर्शस्य समानस्थानः प्रथमः आगमो भवति । स खल्वभिनिधान इत्युच्यते । अभिनिधीयते प्रक्षिप्यत इत्यभिनिधानः । प्रक्षिप्यमाणतुल्यः कार्यान्तरविधावविद्यमानवद्भवतीति यावत् । यथा—“उरुक्षयाय नः कृधि”^९ । “एवदछन्दो वरिवः”^{१०} । “मारुतं शुश्रिमालभेत”^{११} ।

^१ शब्दार्थमी.^२ सं. २-१-२.^३ सं. ४-६-२.^४ सं. ४-२-५.^५ सं. २-३-१३.^६ सं. ५-२-७.^७ सं. ५-७-३.^८ सं. १-३-४.^९ सं. ४-३-१२.^{१०} सं. २-१-९.

‘एषा प्रतिष्ठा’¹ । ‘कृष्णोऽसि’² । ‘ग्रीष्मो हेमन्तः’³ । ‘अति
दिवस्पाहि’⁴ । ‘अप्सु स्नाति’⁵ । ‘शुनं नः फालाः’⁶ । अघो-
पादिति किम् ? ‘यद्गृह्णाति’⁷ । ऊष्मण इति किम् ? ‘मित्रः
क्षीरधीः’⁸ । अभिनिधानत्वाश्रयणान् ‘प्रथमपरश्च ह्यश्विप्लाक्षायण-
योः’ (१४-१७) इत्यत्राविद्यमानवद्भावात् द्वितीयोत्तमपरस्य
ऊष्मणो द्वित्वं न प्रतिपिध्यते—‘एवश्छन्दः’⁹ । ‘पृश्निम्’¹⁰ । ‘एषा
प्रतिष्ठा’¹ । ‘कृष्णोऽसि’² । ‘गयस्फानः’¹¹ । ‘न ह स्म’¹² । स्पर्शपरात्
इति किम् ? ‘दयामाको भञ्चति’¹³ । ‘ऐन्द्रस्सोमः’¹⁴ ॥ ९ ॥

—0—

अघोपे प्लाक्षेः ॥ १० ॥

अघोप एव स्पर्शपरे सति अघोपादूष्मणः परः प्रथमागमो भवतीति
प्लाक्षेः पक्षः । यथा—“निष्कूकेवलयम्”¹⁵ । “यः कूकामयेत”¹⁶ ।
“पश्चात् प्राचीम्”¹⁷ । “निष्ठपामि”¹⁸ । “दोषावसूतः”¹⁹ ।
“यः प्नाप्मना”²⁰ । “आस्पात्रम्”²¹ । अघोपेति किं । “कू-
इमान्”²² ॥ १० ॥

¹ सं. १-६-११.

² सं. १-१-११.

³ सं. ५-७-२.

⁴ „ १-८-१४.

⁵ „ ६-१-१.

⁶ „ ४-२-१.

⁷ „ १-३-६.

⁸ „ ४-४-९.

⁹ इत्यत्राभिनिधानस्याविद्य.

¹⁰ „ ४-३-१२.

¹¹ „ २-१-६.

¹² सं. १-२-१०.

¹³ „ ५-१-२०.

¹⁴ „ २-३-२.

¹⁵ „ २-१-६.

¹⁶ „ ४-६-२.

¹⁷ „ २-१-२.

¹⁸ „ ५-१-७.

¹⁹ „ १-२-१०.

²⁰ „ १-२-१४.

²¹ „ २-१-११.

²² सं. १-५-१.

²³ „ ५-७-२१.

प्राक्षेर्मते अघोपे स्पर्शे परतः अघोपादूष्मणः परः प्रथ-
मोऽभिनिधानो भवति । न तु घोषवति स्पर्शे परतः । त-
स्मिन् पक्षे प्रथमद्वितीययोः परतः प्रथमागमो नोत्तमे ॥ १० ॥

उत्तमपरात्तु प्राक्षायणस्य ॥ ११ ॥

प्राक्षायणस्य तु पक्षे उत्तमपरादघोपादूष्मणः परः प्रथमागमो
भवति । यथा—“अक्ष्णया व्याघारयति”^१ । “अज्ञाति”^२ ।
“तीर्थे स्नाति”^३ । उत्तमपरादिति किं ? “निष्कैवल्यम्”^४ ।
“यः कामयेत”^५ । “पश्चात्”^६ । तुशब्दः प्राक्षेः पक्षमपक्षिपति ।
केचिदेवमूचुः—अघोपत्वमूष्मणः तुशब्दो निर्वर्तयतीति । तत्रायं
सूत्रार्थः—उत्तमपरात् घोषवतः ऊष्मणः परः प्रथमागमो भवति ।
यथा—“अह्नां केतुः”^७ । “शरद्यपराद्धे”^८ । “ब्रह्मवादिनः”^९ ।
घोषवत इति किं ? “ग्रीष्मो हेमन्तः”^{१०} । “अश्मा च मे”^{११} ।
“अयस्मयं वि”^{१२} ॥ ११ ॥

प्राक्षायणस्य मते अनन्तरोक्तं न भवतीति तुशब्दार्थः ।
किं तर्हि, उत्तमपरादघोपादूष्मणः परः प्रथमोऽभिनिधानः^१ भ-
वतीति तद्विपर्ययो भवति । नेदं सूत्रद्वयमिष्टम् ॥ ११ ॥

१ सं. ५-२-७.

२ सं. १-६-७.

३ सं. ६-१-२.

४ सं. ४-४-२.

५ सं. २-१-२.

६ सं. ६-३-७.

७ सं. २-४-१४.

८ सं. १-७-१.

९ सं. ६-७-२.

१० सं. ४-३-५.

११ सं. ४-२-५.

१२ प्रथमः.

प्रथम ऊष्मपरो द्वितीयम् ॥ १२ ॥

ऊष्मपरः प्रथमः स्पर्शः स्ववर्गीयं द्वितीयमापद्यते । “विरष्फ-
सिन्नुदादाय”^१ । “तथ्योडशी”^२ । “प्रत्यङ्खसोमः”^३ ।
“तथ्सवितुः”^४ । प्रथम इति किं ? “तास्स-रोडः”^५ ।
ऊष्मपर इति किं ? “वाक्ते”^६ । “ऊष्मा परो यस्मादसौ
ऊष्मपरः ॥ १२ ॥

ऊष्माणि परतः प्रथमो द्वितीयमश्रुते, पदान्तश्चापदान्तश्च ।
अतएवायं विकारः ‘अथ प्रथमः’ (८-१) इत्यत्र नोक्तः । यथा-
‘अङ्गुलसामयोदिसल्ये’^७ । ‘तथ्योडशी’^८ । ‘विसृपो विरष्फिशन्’^९ ।
‘अप्फसो नाम’^{१०} । अत्र प्रथमानां पूर्वसूत्रचिह्निते द्वित्वे जाते द्वितीय-
रूपस्य द्वितीयादेशः । ‘सदङ्खसमानैः’^{११} । ‘पद्वत्सम्पद्यन्ते’^{१२} ।
‘पितरं च प्रयत्थुचः’^{१३} । ‘वृक्षत्रस्योद्वमसि’^{१४} इत्यादौ तु द्वित्वाभा-
वात् द्वितीय एव श्रूयते । ऊष्मपर इति किम् ? ‘वाक्ते आ
प्यायताम्’^{१५} । ‘तमृगुदयच्छत्’^{१६} । प्रथम इति किम् ? ‘तास्स-
रोहोऽसि’^{१७} ॥ १२ ॥

—०—

^१ सं. १-१-९.

^२ सं. ९-६-११.

^३ सं. १-८-२१.

^४ सं. १-५-६.

^५ सं. ५-३-६.

^६ सं. १-३-९.

^७ अत्राङ् । द्वि । एवम् । परः^१ (सं. ९-३-३) इत्यत्र ‘प्रथमपूर्वो ह्रस्वश्चतुर्थ-
तस्य गस्थानम्’ (९-३८) इति ह्रस्वस्य चतुर्थार्थात् विशेषाव-
हितत्वात् । ततः ‘तृतीय स्वरपोपवन्तरः’ (८-३) इति तृती-
यत्वं । इदमेव गूत्रमिष्टम्. (इत्यधिकः पाठः).

^८ सं. १-२-२.

^९ सं. ४-३-१२.

^{१०} सं. २-२-८.

^{११} सं. ९-६-३.

^{१२} सं. ४-३-६.

^{१३} सं. १-५-९.

^{१४} सं. ९-१-२.

वाङ्भी'कारस्यासस्थानपरः ॥ १३ ॥

वाङ्भीकारस्य मते आत्मनोऽसस्थानोऽप्यपरः प्रथमः सर्वाङ्गीयं द्वितीयमापद्यते । समानं स्थानं यस्यासौ संस्थानः, न सस्थानः असस्थानः । सः परो यस्मात्सः, तथोक्तः । यथा—“ विसृषो विरष्फुशिन् ”^२ । “ तथपोडशी ”^३ । असस्थान इति किं ? “ तत्सवितुः ”^४ । नेदं सूत्रमिष्टम् ॥ १३ ॥

वाङ्भीकारस्य मते असमानस्थाने ऊष्मणि परतः प्रथमो द्वितीयमश्नुते । न तु सस्थाने परतः । तथाच—“ तत्सवितुर्वरेण्यम् ”^५ । इत्यादौ द्वितीयादेशो न भवति । नैतदिष्टम् । स्वमतेऽपि ‘तच्छंयोः’^६ ‘अनुष्टुप्छारदी’^७ । इत्यादौ पदान्तस्य द्वितीयादेशो न भवति, पूर्वसूत्रविहितस्य छत्वस्य पूर्वभावितया पदादेः शकारस्यासम्भवात् ॥ १३ ॥

तदेवमत्र द्वित्वस्यापवादतया पूर्वागमः, तत्सदृशः प्रथमागमः तत्प्रतियोगिपरवर्णादेशश्चोक्तः इदानीं प्राथमकल्पिकस्य द्वित्वस्य प्रतिषेध आरभ्यते—

अथ न ॥ १४ ॥

‘अथ’ इत्ययमधिकारः । उक्तस्य द्वित्वविधेर्यथासम्भवं निषेधोऽधिक्रियते, इति वेदितव्यम्, इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः ॥ १४

^१ वाङ्भी.^२ सं. १-१-९.^३ सं. ६-६-३१.^४ सं. १-५-६.^५ सं. २-६-१०.^६ सं. ४-३-२.

द्वित्वं न भवतीत्येतदधिकृतं वेदितव्यम् ॥ १४ ॥

अवसाने रविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मा-
नीयाः ॥ १५ ॥

पदावसाने वर्तमानो वर्णो रेफो विसर्जनीयो जिह्वामूलीय उप-
ध्मानीयश्च इत्येते वर्णा द्वित्वं नापद्यन्ते । यथा—“ऊर्क्”^१ ।
“रेफात् परं च” (१४-४) इति प्राप्तिः । अवसानवचनं वि-
रामाभिप्रायम् । तस्मान्न सन्धाने निषेधः । यथा—“ऊर्क्क्
च मे सूनुना”^२ । “नार्तिमाच्छेति”^३ । “मनः कक्षमे”^४ ।
“यः कामयेत”^५ । “यः प्याप्स्यमा”^६ । “स्वरपूर्वम्” (१४-१)
इत्यनेनैषां प्राप्तिः । अवसान इति चतुर्थेण पृथगेव सूत्रं के-
चिदूचुः । एकीकरणे दोषदर्शनात् । कोऽसौ दोषः ? अवसाने
वर्तमाना रविसर्जनीया इत्यन्वयसम्पादनं, “अवग्रह आशीर्धू-
स्सुवः (९-१०) इतिवदिति चेत् । नैष दोषः । रविसर्जनी-
यादीनां पदावसाने द्वित्वप्राप्तिर्दूरोत्सारिता, इति नेयमत्र शङ्का ।
किञ्च—पृथक् करणे सति अवसाने किं वा भवतीति साका-
ङ्क्षतया वचनमनर्थकं स्यात् । एकीकरणे तु रविसर्जनीय इति
वर्णसाहचर्यादवसाने वर्तमानो वर्ण इति च लभ्यते । तस्मा-
देकीकरणमेव रवणीयम् ॥ १५ ॥

^१ सं. ४-७-४.

^२ सं. २-२-४.

^३ सं. ५-२-१.

^४ सं. २-१-२.

^५ सं. २-३-१३.

अवसाने वर्तमाना रेफादयः इत्यन्वयो नोपपद्यते, विस-
 र्जनीयव्यतिरिक्तानां तत्रासम्भवात्, विसर्जनीयस्य च तत्र
 द्वित्वप्राप्त्यभावात् । तस्मादवसाने विद्यमानस्य व्यञ्जनस्य द्वि-
 त्वं न भवति, रेफादीनां चतुर्णां सर्वत्र द्वित्वं न भवतीति योजना ।
 अवसाने—‘ऊर्क् च मे’^१ । ‘सा चा एपर्क्’^२ । ‘भूत्वा व्यमार्द्’^३
 ‘रेफात्परं च’ (१४-४) इति प्राप्तिः । २—‘आर्तिमार्छति’^४ ।
 ‘अर्चन्त्यर्कमर्किणः’^५ । विसर्जनीयः—‘उभयतः क्षूर्भंवाति’^६ ।
 ‘तास्त्वष्टाः क्षधम्’^७ । जिह्वामूलीयः—‘बाहुमात्राः खायन्ते’^८ । ‘यः
 कामधेत’^९ । उपध्मानीयः—‘यः गप्मना’^{१०} । ‘शुनं नः फालाः’^{११} ।
 अत्र ‘स्वरपूर्वं व्यञ्जनम्’ (१४-१) इति प्राप्तिः । शिक्षाव्या-
 करणयोस्तु हकारस्यापि सर्वत्र द्वित्वं नैष्टम् । शिक्षायां ता-
 घत्—

‘न रेफे वा हकारे वा द्विर्भावो जायते क्वचित्’ इति ।
 व्याकरणे च—‘अचो रहाभ्यां द्वे’^१ । ‘अनचि च’^{१२} इति । नैत-
 दिष्टं सूत्रकृतः, ‘स्वरपूर्वं व्यञ्जनम्’ (१४-१) इत्यविशेषेण विधानात् ।
 रविसर्जनीयादिभिस्सह हकारस्यापाठाच्च । तथा ‘रेफपरश्च
 हकारः’ (१४-१९) इति परमते विशेषेण निषेधोऽप्यन्यत्र द्वि-
 त्वं प्राप्तमेव दर्शयति । अतोऽस्मच्छाखायां हकारस्य प्राप्तौ
 सत्यामप्रतिपिद्धं द्वित्वमिष्यते । शिक्षाव्याकरणे तु शाखान्त-
 रेपु सावकाशे इत्यविरोधः । ननु अत्र जिह्वामूलीयादिग्रहण-
 मनर्थकम् । कुतः ? ‘प्रथमपरश्च श्लाक्षिश्लाक्षायणयोः’ (१४-१०)

^१ स. ४-५-४.^२ छ ६-१-२.^३ स. ४-१-५.^४ स. २-२-४.^५ „ १-६-१२.^६ „ ५-१-१.^७ „ ७-२-४.^८ „ ६-२-११.^९ „ २-१-२.^{१०} „ २-१-२.^{११} „ ४-२-५.^{१२} पा. ८-४-४६, ४७.

इत्यनेन सर्वत्र प्रतिषेधसिद्धेः । सर्वत्र जिह्वामूलीयोपध्मानीय-
योरभिनिधानपरत्वात् । अथ ग्लाक्षायणमते अघोपस्पर्शप्र-
स्याभिनिधानपरत्वाभावात् अर्थवत्ता । तन्न । प्रतिषेधसूत्रे
ग्लाक्षिग्लाक्षायणग्रहणस्य पूजार्थतया तस्य स्वमतविषयत्वात् ।
अत्रोच्यते—उक्तोऽस्माभिरविद्यमानवद्भावोऽभिनिधानस्य । तेन
द्वितीयपरत्वे तयोः प्रतिषेधो न स्यात् अतस्तत्रापि तयोर्द्वित्वा-
भावार्थमिह ग्रहणम् ॥ १६ ॥

ऊष्मा स्वरपरः ॥ १६ ॥

स्वरपर ऊष्मा द्वित्वं नापद्यते । स्वरः परो यस्मादसौ
स्वरपरः । यथा—‘दर्शपूर्णमासौ’^१ । ‘वर्षाभ्यः’^२ । ‘वसं न-
हति’^३ । ‘बर्हिषा’^४ । ‘रेकात् परं च’ (१४-४) इति प्राप्तिः ।
ऊष्मेति किं ? ‘एभिर्नो अर्धैः’^५ । स्वरपर इति किं ? ‘पा-
र्वे’^६ । ‘वपुष्पाभ्यः’^७ । ‘मृदं वस्सर्वभिः’^८ । ‘अग्निद्वयस्य’^९ ॥

ऊष्मा स्वरे परतो द्वित्वं नाश्रुते । शपसहविषया षते
निषेधाः । शं—‘दर्शपूर्णमासौ’^१ । ष—‘वपुष्वृक्षम्’^{१०} । स—‘व-
रसं नहति’^३ । हं—‘वर्हिषासदे’^४ । ‘वायुरहिद्वर्ता’^{१२} । स्वरपर

^१ सं. २-२-६.^२ सं. ७-२-१०.^३ सं. २-२-७.^४ सं. १-३-६.^५ सं. ४-६-४.^६ सं. ७-२-१०.^७ सं. ७-४-१३.^८ सं. ५-३-११.^९ सं. ५-१-५.^{१०} सं. १-३-५.^{११} सं. १-१-२.^{१२} सं. ३-३-२.

इति किम्? 'दाश्यं यज्ञम्'^१ । 'अग्निर्होस्य'^२ । 'वर्ष्याय च'^३ ।
'मृदं वस्वेभिः'^४ ॥ १६ ॥

प्रथमपरश्च ह्याक्षिप्लाक्षायणयोः ॥ १७ ॥

ह्याक्षिप्लाक्षायणयोः पक्षे प्रथमपर ऊष्मा द्वित्वं नापद्यते ।
चकार ऊष्माणमन्वादिशति । यथा—'सुश्रन्द्र दस्म'^५ ।
'अष्टौ कृत्वः'^६ । प्रथमपर इति किम्? "तस्मादेवं विदुषा"^७ ।
प्रथमः परो यस्मादसौ प्रथमपरः । चकारोऽत्र यद्यप्युष्ममात्रा-
कर्षकः, तथाऽपि शपसहेष्वेव सम्प्रत्ययः । अन्यथा "अवसाने
रविसर्जनीय" (१४-१५) इति सूत्रे जिह्वामूलीयोपध्मानीययोः
ग्रहणं व्यर्थम् । अनेनैव निषेधसिद्धेः ॥ १७ ॥

चशब्द ऊष्माणमन्वादिशति । स खलु प्रथमे परतो द्वित्वं
नाश्रुते, ह्याक्षिप्लाक्षायणयोर्मतात् । यथा—'एता विश्पतिना'^८ ।
'भुवो नृश्च्यौतः'^९ । 'इष्टा देवताः'^{१०} । 'आयुष्पा अग्ने'^{११} । 'दि-
वस्कम्भनिः'^{१२} । 'मा वस्स्तेनः'^{१३} । 'बृहस्पतिसुतस्य'^{१४} । प्रथमपर
इति किम्? 'एवदछन्दः'^{१५} । 'कृष्णोऽसि'^{१६} । 'वायवस्स्थ'^{१७} ।

१ सं. ३-२-२.

२ सं. ५-२-६.

३ सं. ४-५-७.

४ ,, ५-७-१२.

५ ,, ४-४-४.

६ ,, ६-४-६.

७ ,, ६-४-९.

८ ,, २-३-१.

९ ,, ३-४-११.

१० ,, २-६-९.

११ ,, १-१-१३.

१२ ,, १-१-६.

१३ ,, १-१-१.

१४ ,, १-४-२७.

१५ ,, ४-३-१२.

१६ ,, १-१-११.

‘ग्रह्य देवाः’^१ । अत्राभिनिधानस्याविद्यमानवद्भावात् ‘एवदृच्छन्दः’^२ ।
इत्यादीनि प्रत्युदाहरणानि । एवमभिनिधानव्यवाहितपरनिमित्तत्वात् पृथक्सूत्रकरणम् । छाक्षिछाक्षायणग्रहणं पूजार्थम् ॥ १७

ऊष्माऽघोषो हारीतस्य ॥ १८ ॥

हारीतस्य मते अघोष ऊष्मा द्वित्वं नापद्यते । “वैश्यो मनुष्याणाम्”^३ । “पुष्यति प्रजया पशुभिः”^४ । “नास्थापरूपम्”^५ । अघोष इति किं? “मह्यमिमान्”^६ । ऊष्मग्रहणं पूर्वसूत्रानपेक्षार्थम् । अत्र यद्यूष्मग्रहणं न क्रियेत, ऊष्मेत्येतत् स्वरपरत्वेन प्रथमपरत्वेन च सम्बद्धम् । तस्मादिहापि तत्सम्बन्धस्यैवाघोषत्वविशेषणं स्यात् । अतस्तन्निवृत्त्यर्थमूष्मेति ग्रहणं कृतम् । अतः सर्वावस्थ ऊष्माऽत्र निषेधभाक् ॥ १८ ॥

हारीतस्य मते अघोष ऊष्मा द्वित्वं नाश्रुते । ‘एवदृच्छन्दः’^७ । ‘एते धे देवाभ्याः’^८ । ‘हविष्मतीरिमाः’^९ । ‘स्योनस्स्योनम्’^{१०} । अघोष इति किम्? ‘सं नहो सुकृताय कम्’^{११} ॥ १८ ॥

^१ सं. १-६-४.

^२ सं. ४-३-१२.

^३ सं. ७-१-१.

^४ सं. २-१-९.

^५ „ ३-५-७.

^६ „ ३-१-९.

^७ सार्धं द्रव्यधिकः पठः.

^८ „ १-७-४.

^९ सं. १-३-१२.

^{१०} सं. १-३-७.

^{११} „ १-१-१०.

रेफपरश्च हकारः ॥ १९ ॥

पूर्वमूष्माऽघोष इत्युक्ते घोषोष्मणो नित्यं द्वित्वे प्राप्ते विशि-
नष्टीदानीं रेफपरो हकारश्चकाराकृष्टहारीतमते द्वित्वं नापद्यते ।
यथा—“जुहुवे अद्वयः”^१ । रेफपर इति किं? “जुहुवे-
ह्यग्निः”^२ । हकार इति किं? “शुक्रं ते अन्यत्”^३ । रेफः
परो यस्मादसौ रेफपरः ॥ १९ ॥

चशब्देन हारीतस्येत्यन्वादिश्यते । तस्य मते रेफपरो
हकारो द्वित्वं नाश्रुते । ‘अहुतमासि हविर्धानम्’^४ । रेफपर
इति किम्? ‘जुह्वेह्यग्निस्त्वा’^५ ॥ १९ ॥

टवर्गश्च तवर्गपरः ॥ २० ॥

चकारो हारीतान्वादेशकः^६ । टवर्गस्तवर्गपरो न द्वित्वमापद्यते ।
यथा—“वपट्ते विष्णो”^७ । “विड् द्रविणम्”^८ । तवर्गः परो
यस्मादसौ तवर्गपरः । टवर्ग इति किं? “वाक्ते”^९ । “तत्ते”^{१०} ।
एवम्पर इति किं? “पट्टकपालम्”^{११} । “विड्द्वे मस्तः”^{१२} ॥

चशब्दः पूर्वचत् । टवर्गः तवर्गं परतो द्वित्वं नाश्रुते
हारीतस्य मतात् । ‘वपट्ते विष्णो’^{१३} । ‘पट्टसम्पद्यन्ते’^{१४} । ‘विड्-

१ सं. १-५-५.

२ सं. १-१-१२.

३ सं. ४-१-१२.

४ सं. १-१-४.

५ हारीतमतान्वादेशकः.

६ „ २-२-१२.

७ „ १-८-१२.

८ „ १-१-५.

९ „ १-८-५.

१० „ ६-६-५.

११ „ ६-२-३.

वातैः¹¹ । सवर्णपराण्येवमादीनि । सवर्गीयपराण्यपि वदामः—

“अङ्गौ न्यङ्गौ”² । “प्राञ्चमुप”³ । “काण्डात्काण्डात्”⁴ ।

“तं ते दुश्शक्षाः”⁵ । “अम्भस्स्य”⁶ ॥

अनुनासिकपूर्वस्तु ककारो मध्य आगमः ।

गकारश्च तकारे च धकारे च यथाक्रमम् ॥

इति वचनादिदमप्युदाहरणं—“पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्ताः”⁷ ।

“तान्ब्रूयाद्युङ्गध्वमिति”⁸ । एवम्परं इति किं ? “वाङ्म

आसन्”⁹ । “पण्मासः”¹⁰ । “विदथानि मेन्महे”¹¹ ।

“दाम्नाऽपौम्भन्”¹² ॥ २३ ॥

सघर्णश्च सवर्गीयश्च सघर्णसवर्गीयौ । तौ परौ यस्मात्स

तथोक्तः । समानजातीयं घर्णव्यक्त्यन्तरे सघर्णम् । यथा—

फकारस्य फकारः, सकारस्य सकार इति । समाने घर्णे भवः

सवर्गीयः । सघर्णे सघर्णीये च परतः घर्णो द्वित्वं नाश्रुते ।

सघर्णः—‘रुक्तामः’¹³ । ‘अनामयद्य मे’¹⁴ । ‘तत्ते रुक्मः’¹⁵ । ‘अनु

पुष्प्राणानाम्’¹⁶ । ‘मय्येव सता’¹⁷ । ‘इमस्मे घरण’¹⁸ । ‘देवासुरा-

स्तंयत्ताः’¹⁹ । सवर्गीयः—‘प्रच्छच्छन्दः’²⁰ । ‘कण्डूयेत’²¹ । ‘आ-

¹ सं १-३-१४.

² सं. १-३-७.

³ सं. ५-२-७.

⁴ “ ४-२-९.

⁵ “ ३-२-२०.

⁶ “ १-५-९.

⁷ “ १-५-२.

⁸ “ ३-६-८.

⁹ “ ५-५-९.

¹⁰ “ ६-५-३.

¹¹ “ ४-७-१५.

¹² “ २-६-१९.

¹³ “ २-२-३.

¹⁴ “ ४-७-३.

¹⁵ “ २-२-१२.

¹⁶ “ ६-३-८.

¹⁷ “ ३-५-२.

¹⁸ “ २-१-११.

¹⁹ “ १-६-३.

²⁰ ‘प्रच्छच्छन्दः’ (सं. १-२-९.) ‘अत्यन्यानगाम्’

(सं. १-२-३.) । सघर्णीयः मुह्यते भाति. इत्यधिकः पाठः.

²¹ “ ४-३-१३.

²² “ ९-१-३.

पङ्कजजयत^१ । 'यङ्कामयेत'^२ । 'शञ्चमे'^३ । 'तन्ते दुश्चक्षाः'^४ ।
 'मन्थी मन्थिशोचिषा'^५ । 'अम्बे अम्बालि'^६ । 'युञ्जानेषु'^७ ।
 'परिवृद्धि हरसा'^८ । अत्रासन्देहायै शिक्षावचनम् । यथा—

अनुनासिकपूर्वस्तु ककारो मध्य आगमः ।

गकारश्च तकारे च धकारे च यथाक्रमम् ॥ इति ॥

अत्र मध्ये पदमध्यै इत्यर्थः ॥ २३ ॥

नानुत्तम उत्तमपरः ॥ २४ ॥

नकारोऽयं प्रतिप्रसवार्थः । उत्तमपरोऽनुत्तमो द्वित्वं नापद्यत
 इति न । यथा—“याच्ञा”^{११} । “यज्ज्ञेयज्ज्ञे नः”^{१०} ।
 “आट्टङ्णारः”^{११} । “सप्रतृत्वत्”^{१२} । “पापमानम्”^{१३} । अनुत्तम
 इति किं ? “तम्मा देवाः”^{१४} । उत्तमः परो यस्मादसावुत्तम-
 परः । “सवर्णसवर्गीयपरः” (१४-२३) इति प्राप्तावयमारम्भः ॥

अनन्तरोक्तस्य प्रतिषेधस्यायं प्रतिषेधः । उत्तमव्यतिरिक्तो
 घर्ण उत्तमे परतो द्वित्वप्रतिषेधं नाश्रुतं ; किन्तु द्वित्वमेवा-
 श्रुते । ‘याङ्ज्ञेवांस्य’^१ । ‘इन्द्राय राज्ञे’^२ । ‘प्रत्तः सधस्थम्’^३ ।

^१ सं. ६-५-६.

^२ सं. १-७-१.

^३ सं. ४-७-३.

^४ सं. ३-२-१०.

^५ ,, ६-४-१०.

^६ ,, ७-४-१९.

^७ ,, १-६-८.

^८ ,, ४-३-१०.

^९ ,, १-५-७.

^{१०} ,, ३-१-११.

^{११} ,, ६-६-५.

^{१२} ,, २-२-१२.

^{१३} सं. १-४-४१.

^{१४} ,, ३-३-२.

^{१५} सं. ५-६-११.

^{१६} ,, ४-१-४.

विणम्^१ । तवर्ग पर इति किम्? 'तुर्यचाद् मे'^२ । 'स्थिरो
भव चीद्वहः'^३ ॥ २० ॥

—0—

लतवर्गौ यवकारपरौ ॥ २१ ॥

हारीतः सान्निध्याल्लभ्यते । तन्मते लतवर्गौ न खलु यव-
कारपरौ द्वित्वमाप्तः । यथा लकारः—“कल्याणी”^४ । “बैल्वो
यूपः”^५ । तवर्गोपि—“कन्येव तुन्ना”^६ । “इपे त्वा”^७ । यवकारौ
परौ याभ्यां तौ, तथोक्तौ ॥ २१ ॥

लतवर्गौ^८ यथाक्रमं यवकारयोः परतो द्वित्वं नाश्रुयाते
हारीतस्य मते । ल—“सिनीबाल्यै चरम्”^९ । तवर्गः—“इपे
त्वा”^७ । ‘स्वाद्धी त्वा’^{१०} । ‘मध्वा यज्ञम्’^{११} । ‘अन्वह मास्ताः’^{१२} ।
यवकारपर इति किम्? ‘खल्व्याश्च मे’^{१३} । ‘अत्यन्यानगाम’^{१४} ॥

—0—

परश्च ॥ २२ ॥

वकारो हारीताकर्षकः । पर इत्येकवचनेन वकारो गृह्यते ।
पूर्वमूत्रस्थनिमित्तयोः यः परः, सोपि न द्वित्वमापद्यते, हारी-

^१ स. १-८-१३.

^२ स. ४-७-१०.

^३ सं. ४-१-४.

^४ , ७-१-६.

^५ , २-१-८.

^६ , ३-१-११.

^७ , १-१-१.

^८ लकारतवर्गौ.

^९ , १-८-८.

^{१०} , १-८-२१.

^{११} सं. ४-१-८.

^{१२} , १-७-१३.

^{१३} , ४-७-४.

^{१४} , १-३-५.

तमेते । यथा—“विमूढावृत्ते”^१ । “ग्राहणः”^२ । वकार इति किं ? “कल्त्रपाञ्चोति”^३ । “स्पर्श एवैकेषाम्” (१४-३) इत्यत्रावधारणनिराकरणायायमारम्भः । अथवा द्वित्वे कृते परो द्वितीयपर्यायो द्वित्वविधिर्नास्ति । अनवस्थाप्रसङ्गात् । ननु “सवर्णसवर्गीयपरः” (१४-२३) इति परसूत्रेणापि पुनर्द्वित्वनिषेधः । पौनरुक्त्यमावहति । मतभेदान्नैष दोष इति ब्रूमः । हारीत-मतमेतत्, “उष्माऽधोपो हारीतस्य” (१४-१८) इत्यादिसूत्रपञ्च-कमनिष्टम् ॥ २२ ॥

चशब्देन वकारोऽन्यादिश्यते । तस्मात्परो घर्णो द्वित्वं नाश्रुते हारीतस्य मते । ‘ओपिष्ठदावृत्ते’^४ । ‘उष्माऽधोपः’ (१४-१८) इत्यादिसूत्रपञ्चकमनिष्टम् ॥ २२ ॥

इदानीं स्वमतमाह—

सवर्णसवर्गीयपरः ॥ २३ ॥

सवर्णपरः सवर्गीयपरश्च द्वित्वं नापद्यते । सवर्णत्वं नाम स्मरूप्यमुच्यते, न तुल्यस्थानकरणतामात्रम् । सवर्गीयः समान-वर्गसम्बन्धी । यथा—“अत्वकाय”^५ । “अत्ता हवीपि”^६ । “पिप्पुका ते”^७ । “संयत्ताः”^८ । “यल्लोहितम्”^९ । “त्वं

^१ सं. ३-६-८.

^२ सं. ६-३-२.

^३ सं. ५-४-८.

^४ „ १-६-१२.

^५ „ ७-५-२२.

^६ सं. २-६-१२.

^७ „ ६-६-१५.

^८ सं. १-५-१.

^९ सं. २-१-१७.

‘अस्थि अश्नातु’¹ । ‘उद्धो दत्त’² । ‘दध्नाऽऽतनक्ति’³ । ‘एतं वै पर आद्गारः’⁴ । ‘यः पाप्मना’⁵ ॥ २४ ॥

अथैकेषामाचार्याणाम् ॥ २५ ॥

अथ इत्ययमधिकारः । एकेषां मतमधिक्रियत इत्येतद्वेदितव्यं इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः ॥ २५ ॥

प्रकृते द्वित्वप्रतिषेधे एकेषां मतं अधिक्रियते । तत्रापी-
ष्टांशसन्धायात् ॥ २५ ॥

लकारो हशवकारपरः ॥ २६ ॥

एकेषां मते हशवकारपरो लकारो द्वित्वं नापद्यते । ‘मल्हा आलभन्त’⁶ । “शतवल्शं विरोह”⁷ । “ततो बिल्वः”⁸ । एवम्पर इति किं ? “कल्लूमापी”⁹ । “कल्लूचाणी”¹⁰ । हकारश्च शकारश्च वकारश्च हशवकाराः ते परे यस्मात् सः, तथोक्तः । अत्र हशपरे कार्यमिष्टं, न तु वकारपरे । नापि परसूत्र-
मिष्टम् ॥ २६ ॥

¹ सं. १-१-२.

² सं. २-४-८.

³ सं. २-५-३.

⁴ सं. ५-६-५.

⁵ सं. २-१-३.

⁶ सं. २-१-२.

⁷ सं. २-१-८.

⁸ सं. ५-१-१.

⁹ „ ७-१-६.

हकारे शकारे वकारे च परतः लकारो द्वित्वं नाश्रुते ।
ह—‘आदित्यां मल्हाम्’^१ । श—‘शतवल्शं विरोह’^२ । एतेन
शिक्षोक्तं लकारार्धरूपत्वं निरस्तं वेदितव्यम् । व—‘वैल्वो
यूपो भवति’^३ । स्वरितपरे तु वकारे परतो द्वित्वमिष्यते—

लकारस्य वकारेण संयोगे स्वरितो यदि ।

तदा संयुक्त एव स्यात् असंयुक्तस्ततोऽन्यथा ॥

इति शिक्षावचनात् । एतत्पर इति किम्? ‘विशल्यो घाणा-
घा५ उत’^४ ॥ २६ ॥



स्पर्शस्पर्शपरः ॥ २७ ॥

एकेषां मते स्पर्शपरः स्पर्शो न द्वित्वमापद्यते । यथा—
“वाग्देवी”^५ । “अषामोज्जमानम्”^६ । “आट्टणारः”^७ । “सप्त-
तवत्”^८ । “यममवानः”^९ । स्पर्शः परो यस्मादसौ स्पर्शपरः ॥

स्पर्शो परतः स्पर्शो द्वित्वं नाश्रुते । ‘तस्यै त्यक्चर्म’^{१०} ।
‘न विष्वद्प्रजया’^{११} । ‘तज्जयानां जयत्वम्’^{१२} । ‘यश्चिया यश्चि-
यानाम्’^{१३} । ‘पिण्डान्मयच्छति’^{१४} ।

परस्परेण संयोगस्पर्शानां तु भवेद्यदि ।

तत्पूर्वस्य श्रुतिर्नास्ति प्राहुस्तेषामिदं मतम् ॥

१ सं. २-१-२.

१ स्तर.

२ सं. ४-६-६.

३. १-५-५.

४. ३-४-४.

५ सं. १-१-२.

६ सं. ४-५-१.

७. ५-६-५.

८. ५-२-११.

९. ४-६-१.

१० सं. २-१-८.

११ सं. १-७-१०.

१२. २-२-१२.

१३. १-५-१.

१४ सं. २-३-८.

आचार्यस्तु सवर्णसवर्गीयपरस्यैव द्वित्वाभावमिच्छति. तेन त-
स्यैव श्रुत्यभावोऽपि परिगृह्यते नान्यस्य ॥ २७ ॥

पदान्तश्च व्यञ्जनपरः प्राकृतः ॥ २८ ॥

व्यञ्जनपर इति स्पर्शव्यतिरिक्तव्यञ्जनपर इत्यर्थः । अन्यथा
स्पर्शानामपि ग्रहणे पूर्वसूत्रेऽपि स्पर्शपर इत्युक्तत्वात् पौनरुक्त्यं
स्यात् । ननु निमित्तविशेषान्निमित्तविशेषोऽप्यस्ति । पदान्तत्वं
प्राकृतत्वं च निमित्तिनो विशेषः । निमित्तस्थ तु सर्वव्यञ्जनात्मक-
त्वमिति चेत् । तथाऽपि स्पर्शभागे निमित्तविशेषस्य वैयर्थ्यम् ।
स्पर्शपर इत्यत्र सामान्येन निमित्तविशेषस्यापि गतत्वात् । तस्मा-
दन्तस्थादय एवात्र व्यञ्जनशब्देनोच्यन्ते । चकारः स्थानिस्पर्शा-
कर्षकः पारिशेष्यान्नकारस्यानुकर्षणम्^१ । तथाहि—अन्तस्थादिव्यञ्ज-
नपरत्वे सत्यन्यस्पर्शानामविकृतानां पदान्ते स्थितिर्नास्ति । “सन्नाद्”^२
इत्यत्रास्तीति चेत्, मेवम् । “न सःसामिति रापरः” (१३-४)
इत्यत्र वैयर्थ्यात्, इतिशब्दो मकारस्य द्वित्वसद्भावं बोधयती-
त्यध्ययनानुरोधोपादितम् । तस्मान्नैष निषेधविषयः । नापि “ब्र-
ह्मण्वन्तः”^३ । “न्यद् रश्मिभिः”^४ इत्यादिविषयः । कुतः ? इह
प्राकृत इति विशेषणं विकृतसद्भावं कल्पयति । अन्यथा स्वस्य
वैयर्थ्यात् । तच्च विकृतत्वं णकारस्य ङकारस्य अन्तस्थादिपरत्वे सति

^१चकारो ययपि स्पर्शमात्राकर्षकः तथाऽपि पारिशेष्यान्नकारस्यानुकर्षणम्.

^२सं. ४-४-१२.

^३सं. ६-४-१०.

^४सं. २-४-१०.

क्वचिदपि पदान्ते न दृश्यते । तस्मात् प्राकृत इति प्रयोग-
साफल्याय नकारस्यैवानुकर्षणं युक्तमिति पारिशेष्यम् । किञ्च-
माहिषेयेऽपि नकारस्यैवानुकर्षणं सिद्धवत्कृत्योक्तम् । तत्रैवं^१ सूत्रयो-
जना—एकेषां मते पदान्तः प्राकृतो नकारोऽन्तस्थादिव्यञ्जनपरो
द्वित्वं नापद्यते । यथा “जनान् यातयति”^२ । “ओमन्वती ते”^३ ।
“एतान् होमान्”^४ । पदान्त इति किं ? “अन्या यन्ति”^५ ।
ऽन्तस्थादिव्यञ्जनपर इति किं ? “तान् कल्पयति”^६ । “इमान्
भद्रान्”^७ । प्राकृत इति किं ? “तान् रक्षध्वम्”^८ । “वैष्णवान्
रक्षोहणः”^९ । ननु कथमत्र विकृतत्वम् ?

रेफाट्ठवर्णात् पूर्वश्च तवगच्चि परश्च नः ।

तवर्गस्थान इत्याहुरतत्स्थानोऽन्य उच्यते ॥

इति वचनादास्ति स्थानभेदकृतं विकृतत्वमिति ब्रूमः । शिक्षा
चैवं वक्ष्यति—

रेफपूर्वो नकारो यः पदान्तो यत्र दृश्यते ।

विशेषं तत्र जानीयात् द्वित्वमित्यभिधीयते ॥ इति ॥

व्यञ्जनमस्मात् परमिति व्यञ्जनपरः । प्रकृतिरिति, स्वभावः
ऽस्तम्बन्धी प्राकृतः ॥ २८ ॥

^१ तत्रैवं.

^२ सं. ३-४-११.

^३ सं. २-६-९.

^४ सं. १-६-४.

^५ „ २-५-१२.

^६ सं. ६-१-१.

^७ „ १-६-२.

^८ सं. १-२-७.

^९ „ १-३-२.

चदाब्देन स्पर्शोऽन्वादिश्यते । अस्पर्शपरार्थोऽयमारम्भः,
स्पर्शपरस्य पूर्वेण प्रतिषेधसिद्धेः । तदयमर्थः—पदान्तो यस्पर्-
शोऽस्पर्शो व्यञ्जने परतः प्राकृतो वर्तते, पदावस्थासिद्धाद्रूपात्र
प्रच्यवते, स द्वित्वं नाश्रुते । 'अर्वाल्चयः' । 'प्रत्यङ्गोत्तारम्' ।
'गुण्यतीमन्याह' । 'आदित्यान् याचिषामहे' । 'विद्यस्मि-
न्ताष्ट' । 'यस्मिन्त्यायुः' । 'उपास्मिन्त्यो यक्ष्यमाणे' । 'आ-
हूय ह्ये' । अत्र नकारे यचहपरे प्रतिषेध इष्टः । अन्यत्र नेष्टः ।
तथा च शिक्षा—

नकारान्तं पदं पूर्वमन्तरासु परासु च ।

नकारान्तरस्थयोर्मध्ये तत्र वर्णमसंयुतम् ॥ १ ॥

रेफपूर्वां नकारो यः पदान्तो यत्र दृश्यते ।

विशेषं तत्र जानीयात् द्वित्वमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

नकारान्तं पदं पूर्वं यकारादपरे यदि ।

विशेषं तत्र जानीयाद्वित्वमित्यभिधीयते ॥ ३ ॥ इति

यकारे प्रकाशनाः प्रविशन्तो नेष्यते । 'अस्मान् गृणक्तु वि-
भक्तः' । 'प्राञ्जल्यु' । नदप्युच्यते शिक्षायाम्—

संयुतो नयकारो धेदुवा परतो यदि ।

संयुतस्य गुः जानीयाधोभयोर्व्यङ्ग्यमित्यने ॥ इति ॥

अत्र प्रविशन्तोऽपि द्वित्वान्नाय एव प्राप्यते । द्वित्वान्नाय
तदनुवाक्यं भवति । अत्र एव 'रेफपूर्वाः' इत्यसंयुतपथाद्.

१. १-११.

२. १-१२.

३. १-१३.

४. १-१४.

५. १-१५.

६. १-१६.

७. १-१७.

८. १-१८.

९. १-१९.

१०. १-२०.

११. १-२१.

१२. १-२२.

तथा द्वित्वस्मरण^१ मुपपद्यते । पदान्त इति किम् ? 'अर्क्येण वै'^२ ।
 व्यञ्जनपर इति किम् ? 'युङ्सि'^३ । 'धन्वन्निव प्रपा असि'^४ ।
 प्राकृत इति किम् ? 'त्रिष्टुभ्याज्या'^५ । नन्वत्र ऊकारणकारयोरुदा-
 हरणमयुक्तम् तयोरस्पर्शव्यञ्जनपरत्वे विकाराभावादिति केचित् ।
 ७३ हि विरुद्धो हेतुः । यदप्युच्यते यः केषुचिदस्पर्शव्यञ्ज-
 नेषु परतः विक्रियते स एवात्र ग्राह्यः इति तत्रेदमुच्यते^६ ।
 विकारिणोऽपि ग्रहणे प्राकृतत्वविरोधः । अथ अविकार्येव
 ७४ ह्यते ; किमन्यत्र विकारेण ? तस्मान्नकारमात्रे प्रतिषेधव्यव-
 स्थापनं प्रति सम्यगुपायानवगमादेव क्लेश आश्रित^७ इत्यास्तामे-
 तत् ॥ २८ ॥

तदेवमत्र द्वित्यादिकार्याणि द्वित्वप्रतिषेधाश्च विहिताः.

अथाध्यायस्य शेषेण वर्णविशेषभूतानां अक्षराणां संहिता
 विधीयते—

उदात्तात्परोऽनुदात्तः स्वरितम् ॥ २९ ॥

प्रातिहतपादवृत्ततैरोव्यञ्जनविषयमेतत् । उदात्तात्परोऽनुदात्तः
 स्वरितमापद्यते । यथा—“स इधानः”^८ । “अधाव्रवीत्”^९ ।
 “प्रउगमुक्थम्”^{१०} । वर्णविभागावस्थायामनुदात्तत्वे सत्येव^{११} पुन-
 स्तत्संहितायामेतच्छ्रवणात् स्वरितत्वं “प्रउगम्”^{१२} इत्यादौ विज्ञेयम् ॥

^१ द्वित्वविधान, द्वित्वनिवारण. इति पाठद्वयम्.

^२ सं. ७-६-९.

^३ सं. १-८-१९.

^४ सं. २-६-१२.

^५ २-६-२.

^६ तत्रेदमुपयुज्यते.

^७ तस्मान्नकारमात्रप्रतिषेधस्य ध्व.

^८ आश्रयते.

^९ सं. ४-४-४.

^{१०} १-२-११.

^{११} ४-४-२.

^{१२} अनुदात्तस्यैव.

उदात्तत्वादयस्स्वराणां गुणाः । कुतः ? 'उच्चैरुदात्तः'
 (१-३८) इत्यादिषु पुल्लिङ्गनिर्देशसामर्थ्यतया स्वरशब्दानुवर्त-
 नात् । मूलशास्त्रे च 'अचश्च'^१ इत्याधिकृत्य 'उच्चैरुदात्तः'^२
 इत्यादि तल्लक्षणं स्मर्यते । 'स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्'^३ ।
 इति च । व्यञ्जनेषु चोदात्तत्वाद्युपलम्भस्तु स्वरसन्निधानो-
 पाधिकृतः, यथा भूतलादिषु घटोपलम्भः^४ प्रदीपादिसन्निधान-
 कृतः । अङ्गसंहिता तु तत्तत्स्वरगुणव्याप्तसीमाविभागाथतया
 अन्यथोपपद्यमानानां व्यञ्जनानामुदात्तादिगुणयोगं स्वाभाविकं
 कल्पयितुमक्षमा । तस्मादयं स्वरविधिरक्षरासाधारणधर्मसम्बन्धि-
 त्वात्तद्विशिष्टाक्षरनिमित्तविषयत्वाच्च^५ अक्षरसंहिताविधिरिति म-
 न्यामहे । 'उदात्तमुदात्तवति' (१०-१०) इत्यादिस्तु स्वर-
 विधिः पदसंहितोपजीवित्वात्पदसंहिता^६ नाक्षरसंहिता^७ भावि-
 तुमर्हति । अत एव तत् ऊर्ध्वम् 'अथ घर्णनाम्' (१३-५)
 इत्यधिकारः कृत इति वेदितव्यम् । उदात्तगुणात्स्वरात्परोऽ-
 नुदात्तगुणः स्वरितगुणमादेशमश्नुते । यथा—'अनमीवा अय-
 क्षमाः'^८ । 'प्रउगमुफथम्'^९ । ननु 'प्रउगमुफथम्'^{१०} इत्यादौ स्वाभा-
 विकस्वरितः । नैतदेवम् ॥ नित्य एव स्वाभाविकस्वरितः अन्ये
 स्वरिता नैमित्तिकाः । यथा—'अनमीवा अयक्षमाः'^{११} इत्यत्र पूर्वं
 उदात्तो निमित्तं स्वरितस्य । एवं 'प्रउगमुफथम्'^{१२} इत्यत्रापि । अनु-
 दात्तस्तु प्रकृत्या यथा—'पितृणां सदनमसि'^{१३} इत्यादिषु नकारः
 प्रकृतिः तस्य ककारादिनिमित्तकं णत्वमिति विधित एवाद्यगम्यते,

^१ पा. १-२-२८, २९. ^२ परिभाषेन्दुशेपरे (७९).

प्रभोपलम्भः.

^४ सि.

^५ त्वात्स्वरविशिष्टाक्षरविषयत्वाच्च.

^६ त्वात्पदसंहितान्तर्भूता.

^७ त्वात्पदसंहिताक्षरसंहिता.

^८ सं. १-१-१.

^९ सं. ४-४-२.

^{१०} सं. ३-३-१.

एवमिहापि वर्णसंहिताऽधिकारे विधानात् समानपदस्थादापि उदात्तात्परस्वरितः प्रकृत्याऽनुदात्तः, तस्य पूर्वोदात्तनिमित्तकं स्वरितत्वमिति वेदितव्यम् । तदुक्तं मूलशास्त्रे 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्'^१ इति । अस्यार्थोऽस्माभिस्स्वरसम्पदि विवृतः

नीचं प्रकृत्या सकलमुदात्तादन्यदक्षरम् ।

सोदात्ते निरुदात्ते तु पदे यत्स्वरितात्तथा ॥ इति ॥

उदात्तादिति किम् ? 'तदतिग्राह्या अभवन्'^२ ॥ २९ ॥

व्यञ्जनान्तर्हितोऽपि ॥ ३० ॥

व्यञ्जनान्तर्हितोऽप्युदात्तात् परोऽनुदात्तः स्वरितमापद्यते । यथा—
“तदग्ने अनुणः”^३ । “यत्त्वा ह्दा”^४ इत्यादि । अन्तर्हितो व्यवहित इत्यर्थः ॥ ३० ॥

अपिशब्देन पूर्वसूत्रपदान्यन्वादिश्यन्ते । एकेन द्वाभ्यां बहुभिर्वा व्यञ्जनैर्व्यवहितोऽप्युदात्तात्परोऽनुदात्तस्वरितमश्नुते ।
'अवधूतः रक्षः'^५ । 'रुक्मामः'^६ । 'इषे त्वा'^७ । 'कृष्णोऽस्ति'^८ । 'विष्णुस्थितः'^९ । 'नास्माद्राष्ट्रं भ्रूयते'^{१०} । 'नास्येन्द्रियं वीर्यं वृद्धे'^{११} ।
'अथाग्रचीत्'^{१२} । इत्याद्याचैकादेशः प्रथमं भवतीत्युक्तम् ॥ ३० ॥

नोदात्तस्वरितपरः ॥ ३१ ॥

उदात्तपरः स्वरितपरो वा उदात्ताद् परोऽनुदात्तः स्वरितं न-

^१ पा. ६-२-१५७.

^२ स. ६-६-८.

^३ सं. ३-३-८.

^४ स. २-४-४६.

^५ सं. १-१-६.

^६ स. ३-३-३.

^७ सं. १-१-१.

^८ „ २-२-२२.

^९ „ २-४-२२.

^{१०} „ ६-७-४.

^{११} „ २-२-९.

^{१२} „ ३-२-११.

पद्यते । यथा—“स इमं लोकम्”¹ । “तस्मात्त आद्याः”²
 “कीरिणा मन्यमानः”³ । “तस्ये व्यृद्धम्”⁴ । उदात्तश्च स्वरितश्चोदा-
 त्तस्वरितो, तौ परौ यस्मात् सः, तथोक्तः ॥ ३१ ॥

उदात्तश्च स्वरितश्चेति द्वन्द्वः । तयोः परतः उदात्तात्परोऽ-
 नुदात्तः अनन्तर्हितो व्यञ्जनान्तर्हिताऽपि स्वरितं नाश्रुते । ‘ध्रुवा
 अस्मिन्’⁵ । ‘स उक्थ्येन रुद्रान्’⁶ । ‘यच्छूद्रे यदये’⁷ । ‘ता-
 स्सृष्टाः श्रुधं न्यायन् स एतं नवरात्रमपश्यत् तमाहरत्तेनायजत’⁸ ।
 उदात्तस्वरितपर इति किम् ? ‘सूक्ष्मायमिव’⁹ । ‘अथैता आहु-
 तीः’¹⁰ । ‘पौर्णमासीं चोक्थ्यं च’¹¹ । ‘अनन्तरस्य भवति विधिर्वा
 प्रतिपेधो वा’¹² इति न्यायात् । सैप्रनित्यप्रश्लिष्टाभिनिहितानामयं
 प्रतिपेधो न भवति । ‘अन्नाद्यमेवाभ्युपावर्तते’¹³ । ‘तस्य नादयं
 कामम्’¹⁴ । ‘मासृत्तिष्ठन्’¹⁵ । ‘लोकेऽस्मिन् गोष्ठेऽस्मिन्’¹⁶ ॥ ३१ ॥

नाग्निवेश्यायनस्य ॥ ३२ ॥

पूर्वसूत्रस्य प्रतिप्रसवार्थोऽयं नकारः । उदात्तात्परोऽनुदात्तः
 आग्निवेश्यानाय मो उदात्तपरः स्वरितपरो वा स्वरितं नापद्यत
 इति न । पूर्वोक्तान्येवोदाहरणानि ॥ ३२ ॥

¹ सं. १-५-९.

² सं. ७-१-१.

³ सं. १-४-६६.

⁴ „ ६-५-६.

⁵ „ १-१-१.

⁶ „ ३-१-५.

⁷ „ १-८-३.

⁸ „ ७-२-४.

⁹ „ ६-२-४.

¹⁰ „ २-४-६.

¹¹ „ १-६-९.

¹² परिभाषेन्दुशेखरे.(६१)

¹³ „ ५-४-९.

¹⁴ „ २-५-१.

¹⁵ सं. ७-५-२.

¹⁶ „ १-५-६.

अग्निवेद्यायनस्य मते अनन्तराद्विहितप्रातिहतपादवृत्तैरो-
व्यञ्जनात्मकोऽपि स्वरितो न प्रतिषिध्यते । यथा—‘नास्मै ब्रा-
तृव्यं जनयति’^१ । ‘द्राणे अन्धस्तस्पते’^२ । पादवृत्तरय नास्त्यु-
दाहरणम् ॥ ३२ ॥

सर्वो नेत्येके सर्वो नेत्येके ॥ ३३ ॥

न केवलमुदात्तात् परः,^३ किन्तु सर्व एव सप्तविधस्वरितो ना-
स्तीत्येके शाखिनो मन्यन्ते । तथाहि—वाजसनेयिब्राह्मणे द्वावेव
स्वरावुदात्तश्चानुदात्तश्च । नेदं सूत्रद्वयमिष्टम् ॥ ३३ ॥

इति त्रिभाष्यरते प्रातिशाख्यविवरणे चतुर्दशोऽध्यायः ॥

न केवलमनन्तराद्विहितस्यैव स्वरितस्य प्रतिषेधः “नोदा-
त्तस्वरितपरः” (१४-११) इति, किन्तु सर्व एव स्वरितः क्षेप्रादि-
रपि एवं सति न भवतीति एकैरां मतम् । तथा वाजसने-
यिनस्तमामनन्ति—‘वाहुशर्ध्यूर्ध्वधन्वा’^४ । ‘संशितं धीर्यं बलम्’^५
इत्यादि । तत्रैवोदाहरणं द्रष्टव्यम् । न तु वाजसनेयके सर्व-
स्वरिताभावोऽस्मिन्सूत्रे कथ्यत इति युक्तं बलम् । तत्रोदात्तस-
मशेषस्य स्वरितस्य प्रसिद्धत्वात् । नेदं सूत्रद्वयमिष्टम् ॥ ३३ ॥

इत्याचार्यगार्ग्यगोपालमिश्रविरचिते वैदिकभरणस्य
प्रातिशाख्यव्याख्याने चतुर्दशोऽध्यायः.

अथ पञ्चदशोऽध्यायः.

नकारस्य रेफोष्मयकारभावाल्लुप्ते च मलो-
पाच्च पूर्वस्वरोऽनुनासिकः ॥ १ ॥ .

नकारस्य रेफभावादूष्मभावाद्यकारभावाच्चकाराकृष्ट्यकारे लुप्ते सति
मलोपाच्च पूर्वस्वरोऽनुनासिको भवति, सानुनासिको भवतीत्यर्थः ।
यथा रेफभावात्—“अग्नी२रप्मुपदः”^१ । यथा ऊष्मभावात्—
“कर्णा३श्चाकर्णा३श्च”^२ । “त्री३स्तृचान्”^३ । यकारभावाद्यकारे
लुप्ते यथा—“महा३इन्द्रः”^४ । मकारलोपाद्यथा—“प्रत्युष्ट३
रक्षः”^५ । “स३शितं मे ब्रह्म”^६ इत्यादि । मकारस्य लोपो
मलोपः, तस्मात् ॥ १ ॥

*अथ पञ्चदशाध्यायेऽनुनासिकास्वरस्य विधायन्ते—प्रस-
ञ्जादनुस्वारादि ॥

रेफोष्मयकारभावादिति भावशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते ।
नकारस्य रेफभावादूष्मभावाद्यकारभावाच्च पूर्वस्वरोऽनुनासिको
भवति । लुप्ते चेति चशब्देन यकारभावाद्यकारादिद्वयते । यकार-
भावे नकारस्य लुप्ते पूर्वस्वरोऽनुनासिको भवति । मलोपाच्च

^१ ग. ५-६-१.

^२ स. १-८-१.

^३ स. २-१-१०.

^४ स. १-८-२०.

^५ स. १-१-२.

^६ स. ४-१-१०.

१ दक. एभाव एशब्दा,

पूर्वस्वरोऽनुनासिको भवति । “अनितिपरो ब्रह्मोऽय” (१-२०) इत्यादिना नकारस्य रेफ्यकारभावावुक्तौ । “नकारश्शकारं च परः” (५-२०) “तर्ह्यस्त्वस्मिन्” (६-१४) इत्युष्मभावः । ‘लुप्येते त्यवर्णपूर्वौ यवकारौ’ (१०-६९) इति यलोपः । ‘अथ मकारलोपः’ (१३-१) इति मलोपः । रेफभावात्—‘ये वा घनस्पतीरन्तु’^१ । ऊष्मभावात्—‘शुक्लाश्च कृष्णाश्च’^२ । ‘शततर्ह्यस्त्वहन्ति’^३ । यकारभावात्—‘न्यमित्राश्च ओपतात्तिग्महेते’^४ । नकारस्थानीये यकारे लुप्ते—‘न्यमित्राश्च ओपतात्’^५ । मलोपात्—‘प्रत्युष्टश्चक्षः’^६ । नेदं सूत्रमिष्टम् ॥ १ ॥



नैकेषाम् ॥ २ ॥

एकेषां मते पूर्वसूत्रोक्तेषु नानुनासिक्यं भवति । उक्तान्येवोदाहरणानि । इदमेवेष्टं न तु पूर्वम् ॥ २ ॥

एकेषां मते यथोक्तेषु पूर्वस्वरेष्वानुनासिक्यगुणो न भवति ॥ २

ततस्त्वनुस्वारः ॥ ३ ॥

तत इति सर्वनाम्ना परामृष्टात् पूर्वस्वरात् परोऽनुस्वारागमो भवति । यथा—“स त्रीरेकादशा इह”^७ । परामृष्टस्वरस्यानुनासिक^८ गुणं तुशब्दो निवर्तयति । तस्मादनुनासिकप्रतिषेधपक्ष एवायमनुस्वारागमः स्यात् ॥ ३ ॥

^१ सं. ४-२-८.

^२ सं. २-३-१.

^३ सं. १-६-१.

^४ सं. १-२-१४.

^५ सं. १-१-२.

^६ सं. ३-२-११.

^७ परामृष्टस्वरस्यानुनासिक्यं.

किंतु—

ततः तस्मात्स्वरात्परमनुस्वारस्त्वागमो भवति । 'ये धा वनस्प-
तींरनु' ^१ । 'शुक्लांश्च कृष्णांश्च' ^२ । 'शततर्ह्यांश्च हन्ति' ^३ ।
'न्यामित्रांश्च ओपतात्' ^४ । 'प्रत्युष्टं रक्षः' ^५ । स्वमतस्यायमुपन्या-
सः । तत्रैकेषामित्युक्तिरविरुद्धा ; अनुनासिकवादिभ्योऽन्यत्वा-
त् स्वेषाम् । स्वमतेऽपि यकारश्चणस्यानिष्टत्वात्तल्लोपपक्ष एवो-
दाहृत इत्यनुसन्धेयम् ॥ ३ ॥

—८००—

स्त्रादिषु चैकपद ऊष्मपरः ॥ ४ ॥

आगमान्वादेशकः चकारः । स्त्रादिष्वेकपदे अखण्डपदे ऊष्म-
परोऽनुस्वारगमो भवति । यथा—“शोऽसामोद इव” ^१ । स्त्रादि-
ष्विति किं ? “तासां त्रीणि च” ^२ । एकपद इति किं ?
“तं मा सःसृज” ^३ । अखण्डविशेषणेन किम् ! “त्रिपाहस्तौ
वे” ^४ । ऊष्मपर इति किं ? “माया मायिनाम्” ^५ ॥ ४ ॥

“स्रशोहपाश” (१६-२) इत्यादिषु उत्तराध्यायभाविषु ब्र-
ह्मणेषु यः शब्दः, स खलु समानपदस्थे ऊष्मणि परतः परमनु-
स्वारमुपगच्छति । अनेनोत्तराध्यायवर्तिनां विधीनां नियमः क्रियते-

^१ ग. ४-२-८.

^२ सं. २-२-१.

^३ सं. १-५-७.

^४ , १-२-१४.

^५ , १-१-२.

^६ स्वमते तु.

^७ , २-२-९.

^८ , २-५-८.

^९ सं. १-१-४५.

^{१०} , ६-६-८.

^{११} , ३-१-११.

ऊष्मपर एव शब्दः परमनुस्वारमुपगच्छति, समानपदस्थ एव ऊष्मणि परे इति । तेन 'द॒स॒नाभ्यो द॒सोभिः' (१६-१९) इत्यादावनूष्मपरस्यानुस्वारागमो न भवति । तथा—'पाहि सोमम्',^१ 'दिवि हि सूर्यम्',^२ इति नानापदस्थेऽप्यूष्मणि परतः न भवति ॥ ४ ॥



नान्तविकारात् पूर्वः ॥ ५ ॥

न खलु पदान्तविकारात् पूर्वस्मिन्ननुस्वारागमो भवति । यथा—“वहिस्ते अस्तु”^३ । “हिपुजिग” (१६-१३) इति प्राप्तिः । अन्तविकारादिति किं ! “मा हि॒सोर्द्धिपादम्”^४ । अन्तस्य विकारः अन्तविकारः तस्मादन्तविकारात् ॥ ५ ॥

अन्तविकारादित्यूष्मविशेषणम् । पदान्तवर्णस्य विकारभूतादूष्मणः पूर्वशब्दः परमनुस्वारं नोपगच्छति । यथा—“वहिस्ते अस्तु यालिति” । “हिपुजिग” (१६-१३) इति प्राप्तिः ॥ ५ ॥



अप्रग्रहाः समानाक्षराण्यनुनासिकान्येकेषाम् ॥

यानि समानाक्षराणि अप्रग्रहसंज्ञानि तानि एकेषां मते भवन्त्यनुनासिकानि । यथा—“कुलायिनी वसुमती”^५ । अप्रग्रहा

^१स. १-४-३.

^२सं. ६-१-१२.

^३सं. ३-३-१०.

^४स. ४-३-१०.

^५स. ४-३-४.

किंनु—

ततः तस्मात्स्वरात्परमनुस्वारस्त्वागमो भवति । 'ये वा वनस्प-
तीरनु' ^१ । 'शुक्लाः५ अ कृष्णाः५ अ' ^२ । 'शततर्होः५ स्तृः५ हन्ति' ^३ ।
'न्यामित्राः५ ओषतात्' ^४ । 'प्रत्युष्टः५ रक्षः' ^५ । स्वमतस्यायमुपन्या-
सः । तत्रैकेषामित्युक्तिरविरुद्धा ; अनुनासिकवादिभ्योऽन्यत्वा-
त् स्वेषाम् । स्वमतेऽपि यकारश्चवणस्यानिष्टत्वात्तल्लोपपक्ष एवो-
दाहृत इत्यनुसन्धेयम् ॥ ३ ॥

—८००—

स्रादिषु चैकपद ऊष्मपरः ॥ ४ ॥

आगमान्वादेशकः चकारः । स्रादिष्वेकपदे अखण्डपदे ऊष्म-
परोऽनुस्वारागमो भवति । यथा—“शोः५ सामोद इव” ^१ । स्रादि-
ष्विति किं ? “तासोः त्रीणि च” ^२ । एकपद इति किं ?
“तं मा सः५ सृज” ^३ । अखण्डविशेषणेन किम् ! “त्रिपाहस्तो
वे” ^४ । ऊष्मपर इति किं ? “माया मायिनाम्” ^५ ॥ ४ ॥

“स्रशोहपाश” (१६-२) इत्यादिषु उत्तराध्यायभाविषु ग्र-
हणेषु यः शब्दः, स खलु समानपदस्थे ऊष्मणि परतः परमनु-
स्वारमुपगच्छति । अनेनोत्तराध्यायवर्तिनां विधीनां नियमः क्रियते-

^१ सं. ४-२-८.

^२ सं. २-३-१.

^३ सं. १-५-७.

^४ सं. १-२-१४.

^५ सं. १-१-२.

^६ स्वमते तु.

^७ सं. ३-२-१.

^८ सं. २-५-८.

^९ सं. १-६-४५.

^{१०} सं. ५-६-८.

^{११} सं. ३-१-११.

ऊष्मपर एव शब्दः परमनुस्वारमुपगच्छति, समानपदस्थ एव ऊष्मणि परे इति ।^१ तेन 'दक्षसनाभ्यो दक्षसोभिः' (१६-१९) इत्यादावनूष्मपरस्यानुस्वारागमो न भवति । तथा—'पाहि सोमम्',^२ 'दिवि हि सूर्यम्',^३ इति नानापदस्थेऽप्यूष्मणि परतः न भवति ॥ ४ ॥



नान्तविकारात् पूर्वः ॥ ५ ॥

न खलु पदान्तविकारात् पूर्वस्मिन्ननुस्वारागमो भवति । यथा—“वहिस्ते अस्तु”^४ । “हिषुजिग” (१६-१३) इति प्राप्तिः । अन्तविकारादिति किं ! “मा हिंसीद्विपादम्”^५ । अन्तस्य विकारः अन्तविकारः तस्मादन्तविकारात् ॥ ५ ॥

अन्तविकारादिशूष्मविशेषणम् । पदान्तवर्णस्य विकारभूतादूष्मणः पूर्वशब्दः परमनुस्वारं नोपगच्छति । यथा—“वहिस्ते अस्तु”^६ । “हिषुजिग” (१६-१३) इति प्राप्तिः ॥ ५ ॥



अप्रग्रहाः समानाक्षराण्यनुनासिकान्येकेषाम् ॥

यानि समानाक्षराणि अप्रग्रहसंज्ञानि तानि एकेषां मते भवन्त्यनुनासिकानि । यथा—“कुलायिनी वसुमती”^७ । अप्रग्रहा

^१ सं. १-४-३.

^२ सं. ६-१-११.

^३ सं. १-३-१०.

^४ सं. ४-२-१०.

^५ सं. ४-३-४.

किंतु—

ततः तस्मात्स्वरात्परमनुस्वारस्त्वागमो भवति । 'ये वा वनस्प-
तोऽरु' । 'शुक्लाः^१श्च रुष्णाः^२श्च' । 'शततर्हाः^३ स्तृ^४ हन्ति' ।
'न्यमित्राः^५ ओपतात्' । 'प्रत्युष्टः^६ रक्षः' । स्वमतस्यायमुपन्या-
सः । तत्रैकेषामित्युक्तिरविरुद्धा; अनुनासिकवादिभ्योऽन्यत्वा-
त् स्थेपाम् । स्वमतेऽपि^७ यकारश्चवणस्यानिष्टत्वात्तल्लोपपक्ष एवो-
दाहृत इत्यनुसन्धेयम् ॥ ३ ॥

—०—

स्त्रादिषु चैकपद ऊष्मपरः ॥ ४ ॥

आगमान्वादेशकः चकारः । स्त्रादिष्वेकपदे अखण्डपदे ऊष्म-
परोऽनुस्वारागमो भवति । यथा—“शोः^८सामोद इव” । स्त्रादि-
ष्विति किं ? “तासां त्रीणि च”^९ । एकपद इति किं ?
“तं मा सः^{१०}सृज” । अखण्डविशेषणेन किम् ! “त्रिपाहस्तो
वे”^{११} । ऊष्मपर इति किं ? “माया मायिनाम्”^{१२} ॥ ४ ॥

“स्रशोहपाश” (१६-२) इत्यादिषु उत्तराध्यायभाविषु ब्र-
ह्मणेषु यः शब्दः, स खलु समानपदस्थे ऊष्मणि परतः परमनु-
स्वारमुपगच्छति । अनेनोत्तराध्यायवर्तिनां विधीनां नियमः क्रियते-

^१ स. २-२-८.

^२ सं. २-२-१.

^३ सं. १-५-७.

^४ , १-२-१४.

^५ ,, १-१-२.

^६ स्वमते तु.

^७ ,, २-२-९.

^८ ,, २-५-८.

^९ स. १-४-४५.

^{१०} ,, ५-६-८.

^{११} ,, ३-१-११.

ऊष्मपर एव शब्दः परमनुस्वारमुपगच्छति, समानपदस्थ एव ऊष्मणि परे इति । तेन 'द२सनाभ्यो द२सोभिः' (१६-१९) इत्यादावनूष्मपरस्यानुस्वारागमो न भवति । तथा—'पाहि सोमम्',^१ 'दिवि हि सूर्यम्',^२ इति नानापदस्थेऽप्यूष्मणि परतः न भवति ॥ ४ ॥

नान्तविकारात् पूर्वः ॥ ५ ॥

न खलु पदान्तविकारात् पूर्वस्मिन्ननुस्वारागमो भवति । यथा—“वहिस्ते अस्तु”^३ । “हिपुजिग” (१६-१३) इति प्राप्तिः । अन्तविकारादिति किं ! “मा हि२सीर्द्धिपादम्”^४ । अन्तस्य विकारः अन्तविकारः तस्मादन्तविकारात् ॥ ५ ॥

अन्तविकारादित्यूष्मविशेषणम् । पदान्तवर्णस्य विकारभूतादूष्मणः पूर्वशब्दः परमनुस्वारं नोपगच्छति । यथा—“वहिस्ते अस्तु चालिति”^५ । “हिपुजिग” (१६-१३) इति प्राप्तिः ॥५॥

अप्रग्रहाः समानाक्षराण्यनुनासिकान्येकेषाम् ॥

यानि समानाक्षराणि अप्रग्रहसंज्ञानि तानि एकेषां मते भवन्त्यनुनासिकानि । यथा—‘कुलायिनी वसुमती’^६ । अप्रग्रहा

^१ सं. १-४-३.^२ सं. ६-१-११.^३ सं. ३-३-१०.^४ सं. ४-२-१०.^५ सं. ४-३-४.

इति किं! “अमी इति”¹ । “तनू इति”² । “समानाक्षरा-
णीति किं! “सो एवैतस्य”³ । प्रग्रहाक्षरशब्दयोर्नियतलिङ्ग-
तया परस्परांशयो घटते । न प्रग्रहाः अप्रग्रहाः ॥ ६ ॥

अप्रग्रहा इति प्रग्रहव्यतिरिक्तानां तत्सदृशानामेव ग्रहणम्
यथा—अग्राहण इति क्षत्रियादेः । तदयमर्थः—प्रग्रहव्यतिरिक्तानि
पदान्तभूतानि समानाक्षराण्यनुनासिकानि भवन्ति इत्येकेषां
मतम् । यथा—‘तस्य व्राता भवसि’⁴ । ‘यशो मयि दधती
प्राणान्’⁵ । ‘मधु मधुनाऽमि योधि’⁶ । अप्रग्रहा इति किम्? ‘द्वे-
धेनू भौमी’⁷ । समानाक्षराणीति किम्? ‘नियुद्धिर्चायविष्टये
दुरोणे’⁸ ॥ ६ ॥

पदं च लुतः शाङ्खायनकाण्डमायनयोः ॥

यत् लुतवत् पदं, तच्च पदकाले शाङ्खायनकाण्डमायनयोर्मते
अनुनासिकं भवति । यथा—“त्वी३ इत्यब्रवीत्”⁹ । “अस्तु
ही३ इत्यब्रूताम्”¹⁰ । पदमिति किं! संहितायां मा भूत् । चंश-
ब्दः पूर्वसूत्रोक्तविधेयसमुच्चयं करोति । अपरे त्वाहुः—प्लुतैक-
स्वरं पदमिति अन्यन्मा भूत् । “न छिनत्ती३ इति”¹¹ । “न
विनित्या३ इति”¹² । नेदं सूत्रद्वयमिष्टम् ॥ ७ ॥

¹ सं. ३-२-७.

² सं. २-२-७.

³ सं. २-२-९.

⁴ ,, २-२-१४.

⁵ ,, ३-१-१०.

⁶ ,, ३-१-१०.

⁷ ,, ६-६-२१.

⁸ ,, २-२-१२.

⁹ शाखा इति वेदिकाभरणपाठः.

¹⁰ ,, २-४-१२.

¹¹ ,, ७-१-६.

¹² सं. १-७-२.

¹³ ,, ६-१-९.

चशब्देन समानाक्षराण्यनुनासिकानीत्यन्वादिश्यन्ते । इह तु पदमित्येकवचनश्रवणादेकवचनान्ततया विपरिणामः । तदयमर्थः—
 प्लुतं समानाक्षरं पदान्तभूतं पदं पदावस्थायां अनुनासिकं भवति
 शाखायनस्य काण्डमायनस्य च मतात् । पदमिति संहिताधि-
 कारस्यापवादः । यथा—‘छिनत्ति । सा । न । छिनत्ती३ । इति’^१
 ‘सहस्रा३म्’^२ । ‘जुह्वानी३’^३ । ‘अन्विति । एतो३’^४ । पद-
 मिति किम् ? संहितायां मा भूत् ‘सा न छिनत्ती३ इति’^१ । ‘जु-
 ह्वानी३ मा’^३ । ‘अन्वेतो३ सहस्रतमी३ सहस्रा३म्’^२ इति ।
 प्लुतमिति किम् ? ‘तस्य त्रंता भवसि तस्य सखा’^५ । नेदं
 सूत्रद्वयमिष्टम् ॥ ७ ॥

अकारस्तु संहितायामपि ॥ ८ ॥

सान्निध्यादनुनासिकप्लुतौ गृह्येते । तुशब्दः प्राकृताचार्यमेतनि-
 वर्तकः । अत एव संहितायामसंहितायां च अकारः पदान्तः प्लुतोऽ-
 नुनासिको भवति । यद्यप्यकार इति सामान्येनोक्तः, तथाऽपि
 ‘अन्वादेशोऽन्त्यस्य’ (१-९८) इतिवचनादपिशब्दोऽनुनासिकधर्म-
 तथा निमित्तिनं पदान्तमेवाकारमन्वादिशति । यथा—‘सुष्ठोकां४
 सुमगला४म्’^१ । ‘उपहूता४म्’^२ । ‘यशो ममां४म्’^३ । ‘यद्वो४म्’^४
 इत्यन्यस्यां शास्त्रायाम् । अपिशब्दः किमर्थः—‘सत्पराजा३न्’^५ ।

१ स. १-७-२.

२ सं. ७-१-७.

३ सं. ६-५-९.

४ सं. १-२-१४.

५ स. १-८-१६.

६ „ २-६-७.

७ „ ७-४-२०.

८ आ. ५-१.

“अग्रा३ इत्याह”^१ । “विचित्यस्सोमा३न विचित्या३ इति”^२ ।
शाङ्खायनकाण्डमायनयोरप्ययं विधिरकारप्लुते सम्मतः ॥ ८ ॥

तुशब्दः परमतं व्यावर्तयति । अपिशब्दस्समुच्चये । तेनेदं
स्वमतमिति सिद्धम् । अकारः पदान्तः प्लुतः सहितायामनुना-
सिको भवति । अपिशब्दात्पदविभागेऽपि । ‘सुश्लोकां४ सुम-
गला४म्’^३ । ‘उपहृता४म्’^४ । ‘यशो ममा४म्’^५ । ‘सुश्लोक सुमङ्गल
उपहृतेत्यामन्त्रितैक्यचनान्तानां अकारान्तप्रातिपदिकानां प्लुतान्ता-
नामेतानि रूपाणि । ‘शाची३न् यशो मम’^६ इत्यस्मच्छब्दपष्ठ्येक-
चनान्तस्यामन्त्रितात्परस्य पूर्वाङ्गत्यस्मरणात् ‘आमन्त्रितस्य च’^७
इति पदद्वयस्यैक्यद्रूतस्याधुदात्तस्य सत आमन्त्रितलक्षण एव
प्लुतादेशः । तस्मादेपां प्लुतानामकारः प्रकृतिः ॥ ‘सुश्लोकां४
इति सु—श्लोका४म्’^८ । ‘सुमङ्गलां४ इति सु—मङ्गला४म्’^९ । ‘उप-
हृतां४ इत्युप—हृता४म्’^{१०} । ‘यशः । ममा४म्’^{११} । अकार इति किम् ।
‘छिनत्ती३ इति’^{१२} । ‘अग्रा३ इति’^{१३} पदान्त इति किम् ? ‘ब्रह्मा३न्’^{१४}
प्लुत इति किम् ? ‘न ह स्म वै पुराऽग्निः’^{१५} ॥ ८ ॥

सर्वमेकयमं पूर्वेषां सर्वमेकयमं पूर्वेषाम् ॥

सर्वं वर्णनात्मेकयमं एकश्रुतीति पूर्वेषां मतम् । यमो नाम
सारः, उदात्त इत्यर्थः । पूर्वं नाम याज्ञिकाः, तेषां यज्ञकर्मणि

^१ सं. ६-१-८.

^२ सं. ६-१-९.

^३ सं. १-८-१६.

^४ „ २-६-७.

^५ „ ७-४-२०.

^६ पा. ६-१-१९८.

^७ „ १-७-२.

^८ „ ५-१-२०.

^९ तेषां मते यज्ञकर्मणि.

सर्वमेकश्रुति भवति । अन्ये मन्यन्ते, पूर्वे नाम केचिच्छाखि-
नः, तेषां सर्वमेकश्रुतीति । अयापरे कथयन्ति—सर्वमेकस्वरमनु-
नासिकं भवतीति, समानाक्षरमात्रापेक्षामधिक्षेप्तुम्^१ । नेदं सूत्रमिष्टम् ॥

इति त्रिभाष्यरत्ने प्रातिशाख्यविवरणे

पञ्चदशोऽध्यायः.

यमशब्दोऽक्षरगुणभूत उदात्तादिस्वरं वर्तते । सर्वमक्षर-
जातं एकस्वरम्, एकश्रुतिस्वरेण प्रयोक्तव्यमिति पूर्वेपां मतम् ।
पूर्वे वैयाकरणाः । एतच्छास्त्रस्य मूलभूतं व्याकरणं कृतवन्तो
हि ते । अथ पूर्वे विद्वांस इति विद्वदपेक्षं प्राथम्यं तेषाम् ।
प्रथमे हि वैयाकरणा इति प्रसिद्धेः । ते हि वेदाध्ययने एकश्रु-
त्यं विकल्पयन्ति 'विभाषा छन्दसि'^२ इति । न तु पूर्वशब्देन
याज्ञिका उच्यन्ते, तद्वचपदेशाप्रसिद्धेः । न च ते सर्वे वदमे-
कश्रुत्या प्रयुज्यते । अपि तु उपांशुप्रयोगान्गूह्यसामव्यतिरिक्तमेव ।
न च तत्रत्यमैकश्रुत्यं याज्ञिकानामेवाभिमतम् । किन्तु सर्वेषामा-
चार्याणाम् । अतएव व्याकरणे स्मर्यते—'यज्ञकर्मण्यजपन्गूह्य-
सामसु'^३ इति । तस्माद्यथोक्त एव युक्तस्सूत्रार्थः । नेदं सूत्रमि-
ष्टम् ॥ ५ ॥

इति वैदिकाभरणाख्ये प्रातिशाख्यव्याख्याने

पञ्चदशोऽध्यायः.

—C603—

अथ षोडशोऽध्यायः.

अथ सकारपराः ॥ १ ॥

‘अथ’ इत्ययमधिकारः । इत उत्तरे ग्रहणविशेषाः सकारपरा इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम् । सकारः परो येभ्यस्ते ‘सकारपराः’ ॥

अस्मिन् अध्याये षडमध्यवर्तिभ्य ऊष्मभ्यः पूर्वं अनुस्वारा विधीयन्ते । ङकारानुनासिकादिसेन्देहनिवृत्त्यर्थं अनुस्वारत्वे निश्चिते ङकारः पूर्वस्वरानुनासिक्यं च न भवतीति गम्यते । तत्रैयमुक्तं पूर्वाध्याये “स्त्रादिषु चैकपद ऊष्मपर” (१९-४) इति । तत्रादितः केषांनित्संस्कार एव परतोऽनुस्वारागम इति नियमार्थोऽयमधिकारः ॥ १ ॥

स्रशोहिपाशपदादयस्स्वरपरे ॥ २ ॥

‘स्र, शो, ह, पा, श,’ इत्येते ग्रहणविशेषाः पदादयः सकारपराः, तस्मिन् सकारे स्वरपरे सत्यनुस्वारागमं भजन्ते । यथा—“विस्त्रस्येदमेहेनाध्वर्युः”^१ । “शोऽसा मोद इव”^२ । ओकारेण किं ? “आशासता”^३ । “हसदशुचिषा”^४ । इत्येन किं ? “मजामा मा हासीन्”^५ । “पाऽसुर इरावती”^६ । दीर्घेण किं ? “आहतं

^१ सं. ६-२-९.

^२ सं. ३-२-९.

^३ सं. १-१-१०.

^४ सं. १-८-१५.

^५ ॥ ७-१-८.

^६ सं. १-६-११.

गमे पसः^१ । “यदासीनश्सति”^२ । पदादय इति किं? “अ-
ग्निरुक्त्वेन वाहसा”^३ । “सोमं पिपासेत्”^४ । “दहाशसः”^५ ।
स्वरपरे इति किं? “तस्मात्स विस्वस्यः”^६ । “हस्तयोः”^७ ।
“कविशस्ताः”^८ । केचिदत्र सूत्रे हिग्रहणमङ्गीकुर्वते । तदनुपपन्नं,
पदादय इति नियमात् । “अहिःसायै”^९ इत्यत्रानुस्वाराभावप्रसङ्गात् ।
ननु “हिःसीः परमे”^{१०} इत्येतदत्रोदाहरणमिति चेत् मैवम् । “हिपु-
जिगा” (१६-१३) इत्यत्र नियमाभावात् । पदादावपदादौ च हिग्र-
हणस्य कार्यसिद्धेः पुनरत्र ग्रहणं व्यर्थम् । स्वरः परो यस्मादसौ
‘स्वरपरः,’ तस्मिन् ॥ २ ॥

अ, शो, ह, पा, श इत्येते शब्दाः पदादिभूताः परमगु-
स्वारमुपगच्छन्ति स्वरे तदादौ परतः । अ—‘विस्वस्येत्’^{१६} ।
शो—‘शोःसा मोदः’^{१७} । ह—‘हःसदशुचिपत्’^{१८} । ‘हःसैरिव’^{१९} ।
पा—‘पाःसुरे’^{२०} । ‘प्रस्कथ पाःसून्’^{२१} । श—‘अभिशाःसेयुरपू-
ता’^{२२} । ‘उपाःशु शःसति’^{२३} । पदादय इति किम्? ‘स्व-
स्तिगामनेहसम्’^{२४} । ‘पेशो मर्या अपेशसे’^{२५} । स्वरपर इति किम्?

१ सं. ७-४-१९.

२ सं. ३-२-९.

३ सं. ३-५-११.

४ ,, २-१-१०.

५ ,, १-२-१४.

६ ,, ६-३-९.

७ ,, ४-१-६.

८ ,, २-६-१२.

९ ,, ५-२-८.

१० ,, ४-२-१०.

११ ,, १-८-१६.

१२ ,, ३-४-१२.

१३ ,, १-२-१३.

१४ ,, २-६-१०.

१५ ,, ६-५-११.

१६ ,, १-२-९.

१७ ,, ७-४-२०.

‘तस्मात्स चित्स्यः’¹ । ‘पूष्णे हस्ताभ्याम्’² । ‘सज्जनयश्च
शस्यम्’³ ॥ २ ॥

—c—

विकृतेऽपि ॥ ३ ॥

अपिशब्दः स्वरान्वादेशकः । सकारात् परे तस्मिन् स्वरे वि-
कृतिमापन्नेऽपि व्यञ्जनतामुपगतेऽपि स्यादनुस्वारविधिः । यथा—
“अपहस्यग्रे”⁴ ॥ ३ ॥

निमित्तभूतात्सकारात्परे स्वरे संहितावशाद्विकृतेऽपि स्ना-
दीनां भवत्ययमनुस्वारागमः । ‘अपहस्यग्रे’⁵ ॥ ३ ॥

—o—

रापूर्वश्च ॥ ४ ॥

तशब्दः स्वादिषु शकारमन्वादिशति । एतदर्थमेव स्वरव्यत्ययेऽपि
शकारग्रहणं तन्त्रान्ते कृतम् । रा इत्येवं पूर्वं शकारः सकारपरोऽ-
नुस्वारागमं भजेत् । यथा—“नाराशसीम्यः”⁶ । अपदाद्य-
र्थोऽयमारम्भः ॥ ४ ॥

चशब्दः श इत्यन्वादिशति । अपदाद्यर्थोऽयमारम्भः ।
राशब्दे पूर्वं श इत्ययं शब्दः परमनुस्वारमुपगच्छति सकारे
परतः । ‘नाराशसस्याहम्’⁷ । ‘पितृणां नाराशसः’⁸ । रा-

¹ स. ६-२-९.

² स. १-१-४.

³ सं. ३-५-५.

⁴ ॥ ४-३-११.

⁵ सं. ३-५-११.

⁶ स. १-६-६.

⁷ स. ४-६-९.

पूर्वं इति किम् ? 'पितो आ विशस्य शं तोकाय' ॥ ४ ॥

—०—

शऽस्ताऽनन्तोदात्ते ॥ ५ ॥

'शऽस्ता' इत्यस्मिन् ग्रहणे अनन्तोदात्ते सकारपरे भवत्यनुस्वारागमः । "उत शऽस्ता सुविप्रः" १ । अनन्तोदात्ते इति किं ? "अश्वस्याविंशस्ता" २ । "सशोह" (१६-२) इति प्राप्तौ सत्यां सकारस्य स्वरपरत्वाभावेऽपि नायं विधिर्निषिध्यतामिति ग्रहणम् । अन्ते उदात्तो यस्य तत् अनन्तोदात्तं, न अनन्तोदात्तं अनन्तोदात्तं, तस्मिन् ॥ ५ ॥

शऽस्ता इत्यस्मिन्ननन्तोदात्ते पदे वर्तमानशशब्दः परमनुस्वारमुपगच्छति सकारे परतः ॥ 'उत शऽस्ता सुविप्रः' १ । अनन्तोदात्त इति किम् ? 'अश्वस्याविंशस्ता' २ । सकारस्य स्वरपरत्वाभावात् "सशोह" (१६-२) इत्यस्य अग्राप्तेरेवमारभ्यते ॥ ५ ॥

—०—

अंशऽसन् ॥ ६ ॥

'अंशऽसन्' इत्यस्मिन् ग्रहणे स्यादनुस्वारागमः । यथा—
"अभि व्यशऽसन्" १ । अपदाद्यर्थोऽयमारम्भः ॥ ६ ॥

अंशऽसन्नित्यस्मिन् शब्दे वर्तमानः शशब्दः परमनुस्वारमुपगच्छति सकारे परतः । अयमप्यपदाद्यर्थ आरम्भः । 'छन्दोऽभि व्यशऽसन्' १ । 'अप्यकारादि' (१-५२) इति परिभाषे-

१ सं. ५-७-२.

२ सं. ४-६-८.

३ सं. ४-६-९.

४ „ ६-६-११.

ह न प्रवर्तते, पदादित्यविधानात् । सन्नपर इति किम् ?
 'अवकामन्नशस्तोः' ^१ ॥ ६ ॥

न शसनं विशसनेन ॥ ७ ॥

'शसनं, विशसनेन' इत्येतयोर्ग्रहणयोरनुस्वारागमो न भवति ।
 "शसनं वाज्यर्वा" ^१ ^२ । "शुनो विशसनेन" ^३ । "स्वशोहं" (१९-२)
 इति प्राप्तिः ॥ ७ ॥

शसनं, विशसनेन, इत्यनयोः शशब्दौ परमनुस्वारं नोप-
 गच्छतः । 'प्रागाच्छसनम्' ^४ । 'शुनो विशसनेन' ^५ । विशब्द-
 व्याचर्य शालान्तरे ॥ ७ ॥

मापदादिरनुदात्तः ॥ ८ ॥

'मा' इत्ययं वर्णः पदादिरनुदात्तः सकारपरोऽनुस्वारागमं भजेत् ।
 अत्र नियमाभावात् सकारस्य स्वरपरत्वाभावेऽपि निमित्तत्वं भवत्येव ।
 यथा—“अहर्मासेन” ^१ । “मास्पन्न्याः” ^२ । पदादिरिति किं ?
 “सिद्धिकमयमासः” ^३ । अनुदात्त इति किं ? “मासं दीक्षितः” ^४ ॥

माशब्दः पदादिरनुदात्तः परमनुस्वारमुपगच्छति सकारे
 परतः । 'अमेव मासस्मिन्' ^५ । 'अहर्मासेन' ^६ । 'मास्प-
 न्न्याः' ^७

^१ ग. ४-१-२.

^२ त. ५-३-२०.

^३ घ. १-४-१.

^४ घ. ४-६-७.

^५ , ४-६-९.

^६ त. ५-३-२१.

^७ घ. ५-६-३.

चन्याः^१ । पदादिरेति किम्? 'सिलिकमध्यमास इति सि-
लिक—मध्यमासः'^२ । अनुदात्त इति किम्? 'मासं दीक्षित-
स्स्यात्'^३ । सकारपर इति किम्? 'शरदे मापतिलौ'^४ । 'य-
न्माहेन्द्रो गृह्यते'^५ ॥ ८ ॥

पुमीपूर्वश्च नित्यम् ॥ ९ ॥

चशब्दो मा इति ज्ञापयति । पु, मी इत्येवंपूर्वो मा इत्ययं
वर्णः सकारपरो नित्यमनुस्वारागमं भजते । "उत्पुमा५स५ हरन्ति"^६
"मीमा५ सन्ते कार्ये"^७ । अनुदात्तत्वनियमनिवर्तको नित्यशब्दः ॥

अपदाद्यर्थोऽयमारम्भः । पु, मी इत्यनयोः पूर्वयोः माश-
ब्दोऽनुदात्तः परमनुस्वारमुपगच्छति सकारे परतः । नित्य-
ग्रहणात् स्वरान्तरयुक्तस्यापि पुमीपूर्वस्य माशब्दस्य सिद्धयति ।^८
पु—'उत्पुमा५सम्'^९ । मी—'न तल्पे मीमा५सन्ते'^{१०} । 'मीमा५ से-
रन्न्'^{११} । पुमीपूर्व इति किम्? 'ओमासश्चरूपणीधृतः'^{१२} ॥ ९ ॥

सकायपरश्च ॥ १० ॥

चशब्दो मा इति ज्ञापयति । मा इत्ययं वर्णः सकायपरः
अनुस्वारागमं भजते । यथा—'अमा५ सकाय स्वाहा'^{१३} इति ॥ १० ॥

१ सं. ४-६-९.

२ सं. ४-६-७.

३ सं. ५-६-७.

४ सं. ७-२-१०.

५ सं. ६-५-५.

६ सं. ६-५-१०.

७ सं. ६-२-६.

८ नित्यग्रहणात्स्वरान्तरयुक्तोऽपि । पुपूर्वस्य स्वरान्तरयुक्तस्य विविधलात्सिद्धमिति मापुर्णार्थे नित्यग्रहणम् । इति पाठान्तरम्.

९ सं. १-४-१६.

१० सं. ७-६-१२.

चशब्दो माशब्दमन्वादिशति । अयमप्यपदाद्यर्थ आरम्भः । सकाशशब्दे परतो माशब्दः परमनुस्वारमुपगच्छति । ‘अमासकाय स्वाहा’^१ । ‘अप्यकारादि’ (१-६२) इति तु न प्रवर्तत इत्युक्तम् ॥ १० ॥

नावग्रहपूर्वः ॥ ११ ॥

“मापदादिरनुदात्तः” (१६-८) इत्यस्यायमपवादः । अवग्रहपूर्वो मा इत्ययं वर्णो नानुस्वारागमं भजते । यथा—“पूर्णमासे वै”^२ । “अर्धमासे देवाः”^३ । अवग्रहः पूर्वो यस्मादसौ अवग्रहपूर्वः ॥ ११ ॥

अवग्रहपूर्वो माशब्दः पदादिरनुदात्तः परमनुस्वारं नोपगच्छति । ‘चातुर्मास्यान्यालभमानः’^४ । ‘चतुर्विंशतिरर्धमासाः’^५ ॥ १२ ॥

मासिमासुमासोमासामिति च ॥ १२ ॥

चकारो निषेधाकर्षकः । ‘मासि, मासु, मासः, मासां’ इत्येतेषु ग्रहणेषु न स्यादनुस्वारागमः । एषामपि “मापदादिः” (१६-८) इति प्राप्तिः । केचिदत्र “प्रथमे मासि वृष्टानि”^६ इत्युदाहरन्ति । तदसाधु । “न पदे द्विस्तरे नित्यम्” (१६-

^१ सं. ७-६-१२.

^२ सं. २-६-६.

^३ सं. २-५-६.

^४ “ १-६-१०.

” ६-२-३.

^५ “ ७-५-३.

१७) इत्यनेनैव निषेधसिद्धेः । तस्मादन्यशाखायां बहुस्वरमुदाहरण-
मवधारणीयम् । “दशसु मासूत्तिष्ठन्”^१ । “पण्मासो दक्षिणेनैति”^२ ।
“मासां प्रतिष्ठित्यै”^३ ॥ १२ ॥

चशब्दः प्रतिषेधमन्वादिशति । सि, सु, सः, साम इत्ये-
तेषु परतः माशब्दः पदादिरनुदात्तः परमनुस्वारं नोपगच्छति ।
मासि—‘मासि पितृभ्यः क्रियते’^४ । ‘न पदे द्विस्वरे नित्यम्’
(१६-१७) इति नित्यग्रहणादिह न सिद्धयति, ‘उभे निपासि ज-
न्मनी’^५ इत्यादिविषयसद्भावात्. ‘मापदादिरनुदात्तः’ (१६-८)
इति तु वैशेषिको विधिः न हि सामान्यविषयेण तेन बाध्यत इति
वैशेषिकप्रतिषेधार्थं मासिग्रहणम् । मासु—‘मासूत्तिष्ठन्नुभोति’^६ ।
मासः—‘चतुरो मासः’^७ । मासां—‘मासां प्रतिष्ठित्यै’^८ । इतिशब्दः
पदरूपप्रत्ययार्थः । तेन ‘इमौ तमांसि गूहताम्’^९ इत्यत्र प्रतिषेधो
न भवति । उदग्रहणपरिभाषा त्विहानेतुं न शक्यते । न ह्येतानि
पदग्रहणानि, पदैकदेशयोः कार्यभाङ्गिमित्तयोः ग्रहणात् । अतएव
‘हिपुजिगा’ (१६-११) इति सूत्रे अतस्सयत्प्रभृतीनां समभिव्या-
हार उपपद्यते । तस्मात्पदप्रत्ययार्थमितिकरणः क्रियते ॥ १२ ॥

—०—

हि पु जिगा जिघा छःसिनेऽतःसयदा-
ताःसीत्कनीया ज्याया द्राघीया
रघीया श्रेया हसीया वसीया भूयाःस्तो

^१सं. ५-६-२.

^२सं. ६-५-३.

^३सं. ७-५-१.

^४“ २-५-६.

^५“ १-४-२२.

^६सं. ६-६-७.

^७पदरूपम्.

^८“ १-८-२२.

जक्षिवा जग्निवा जिगिवा जीगिवा त-
स्थिवा दाश्वा दीदिवा पपिवा पीपिवा
विद्वा विविशिवा शुश्रुवा ससृवा ॥१३॥

हि, पु, जिगा, जिघा, छ५सिने, अत५सयत्, आता५
सीत्, कनीया, ज्याया, द्राचीया, रघीया, श्रेया, हसीया, व-
सीया, मूया५सः, जक्षिवा, जग्निवा, जिगिवा, जीगिवा, त-
स्थिवा, दाश्वा, दीदिवा, पपिवा, पीपिवा, विद्वा, विविशिवा,
शुश्रुवा, ससृवा इत्येवम्पूर्वः सकारपरोऽनुस्वारागमो भवति ।
यया—“ हि५सीः परमे ”^१ । “ चिनुतेऽहि५साये ”^२ । “ तेन
पु५स्वतीः ”^३ । “ पु५सः पुत्रान् ”^४ । “ लोकमजिगा५सन् ”^५ ।
“ त्वष्टारमजिघा५सन् ”^६ । “ ब्राह्मणाच्छ५सिने ”^७ । ने इति
किं ? “ प्रयुच्छस्युभे ”^८ । “ गमे मुष्टिमत५सयन् ”^९ । यदि-
ति किं ? “ अतसं न शुष्कम् ”^{१०} । “ अन्वाता५सी५यि ”^{११} ।
ईदिति किं ? “ अनु व्रातासस्तव ”^{१२} । “ कनीया५सो देवाः ”^{१३} ।
“ ज्याया५सो भ्रातरः ”^{१४} । “ द्राचीया५सो भवतः ”^{१५} । “ अथो
रघीया५सः ”^{१६} । “ प्रश्रेया५सम् ”^{१७} । “ अथ हसीया५समाक-

^१ स. ४-२-३०.^२ स. ५-२-८.^३ म. २-५-८.^४ ,, ४-६-९.^५ ,, ५-५-५.^६ ,, ६-६-८.^७ ,, १-८-१८.^८ ,, १-४-२२.^९ ,, ७-४-१९.^{१०} ,, १-२-१४.^{११} ,, ४-३-१३.^{१२} ,, ४-६-७.^{१३} ,, ५-२-११.^{१४} ,, २-६-६.^{१५} ,, ५-२-६.^{१६} ,, ४-४-९.^{१७} ,, २-४-१.

मणम्^१ । “वसीया॥सं भागधेयेन^२ । “भूया॥सोऽन्येभ्यः^३
 विसर्गेण किं ? “अन्नादो भूयासम्^४ । “जक्षिवा॥सः^५ ।
 “जग्निवा॥सं मृधः^६ । “वाजं जिग्निवा॥सः^७ । “जीगि-
 वा॥सस्स्याम^८ इति शाखान्तरे । “द्युम्ना तस्थिवा॥सः^९ । “दा-
 श्वा॥सो दाशुपः^{१०} । “शुचयो दीदिवा॥सम्^{११} । “पपिवा॥सश्च^{१२}
 “पीपिवा॥स॥सररवतः^{१३} । “विद्वा॥सो वै^{१४} । “अविद्वा॥स-
 श्रक्तम्^{१५} । “अप्यकारादि” (१-९२) इतिवचनात् । “प्रविवि-
 शिवा॥समीमहे^{१६} । “शुश्रुवा॥सः^{१७} । “वाज॥समृवा॥सः^{१८}
 दाश्वान्विविशिवाशुश्रुवत्यत्र “स्त्रादिषु चैकपदे” (१९-४) इति
 प्राप्या शकारपरोऽनुस्वारागमः किं न स्यात् ? “अथ सकारपराः”
 (१६-१) इत्यूपमाविशेषस्य सकारस्यानुवृत्तेरिति वदामः । तर्हि
 वसीया वसीया तस्थिवा समृवा इत्यत्र सकारपर एवागमः किं न
 स्यात् ? उच्चारणसामर्थ्यादेवेति प्रथमः परिहारः । अथवा आता॥
 सीत् कनीया॥समित्यादिषु सर्वत्र दीर्घानन्तरमेवानुस्वारस्थानमिति
 तत्साहचर्यादित्रापि न स्यादनुस्वारस्य ह्रस्वानन्तरं स्थानमित्यपरः
 परिहारः ॥ १३ ॥

१ सं. ६-६-४.

२ सं. ५-४-१०.

३ सं. ३-१-१.

४ „ १-६-२.

५ „ २-४-४४.

६ „ २-६-३.

७ „ १-७-८.

८ प्रा. ७-८-६.

९ „ १-२-२४.

१० „ १-४-२६.

११ सं. २-६-१२.

१२ „ ३-१-२१.

१३ „ २-६-११.

१४ „ ४-७-२५.

१५ „ २-६-९.

हि, पु इत्यादयश्चदशब्दाः परमनुस्वारमुपगच्छन्ति सकारे परतः । तत्र तु छ । अत । आता । भूया । इत्येतदनन्तरपाठितेषु सिने, सयत्, सीत्, सः पतेषु विशिष्टसकारेषु परतः । हि—‘मा त्वा हिंस्सिषम्’¹ । ‘पितरं वाजिहिंस्सिम’² । ‘अहिंसायै’³ । पु—‘तेन पुंस्वतोः’⁴ । ‘पुंसः पुत्रान्’⁵ । जिगा—‘अन्यवाजिगांसन्’⁶ । जिघा—‘रक्षांस्यजिघांसन्’⁷ । छस्सिने—‘ब्राह्मणाच्छस्सिने घाससी’⁸ । नेपर इति किम् ? ‘कदा चन प्रयुच्छसि’⁹ । अतस्स-यत्—‘गभे मुष्टिमत्स्लयत्’¹⁰ सयत्पर इति किम् ? ‘सोमो विश्वान्यतसा चनानि’¹¹ । आतांसीत्—‘अन्वातांसीत्वायि’¹² । सीत्पर इति किम् ? ‘अनु वातासस्तत्र सख्यम्’¹³ । कनीया—‘पशवः कनीयांसः’¹⁴ । ‘कनीयांसं यन्नक्रतुम्’¹⁵ । द्राघीया—‘अरक्षिना पक्षौ द्राघीयांसौ भयतः’¹⁶ । रघीया—‘अथो रघीयांसः’¹⁷ । श्रेया—‘श्रेयांसं पापोयान्पञ्चत्’¹⁸ । प्र श्रेयांसं भ्रातृभ्यम्’¹⁹ । हसीया—‘हसीयांसमेपा वै’²⁰ । वसीया—‘वसीयांसो जनिष्यन्त इति’²¹ । भूयांसः—‘भूयांसोऽधुरः’²² । सःपर इति किम् ? ‘चक्ष्मणाम्भूयासम्’²³ । जक्षिवा—‘जक्षिवांसः पपियांसश्च’²⁴ । जग्निवा—‘इन्द्रं घृष्टं जग्निवांसम्’²⁵ । जिगिवा—‘वाजं जिगिवांसः’²⁶ ।

¹ सं. १-१-८.² सं. १-८-५.³ सं. ५-२-८.⁴ सं. २-५-८.⁵ सं. ४-६-९.⁶ सं. ३-२-२.⁷ सं. ६-१-१०.⁸ सं. १-८-१८.⁹ सं. १-८-२२.¹⁰ सं. ७-४-१९.¹¹ सं. २-२-१२.¹² सं. ४-७-१३.¹³ सं. ४-६-७.¹⁴ सं. ६-१-४.¹⁵ सं. ५-६-८.¹⁶ सं. ५-२-५.¹⁷ सं. ७-४-९.¹⁸ सं. ५-१-२.¹⁹ सं. २-४-१.²⁰ सं. ६-६-४.²¹ सं. ६-५-६.²² सं. ५-३-११.²³ सं. १-६-२.²⁴ सं. १-४-४४.²⁵ सं. २-५-३.²⁶ सं. १-७-८.

जीगिवाशब्दोदाहरणं शास्त्रान्तरे । तस्थिवा—‘अभि युञ्जा तस्थिवाः-
सः^१’ । दाश्वा—‘दाश्वाःसो दाशुषः^२’ । ‘यासि दाश्वाःसम्^३’ ।
दीदिवा—‘शुचयो दीदिवाःसम्^४’ । पपिवा—‘पपिवाःसश्च वि-
श्वे^५’ । पीपिवा—‘पीपिवाःसः सरस्वतः^६’ । विद्वा—‘विद्वाः-
सो वै पुरा^७’ । विविशिवा—‘प्रविविशिवाःसमीमहे^८’ । शुश्रुवा—
‘यच्छुश्रुवाःसः^९’ । सस्रुवा—‘वाजः सस्रुवाःसः^{१०}’ । सकार पर
इति किम् ‘महिषीव त्वद्रयिः^{११}’ । ‘वपुषे चिकित्सत^{१२}’ ।

केचित्तु ‘हसीया वसीया’ इत्यादिपूष्मवत्सु ग्रहणेषु अन्तर्वर्तिन
ऊष्मणः प्रागनुस्वारागमः कस्माच्च भवतीत्याशङ्कामुद्राव्य परिहर-
न्ति, उच्चारणसामर्थ्यादीर्घपूर्वकसाहचर्याद्वा अनुस्वारो न भवती-
ति । सा खलु उचितयोजना न भवति । निर्मूलं वाशङ्का, अस्म-
दुक्तयोजनायां तदनुत्थानात् । तथोच्चारणसामर्थ्यादिति परि-
हारोऽप्ययुक्तः । न ह्यस्मिन् शास्त्रे निपातनात्कार्यं साध्यते, अपितु
विधिनैव । अतएव ‘दङ्ष्ट्राभ्यां परः’ (१६-१९) ‘आदिरुहतिः’
(१६-२६) इति विशेषणमर्थवद्भवति । कार्यभागविधानात्पूर्वं का-
र्यरहित इत्यभ्युपगन्तव्य इति, न पूर्वरूपपाठः कार्यभावं साधयि-
तुमर्हति । न च दीर्घसाहचर्यादिति युक्तः परिहारः, ह्रस्वानाम-
प्यस्मिन् सूत्रे कार्यविधानात् । तस्मादसंशयं परिहारश्च ॥ १३ ॥



आकारैकारोकारास्सिपिपराः पदान्तयोः ॥

- | | | |
|---------------|--------------|---------------|
| १ सं. १-२-१४. | २ सं १-४-१६. | ३ सं. २-२-१२. |
| ४ „ २-५-१२. | ५ „ १-४-४४. | ६ „ ३-१-११. |
| ७ सं. २-५-१२. | ८ „ ४-८-१६. | ९ „ २-५-६. |
| १० सं. १-७-८. | ११ „ १-१-१४. | १२ „ ३-२-८. |

सिपिपरा आकारेकारोकाराः¹तयोः सिप्योः पदान्तयोः सतोरनु-
खारागमं भजन्ते । यथा—“वयाऽसि पक्वगन्धेन”² । “तमाऽसि
गूहताम्”³ । “दश हवीऽपि”⁴ । “ज्योतीऽपि कुरुते”⁵ । “अग्न
आयूऽपि”⁶ । ‘अवमृथयजूऽपि’⁷ । पदान्तयोरिति किं ? “तस्मा-
द्वासिष्ठः”⁸ । “मनीषिणो मनसा”⁹ । आकारेकारोकारा इति
दीर्घेण किं ? “यथाऽनसि युक्त आधीयते”¹⁰ । “ज्योतिस्त्वा
ज्योतिषि”¹¹ । “आयुषि दुरोणे”¹² । सिपित्यत्र इकारेण किं ?
“प्रजास्वेव प्रजातासु”¹³ । “ओपधीषु”¹⁴ । “तनूषु बद्धम्”¹⁵ ॥

सकारपराधिकारो निवृत्तः, सिपिपराभ्युपगमात् । आकार
ईकार उकारश्च परमनुस्वारमुपगच्छति सि, पि इत्येतयोः पदा-
न्तयोः परतः । सि—‘रक्षाऽसि पिशाचाः’¹⁶ । ‘सत्त्वारि छन्दा-
ऽसि’¹⁷ । पि—‘दिषो ज्योतीऽपि’¹⁸ । ‘अग्न आयूऽपि’¹⁹ । सिपिपराः
इति किम् ? ‘ककुहासु शकरीषु’²⁰ । पदान्तयोरिति किम् ? ‘अव-
यासिसीष्ठाः’²¹ । ‘नम उष्णीषिणे’²² ॥ १४ ॥



¹आकारः, ईकारः, उकारश्च.

² सं. ५-७-२३.

सं. १-८-२२.

⁴ सं. ७-५-१४.

⁵ सं. ५-४-१.

⁶ सं. १-३-१४.

⁷ सं. ६-६-३.

⁸ सं. २-६-२.

⁹ सं. ४-६-२.

¹⁰ सं. ५-४-१०.

¹¹ सं. १-१-१०.

¹² „ १-२-१४.

¹³ सं. ६-४-१.

¹⁴ सं. ३-५-६.

¹⁵ „ १-८-२२.

¹⁶ „ २-६-१.

¹⁷ „ ५-२-१.

¹⁸ „ १-१-३.

¹⁹ „ २-५-११.

²⁰ „ ४-५-३.

विकृतेऽपि ॥ १५ ॥

अपिशब्दान्वादिष्टे सिप्योरिकारे विकृतेऽपि यकारमापन्नेऽपि भवत्यनुस्वारागमः । यथा—“छन्दाश्स्युप दधाति”^१ । “हवीं-
प्या सादेयत्”^२ । “तपूष्यग्ने जुहा”^३ ॥ १५ ॥

विकृतेऽपि सिपिरूपे निमित्ते परतः आकारेकारोकाराः परमनुस्वारमुपगच्छन्ति—‘स वयाश्स्यसृजत’^४ । ‘हवीं-प्या साद-
येत्’^५ । ‘तपूष्यग्ने’^६ ॥ १५ ॥

अनाकारो ह्रस्वः साङ्कृत्यस्य ॥ १६ ॥

आकारादन्यः अनाकारः ईकार ऊकारश्चेत्यर्थः । तयोरेव प्रकृतत्वात् । साङ्कृत्यस्य मते ईकार ऊकारश्च ह्रस्वमापद्यते । “हवीं-पि भवन्ति”^७ । “समिष्टयजू-पि जुहोति”^८ । अनाकार इति किं ? “वया-सि”^९ । नेदं सूत्रमिष्टम् ॥ १६ ॥

सिपिपरत्वेनानु^{११}स्वारमाजो ये घर्णा उक्ताः, तेष्व्वाकारा-
दन्यः साङ्कृत्यस्य मते ह्रस्वं गच्छति । ‘ज्योती-पि’^{१२} । ‘आयू-

१ सं. ५-३-८.

२ सं. १-६-१०.

३ सं. १-२-१४.

४ ,, ३-१-१.

५ ,, १-६-१०.

६ ,, १-२-१४.

७ पदान्तास्तिपिपरः ह्रस्वः.

८ ,, ५-५-१.

९ ,, ६-६-२.

१० सं. ५-७-२३.

११ पात्वेऽऽ.

१२ ,, ६-४-१.

ऽपि^१ । अनाकार इति किम् ? 'छन्दांस्युप दधाति'^२ । नदं सूत्रमिष्टम् ॥ १६ ॥

न पदे द्विस्वरे नित्यम् ॥ १७ ॥

द्विस्वरे पदे वर्तमानाः आकारेकारोकाराः पदान्तसिपिपरा नानुस्वारागमं नित्यं भजन्ते^३ । यथा—“स्तुतो यासि”^४ । “यासि दूतः”^५ । नित्यशब्दः प्राप्तचन्तरप्रतिषेधार्थः । “विधतः पासि नु त्मना”^६ । “स्त्रशोह” (१६-२) इति प्राप्तिः । “प्रथमे मासि पृष्ठानि”^७ । “मा पदादिः” (१६-८) इति प्राप्तिः । द्वौ स्वरौ यस्मिन् विद्येते तत् द्विस्वरं, तस्मिन् ॥ १७ ॥

द्विस्वरे पदे वर्तमान आकारः परमनुस्वारं नोपगच्छति । नित्यग्रहणाद्विध्यन्तराधिपयेऽपि प्रतिषेधो भवति । “यासि दाभ्या-सम्”^८ । “आ या यां भासि”^९ । “विधतः पासि नु त्मना”^६ इत्यत्र “स्त्रशोहपाश” (१६-२) इति प्राप्तिरपि प्रतिषिध्यते ॥ १७ ॥

ऋजीपि जिगासि जिघास्यजासि यजासि
ददासि दधासि वर्तयासि च ॥ १८ ॥

नकारो निषेधाकर्षकः । ऋजीपि, जिगासि, जिघासि, अना-

^१ ग. १-१-१४.

^२ सं. ६-१-८.

^३ आकारस्यार्थाभिप्रायः भवति । द्विस्वरे पदे आकारः नानुस्वारागमं नित्यं भजन्ते इति पा.

^४ म. १-८-१.

^५ सं. १-५-१.

^६ सं. १-१-१४.

^७ सं. ७-५-१.

^८ सं. १-१-१२.

^९ सं. ४-१-६.

सि, यजासि, ददासि, दधासि, वर्तयासि एषु ग्रहणेषु नानुस्वारागमः स्यात् । “आकारेकारोकाराः” (१६-१४) इति प्राप्तिः बहुस्वरत्वादिषु पूर्वसूत्रनिषेधो न सिध्यतीत्ययमारम्भः । यथा—
 “तेनर्जीपि सर्वाणि”^१ । “अच्छा जिगासि”^२ । “प्रथमे जिघासि” इति शाखान्तरे । “आ त्वमजासि गर्भधम्”^३ । “हविषा यजास्यमे बृहत्”^४ । “याभिर्ददासि दाशुपे”^५ । “दधासि दाशुपे कवे”^६ । “अश्वमा वर्तयासि नः”^७ ॥ १८ ॥

ऋजीपीत्यादिषु च आकारादयस्त्रिपिपराः परमनुस्वारं नोपगच्छन्ति बहुस्वरार्थोऽयमारम्भः । ऋजीपि—“तेनर्जीपि”^१ । जिगासि—“अर्णमच्छा जिगासि”^२ । जिघासीति शाखान्तरे । अजासि—“आ त्वमजासि”^३ । यजासि—“देवान् हविषा यजासि”^४ । ददासि—“याभिर्ददासि दाशुपे”^५ । दधासि—“दधासि दाशुपे कवे”^६ । वर्तयासि—“अश्वमा वर्तयासि नः”^७ ॥ १८ ॥



द॒स॒नाभ्यो द॒सोभिर्द॒सं वृषद॒शो द॒स॒
 शुका द॒ष्ट्राभ्यां परः ॥ १९ ॥

द॒स॒नाभ्यः, द॒सोभिः, द॒सं, वृषद॒शः, द॒स॒शुका, द॒स॒ष्ट्राभ्यां एषु ग्रहणेषु परः एवानुस्वारागमो भवति । यथा—

१ सं. ३-२-२.

२ सं. ४-२-४.

३ सं. ७-४-१९.

४ „ ३-५-१९.

५ „ ३-३-१९.

६ „ ४-२-७.

७ „ ७-४-२०.]

“वैश्वानरस्य द॒स॒सना॒भ्यः”^१ । “स॒नो॒भाव॒भिना द॒सो॒भिः”^२ ।
 भिरिति किम् ? “उ॒ती रि॒शाद॒सः”^३ । “पु॒रुद॒स॒सनि॒म्”^४ ।
 “वृ॒षद॒स॒शस्ते”^५ । “प॒शून्द॒शुकाः”^६ । “द॒ष्ट्राभ्यां मलि॒-
 म्बून्”^७ । द॒स॒सेत्येतावतै॒वा॒लम्, किमखिलपदपाठेन ? “कुर्व॒तो
 मे मो॒ष द॒सत्”^८ इत्यादौ मा भूदिति । पर इति किं ? “वृ॒ष-
 द॒सः”^९ इत्यत्र स्यान्द्वयेऽपि “त्वादिपु चैकपदे” (१५-४)
 इति प्राप्ते सत्यां पूर्वत्र मां भूदिति । ननु ग्रहणसामर्थ्यादेवा-
 नुस्वारागमः पूर्वत्र न भवति । यथा—“ह॒सीयाव॑सीया” (१६-
 -१३) इत्यादौ ग्रहणसामर्थ्यादुपपादितम् । नैष दोषः । “त्वादिपु
 चैकपदे” (१५-४) इत्यत्र ऊष्मसामान्यमुक्तम् । “अथ सकार-
 पराः” (१६-१) इत्यत्र तु तद्विशेष उक्तः । सामान्यविशे-
 षयोर्विशेषो बलीयानिति न्यायः । तथा सति बलवद्बाधनमेव
 भूषणं न तु दुर्बलबाधनमिति तत्रैव ग्रहणसामर्थ्यं समर्थनीयं,
 न तत्र दुर्बलस्थाने । तथा हि लोके अधिकः पुरुषो विरोधिनम-
 धिकमेव बाधते भूषणत्वात् न तु कदाचिदल्पमिति परशब्दप्र-
 योग उपपद्यते ॥ १९ ॥

पर इत्युष्मविशेषणम् । तच्च^{१०} वृषद॒स॒शशब्दे अर्थवद्भवति,
 नान्यत्र । तदयमर्थः—वृषद॒स॒शशब्दादन्यत्र ‘द॒स॒सना॒भ्यः’ ‘द॒स॒-
 सो॒भिः’ ‘द॒स॒सम्’ ‘द॒सः’ ‘द॒शुका’ ‘द॒ष्ट्राभ्याम्’ इत्येतेषूपमसु^{११}

^१ स. १-५-११.^२ सं. ५-६-४.^३ स. ४-३-१३.^४ सं. ४-२-४.^५ „ ५-५-१२.^६ „ ५-२-९.^७ „ ४-३-१०.^८ „ १-६-३.^९ सामर्थ्यात्.^{१०} तस्योपपत्तिः.^{११} इत्येतेषूपमस्येव.

परतः दशब्दः परमनुस्वारमुपगच्छति । वृषद२श इत्यत्र तु
पर ऊष्मा निमित्तं न पूर्वः । ततः वृषद२शशब्दः परमनुस्वा-
रमुपगच्छति श इत्यस्मिन् परतः । उदाहरणानि—‘वैश्वानरस्य
द२सनाभ्यः’^१ । ‘सजोषावश्विना द२सोभिः’^२ । भिरिति किम् ?
‘युष्माकोती रिशादसः’^३ । “पुरुद२स२ सनिम्” । द२स इति
सामान्यरूपग्रहणे ‘कुर्वतो मे मोष दसत्’^४ इत्यादावपि स्यात् ।
‘हलीक्ष्णो वृषद२शस्ते’^५ । ‘पशून् द२शुकास्स्युः’^६ । ‘स्तेगा-
न्द२ष्टाभ्याम्’^७ । पर इति घञनाम् वृषद२श इत्यत्र पकारात्प्रागनु-
स्वारो न भवति ॥ १९ ॥

म२स्ये म२सतै य२सद्य२सन्व२सते व२-
सगः ॥ २० ॥

म२स्ये, म२सतै, य२सन्, य२सन्, व२सते, व२सगः
एषु ग्रहणेषु स्यादनुस्वारागमः । यथा—“पशून्नाभि म२स्ये” ।
“शूर म२सतै भद्रा इन्द्रस्य”^{१०} । “शोचिषा य२सद्विश्वं न्यत्रिणम्”^{११} ।
“इषवदशमे य२सन्”^{१२} । “अग्निर्नो व२सते रयिम्”^{१३} । “ति-
ग्मशृङ्गो न व२सगः”^{१४} । म२स, य२स, व२स इत्येताव-
तैवालं, किमलिख्यदपाठेन ? “उत्तमस्याव द्यति,”^{१५} “यस्य भूया-
२सः,”^{१६} “अद्य यसु वसति”^{१७} इत्यादौ ना भूदिति ॥ २० ॥

१ सं. १-५-११.

२ सं. ५-६-४.

३ सं. ४-३-१३.

४ ,, ४-३-४.

५ ,, १-६-३.

६ ,, ५-५-१२.

७ ,, ५-३-९.

८ ,, ४-१-१०.

९ ,, ३-१-९.

१० ,, ७-४-१५.

११ ,, १-६-१.

१२ ,, ४-६-६.

१३ ,, २-६-११.

१४ ,, ५-३-१०.

१५ ,, २-१-७.

१६ ,, २-५-३.

मशब्दः परमनुस्वारमुपगच्छति स्ये सतै इत्यनयोः परतः।
यशब्दः सत्, सन् इत्यनयोः परतः। वशब्दः सते, सगः इत्यनयोः
परतः। 'पशून्नाभिम्' इति ^१। 'अनु नौ शूर म् सतै भद्राः' ^२।
'यः सद्विभं न्यत्रिणम्' ^३। 'इषवश्शर्म यः सन्' ^४। 'अग्निर्नो वः
सते रयिम्' ^५। 'तिग्मशूरो न वः सगः' ^६। 'सकारमात्रस्य निमित्तत्वे
'सौमस्य त्विषिः' ^७ इत्यत्र अतिप्रसंगः स्यात् ॥ २० ॥

उन्न वःशम् ॥ २१ ॥

'उत् न' इत्येवम्पूर्वे 'वःशम्' इत्यस्मिन्ग्रहणे स्यादनुस्वा-
रागमः। 'उद्वःशमिव येमिरे' ^८। 'प्राचीनवःशं करोति' ^९।
एवम्पूर्वं इति किं? 'भवति वशं वा एष चरति' ^{१०} ॥ २१ ॥

, उन्, न इत्येताभ्यामुपवन्वाभ्यां परो वशब्दः परमनुस्वा-
रमुपगच्छति शमित्यस्मिन् परतः। यथा—'उद्वःशमिव' ^८। 'प्राची-
नवःशम्' ^९। उन्नेति किम्? 'उक्षवशमा लभेत' ^{१०}। शमिति
किम्? उन्नय इत्येतावत्युक्ते 'यन्न वपद् कुर्यात्' ^{११} इत्यत्रापि स्यात्।
अतः श इति वक्तव्यमिति। मकाराधिक्यं विस्पष्टार्थम् ॥ २१ ॥

अक्रःस्तोत्क्रःस्यते^{१२} रःस्यते भ्रःशते रःस्यते च ॥ २२ ॥

अक्रः स्त, क्रः स्यते, रः स्यते, भ्रः शते, रःस्यते एषु ग्रहणेषु

^१ सं. १-१-१.

^२ सं. ७-४-१५.

^३ सं. ४-६-१.

^४ ,, ४-६-६.

^५ ,, ४-६-१.

^६ ,, २-६-११.

^७ ,, १-८-१४.

^८ ,, १-६-१२.

^९ ,, ६-२-१.

^{१०} ,, २-१-३.

^{११} ,, ५-१-६.

^{१२} अक्रःस्त क्रःस्यते इति विभाष्यल्लपाठः.

स्यादनुस्वारागमः । यथा—“द्यां वाज्याऽक्र॑स्त”^१ । “उत्क्र-
२स्यते स्वाहा”^२ । “उपर॑स्यते स्वाहा”^३ । “नास्माद्राष्ट्रं
भ्र॑शते”^४ । “पूणो र॒ष्ट्र॑ह्यै”^५ । न कारस्य व्यतिहारेणान्वया-
दुत्तरसूत्रे प्रयोजनमुच्यते ॥ २२ ॥

अक्र, उत्क्र, र, भ्र, र इत्येते शब्दाः परमनुस्वारमुपगच्छ-
न्ति । स्त, स्यते, स्यते, शते, ह्यै इत्येतेषु परतः । यथा—‘वाज्याऽ-
क्र॑स्त’^१ । ‘उत्क्र॑स्यते स्वाहा’^२ । उदिति उपबन्धव्यावर्त्यं
शाखान्तरे । ‘उपर॑स्यते स्वाहा’^३ । ‘न यज्ञाद्भ्र॑शते’^४ । ‘र॒ष्ट्र-
ह्या अपामोपधीनाम्’^५ । अक्र॑स्तादीनां ग्रहणं. ‘शुक्रस्य ज्योति-
पस्पते’^६ । ‘पुरा क्र॑रस्य’^७ । ‘न वै तस्य त ई॑शते’^८ । ‘अदित्यै
मह्यै स्वाहा’^९ । इत्यादौ मा भूदित्येतदर्थम् ॥ २२ ॥



ऐकार उख्यस्य नितान्तः ॥ २३ ॥

‘र॒ष्ट्र॑ह्यै’ इत्यस्मिन् ग्रहणे पूर्वसूत्रस्थचकारसमर्पितः ऐकारः,
नितान्तः भवति उख्यस्य मते । नितान्तः तीव्रतरप्रयत्न इ-
त्यर्थः । नैतन्मतमिष्टम् ॥ २३ ॥

अनन्तरोक्ते र॒ष्ट्र॑ह्यैशब्दे ऐकार उख्यस्य मतेऽतिप्रयत्नो
भवति । नैतदिष्टम् ॥ २३ ॥



१ स. ७-६-१९.

२ सं. ७-१-१९.

३ सं. ७-१-१९.

४ ॥ ६-७-४.

५ „ १-३-२०.

६ „ १-६-११.

७ „ ४-४-४.

८ „ १-१-९.

९ „ ३-४-९.

१० „ ७-३-१६.

विरित्रिसङ्ख्यासु ॥ २४ ॥

वि, रि, त्रि इत्येवम्पूर्व. ऊष्मपरोऽनुस्वारागमः स्यात्, एभिः
यदि सङ्ख्या उच्यते अमु, सुशब्दं वर्जयित्वा । सु इति
सप्तमी विभक्तिरुक्ता । यथा—अकारः प्रथमाविभक्त्युच्यपलक्षणम् ।
“वि० शतै स्वाहा”^१ । “यद्वि० शतैर्द्वे”^२ । “चत्वारि० शते
स्वाहा”^३ । “त्रि० शते स्वाहा”^४ । “त्रि० शतूयश्च”^५ ।
त्रिग्रहणं विस्पष्टार्थम् । यतो विरिसङ्ख्यास्वित्येतावतैवालम् । यथा—
“वा वापपूर्व” (७-१३) इत्यत्र वकारो विस्पष्टार्थः । सङ्-
ख्येति किं ? “विशे जनाय”^६ । “स रिपः पातु”^७ ।
“त्रिष्टुभैवास्मै”^८ । अस्विति किं ? “त्रिष्वा रोचने दिवः”^९ ॥२४॥

सङ्ख्यावाचिषु प्रातिपदिकेषु अवयवत्वेन वर्तमानाः वि,
रि, त्रि इत्येते शब्दाः परमनुस्वारमुपगच्छन्ति ऊष्मणि परतः॥
यथा, वि—‘एकवि० शतिमनु ब्रूयात्’^{१०} । ‘वर्चो द्वावि० शः’^{११} ।
रि—‘चत्वारि० शब्ध मे’^{१२} । ‘चतुश्चत्वारि० दक्षरा’^{१३} । त्रि—‘त्रि-
० शतूयश्च’^{१४} । ‘द्वात्रि० शतमनु ब्रूयात्’^{१५} । ‘सङ्ख्यासु’ इति किम् ?
‘आ मोजा विशा’^{१६} । ‘वरुणाय रिशादसे’^{१७} । ‘न रिष्येत्त्वावत-
स्सखा’^{१८} । तन्म्यत्र त्रिग्रहणमनर्थकम् । कुतः ? रिग्रहणेनैव सि-
द्धत्वात्, अत्र त्रिशब्दावयवो रिशब्दोऽप्यस्त्येवेति । अत्रोच्यते—

१ सं. ७-२-१७.

२ सं. ५-३-३.

३ सं. १-४-११.

४ सं. २-५-१२.

५ सं. १-२-१४.

६ सं. २-५-१०.

७ सं. ४-२-४.

८ सं. २-५-१०.

९ सं. ४-३-८.

१० सं. ४-७-११.

११ सं. २-५-१०.

१२ सं. १-५-६.

१३ सं. ५-६-२०.

१४ सं. २-३-१४.

सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय । तकारपूर्वे तु रिशब्दे सति तत्स-
हितस्य यत्राद्यवित्त्वं तत्रैव कार्यं भवति, नान्यत्रेति नियम्यते ।
तेन 'त्रिष्या रोचने दिवः' । 'त्रिष्टुभ्रैष्मी' इत्यादिष्वनुस्वारागमो
न भवति । अवयवी हात्र त्रिशब्दः सङ्ख्यावाची, न तु तदव-
यव इति । अन्ये तु विरिति, सङ्ख्या, असु इति पदविभाग-
माश्रित्य सप्तमीबहुवचनस्य पर्युदासं व्याचक्षते । तेषां विरि-
त्रिशब्दाः सङ्ख्यावाचिन इति सामानाधिकरण्यमभ्युपगन्त-
व्यम् । तच्च विरिशब्दयोर्व्याहृतम् । न हि प्रातिपदिकैकदे-
शोऽर्थवान्, येन सङ्ख्यावाची स्यात् । पुशब्दपर्युदासे चि-
कीर्षिते अपु इति पकारमेव ब्रूयात् । त्रिषु प्रवादेऽतिप्रसङ्ग-
स्य नास्ति *परिहारः । तथा त्रिग्रहणानर्थक्यं चेति हेयमेतत् ॥ २४ ॥

शि० शुमारः शि० पत्, स० श्वा, स० स्त्रा, स० सृष्ट-
त्य स० सृष्ट स० स्कृत० स० शितस्त० शि-
ता कि० शिल^१ ॥ २५ ॥

शि० शुमारः, शि० पत्, स० श्वा, स० स्त्रा, स० सृष्ट, स०-
स्कृत्य, स० स्कृतं, स० शितः, § स० शिता, कि० शिल, कि० शि-
ला एषु ग्रहणेषु स्यादनुस्वारागमः । यथा—“सिन्धोश्शि०
शुमारः”^३ । “किं तत् उच्छि० पतीति”^४ । “उभयतस्स०
श्वायि कुर्यात्”^५ । “स० स्त्रावभागास्थ”^६ । “स० सृष्टजित्”^७ ।

१ सं. ४-२-४.

२ सं. ४-३-२.

३ सं. ५-५-११.

४ „ ५-५-५.

५ „ २-६-८.

६ „ १-१-१३.

७ „ ४-६-४.

* प्रवादेऽतिप्रसङ्गस्य नास्तीति, † सदस्त०.

‡ कि० शिलकि० शिल्प इति त्रिभाष्यरत्नपाठः. § स० सदः.

“शरीरमेव सः स्कृत्य”¹ । “तन्नस्सः स्कृतम्”² । “ब्रह्म सः-
शितो ह्येषः”³ । * “शरव्ये ब्रह्मसः शिता”⁴ । “किं शिल
वन्य या ते”⁵ । परकिं शिलग्रहणं पदैकदेशतया बहुपादाना-
र्थम् । “किं शिलश्रुतुर्थः”⁶ । “नमः किं शिलाय च”⁷ ।
ननु—सः सृष्टेत्यत्र पकारपरोऽनुस्वारागमः किं न स्यात् ? मैवम् ।
अत्र सूत्रे सर्वत्र पदादिवर्णान्तरमेवानुस्वारदर्शनात्, तत्साह-
चर्यादित्रापि तथैव विज्ञेयं, न वैपरीत्ये कारणमस्ति ॥ २५ ॥

शिशब्दः, शुमारः पत् इत्यनयोः परतोऽनुस्वारमुपगच्छ-
ति । यथा—‘सिन्धोदिशः शुमारः’⁸ । ‘किं तत उच्छिः पती-
ति’⁹ । एवं पर इति किम् ? ‘शिशुं जातम्’¹⁰ । ‘तामाशिय-
माशासे’¹¹ । सशब्दः परमनुस्वारमुपगच्छति । श्वा इत्यादि-
षु परतः । श्वा—‘उभयतस्सः श्वायि कुर्यात्’¹² । आ—‘सः-
आवभागास्थ’¹³ । स्कृत्य—‘शरीरमेव सः स्कृत्य’¹ । सृष्ट-
‘सः सृष्टजित्सोमपाः’¹⁴ । स्कृतं—‘तन्नस्सः स्कृतम्’² । शितः—
‘ब्रह्म सः शितः’³ । शिता—‘ब्रह्म सः शिता’⁴ । एवं पर इति
किम् ? ‘सस्यं पच्यते’¹⁵ । ‘स सयान्तस्स न स्तूयसे’¹⁶ । ‘सहस्स्थ
सहो यः’¹⁷ । किशब्दः परमनुस्वारमुपगच्छति शिलशब्दे परतः ।

1 सं. ५-६-६.

2 सं. १-४-४३.

3 सं. २-५-१.

4 ,, ४-६-६.

5 ,, ५-५-५.

6 ,, ४-६-९.

7 ,, ६-६-११.

8 ,, ५-५-५.

9 ,, ३-५-११.

10 ,, १-५-६.

11 ,, २-६-८.

12 ,, १-१-१३.

13 ,, ५-१-७.

14 ,, ४-२-४.

15 ,, ४-२-४. * ‘स्वादुपच्यते’ (४-६-६.)

‘किं शिलश्चतुर्थः’^१ । ‘किं शिलाय च क्षयणाय च’^२ । लपरः-
व्याचक्षते शाखान्तरे । अन्ये तु अत्र द्वौ किं शिलशब्दौ पठन्तो
व्याचक्षते—एकं पदग्रहणं अन्यत्पदैकदेशग्रहणम् । तद्ग्रहणसा-
मर्थ्यादिह पदैकदेशोऽपि कार्यं भवतीति ॥ तन्मन्दम् ॥ एकेनै-
वाकारान्तेन पदैकदेशग्रहणेन सर्वत्र कार्यसिद्धेः । ‘न ह्यकारान्त-
निर्देशेषु पदग्रहणपरिभाषा प्रवर्तते, अपदग्रहणत्वात् । तदभ्यु-
पगमे तु ‘चीयत्परः’ (४-३३) ‘शकारश्चपरः’ (५-४)
‘शकारं चपरः’[†](५-२०) इत्यादिनिर्देशास्तत्रतत्र कर्तव्यास्त्युः ।
तस्मात्परिभाषा न भवति यन्निबन्धनोऽयं प्रलापः । तस्मान्निरर्थ-
कोऽत्र द्वितीयः पाठः ॥ २५ ॥



सितृदृहकारपरः ॥ २६ ॥ .

सि, तृ, दृ इत्येवम्पूर्वो हकारपरः स्यादनुस्वारागमः ।
यथा—“सिंहो वयः”^३ । “शततर्हस्तृहन्ति”^४ । “दृहस्व
मा ह्वाः”^५ । एवम्पूर्वं इति किं ? “सपत्नसाही स्वाहा”^६ ।
“अनतिदाहायोवाच”^७ । ऋकारेणैवालं, किं तकारदकाराम्याम् ।
“गृहाणामसमर्त्यै”^८ । एवम्पर इति किं ? “सिषासन्तीः”^९ ।
“तृप्वीमनु”^{१०} । “नक्तं दृशे दीप्यते”^{११} । हकारः परो यस्मा-
दसौ हकारपरः ॥ २६ ॥

^१ सं. ५-५-९.

^२ सं. ४-५-९.

^३ सं. ४-३-५.

^४ „ १-५-७.

^५ „ १-१-३.

^६ „ १-२-१२.

^७ सं. ५-२-१०.

^८ „ ३-३-८.

^९ „ ७-५-२.

^{१०} सं. १-२-२४.

^{११} „ १-६-४.

* शिलपर.

† तु ‘नपरश्चपरः’ इत्यादियु ‘नकारपरश्चकारपरः’

सि, तृ, ह इत्येते शब्दाः परमनुस्वारमुपगच्छन्ति हकारे परतः । सि—‘सिःहीरसि’^१ । ‘सिःहो नकुलः’^२ । तृ—‘वि-
तृःहाणास्तिष्ठन्ति’^३ । ‘शततर्ह्यःस्तृःहन्ति’^४ । ह—‘हःह्रस्व मा
ह्राः’^५ । ‘पृथिवीं हःह्र’^६ । हकारपर इति किम् ? “शृङ्गाणि
सिपासन्तीः”^७ । ‘तेऽमुष्मिन् लोके व्यतृप्यन्’^८ । ‘हो वि-
श्राम्य सूर्यम्’^९ ॥ २६ ॥

मःहिष्ठस्य च ॥ २७ ॥

‘मःहिष्ठस्य’ इत्यस्मिन् ग्रहणे चकाराकृष्टहकारपरोऽनुस्वारा-
गमो भवति । यथा—‘मःहिष्ठस्य प्रभृतस्य’^{१०} । चकारः कि
मर्थः ? अत्रैव ग्रहणे पसकारपरो मा भूदिति ॥ २७ ॥

मशब्दः परमनुस्वारमुपगच्छति हिष्ठस्येत्यस्मिन् हकारे प-
रतः । “मःहिष्ठस्य प्रभृतस्य”^{११} । एवंपर इति किम् ? ‘म-
हिपीरसि’^{१२} ॥ २७ ॥

आदिरः हतिरः होऽहोरः होमुगत्यः हा
अःहसोऽहसाऽऽमःशुभिरःशुभु-
वाऽश्वःशू अःशवोऽशुरःशुमः-

१ सं. १-२-१२.

४ ,, १-६-७.

७ ,, १-५-४.

२ सं. ६-५-२१.

५ ,, १-१-३.

८ ,, १-४-४३.

३ सं. १-२-११.

६ ,, ७-५-२.

९ ,, ४-२-३.

शूनःशुनाऽशोरःशायोपाःश्वःशाव- वग्रहे* ॥ २८ ॥

अःहतिः, अःहः, अःहोः, अःहोमुक्, अत्यःहाः, अ-
हसः, अःहसा, अःशं, अःशुमिः, अःशमुवा, अःशु,
अःशू, अःशवः, अःशुः, अःशुं, अःशून, अःशुना,
अःशोः, अःशाय, उपाःशु, अःशौ एतेष्वादिरनुस्वारागमो
भवति । यथा—“परिद्वेपसो अःहतिः”^१ । “अःहोमुचं
वृषभम्”^२ । सूत्रे संहितायामोत्वस्यान्नात् “अहर्देवानाम्”^३ इत्यादौ
न स्यादयं विधिः । किन्तु यस्मिन् विसर्जनीयो रेफं नापद्यते,
तस्यैवोपादानम् । “अःहोश्चिद्या”^४ । “अःहोमुग्याम्”^५ । नन्वयं
चैक[चक्र]बन्धः, रेफमप्राप्तस्यायं विधिः, विहितानुस्वारस्यैव रेफनिषेधते
[धृ]ति । नैष दोषः । सिद्धस्यैवानुस्वारस्य बोधनं न तु विधिरिति^६ ।
“ऋतपाश्चात्यःहाः”^७ । अतीति किं ? “पठहा भवन्ति”^८ । “ते
नो मुञ्चतमःहसः”^९ । “अःहसा वा एष गृहीतः”^{१०} । अःहेत्ये-
तावता सिद्धेः कुतः सकलपदपाठः ? “स रसमह वसन्ताय”^{११} ।

१ सं. १-६-११.

२ सं. १-६-१२.

३ सं. १-६-२.

४ सं. १-४-२२.

५ सं. ७-५-२२

^६ नन्वेतत्सकलमनुपपन्नम्, रेफमप्राप्तस्यायं विधिः । विहितानुस्वारस्यैव
रेफो निषिध्यत इति । नायं दोषः । सिद्धस्यैवानुस्वारस्यात्
चोद्यता न तु विधिरिति । इति पाठान्तरम्.

७ सं. १-८-१३.

८ सं. ७-६-१.

९ सं. ४-७-१६.

१० ,, २-४-२.

११ ,, ७-२-१०.

* त्रिभाष्यरत्नपाठे ‘अवग्रहे’ इत्येतत् दृश्यते.

इत्यादिनिषेवार्थः । “परिपश्यामोऽशम्”¹ । “वड्भिरशुभिः पव-
यति”² । “त्वयाऽशमुवा सोमम्”³ । भुवेति किं ? अश-
शेत्येतावता* ग्रहणे तथाविधपदसद्भावात् “अशम्”¹ इत्यत्र न
स्यात् । “तेनाशुमत्”⁴ । “अन्कारादि” (१-९३) इति
वचनात् “अनशु कुर्वन्तः”⁵ इत्यप्युदाहरणम् । “वृष्णो हो-
तावशु”⁶ । “प्राणा वा अशवः”⁷ । “अशुरशुस्ते”⁸ ।
“यमादित्या अशुम्”⁹ । “अशूनपगृह्णाति”¹⁰ । “अ-
शुना ते अशुः”¹¹ । “यो वा अशोरायतनम्”¹² । “अ-
शाय स्वाहा भगाय”¹³ । “उपाशुसवनो यदुपाशुसवनम्”¹⁴ ।
“तमुपाशौ समस्थापयन्”¹⁵ । अश्वित्येतावति गृहीते इतरे-
षामपरिग्रहः† स्यात्, तथाविधपदसद्भावात् । अथोभयं गृह्यते पद-
मेकदेशश्च किंशिलवत् । तथा सति पदैकदेशेषु “पशुं पशु-
पते ते अद्य”¹⁶ इत्यादिषु प्राप्नुयात् अनुस्वारागमः । तच्चानि-
ष्टम् । आदिरिति किं ? सर्वेषु स्थानेषु मा भूदिति । यथा—
“अहसः”¹⁷ इत्यादि ॥ २८ ॥

पदग्रहणान्येतानि । कुतः ? अश्विति गृहीत्वा ‘अशुः’

१ सं. ७-१-६.

२ सं. १-४-५.

३ सं. ६-४-८.

४ सं. ३-२-२.

५ सं. ६-४-४.

६ सं. १-२-११.

७ सं. २-२-६.

८ सं. १-२-६.

९ सं. ६-६-१०.

१० सं. १-८-१३.

११ सं. ६-४-६.

१२ सं. ३-१-४.

१३ सं. १-६-१२.

* वतो.

† पां परिग्रहणमेकं.

‘अ२शुम्’ ‘अ२शुना’ इति पृथग्रहणात्॥ ‘अ२ हतिः’ इत्यादिषु पदेषु
 आदिवर्ण ऊष्मपरोऽनुस्वारमुपगच्छति । अवग्रहे उपांशुपदे
 ऊष्मपरो वर्णोऽनुस्वारमुपगच्छति । अ२ हतिः—‘परित्वेपसो अ२-
 हतिः’^१ । अ२हः—‘नैनम२हो अओति’^२ । अ२होः—‘अ२हो-
 धिया वारिवोचित्तरा’^३ । अ२होमुक्—‘अ२होमुग्भ्यां द्विकपालः’^४ ।
 अत्य२हाः—‘ऋतपाश्चात्य२हाः’^५ । भतीति किम् ? ‘अग्रहा भ-
 वन्ति’^६ । अ२हसः—‘अ२हसो यत्र पीपरत्’^७ । अ२हसा—‘अ२-
 हसा वा पप गृहीतः’^८ । अ२शम्—‘अ२शमाहरामहा इति’^९ ।
 अ२शुभिः—‘पङ्क्तिर२शुभिः’^{१०} । अ२शमुवा—‘त्वयाऽ२शमुवा’^{११} ।
 भुवेति किम् ? ‘अवक्रामन्नशस्ती’^{१२} । अंशेत्यकारान्त^{१३}पदग्रहणम-
 शक्यं विंशानुमिति अतिन्यासिपरिहाराय भुवेत्युपमन्धः । अ२-
 शु—‘उपा२शु यजति’^{१४} । पदग्रहणात् “अन्कारादि च” (१-५२)
 ‘अन२शु कुर्वन्तः’^{१५} । अ२शू—‘द्योताय२शू यौ सोमस्य’^{१६} । अ२-
 शवः—‘प्राणा वा अ२शवः’^{१७} । अ२शुः—‘अ२शुर२शुस्ते’^{१८} । अ२-
 शुं—‘यमादित्या अ२शुम्’^{१९} । अ२शून—‘अ२शनप गृह्णाति’^{२०} ।
 अ२शुना—‘अ२शुना ते अ२शुः’^{२१} । अ२शोः—‘उपा२शोर्वीर्येण’^{२२} ।
 अ२शाय—‘अ२शाय स्वाहा’^{२३} । उपा२शु—‘उपा२शुयाजमन्तरा यज-

१ सं. २-६-११.

२ सं. ३-४-१२.

३ सं. १-४-२२.

४ सं. ७-६-२२.

५ सं. १-८-१३.

६ „ ७-४-१.

७ सं. १-६-२२.

८ सं. २-४-२.

९ सं. ७-१-६.

१० सं. ६-४-५.

११ „ ६-४-८.

१२ „ ४-१-२.

१३ अंशेत्यकारान्तं.

१४ „ १-५-२.

१५ „ ३-२-२.

१६ सं. ६-४-४.

१७ सं. १-२-११.

१८ सं. २-३-५.

१९ „ १-२-६.

२० सं. २-३-१०.

त्यजामित्वाय^१ । अ५ शौ—‘ते देवा उपा५ शौ’^२ । अ६ श् इति सामान्यग्रहणे ‘अश्याम’^३ । ‘अश्रुते’^४ । ‘अशीमहि’^५ । ‘अशिथिलम्’^६ । इत्यादावपि स्यात् । उपाग्रहणे ‘अशमन्त’^७ इत्यत्रापि स्यात् । आदिरिति किम् ? ‘अ५ हसोऽ५ हसा’ इत्यत्र द्वितीयस्य स्वरस्य मा भूत् ॥

ननु अत्र अ५ ह इति अविशेषोक्तेः सर्वेष्वहश्शब्देषु अनुस्वारः स्यात्—‘अहर्देवानामासीत्’^८ । ‘अहोरात्रे गच्छ’^९ । ‘त्रयहो भवति’^{१०} । ‘अहोभिश्चरन्ति’^{११} । अपि चैवं सति ‘अ५ हश्च सर्वेषाम्’ (८-१५) इति निषेधात् कचिदपि असौ रेफी न स्यात् । तथाच—‘नभिर्भ्यां परः’ (८-१४) इत्येतदप्यनर्थकं स्यात् । अत्र वदामः—अहश्शब्दस्तावदष्टमेऽध्याये त्रिविधोऽवगम्यते—कचिन्नेफी कचिदनुस्वारी कचिदनुभयात्मक इति । तत्र रेफपर इङ्गयान्तो भिर्भ्यां परश्चानुभयात्मक इति गम्यते, रेफादेशनिषेधात्तत्सामर्थ्याच्च यदि रेफपरादिषु अनुस्वारस्स्यात्तदा तत्रापि ‘अ५ हश्च सर्वेषाम्’ (८-१५) इत्यनेनैव रेफनिषेधसिद्धेः पृथङ्निषेधा निरर्थकास्स्युः । अतो रेफपरादिष्वनुस्वारोऽपि नास्तीति सिद्धम् । तेभ्योऽन्येष्वहश्शब्देषु यद्यपि रेफानुस्वारविवेको नावकल्पते,† तथाऽपि ‘अ५ हश्च सर्वेषाम्’ (८-१५) इति निषेधात् अनुस्वारिणो रेफित्वं नास्तीति तावदवगम्यते । तेनेदमवसीयते—

ओत्पयत्वोपचाराणां यस्मिन् रेफः*विरोधिनाम् ।

संहितायां समाम्नानं^{१२} तदनुस्वार्यहःपदम् ॥

^१ सं. २-६-६.

^२ सं. ६-४-६.

^३ सं. १-३-१४.

^४ „ ६-४-१०.

^५ „ ५-७-२.

^६ „ ७-२-६.

^७ „ ४-६-३.

^८ „ १-५-९.

^९ „ १-३-१९.

^{१०} „ ७-३-५.

^{११} सं. ७-६-१.

^{१२} समाम्नातं.

† रेफानुस्वारिविवेको नावकल्पते.

* रेफि.

‘ओकारमस्सर्वोऽकारपरः’ (९-७) ‘घोषवत्परश्च’ (९-८) इत्यो-
 त्वम्, “अथ स्वरपरो यकारम्” (९-१०) इति यत्वं चेत्युभे रेफ-
 विरुद्धे, तदपवादत्वेन “ह्यारभार्” (८-८) इत्यादिना रेफादेश-
 विधानात् । तथा ‘कखपकारपरण्यम्’ (८-२३) इत्यादिना
 विहित उपचारो रेफ^१विरुद्धः, “नाध्वरं विश्वत” (८-३२) इत्य-
 न्तं पठःपुनश्शब्दयोः^२ रेफिणोस्तन्निषेधात् । तस्माद्यस्मिन्नहः^३पदे
 रेफविरुद्धमोकारादिसिद्धकार्यं^४ समाम्नायते, तदनुस्वारि । ततोऽ-
 न्यतु रेफीति विवेकस्सुकर इति भावो भगवतस्सूत्रकारस्य । तत-
 श्च ‘नैनम^५ हो अश्रोत्यन्तितो न’^६ । ‘इन्द्रायां^७ होमुचे’^८ । ‘अ^९ ह
 इन्द्रमेव’^{१०} । ‘अ^{११} हस्पत्याय त्वा’^{१२} इत्याद्यहः^३पदमनुस्वारीति सिद्धम्
 ततो नातिप्रसङ्गः । अवग्रह इत्यस्यानुक्तौ पूर्वस्या^५शुपदस्य
 पठिष्यमाणस्य अ^५शौपदस्य च उपशब्द उपबन्धस्सिद्धो भव-
 तीति विज्ञायते । तथा च-‘उपा^{१३} शु यजति’^{१४} इत्यादिवैवानुस्वार-
 स्यात् । ‘तेना^{१५} शुमत्’^{१६} ‘उपा^{१७} शुपात्रे’^{१८} इत्यादौ न स्यात् ।
 अवग्रहग्रहणे तु सति नेदीयसोऽ^{१९}शौपदस्य तथात्वासम्भवात्ततः
 पूर्वस्योपा^५शुग्रहणस्य विशेषणं तद्भवतीति दृष्टसिद्धिः ॥ २८ ॥

*उदात्तोऽ^५सेऽ^५साया^५साम्याम^५साविति॥

अवग्रहः, आदिरित्यर्थः । यदि पदादिरुदात्तः स्यात् तर्हि
 अ^५से, अ^५साय, अ^५साम्यां, अ^५सौ इत्येतेषु स्यादनुस्वा-

१ यत्वं च रेफि.

२ रेफि.

३ इत्यन्त.पुनश्शब्दयोः

४ अ^५हः.

५ रेफिविरुद्धमोत्वादिकार्यं.

६ सं. ३-४-१२.

७ सं. २-२-७.

८ सं. १-४-१४.

९ „ १-६-२.

१० „ ३-२-२.

* सूत्रादौ ‘अवग्रहः’ इत्यधिक त्रिभाष्यरत्नपाठे.

रागमः । इतिशब्दः स्वरूपवाची । यथा—“दक्षिणेऽ२ स
उप दधाति”¹ । “शित्य२ साय स्वाहा”² । “अ२ साभ्या२
स्वाहा”³ । “उत्तरेऽ२ सावेव प्रति दधाति”⁴ । आदिरुदात्त इति
किं? “असावन्नवीच्चित्रविहिता”⁵ ॥ २९ ॥

इतिशब्दः पदग्रहणाभिव्यक्तार्थः । इतरथा कार्यभाङ्गि-
स्वरूपयोः पदैकदेशयोर्ग्रहणानीति⁶ विज्ञायेरन् । तदयमर्थः—
अ२ से इत्यादिषु पदेषु ऊष्मपरो वर्ण उदात्तः परमनुस्वार-
मुपगच्छति । अ२ से—‘दक्षिणेऽ२ से’⁷ । अ२ साय—‘शित्य२ साय
स्वाहा’⁸ । अ२ साभ्याम्—‘अम्बिनाय२ साभ्याम्’⁹ । अ२ सौ—
‘अ२ सावेव प्रति दधाति’¹⁰ । उदात्त इति किम्? ‘असावादित्यः’¹¹ ।
पदग्रहणात् ‘जीवसे’¹² । ‘अपेशसे’¹³ इत्यादौ न भवति ॥ २९ ॥

नासावा नासावा ॥ ३० ॥

आद्युदात्ते¹⁴ सत्यप्यसवित्यस्मिन् ग्रहणे न खलु स्यादनुस्वारा-
गमः ‘ब्रूयादसावेहीत्येवम्’¹⁵ ॥ ३० ॥

इति त्रिभाष्यरत्ने प्रातिशाख्यविवरणे षोडशोऽध्यायः ॥

आङ्परे असौपदे ऊष्मपरो वर्ण उदात्तः परमनुस्वारं नोपग-
च्छति । यथा—‘ब्रूयादसावेहीति’¹⁶ ॥ ३० ॥

इत्याचार्यगार्ग्यगोपालमिथविरचिते वैदिकाभरणाख्ये
प्रातिशाख्यव्याख्याने षोडशोऽध्यायः ॥

¹ सं. ५-३-१.

² सं. ७-३-१७.

³ सं. ७-३-१६.

⁴ „ २-५-२.

⁵ इणा एत इति.

⁶ „ ५-७-१३.

⁷ „ २-१-४.

⁸ सं. १-२-१.

⁹ „ ७-४-२०.

¹⁰ आद्युदात्तत्वे.

¹¹ „ २-४-१.

अथ सप्तदशोऽध्यायः

तीव्रतरमानुनासिक्यमनुस्वारोत्तमेऽपि
शैत्यायनः ॥ १ ॥

अनुस्वारश्च उत्तमाश्च अनुस्वारोत्तमाः तेषु तीव्रतरं भवति
आनुनासिक्यम् इति शैत्यायनः. नाम मुनिर्मन्यते । तीव्रादधिकं
तीव्रतरम् । अनुनासिकानां भावः आनुनासिक्यम् । ‘नासिकावि-
वरणादानुनासिक्यम्’ (२-५२) इत्यस्य विधेः प्रथमदाढ्य-
मुपदिश्यते । यथा—‘अग्नीरूपमुपदः’^१ । ‘यं कामं कामयते’^२ ।
‘वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनाम्’^३ । ‘मणिना रूपाणीन्द्रेण’^४ । एते-
ष्विति किं ? ‘रुक्ममुप दधाति’^५ । ‘तिग्ममायुधम्’^६ । ‘सुष्ठोकां ४
सुमङ्गला ४म्’^७ ॥ १ ॥

तदेवं पदवर्णानां प्रायशो निर्णयः कृतः ।

तदुच्चारणकल्पोऽत ऊर्ध्वं प्रायेण धर्ष्यते^८ ॥

अस्मिन्नध्याये प्रयत्नो निरूप्यते । अनुस्वारे ऊर्जनतमेऽपि
च यदानुनासिक्यमस्ति, तत्तीव्रतरं प्रयोक्तव्यमिति शैत्यायनो
मुनिर्मन्यते । अतोऽन्यत्र यदानुनासिक्यं तत्तु समं प्रयोक्तव्यम्,
विशेषानुपदेशात् । अनुस्वारे यथा—‘स त्रीं रेकादशान्’^९ । ‘य-

^१ सं. ५-६-१.

^२ सं. ७-१-१.

^३ सं. ४-६-३.

^४ ,, ७-३-१४.

^५ ,, ५-२-७.

^६ ,, ४-७-१५.

^७ ,, १-८-१६.

^८ प्रावर्ष्यते बुध्नेः.

^९ ,, ३-२-११.

तत्र चित्रं सयेत्^१ । उत्तमेषु खल्वापि—‘पराङ्मावर्तते’^२ । ‘न-
मो राज्ञे नमो वरुणाय’^३ अनुस्वारोत्तमेष्विति किम्? ‘सुश्लो-
काधम्’^४ । नेदं सूत्रमिष्टम् ॥ १ ॥

—०—

समं सर्वत्रेति कौहलीपुत्रः ॥ २ ॥

सर्वत्र आनुनासिक्यवर्णेषु तीव्रतरत्वं सममिति कौहलीपुत्रो मन्यते ।
यथा—‘संहराणः’^५ । ‘संयत्ताः’^६ । ‘न्यङ्मुनिः’^७ । ‘उपहूतां ४
हो इत्याह’^८ इत्यादि ॥ २ ॥

सर्वेष्वनुनासिक्येषु वर्णेष्वनुनासिक्यं समं मध्यमप्रयत्नेन
प्रयोक्तव्यमिति कौहलीपुत्रो मन्यते । यथा—‘सुश्लोकाधम्’^४ ।
‘दक्षमुप दधाति’^९ । ‘तिग्ममायुधम्’^{१०} । ‘सत्री रेकादशा इह’^{११} ।
‘अश्शुरश्शुस्ते’^{१२} । ‘यः पराङ् विष्वङ्’^{१३} । ‘नमो राज्ञे नमः’^{१४} ।
‘तं य एवं विद्वान् यजते’^{१५} । ‘स एवास्मा इमान्लोकान्’^{१६} । ‘तल्लोक-
पृणयोपैत्’^{१७} । नेदं सूत्रमिष्टम्^{१८} ॥ २ ॥

—०—

अनुस्वारेऽप्विति भारद्वाजः ॥ ३ ॥

‘अणु’ सूक्ष्मतरं आनुनासिक्यं ‘अनुस्वारे’ स्यादिति

^१ सं. ६-२-१०.

^२ सं. ३-२-९.

^३ सं. ७-४-१६.

^४ „ १-८-१६.

^५ „ ४-६-१.

^६ „ १-५-१.

^७ „ ६-१-३.

^८ „ २-६-७.

^९ „ ६-२-७.

^{१०} „ ४-३-१५.

^{११} „ ३-२-११.

^{१२} „ १-२-११.

^{१३} „ १-५-९.

^{१४} „ ७-४-१६.

^{१५} „ ३-२-७.

^{१६} „ १-१-४.

^{१७} „ ६-७-६.

^{१८} एतद्वाक्यं कविभ्रातृभिः.

‘भारद्वाजः’ मन्यते । यथा—‘तनुवा जयत्व५ स त्वा’ ।
अनुस्वारादन्यत्र शैत्यायनविधिः उत्तमेषु तीव्रतरत्वं यमादिषु
तीव्रमात्रमिति ॥ ३ ॥

अनुस्वारे यदानुनासिक्यं तदणुप्रयत्नेन प्रयोक्तव्यमिति
भारद्वाजो मन्यते । अन्येषु वर्णेषु मध्यमप्रयत्नेन । उक्तान्युदाह-
रणानि ॥ ३ ॥

नकारस्य रेफोष्मयकारभावाल्लुप्ते च म-
लोपाच्चोत्तरमुत्तरं तीव्रतरमिति स्थविरः
कौण्डिन्यः ॥ ४ ॥

‘नकारस्य’ ‘रेफोष्मयकारभावात्’ चकाराकृष्टयकारे ‘लुप्ते’
सति ‘मलोपाच्च’ ‘उत्तरमुत्तरम्’ आनुनासिक्यं आनुपू-
र्व्येण ‘तीव्रतरं’ स्यादिति ‘स्थविरः कौण्डिन्यः’ मन्यते ।
यथा—‘स त्रीश्रेकादशान्’^१ इत्यत्र आनुनासिक्यं संयोगमात्रवत् ।
‘शुक्ला५श्च कृष्णा५श्च’^२ इत्यत्र तु संश्लिष्टम् । ‘महा५ इन्द्रः’^३
इत्यत्र तीव्रतरम्^४ । ‘स५शितम्’^५ इत्यत्र तीव्रतममित्यानुपूर्व्येण
विज्ञेयम् । अन्यत्र शैत्यायनविधिः ॥ ४ ॥

नकारस्य रेफभावाद्दूष्मभावाद्यकारभावाद्यलोपे मलोपे चेति
पञ्चविषयेषु पूर्वस्वरस्य यदानुनासिक्यं परप्रतत्त्वेनोक्तं, तत्र

^१ सं. ४-६-६.^२ सं. ३-२-११.^३ सं. २-३-१.^४ , १-४-२०.^५ तीव्रम्.^६ सं. ४-१-१०.^७ तीव्रतर.

पूर्वात्पूर्वादुत्तरोत्तरं तीव्रतरं शीघ्रतरमिति स्थविरः कौण्डिन्यो
मन्यते । अतोऽन्यत्र समम् । 'ये वा वनस्पतीरनु'^१ इति-
रेफभावात्पूर्वस्य तीव्रप्रयत्नः । 'विश्वाःश्च देवान्'^२ । 'ऋतू-
स्तन्वते'^३ इत्यूपमभावात्पूर्वस्य तीव्रतरः^४ । 'अग्ने महाः असीत्याह'^५
इति यकारभावात्पूर्वस्य मध्यमः । 'अग्ने महाः असि'^६ इत्यादौ
यलोपात्पूर्वस्य तीव्रः । 'प्रत्युष्टः रक्षः'^७ इत्यत्र मलोपात्पूर्वस्य
तीव्रतर इति । नेदं सूत्रद्वयमिष्टम् ॥ ४ ॥

—०—

व्यञ्जनकालश्च स्वरस्यात्राधिकः ॥ ५ ॥

चकारः स्थविरकौण्डिन्यमन्वादिशति । 'अत्र' अनुस्वा-
रविधाने सानुनासिकस्वरस्य 'व्यञ्जनकालः' ह्रस्वार्द्धकालः
'अधिकः' स्यादिति स्थविरः कौण्डिन्यो मन्यते । यथा—
'युञ्जाथाः रासभं युवम्'^१ इत्यादि । अत्रेति^२ स्वरस्येति किं ?
स्रादिपूतमेपु उत्तमलभावे चैतदधिककालविधानं मा भूदिति ॥ ५ ॥

अत्र आनुनासिक्यविषये तद्वतस्स्वरस्य व्यञ्जनकालाधिक्यं
च भवति, अर्धमात्राधिक्यमिति यावत् । यथा—'पुनः कृण्व-
न् स्था पितरम्'^३ इति ह्रस्वोऽर्धमात्रः । 'महाः इन्द्रो यः'^४ इति
दीर्घः अर्धतृतीय^५ मात्रः । 'सुखलोकां'^६ इति प्लुतोऽर्धचतुर्थमात्रः ॥
यत्र स्वरस्यानुनासिक्यमिष्टं तत्रेदमिष्टम् । अन्यत्र नेष्टम् ॥ ५ ॥

—०—

^१ सं. ४-२-८.

^२ सं. २-२-११.

^३ सं. ४-३-११.

^४ अनुः.

^५ " २-५-९.

^६ " १-१-४.

^७ सं. ४-१-२.

^८ अत्रैव.

^९ " ४-७-१३.

^{१०} " १-४-२०.

^{११} द्वितीय.

^{१२} " १-८-१६.

स्वारविक्रमयोर्दृढप्रयत्नतरः पौष्करसादेः॥६॥

स्वारे विक्रमे च प्रयोगः 'पौष्करसादेः' मते 'दृढप्रयत्न-
तरः' भवति । 'स्वारः' स्वरित इत्यर्थः । 'विक्रमो' नाम
अनुदात्तविशेषः । यथा—'योऽस्य स्त्रोऽग्निः' ^१ । 'आस्ये हविः
प्रियम्' ^२ । स्वारविक्रमयोरिति किं ? 'गां वाव तौ तत्' ^३ । दृढः
प्रयत्नो यस्यासौ दृढप्रयत्नः । अतिशयेन दृढप्रयत्नः 'दृढप्रयत्नतरः' ^४॥६॥

स्वारः स्वरितः, विक्रमां नाम अनुदात्तविशेषः एकोनविं-
शाध्याये वक्ष्यते । तयोर्दृढप्रयत्नतरः प्रयोग इति पौष्करसादेः
मतम् । स्वारः—'न दिव्यग्निश्चेतव्य इति' ^५ । 'तेऽहुवन्' ^६ ।
'सूत्रात्ता' ^७ । 'प्रउगम्' ^८ । विक्रमः—'किं तत् उच्छिष्यतीति' ^९ ।
'योनिश्शिक्ष्यं यच्छिष्यात्' ^{१०} । स्वरिते नैतदिष्टम् । किन्तु स्वाराध्याये
वक्ष्यमाण एव विक्रमे त्वेतदिष्टमेव, कार्यार्थत्वाद्विक्रमसंज्ञायाः ॥६॥

प्रयत्नविशेषात्सर्ववर्णानामिति शैत्यायनः॥

'सर्ववर्णानां' प्रयोगस्त्वोचितः*प्रयत्नविशेषात् दृढप्रयत्नतरो भव-
तीति 'शैत्यायनः' मन्यते । यथा—'इषे त्वा' ^{११} इत्यादि । नैतानि
सप्त सूत्राणीष्टानि ॥ ७ ॥

१ स. ५-७-९.

२ सं. ३-३-११.

३ स. १-७-२.

४ सं. ५-२-७.

५ ,, २-५-१.

६ ,, ७-१-८

७ ,, ४-४-२.

८ ,, २-६-८.

९ ,, ५-६-९.

१० प्रयोगस्योचित.

११ ,, १-१-१.

विशेषोऽतिशयः । ल्यब्लोपे पञ्चमी । प्रयत्नातिशयमाश्रित्य
सर्धवर्णानां प्रयोगः कार्य इति शैत्यायनो मुनिर्मन्यते । आनुना-
सिक्ये तु पूर्वोक्तैव क्लृप्तिः । 'इषे त्वोर्जे त्वा' । नेदं सूत्रमिष्टम् ॥

—0—

नातिव्यक्तं न चाव्यक्तमेवं वर्णानुदीरयेत्^१
पथःपूर्णमिवामत्रं हरन्धीरो यथामति ॥
इत्यात्रेय आत्रेयः ॥ ८ ॥

'अतिव्यक्तम्' अतिस्पष्टं 'अव्यक्तम्' अस्पष्टं च यथा 'न',
भवति 'एवं' 'वर्णान्' 'उदीरयेत्' उच्चारयेदित्यर्थः ।
'पथःपूर्णमिवामत्रं' क्षीरपरिपूरितं भाजनं 'हरन्निव' 'यथामति'
मतिमनतिक्रम्य वर्तमानः धीरः अध्येता भवेत् 'इत्यात्रेयः' मन्यते ॥

इति त्रिभाष्यरत्ने प्रातिशाख्यविवरणे सप्तदशोऽध्यायः.

शिक्षोक्तं स्वमतमाह—

यथा क्षीरस्य पूर्णभाजनं घृहन् पुरुषो धीरस्समाहितमनाः
सन् नातिशीघ्रं गच्छति न चातिमन्दम्, एवं वेदस्य प्रयोक्ता
पुरुषः प्रयत्नातिशयेन वर्णान्नातिव्यक्तमुच्चारयेत्, न च प्रयत्नाप-
चयेनाव्यक्तम्, किन्तु मध्यमेन प्रयत्नेन प्रयुज्जीत । एवमव्य-
क्तचातिव्यक्ती न भवतः ॥ ननु कस्यचिन् तीव्रः प्रयत्नः अन्यस्य

^१ 'वर्णानुदीरयेत्' इति त्रिभाष्यरत्नपाठः.

मध्यमो भवति, कस्यचिन्मन्दः प्रयत्नः अन्यस्य मध्यम इत्येव-
मापेक्षितत्वात्कथं साम्प्रतिकावधारणमिति? अत्रेदमुच्यते—य-
थामतीति, यथा प्रयोक्तुर्मतिर्भवति अयमेव पक्षः साम्प्रतिकः
प्रयत्न इति तथा स प्रयोक्ता^१ स्वशक्त्यनुरूपं प्रयुज्जीत^२ ।
न तु परशक्त्यपेक्षया साम्प्रतिकावधारणं सम्भवतीति । आत्रे-
यग्रहणं पूजार्थम् ॥ ८ ॥

इत्याचार्यगार्ग्यगोपालमिश्रविरचिते वैदिकाभरणाख्ये

प्रातिशाख्यव्याख्याने सप्तदशोऽध्यायः.

अष्टादशोऽध्यायः.

ओकारं तु प्रणव एकेऽर्धतृतीयमात्रं ब्रुवते ॥

‘प्रणवे’ ‘ओकारम्’ ‘अर्धतृतीयमात्रम्’ ‘एके ब्रुवते’
एके आचार्याः अर्धतृतीयमात्रमाहुः इत्यर्थः । अर्धं तृतीयं
ययोस्ते अर्धतृतीये अर्धतृतीये मात्रे यस्यासौ अर्धतृतीयमात्रः ।
यथा—‘समुद्रो बन्धुः ओम्’^१ । ‘येम्यश्चैनत्माहुः ओम्’^२ ।
‘ओं इषे त्वा’^३ । ‘ओं ब्रह्म सन्धत्तम्’^४ । कालनिर्णयेऽप्येवं
वर्णितम्—

स्वाध्यायारम्भशेषस्य प्रणवस्य स्वरस्य च ।

अध्यायस्यानुवाकस्यान्ते स्यादर्द्धतृतीयता ॥

तुशब्दस्य प्रयोजनमुच्यते—

सन्ध्यक्षराणां वेदं च^५ प्रणवं चान्तरा तथा ।

इति कालनिर्णये, ‘सन्ध्यक्षराणां द्वस्वा न सन्ति’ इति
पाणिनीयेऽपि, ओकारमात्रस्य दीर्घकालो निरूपितः । इह तु
प्रणवस्थत्वाविशेषणादसौ कालो निषिद्ध्यते ।

वेदस्य^६ प्रणवे तु स्यात् समकाल^७द्विमात्रता ।

इति प्रणवविशेषे कालविशेषः^८ प्रत्येतव्यः ॥ १ ॥

^१ स. ७-५-२५.

^२ ब्रा. ३-१२-९.

^३ सं. १-१-१.

^४ ब्रा. १-१-१.

^५ वेदे च.

^६ वेदस्थ.

^७ समकारो.

^८ प्रणवस्य विशेषकालः.

इदानीमध्ययनारम्भार्थस्य ओंकारस्य प्रयोगो वक्ष्यते—

प्रणूयते प्रस्तूयते प्रारभ्यतेऽनेन वेद इति प्रणवः. ओङ्कारः । तस्मिन् य ओंकारः तमेके आचार्या अर्धतृतीयमात्रं भणन्ति । अर्धं तृतीयं यासां मात्राणां ता अर्धतृतीयाः । तावत्थो मात्रा यस्य स तथोक्तः । तदेतच्छिक्षाकारोक्तं परमतत्वेनोपन्यस्तम् । कुतः ? बुधत इत्यात्मनेपदनिर्देशात् । कर्त्तृभिप्राये हि क्रियाफले आत्मनेपदादेशस्मर्यते । अतो न तत्परेषामुपकरोति । स्वमते तु त्रिमात्रः । तदुक्तं मूलशास्त्रे—
'ओमभ्यादाने' अचः^१ भुत उदात्त इति । शुशब्दो यथाप्राप्तं कृत्स्नस्योकारस्य^२ त्रिमात्रत्वं निवर्तयति । तथाचार्धतृतीयमात्रस्वरत्वं विकथा^३ निमित्तस्य समाप्तिनिमित्तस्य चाभिमतमिति ध्वन्यते ॥ १ ॥

उदात्तानुदात्तस्वरितानां कस्मिंश्चिदिति शैत्या-
यनः ॥ २ ॥

उदात्तानुदात्तस्वरितानां मध्ये 'कस्मिंश्चित्' स्वरे प्रणवः प्रयोक्तव्य इति 'शैत्यायनः' मन्यते । यथा—'ओम्' ॥ २ ॥

वेदारम्भार्थं ओङ्कारे य ओंकारः स खलु उदात्तानुदात्तस्वरितानामन्यतमे स्वरे प्रयोक्तव्य इति स्वरविकल्पं शैत्यायनो मन्यते ॥ २ ॥

धृतः प्रचयः^५ कौण्डिन्यस्य ॥ ३ ॥

^१पा. ८-२-८७. ^२अतः. ^३कृत्स्नस्योकारस्य. ^४विकथा.

^५धृतप्रचय इति त्रिभाष्यरत्नपाठः.

कौण्डिन्यस्य मते प्रणवो 'धृतप्रचयः' भवति । चतुर्थः स्वरो 'धृतप्रचयः' इति कथ्यते । ननु—'प्रचयपूर्वश्च कौण्डिन्यस्य' (१९-२) इतिवत् प्रचय इत्येतावतैवालम्, किं धृतशब्देन? मैवम् । पदद्वयेनाप्यनेन नामधेयमेवाभिधीयते । तथा हि—अर्थभेदाभावेऽपि प्रयोगभेदोऽस्तीति प्रयोगचातुर्यमाचार्यः प्रकटयति । यथा—“भीमसेनो भीमः, सत्यभामा सत्या, पिधानमपिधानं, दीपः प्रदीपः” इत्यादि ॥ ३ ॥

कौण्डिन्यस्य मते ओकारस्य धृतापरपर्यायः प्रचयोनाम स्वरो भवति । प्रचयलक्षणं वदति—“उदात्तश्रुतिः” (२१-१०) इति । तस्योदात्तवच्छ्रूयमाणस्य सूक्ष्मः कश्चिद्विशेषो धृतसंज्ञाभिधानमुखेन प्रदर्श्यते । कुप्तादीनां सप्तानां स्वराणां मध्ये तृतीयाख्यो यो मध्यमस्त्वरस्तस्य धृत इत्यन्वर्थसंज्ञा । कुप्-प्रथमद्वितीया उत्क्षेपिणः । चतुर्थमन्द्रातिस्वार्या अपक्षेपिणः । तृतीयस्तु उभयरहितो मध्ये लीयमान^१त्वादृतसंज्ञः । उदात्तस्तु किञ्चिदुत्क्षिप्यत इति धृतोदात्तयोरीपद्विशेषः । अत एव 'उदात्तश्रुतिः' (२१-१०) इति उदात्तस्येव श्रुतिः प्रचयस्येति इयार्थ उपपद्यते । वक्ष्यति च—'मन्द्रादयो द्वितीयाः स्ताश्चत्वारस्तैत्तिरीयकाः' (२३-१५) इति । उदात्त इति चान्वर्थसंज्ञा उत्क्षेपणनिमित्तवतः^२ । तस्मादेतावानुदात्तप्रचययोर्भेद इति प्रकटनार्थं धृत इति विशेषणम् । प्रणवे, तु कौण्डिन्यस्यैत्यायनयोर्मते अनिष्टे ॥ ३ ॥

मध्यमेन स वाक्प्रयोगः ॥ ४ ॥

प्रयुज्यत इति 'प्रयोगः' । 'मध्यमेन' उच्चनीचसमाहारवि-
लक्षणेन प्रयोजनं प्रणवः प्रयोक्तव्यः । यत्र क्वचन वाचस्थाने
'प्रयोगः' भवति । 'सः' इति कौण्डिन्याभिमतः पूर्वोक्तो
गृह्यते । वाचि प्रयोगो 'वाक्प्रयोगः' ॥ ४ ॥

वाचः प्रयोगो वाक्प्रयोगः । स खलु प्रणवात्मको वा-
क्प्रयोगो मध्यमेन स्वरेण कर्तव्यो न क्रुष्टेन नापि मन्द्रादिभिः ॥



स्वरितः श्लाक्षिश्लाक्षायणयोः ॥ ५ ॥

'श्लाक्षिश्लाक्षायणयोः' पक्षे प्रणवः 'स्वरितः' भवति ।
नेतःसूत्रचतुष्टयमिष्टम् ॥ ५ ॥

श्लाक्षिश्लाक्षायणयोर्मते प्रणवः स्वरितः प्रयोक्तव्यः* । नेदं
सूत्रमिष्टम् ॥ ५ ॥



उदात्तो वाल्मीकेः ॥ ६ ॥

वाल्मीकेः मते प्रणवः 'उदात्तः' भवति ॥ ६ ॥

वाल्मीकेर्मते प्रणव उदात्तः प्रयोक्तव्य इति ॥ ६ ॥

*इदं वचनं आरण्यके काण्डप्रश्ने 'ओं तद्वा' (भा. ६-२९) इत्युवाके तदा-
दिषु परत एव प्रणवस्त्वर्यते । तत्रैवेष्टं नान्यत्र । तदुक्तं भवति
शिक्षायां—'यजुःप्रणव उच्चस्स्यात् स्वारास्स्युस्त्वो तदादिषु' इति ।
इत्यधिकः पाठः.

यथाप्रयोगं वा सर्वेषां यथाप्रयोगं वा सर्वेषां ॥ ७ ॥

यथाप्रयोगशब्देन उदात्तोऽभिधीयत इति माहिषेयपक्षः । प्रणवं 'यथाप्रयोगम्' 'वा' कुर्यादिति 'सर्वेषां' ऋषीणां मतम् । वररुचिपक्षस्तु वक्ष्यते—अध्येष्यमाणं 'यथाप्रयोगं' यथाविधस्वरं तथाविधेन वा स्वरेण प्रणवः प्रयोक्तव्य इति 'सर्वेषां' मतमिति । यथा—'इषे त्वा' इत्यनेनाध्येष्यमाणानुदात्तेन प्रणवोऽप्यनुदात्तः । 'आप उन्दन्तु'^२ इत्युदात्तेनोदात्तः । 'व्यृद्धम्'^३ इति स्वरितेन स्वरितः । नेदं सूत्रमिष्टम् ॥ ७ ॥

इति त्रिभाष्यरत्ने प्रातिशाख्यविवरणे अष्टादशोऽध्यायः.

तत्तच्छाखाध्यायिनः पूर्वं शिष्टतमाः येनयेन स्वरेण आरम्भार्थमोङ्कारं प्रयुञ्जते, तेनतेनैवाध्यापितव्ययस्थया प्रयोक्तव्य इति सर्वेषामाचार्याणां मतम् ॥ ७ ॥

इत्याचार्यगार्ग्यगोपालमिश्रविरचिते वैदिकाभरणाख्ये प्रातिशाख्यव्याख्याने अष्टादशोऽध्यायः.

एकोनविंशोऽध्यायः

स्वरितयोर्मध्ये यत्र नीचः स्यादुदात्तयो-
र्वाऽन्यतरतो वोदात्तस्वरितयोः स वि-
क्रमः ॥ १ ॥

‘यत्र’ स्थले ‘स्वरितयोर्मध्ये’ ‘उदात्तयोर्वाऽन्यतरतो वा’
इति स्वरितोदात्तयोर्वेत्यर्थः, ‘उदात्तस्वरितयोः’ वा मध्ये ‘नी-
चं’ यदक्षरं ‘सः विक्रमसंज्ञः’ भवति । स्वरितयोर्मध्ये यथा—
‘योऽस्य स्वोऽग्निस्तमपि’^१ । उदात्तयोर्यथा—‘वोढवे’^२ । स्वरि-
तोदात्तयोर्यथा—‘धन्वना गाः’^३ । उदात्तस्वरितयोर्यथा—‘तस्य
क सुवर्गो लोकः’^४ । विक्रमसंज्ञायाः प्रयोजनं—‘स्वारविक्रम-
योद्धमप्रयत्नतरः’ (१७-६) इति ॥ १ ॥

इदानीं विक्रमाख्योऽनुदात्तविशेषो लक्ष्यते—

यत्र स्वरितयोरक्षरयोर्मध्ये नीचमनुदात्तमक्षरं स्यात्, उदा-
त्तयोः मध्ये वा नीचं स्यात्, अन्यतरतः एकतरस्मिन् वा समीपे
उदात्तस्वरितयोः सतोर्मध्ये नीचं स्यात्स नीचस्वरो विक्रमसंज्ञो
भवति । स्वरितयोः—‘तावानुक्थ्यः’^५ । उदात्तयोः—‘इपे त्वोर्जे
त्वा’^६ । अन्यतरतो घेत्यत्र द्विधाऽन्वयः स्वरितपूर्वकतया उदा-
त्तपूर्वकतया वा इति । ‘नास्येन्द्रियं वीर्यं वृद्धे’^७ । एवमिति
किम्? ‘वरिमा च मे प्रथिमा च मे’^८ । संज्ञायाः प्रयोजनम्.
“स्वारविक्रमयोः दृढप्रयत्नतरः” (१७-६) इत्युक्तम् ॥ १ ॥

^१ सं. ५-७-९.

^२ सं. १-६-२.

^३ सं. ४-६-६.

^४ ,, २-६-५.

^५ ,, १-६-९.

^६ ,, १-१-१.

^७ ,, २-२-९.

^८ ,, ४-७-२.

^९ इत्युदात्तस्य विक्रम इति.

प्रचयपूर्वश्च कौण्डिन्यस्य । २ ॥

चशब्दो विक्रम इति ज्ञापयति । कौण्डिन्यस्य मते उदात्तपरः स्वरितपरो वा 'प्रचयपूर्वश्च' विक्रमो विज्ञेयः । उदात्तपरो यथा—'पर्यवदतां या'^१ । स्वरितपरो यथा—'उपरिष्ठा-
छद्मा याज्या'^२ । प्रचयः पूर्वो यस्मादसौ 'प्रचयपूर्वः' ॥२॥

पूर्वोक्तविधया^३ उदात्तस्वरितपरः प्रचयपूर्वको योऽनुदात्तः
स च विक्रम इति कौण्डिन्यस्य मतम् । 'अवधूतश्च रक्षः'^४ ।
'खनितुं पुरीष्यम्'^५ । एवमिति किम् ? 'उपयामगृहीतोऽसि'^६ ।
नेदं सूत्रमिष्टम् ॥ २ ॥

द्वियम एके द्वियमपरे ता अणुमात्राः ॥३॥

यमशब्दः स्वरितपर्यायः । द्वौ यमौ यत्र देशे नैरन्त-
र्येण वर्तेते, स 'द्वियमः' तस्मिन्, द्वियमः परो यस्मादसौ
'द्वियमपरः' तस्मिन् त्रियमे^७ सति याः स्वरितप्रकृतयः 'ताः'
सर्वा अन्ततः 'अणुमात्राः' अभिनिहता भवन्तीति 'एके' म-
न्यन्ते । द्वियमे यथा—'तेऽन्योन्यम्'^८ । द्वियमपरे यथा—
'सोऽन्योन्यमिष्यत'^९ । अन्तत इति कथं प्रतीयते 'पदान्ते

^१ सं. १-७-२.^४ „ १-१-६.^७ द्वियमपरे.^२ सं २-६-२.^५ „ ४-१-२.^८ „ ६-१-५.^३ पूर्वोक्तविधये.^६ सं. १-७-१२.^९ „ ६-१-१.

च तथा कम्पा अन्ततो निहताणुकाः' इति वचनादिति ब्रूमः ।
निहतं तु' 'स्वरितयोर्मध्ये यत्र नीचम्' (१९-१) इत्येतत्सा-
न्निध्यात् लभ्यते । शिक्षा चेवं वक्ष्यति—

नित्योऽभिनिहतश्चैव क्षेमः प्रक्षिष्ट एव च ।

एते स्वाराः प्रकम्पन्ते यत्रोच्चस्वरितोदयाः ।

शेषस्योदात्तता वा स्यात् स्वारता वा व्यवस्थया ॥ इति॥
व्यवस्थाशब्देनानेन द्विविधः कम्प उक्तः । संहितायां स्वरित-
कम्पः इतरवेदभागे उदात्तकम्प इति ये कम्पाः प्रसिद्धाः ते-
ष्वेतल्लक्षणं न तु कम्पविधायकम् । अन्यथा 'योऽपां पुष्पम्'^१
इत्यादौ कम्पः प्रसज्येत । नेदं सूत्रमिष्टम् ॥ ३ ॥

यमशब्दस्स्वरवाची^३ । द्वौ यमौ समाहृतौ यस्मिन्स खलु
स्वरितस्वरो द्वियम उच्यते । तस्मिन् स्वरितपरे एके आचा-
र्याः शिक्षाकाराः नीचमिच्छन्ति । तर्हि कृत्स्नस्य पूर्वस्वरितस्य
नीचत्वमिष्यते ? नेत्युच्यते । ता अणुमात्राः, ताश्च नीचप्रकृत-
योऽणुपरिमाणा भवन्ति । अणुर्नाम ह्रस्वकालस्य चतुर्थोऽंशः॥

"ह्रस्वस्वरूपं विज्ञेयं चतुर्भिर्णुभिस्तथा"^४ इति शिक्षाका-
रवचनात् । तथा च स्वरितात्पूर्वस्य स्वरितस्यान्ते पादमात्रं
नीचं भवतीति सिद्धम्^५ ॥

^१ निहतत्वं तु.

^२ तै. आ. १-२२.

^३ स्वरितवाची.

^४ चतुर्भिर्णुभिर्मात्रापरिमाणमिति स्मृतम् । इत्यधिकपाठः.

^५ पदान्ते च यथा कम्पा अन्ततो निहताणुकाः' इति.

अस्मिन्^१ विषये ह्रस्वस्वारितोऽपि द्विमात्रो भवति,
अदीर्घं दीर्घवत्कुर्यात् द्विस्वरं यदि हृदयते।

इति शिक्षावचनात्, स खल्वनुदात्तांशः कम्प इत्युच्यते।
तस्य यद्यप्यणुमात्रत्वमिहोच्यते, तथाऽप्युच्चारणदीर्घद्वयात्^२ ततः
पूर्वांशस्य कालः कम्पप्रासादधिककाल उच्चार्यते^३। तदुक्तं शिक्षा-
याम्—

स्वाराः कम्पाश्च रङ्गाश्च ये यत्कालास्वभाषतः।

वर्धन्ते प्रोच्यमानास्ते क्षिप्रयत्नेऽपि वक्तरि ॥ इति ॥

तद्यथा—‘पितृदेवत्या^४ ह्येतत्’^५। ‘देवा वा इन्द्रियं वीर्या^६भ्य-
भजन्त’^७। ‘ते^८ऽन्योन्यमुपाधाधम्’^९। ‘बहुदेवत्यो^{१०}श्छेपः’^{११}। ‘उदा-
त्तात्परोऽनुदात्तः’ (१४-१९) इत्यस्य तु स्वरितस्य स्वरितपरत्वं^{१२}
न भवति, ‘नोदात्तस्वरितपरः’ (१४-३१) इति निषेधात् अतः
एवोक्तं शिक्षायाम्—

नित्योऽभिनिहतश्चैव क्षेप्रः प्रक्षिप्य एव च।

एते स्वाराः प्रकम्पन्ते यत्रोच्चस्वरितोदयाः।

शेषस्योदात्तता वा स्यात् स्वारता वा व्यवस्थया ॥ इति ॥

—***—

तस्यामेव प्रकृतौ ॥ ४ ॥

द्वियमस्थले पूर्वस्यामेव ‘तस्यां’ स्वरितप्रकृतावणुमात्रायाऽपि^{१३}

^१ यस्मिन्.

^२ कालं कम्पो प्रसृज् अधिक उच्चार्यते.

^३ सं. ६-६-८.

^४ स्वरितत्वं.

^५ सं. ६-१-५.

^६ मात्राया अपि,

^७ तथाऽप्युच्चारणादी दीर्घवत्.

^८ सं. ६-२-१०.

^९ „ २-१-६.

निहतत्वं भवति । द्वियमपरे तु स्थले पूर्वयोरेव प्रकृत्योरणुमात्रया^१ निहतत्वं भवति । न तु ताः सर्वा अणुकार्यभाज इत्येवकारो बोधयति । एवमेव कौहलेय आह—“द्वयोः पूर्वोऽणुमात्रिकास्त्रिषु पूर्वावणुमात्रिकावुत्तरः प्रकृत्येति” ॥ ४ ॥

नन्वन्नोदात्तपरस्यापि स्वरितस्य कम्पस्मर्यते । ततः ‘अस्मिन्लोकेऽस्मिन्नोष्ठेऽस्मिन्’^२ इत्यादावपि कम्पस्स्यात् । तथाभूतात्कम्पांशात्पूर्वस्यांशस्य कुत्रोदात्तता कुत्र वा स्वरिततेति च न शायत इत्यत्राह—

अस्मत्संहितायां तस्यामेव स्वरितात्मिकायामेव प्रकृतौ^३ कम्पो भवति । तथाभूतात्कम्पांशात्पूर्वांशस्तु तस्यामेव स्वरितप्रकृतौ भवतिष्ठते । यत्तूदात्तपरस्य स्वरितस्य कम्पत्वं कम्पात्पूर्वांशस्योदात्तत्वं च शिक्षायां स्मर्यते तत् कूश्माण्डादिविपर्यं शाखान्तरविपर्यं च वेदितव्यम् । यथा—‘तेऽस्मद्यक्षमनागस्तः’^४ । ‘अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः’^५ इत्यादि तत्रैव द्रष्टव्यम् । कम्पस्यापि विक्रमसंज्ञेयते, अस्मिन्नध्याये तदुपदेशात् ॥ ४ ॥



न पूर्वशास्त्रे न पूर्वशास्त्रे ॥ ५ ॥

‘पूर्वशास्त्रं’ नाम विक्रमविधिः । तस्मिन्नेतदणुकार्यं न भ-

^१ मात्रायाः.

^२ प्रकृतौ परतः.

^३ आ. २-४.

^४ स. १-५-६.

^५ तथाऽणुमात्रात्.

^६ आ. ५-१५.

वति । एवं वा सूत्रार्थः—पूर्वशास्त्रे अध्यायप्रथमसूत्रे या विक्रमसंज्ञा उक्ता, सा कम्पविधावत्र न भवति । विक्रमस्य दृढप्रयत्नत्वात्, कम्पस्य तदभावात् इति ॥ ५ ॥

इति त्रिभाष्यरत्ने प्रातिशाख्यविवरणे एकोनविंशोऽध्यायः.

तन्वस्मिन् स्वशास्त्रोचितकार्यविधावनुपन्यस्तपूर्वपरमते एकेग्रहणं न युक्तमित्यत आह—

अस्य शास्त्रस्य मूलभूतं व्याकरणं पूर्वशास्त्रमित्युच्यते । तस्मिन् कम्पो न विधीयते । साक्षाच्छिक्षायां तु विधीयते । व्याकरणप्रधानं ह्येतच्छास्त्रम् । तस्माद्व्याकरणेभ्योऽन्ये शिक्षाकारा इहैक इति व्यपदिश्यन्ते । तथाचास्मिन् शास्त्रे विधीयमानानां कार्याणां विषयेषु व्याकरणोक्तकार्याणां संगृहीतत्वान्न तत्र व्याकरणोक्तो विशेषः परिग्राह्यः । शिक्षार्थस्य तु सर्वस्यात्रापरिगृहीतत्वादिहानुक्तमविरुद्धं कार्यं ततः परिग्रहीतव्यमिति सिद्धम् ॥ ५ ॥

इत्याचार्यगार्ग्यगोपालमिश्रविरचिते वैदिकाभरणाख्ये

प्रातिशाख्यव्याख्याने एकोनविंशोऽध्यायः ॥



अथ विंशोऽध्यायः.

इवर्णोकारयोर्यवकारभावे क्षैप्र उदात्तयोः ॥

उदात्तयोः 'इवर्णोकारयोः' यथोपदेशं 'यवकारभावे' सति स्वरितो यो विहितः स 'क्षैप्रः' इति संज्ञायते^१ । यथा—
'व्येवेनेन'^२ । 'ऊधी स्वस्मान्'^३ । उदात्तयोरिति किं? 'व-
स्व्यसि'^४ । 'अन्वेनं विप्राः'^५ ॥ १ ॥

इदानीं स्वरितभेदानां प्रयत्नभेदविषयक्षया तल्लक्षणान्युच्यन्ते—

इवर्णोकारयोरुदात्तयोः यवकारभावे यस्स्वरितो विहितः
'उदात्तयोश्च परोऽनुदात्तस्वरितम्' [१०-१६] इति, स खलु क्षैप्रसं-
ज्ञो भवति । यथा—'विश्यस्मिन्नाष्ट्रे'^६ । 'यन्त्रयसि यमित्री'^७ ।
'स्वभ्र्युस्तुसभेयः'^८ । 'दिक्ष्वध्नुवन्ति'^९ । इवर्णोकारयोरिति
किम्?^{१०} 'तेऽध्वन्'^{११} । 'सोऽध्वीह'^{१२} । उदात्तयोरिति किम्?
'तान्यध्वन्'^{१३} । 'अन्वह मासाः'^{१४} ॥ १ ॥

^१ क्षैप्रसंज्ञो भवति. ^२ सं. ५-३-११. ^३ सं. ४-७-१५.

^४ सं. १-२-५. ^५ „ ४-६-८. ^६ „ १-८-१२.

^७ „ ४-३-७. ^८ „ ७-१-८. ^९ „ ३-६-१०.

^{१०} इवर्णोवर्णयोरिति किम्? "त एनं भुवन्ते" (६-६-३) । "कुवितु नो गविष्टये" (२-६-११) "त युनक्ति" (६-४-१०) "संवदन्ते" (४-२-६) । यवकारभाव इति किम्? "विश्वस्य भुक्नस्य धत्री" (४-२-९) ।

- ११ सं. २-५-१. १२ सं. २-१-२. १३ सं. २-४-१. १४ सं. १-७-१३.

सयकारवकारं त्वक्षरं यत्र स्वर्यते स्थिते
पदेऽनुदात्तपूर्वेऽपूर्वे वा नित्य इत्येव
जानीयात् ॥ २ ॥

‘सयकारं वा सवकारं वा’ ‘अक्षरं’ स्वर इत्यर्थः । स्थिते
पदे पदकाल इत्यर्थः । ‘यत्र’ स्थले ‘स्वर्यते’ ‘अनुदात्तपूर्वे’
‘अपूर्वे’ वा पूर्वाभावे वा सति, सः ‘नित्य एवेति’ सर्वत्र ‘जा-
नीयात्’ । सर्वत्रेति संहितापदजटास्वित्यर्थः । यथा—
‘वायव्यम्’^१ । ‘कन्येव तुष्ठा’^२ । ‘ततो बिल्वः’^३ । ‘न्यञ्चं चि-
नुयात्’^४ । ‘क्व जगती च’^५ । ‘कास्यास्य क्व २ कास्य’^६ इति
जटायाम् । तुशब्दो नित्यादानुच्चोदयविषये ‘नोदात्तस्वरितपर’
(१४-३१) इति निषेधं निवारयति । ननु—नित्यः कथमे-
तन्निषेधविषयः ‘उदात्तात्परोऽनुदात्तः’ (१४-२९) इति लक्ष-
णासम्भवात् । अत्रोच्यते—वर्णविभागवेलायामुदात्तपूर्वत्वमस्ति
‘समाहारः स्वरितः’ (१-४०) इत्युच्चपूर्वत्वात् स्वरितस्येति^७
निषेधविषयत्वम् । अनुदात्तश्चासौ पूर्वश्च अनुदात्तपूर्वः तस्मिन् ।
पूर्वाभावः अपूर्वः तस्मिन् शून्ये इत्यर्थः । स्थिते पदे इति
किम्? ‘व्येवैनेन’^८ । अनुदात्तपूर्व इति किम्? ‘मत्याऽ आ-

^१ सं. १-८-७.^२ सं. ३-१-१२.^३ सं. २-१-८.^४ सं. ५-६-३.^५ सं. ७-१-४.^६ ,, ६-७-४.^७ नित्यादानुच्चोदय.^८ इत्युक्त्वादुच्चपूर्वत्वमत एव स्वरितस्य.^९ सं. ५-३-११.

विवेश^१ । 'सर्वाः अग्नीन्'^२ । केचिदेवमाहुः—'उक्थ्योऽथ'^३
 'याज्यैवैनम्'^४ इत्यादि । प्रातिहतं निराकरोत्येवकारः पदसमये
 अनुदात्तपूर्वत्वात् पूर्वविशेषद्वयस्य^५ अन्यथा वैयर्थ्यात् । तस्मादत्र
 नित्यस्वरितत्वमेव न संज्ञान्तरमिति विज्ञेयम् ॥ २ ॥

स्थिते पृथग्वस्थिते यत्र पदे अनुदात्तपूर्वं अनुदात्तानि
 स्वरितात्पूर्वाक्षराणि यस्य तस्मिन्, अपूर्वं वा अविद्यमानं
 स्वरितात्पूर्वमक्षरं यस्य तस्मिन् वा यवकारपूर्वमक्षरं स्वरितं
 दृश्यते, तत्रस्थः स्वरितः^६ नित्य इत्येव जानीयान् । यथास-
 त्वं तु नेप्यते । अनुदात्तपूर्वं यथा—'उक्थ्यः'^७ । 'मनुष्यः'^८ ।
 'उपाध्यायपूर्वयम्'^९ । 'कुह्ने'^{१०} । 'वस्वोभिः'^{११} । अपूर्वं यथा—
 'न्यद् रश्मिभिः'^{१२} । 'क्यन्नो दास्यथ'^{१३} । 'न्यश्चम्'^{१४} । 'व्युत्त-
 केशाय'^{१५} । 'क्व तर्हि'^{१६} । 'यत् कलैः'^{१७} । सयकारवकारमिति नि-
 त्यस्वरूपप्रकटनार्थं विशेषणम् । तुशब्दोऽस्य वर्णान्तरपूर्वकत्व-
 सम्भाषणां निवर्तयति । अक्षरमिति पूर्वोक्तविशेषणस्य विशे-
 ष्यनिर्देशः । स्थिते पद इति किम् ? 'सद्योऽग्निः'^{१८} इत्यादौ नि-
 त्यता मा भूत् । अनुदात्तपूर्वं^{१९} किम् ? 'पयस्वतोः'^{२०} । 'चक्रीवती'^{२१}

१ सं. ५-७-१.

२ सं. ५-६-१.

३ सं. ७-१-६.

४ „ २-३-५.

५ सपूर्वत्वापूर्वत्वाविशेषणद्वयस्य.

६ तत्रस्थं स्वरितम्.

७ सं. १-६-१.

८ सं. ६-३-२.

९ सं. २-२-११.

१० सं. १-८-८.

११ सं. ६-७-११.

१२ सं. २-४-१०.

१३ ब्रा. ३-२-९.

१४ सं. ६-५-३.

१५ „ ४-५-६.

१६ सं. ६-६-७.

१७ „ २-५-३.

१८ „ ५-६-३.

१९ अनुदात्तपूर्वंऽपूर्वं वेति. २० „ १-१-१.

२१ „ ७-२-१.

इत्यत्र मा भूत् । नित्य इति निर्निमित्तत्वनिवन्धना संज्ञा । तदत्र “स्थिते पदे अनुदात्तपूर्वेऽपूर्वे वा” (२०-२) इति ग्रन्थेन प्रकटितम् । तथाहि न तावदयं स्वरितो नानापदीयनिमित्तकः स्थिते पदे दर्शनात् । नापि समानपदस्थनिमित्तकः, पूर्वोदात्ताभावात् । पूर्वोदात्तो हि समानपदे स्वरितस्य निमित्तम् । न तु निर्विकारत्वनियन्धनेयं संज्ञा, “स्वरितश्च सर्वत्र” (१२-११) इति विकाराभ्युपगमात् । एवकारः ‘न्यङ्’^१ । ‘व्युत्तकेशाय’^२ ‘न्यञ्चम्’^३ । ‘कुहै’^४ इत्यादौ क्षेप्रतामवधारयति । तत्र हि मूलशास्त्रोक्तावयवविभागात् क्षेप्रता संभाव्यते । अस्मच्छास्त्रे तु पदकालपरिकल्पितविभागसिद्धानामेव पदानां सन्धौ यवकारभावः, क्षेप्रलक्षणमिष्यते । तस्मात् ‘न्यङ्’^१ । ‘न्यञ्चम्’^३ इत्यादिस्वरिता अपि नित्या एव ॥ २ ॥

अपि चेन्नानापदस्थमुदात्तमथ चेत्साह-
तेन स्वर्यते स प्रातिहतः ॥ ३ ॥

अविशब्दः पूर्वत्वमात्राकर्षकः । अथशब्दो नित्यसंज्ञाव्यवच्छेदकः, नानापदस्योदात्तपूर्वत्वाधिकारको वा । ‘नानापदस्थ’ अक्षरमुदात्तपूर्वं ‘चेत्’ परतः नीचं ‘सांहितेन’ विधिना ‘स्वर्यते’ ‘चेत्’ स प्रातिहतः वेदितव्यः । यथा—‘मा ते अस्याम्’^५ । ‘इमे त्वा’^६ । ‘तं ते दुश्शशाः’^७ । सांहितेनेति किं? ‘यन्नञ्चम्’^८ । नानापदस्थमिति किं? ‘तया देवतया’^९ ॥

^१ सं. २-४-१०.

^३ सं. ४-५-५.

^३ सं. ५-५-३.

^४ सं. १-८-८.

^५ कार.

^६ सं. १-६-१२.

^७ सं. १-१-१.

^८ सं. ३-२-१०.

^९ सं. ५-५-३.

^{१०} सं. ४-२-३.

उदात्ताभ्यानापदस्थोऽपि स्वरस्संहिताभावेन विधानात्स्वर्यते
यस्स्वरितः स प्रातिहतसंज्ञो भवति । 'मा चस्तेन ईशत'^३
'नास्माद्राधूम'^४ । 'नक्तं नाध्यासते'^५ । 'नात्येन्द्रियं धीर्यम्'^६ ।
नानापदेति किम् ? 'श्रेष्ठतमाय कर्मणे'^७ । स्थमिति किम् ?
'इपद् ह्यासाम'^८ । सांहितेनेति किम् ? 'यत्स्वलेः'^९ । 'तथा वै
सोऽग्नेः'^{१०} ॥ ३ ॥

तस्मादकारलोपेऽभिनिहतः ॥ ४ ॥

'तस्मान्' नानापदस्थोदात्तात् परमूतस्यानुदात्ताकारस्य 'लोपे'
सति यः स्वरितः सः 'अभिनिहतः' वेदितव्यः । यथा—'सोऽ-
धवीत्'^{१०} । 'तेऽध्वन्'^{११} । तस्मादिति किं ? 'आजोऽसि देवा-
नाम्'^{१२} ॥ ४ ॥

तस्माभ्यानापदस्थोदात्तात्परस्याकारस्य लोपे निमित्ते यस्स्व-
रितो विहितः "तस्मिन्नुदात्ते पूर्य उदात्तस्स्वरितम्"^{१३} (१२-९)
इति स खल्वभिनिहतसंज्ञो भवति । 'तथा वै सोऽग्नेः'^{१०} । 'तेऽ-
ध्वन्'^{११} । 'योऽस्य स्वोऽग्निः'^{१३} । तस्मादिति किम् ? 'ते नोऽध्वन्तु'^{१४}
अकारलोप इति किम् ? 'ते नः पान्तु'^{१४} । 'सूधीयमिव'^{१५} ॥ ४ ॥

उदात्ते नानापदस्थेऽपि.

विधिना.

३ सं. १-१-१.

४ सं. ६-१७-४.

५ सं. ५-६-४.

६ ,, २-२-९.

७ ,, ७-१-९.

८ ,, २-५-३.

९ ,, ५-२-१.

१० ,, २-१-२.

११ ,, २-५-१.

१२ ,, २-४-३.

१३ ,, ५-७-९.

१४ ,, ३-२-३.

१५ ,, ६-२-४.

ऊभावे प्रक्षिष्टः ॥ ५ ॥

‘ऊभावे’ यत्र स्वर्यते सः ‘प्रक्षिष्टः’ वेदितव्यः । ‘सूत्रीय-
मिव’^१ । ‘सूत्राता’^२ । ‘मासूत्तिष्ठन्’^३ । ‘दिक्षूप दधाति’^४ ॥ ५ ॥

‘तस्मान्नानापदस्थोदात्तादूभावे, यः स्वरितो विहितः “ऊ-
भावे च” (१०-१७) इति, स प्रक्षिष्टसंज्ञो भवति । ‘सूत्रीय-
मिव’^१ । ‘मासूत्तिष्ठन्’^३ । तस्मादिति किम् ? ‘प्राजापत्या सूपह-
व्यः’^५ । ऊभाव इति किम् ? ‘तन्नस्सङ्स्कृतम्’^६ । ‘तेऽमुचन्’^७ ॥ ५ ॥

पदविवृत्यां पादवृत्तः ॥ ६ ॥

पदयोर्विवृत्तिः पदविवृत्तिः तस्यां यः स्वर्यते सः ‘पादवृत्तः’
वेदितव्यः । यथा—‘ता अस्मात्’^८ । ‘स इधानः’^९ । ‘य उ-
पसदः’^{१०} । ‘विवृत्तिः’ व्यक्तिरित्यर्थः । पदयोरिति किं ? ‘प्रउ-
गमुक्थम्’^{११} ॥ ६ ॥

पदे विवृत्तिः पदविवृत्तिः । स्वरयोरसन्धि^{१२}विवृत्तिः । पद-
मध्यवर्तिन्याः विवृत्तेरुपरि यस्स्वरितः, स यलु पादवृत्तसंज्ञो भ-
वति । ‘प्रउगमुक्थम्’^{११} । पदेति किम् ? ‘य ईजानः’^{१३} ॥

१ सं. ६-२-४.

२ सं. ७-१-८.

३ सं. ७-६-०.

४ ,, ६-५-५.

५ ७-२-६.

६ ,, १-४-४३.

७ ,, २-६-१.

८ सं. २-१-२.

९ ,, ४-४-४.

१० ,, ६-२-४.

११ ,, ४-४-२.

१२ स्वरयोः सन्धि.

१३ ,, ३-४-९.

नन्वयमपि पादवृत्त पञ्च, पदयोर्विवृत्तिः पदविवृत्तिरिति व्युत्पत्तेः । नैतदास्ति, पदयोर्विवृत्तौ स्वरितस्य प्रातिहतलक्षणप्रस्तत्यात् न चायं तस्यापवाद इति युक्तम्, इहासंज्ञीर्णलक्षणप्रणयनात् । विधेर्ह्यपवादः न लक्षणस्य । न हि लक्षणमन्तिव्याप्तं कुर्वन्त्याचार्याः । अद्यापि^१ कथंचित्प्रातिहतस्यावान्तरभेदत्वं पादवृत्तस्य कल्प्यते । तन्न । अवाधेनोपपत्तौ बाधस्यान्याप्यत्वात्, तदनन्तरानुपदेशाच्च ॥ ६ ॥

उदात्तपूर्वस्तैरोव्यञ्जनः ॥ ७ ॥

उदात्तपूर्वाधिकारे सति पुनरत्र तत्कथनादेकपदस्थोदात्तविशेषोऽयमगम्यते^२ । तस्मादेकपदस्थोदात्तपूर्वो यः स्वरितः स तैरोव्यञ्जनो वेदितव्यः । यथा—‘युञ्जन्त्यस्य’^३ । ‘वस्यसि’^४ । ‘स इन्द्रोऽमन्यत’^५ । ‘तदश्वोऽभवत्’^६ । ‘प्रउगम्’^७ । ‘तं त्वष्टाऽऽधत्त’^८ ॥

तैरोव्यञ्जन इत्यन्वर्थसंज्ञा । पदशब्दोत्रानुवर्तते । पदे समानपदे उदात्तपूर्वको व्यञ्जनव्यवहितो यस्स्वरितः, स तैरोव्यञ्जनसंज्ञो भवति । यथा—‘इमां वाचमग्नि विश्वे गृणन्तः’^९ । पद इति किम्? ‘तन्नस्संस्कृतम्’^{१०} । उदात्तपूर्व इति किम्? ‘उक्थ्यं कुर्वीत’^{११} । व्यञ्जनव्यवहित^{१२} इति किम्? ‘प्रउगम्’^७ ॥

^१ तथाऽपि.

^२ पदस्यत्वविशेषोऽभिगम्यते.

^३ सं. ७-४-२०.

^४ सं. १-२-९.

^५ सं. ७-१-९.

^६ ,, ६-२-१२.

^७ ,, ४-४-२.

^८ ,, १-९-१.

^९ ,, १-१-१२.

^{१०} ,, १-४-४३.

^{११} ,, ३-१-७.

^{१२} अन्वर्थसंज्ञया.

इति स्वारनामधेयानि ॥ ८ ॥

‘इति’ एतानि सप्त स्वरितनामधेयानि व्याख्यातानि । यथा—
 ‘अभ्यस्थात्’^१ ‘अध्वर्योवेः’^२ इति क्षैप्रः । ‘वायव्यम्’^३ ‘क्वास्य’^४ इति
 नित्यः । ‘स ते लोकः’^५ ‘यच्चा क्रुद्धः’^६ इति प्रातिहतः ।
 ‘सोऽब्रवीत्’^७ इत्यभिनिहतः । ‘सूद्राता’^८ इति प्रच्छिष्टः । ‘त
 एनम्’^९ इति पादवृत्तः । ‘मम नाम’^{१०} इति तेरोव्यञ्जनः ॥ ८ ॥

ननु स्वरितानां नित्यो नैमित्तिकश्चेति द्वावेव भेदौ । अथा-
 यान्तरभेदकल्पनया भेदबहुत्वम्? तदा सप्तभ्यो भूयांसोऽपि
 भेदास्स्युरित्यत आह—

एतावन्ति स्वरितानां नामधेयानि पूर्वशास्त्रप्रसिद्धानि । अत-
 तदनुसारेण सप्तानां भेदानां लक्षणानि^{११} । पूर्वशास्त्रेषु तु तथो-
 पदेशस्य कारणं तत्रैव द्रष्टव्यम् ॥ ८ ॥

क्षैप्रनित्ययोर्दृढतरः ॥ ९ ॥

क्षेप्रे नित्ये च प्रयत्नो दृढतरः कार्यः ॥ ९ ॥

^१ सं. ४-२-८.

^२ सं. ६-४-३.

^३ सं. १-८-७.

^४ = ५-७-४.

^५ „ ५-७-२६.

^६ सं. १-५-४.

^७ „ २-१-२.

^८ „ ७-१-८.

^९ „ २-३-११.

^{१०} „ १-५-१०.

^{११} प्रणीतार्नात्यधिक.

क्षेत्रे नित्यं च स्वरिते दृढतरप्रयत्नः कार्यः^१ । 'व्यृद्धं वा एतत्'^२ । 'उक्थ्यं कुर्वीत'^३ ॥ ९ ॥

अभिनिहते च ॥ १० ॥

अन्वाचये वर्तमानः च कारो दृढमात्रं बोधयति । 'अभिनिहते' प्रयत्नो दृढः स्यात् । न तु दृढतर इति पृथक्-सूत्रारम्भात् प्रतीयते ॥ १० ॥

चशब्दो दृढतर इत्यन्धादिशति । पृथक्सूत्रकरणं अनित्यत्वज्ञापनार्थम् । यथा व्याकरणे—'चुट्ट' (पा. १-३-७.) इति । तेनानुदात्तपूर्वक एवाभिनिहते दृढतरः प्रयत्नः कार्यः । उदात्तपूर्वेऽपूर्वे च^४ दृढ एव । 'आदित्योऽस्मिन्'^५ इति दृढतरः । 'तेन वै ते प्रति'^६ । 'योऽग्निं होतारम्'^७ । 'तया वै सोऽग्नेः'^८ । 'तेऽसुवन्'^९ इति दृढः ॥ १० ॥

प्रश्लिष्टप्रातिहतयोर्मृदुतरः ॥ ११ ॥

प्रश्लिष्टे प्रातिहते च प्रयत्नो मृदुतरः कार्यः ॥ ११ ॥

प्रश्लिष्टे प्रातिहते च मृदुतरः प्रयत्नः कर्तव्यः । दृढप्रति-

^१ अनुदात्तपूर्वेऽपूर्वे च । 'विश्यास्मिन्' (सं. १-८-१२) 'दिष्टुष्यन्ति'

(सं. ३-५-६) 'न्यञ्चम्' (सं. ५-५-३). ^२ सं. ५-१-२.

^३ सं. ३-१-७. ^४ न पूर्ववत्प्रयत्नः । किन्तु. ^५ ,, २-५-८.

^६ ,, ५-४-६. ^७ सं. २-५-९. ^८ ,, ५-२-१.

^९ ,, २-५-१.

योगी मृदुः दृढः कठिनः । तद्विपरीतो मृदुः । सोऽतिशयितो
मृदुतरः ॥ ११ ॥

—०—

तैरोव्यञ्जनपादवृत्तयोरल्पतरोऽल्पतरः ॥ १२ ॥

तैरोव्यञ्जने पादवृत्ते च प्रयत्नः अल्पतरः स्यात् । यद्य-
प्यल्पतरमृदुतरदृढभावास्तत्रोक्ताः^१ तथाऽपि 'दीपवद्वेणुपत्रवत्' इति शि-
क्षाऽनुरोधात् कोमल^२शिरस्कत्वं सर्वत्र विज्ञेयम् ॥ १२ ॥

इति त्रिमाप्यरेत्वे प्रातिशाख्यविवरणे विंशोऽध्यायः.

तैरोव्यञ्जने पादवृत्ते च अल्पतरः प्रयत्नः करणीयः ।
अल्पो बहुलप्रतियोगी । बहुलो दीर्घकालिकः । अल्पोऽल्पका-
लिकः ॥ १२ ॥

इत्याचार्यगार्ग्यगोपालमिश्रविरचिते वैदिकाभरणाख्ये
प्रातिशाख्यव्याख्याने विंशोऽध्यायः.

—०—

^१ यद्यप्यल्पमृदुदृढभावस्तत्रोक्तः.

^२ कौटिल्य, कैवल्य.

अथ एकविंशोऽध्यायः,

व्यञ्जनं स्वराङ्गम् ॥ १ ॥

स्वरस्य अङ्गं स्वराङ्गं व्यञ्जनं स्वराङ्गं भवति । 'श्वासो नादोऽङ्गमेव च' (२४-९) इति विज्ञेयत्वेन विधानादयमारम्भः । ननु कूपो यूप इत्यादौ व्यञ्जनमेवार्थविशेषबोधकमिति स्वरो व्यञ्जनाङ्गं किं न स्यात् ? उच्यते—व्यञ्जनं केवलमवस्थातुं न शक्नोति किन्तु सापेक्षं स्वरस्तु निरपेक्षः । सापेक्षनिरपेक्षयोर्निरपेक्षमेव विशिष्टमाचक्षते प्रेक्षावन्तः । विशिष्टं प्रत्यङ्गत्वमविशिष्टस्यैव^१ । किञ्च स्वरवैशिष्ट्यबोधकमन्यदपि विद्यते—

दुर्बलस्य यथा राष्ट्रं हरते बलवान्नृपः ।

दुर्बलं व्यञ्जनं तद्वद्धरते बलवान् स्वरः ॥

किञ्च शिक्षाव्याकरणे—

यस्त्वयं राजते तं तु स्वरमाह पतञ्जलिः ।

उपरिस्थायिना तेन व्यङ्ग्यं व्यञ्जनमुच्यते ॥

स्वरास्तु ब्राह्मणा ज्ञेयाः । इत्यादि ॥

उदात्तंश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः ।

द्वस्वो दीर्घः प्लुत इति कालतो नियमा अचि^२ ॥ इति ॥

^१विशिष्टं स्वरं प्रति अङ्गत्वमविशिष्टस्य व्यञ्जनस्यैव । ^२शिक्षाव्याख्याने.

^३द्वस्वदीर्घप्लुताथैव कालतो नियमा अथि । पाणिनीयशिक्षायाम्.

स्वरणामेवोदात्तादयो धर्माः व्यञ्जनानां तु^१ तदङ्गतया । व्य-
ञ्जनमर्धमात्रम् । स्वरश्च मात्राकालः । तयोः सन्धिरर्धमात्रः । इत्येवं
दीर्घकालः प्रसक्तः । तत्प्रतिषेधार्थं 'व्यञ्जनं स्वराङ्गम्' इत्युक्तम् ।
स्वरसंमृष्टस्य व्यञ्जनस्य स्वरकाल एव कालो द्रुतवृत्तौ न तु
स्वरस्यैव सर्वत्रेत्यर्थः^२ । द्रुतवृत्ताविति किं? 'द्वस्वार्धकालं व्य-
ञ्जनम्' (१-३७) इति व्यर्थं स्यादिति ब्रूमः । यथा क्षी-
रोदकसम्पर्के क्षीरस्यैवोपलब्धिर्नोदकस्य तथा स्वरव्यञ्जनसम्पर्के स्-
रस्यैवोपलब्धेर्वैशिष्ट्यम् ॥ १ ॥

इदानीमङ्गसंहितादिकार्यं विधीयते । त्रैदस्योच्चारणवेलायां
स्वरधर्मा उदात्तादिगुणास्तत्समीपस्थेषु व्यञ्जनेष्वपि निविशन्ते
प्रदापप्रमेय घटादिषु । तत्र स्वरद्वयमध्यवर्तिषु व्यञ्जनेषु किं
पूर्वस्य गुणो भवति? आहोस्विदुत्तरस्य? इत्येवं संशयस्या-
दिति तस्मिन्निर्णयार्थमियमङ्गसंहिता आरभ्यते—

अनेन व्यञ्जनस्य स्वातंत्र्याभावस्तावदुच्यते । तस्मिन्
मिदं हाङ्गिविशेषनिरूपणमवकल्पते । उदात्तादिस्वरचिन्तायां
व्यञ्जनं स्वराङ्गमेव । न तु व्यञ्जनस्य स्वभावनः उदात्तादि-
गुणास्मन्ति । न ह्येकस्मिन् व्यञ्जने पृथगुच्यमानं उदात्ता-
दिगुणभेदास्स्फुरन्ति । अत एव मूलशाखे 'अचश्च'^३ इत्य-
धिकृत्य उदात्तादिगुणास्तत्तत्कालाश्च विहिताः । तथा 'स्वरवि-
धां व्यञ्जनमविद्यमानवन्' इति च स्मर्यते । तथा 'न्यद्' इत्या-

^१ न तु व्यञ्जनानाम्.^२ सर्वत्रेत्यर्थः.^३ पा. १-२-२८.^४ परिभाषन्दोखरे (७९).

दिषु 'उदात्तस्वरितयोर्यणस्वरितोऽनुदात्तस्य' इति यणः परे
अचि विहितस्वरितगुणो ङ्कारे दृश्यते । एतच्च ङ्कारस्य
तदङ्गतामन्तरेण नोपपद्यते । तस्माद्व्यञ्जनं सर्वं तत्समीपस्थ-
स्वराद्गतयैवोदात्तादिगुणान् लभते, न स्वत इति सिद्धम् ॥१॥

तत्परस्वरम् ॥ २ ॥

स्वरप्रधानतया केवलमवस्थातुमसहमानं व्यञ्जनं कदा पूर्वस्याङ्गं
कदा परस्याङ्गमिति सन्देहे व्यवस्थापयति—'तत्' अङ्गभूतं
व्यञ्जनं 'परस्वरं' भजते । यथा—'इमानेव लोकानुपधाय'^१ ।
परश्चासौ स्वरश्च परस्वरः तं 'परस्वरम्' ॥ २ ॥

अनेन पूर्वोत्तरयोर्गुणभेदे^३ उत्सर्गरूपा विनिगमना^४ उ-
च्यते । तद्व्यञ्जनं परस्पर^५गुणभूतमुदात्तादिस्वरं भजत इति
सामान्यम् । 'अपाम सोमम्'^६ । 'अपेत चीत'^७ । 'इमौ लोकौ
भवतः'^८ ॥ २ ॥

अवसितं पूर्वस्य ॥ ३ ॥

'अवसितं' पदान्तवर्ति व्यञ्जनं 'पूर्वस्य' स्वरस्य अङ्गं
स्यात् । यथा—'ऊर्क्'^९ । 'वपट्'^{१०} । 'हविः'^{११} ॥ ३ ॥

१ पा. ८-२-४.

२ स. ५-५-६.

३ पूर्वोत्तरयोस्स्वरयोर्गुणभेदे.

४ उत्सर्गरूपादिनिगमनात्.

५ परस्य स्वरस्य.

६ स. ३-२-६.

७ स. ४-२-४.

८ स. २-६-२.

९ , १-२-२.

१० ,, २-२-१२.

११ ,, १-२-४.

अवसीयतेऽत्रेत्यवसितं विरामावधिभूतं व्यञ्जनम् । तत्तु पूर्वस्वरं^१ भजते । 'उप चिन्वन्ति वेधसः'^२ । 'इन्द्रवायू वि मुञ्चताम्'^३ । 'पाहि मां यज्ञनियम्'^४ । 'उत वा घा स्यालात्'^५ । 'ऊर्क्'^६ ननु यद्यपि 'तत्परस्वरम्' (२१-२) इति सामान्यविधिः कृतः, तथाऽप्यवसितस्य परामावादन्याङ्गत्वध्रौव्याच्च पूर्वाङ्गत्वमर्थसिद्धं न विधेयम् । सत्यम् । अस्यैव न्यायस्य प्रदर्शनार्थमिदं सूत्रं प्रणीतवानाचार्यः । तेन 'स्तोमैर्विधेमाग्नये',^७ 'अथद्वु-प्रमुत'^८ इत्यादिषु 'संयोगादि', (२१-४) 'परेण चासाहि-तम्' (२१-५) इत्यादिना^९ पूर्वाङ्गत्वविधिसङ्गावेऽपि पूर्वाभावे पराङ्गत्वं सिद्धं भवति ॥ ३ ॥



संयोगादि ॥ ४ ॥

द्वयोर्बहूनां वा व्यञ्जनानां संयोगो भवति यदि तस्य संयोग-स्य आदि व्यञ्जनं पूर्वस्याङ्गं भवति । यथा—'यज्ञान्वयादि-शत्'^{१०} । 'अपस्वन्तः'^{११} । परसूत्रे चकारः पूर्वस्वराङ्गबोधक इत्यत्रापि तद्वद्भ्यते ॥ ४ ॥

संयोगो व्यञ्जनसङ्घातः । तदुक्तं मूलशाखे—'हलोऽनन्तरास्तसंयोगः'^{१२} इति । नस्यादिभूतं व्यञ्जनं पूर्वस्य स्वरं भजते 'श्ये त्वा'^{१३} । 'उच्छुष्मो अग्ने'^{१४} । 'अव देवं अचम्यकम्'^{१५} । उत्तरसूत्रेण सिद्धे पृथग्विधानं तत्प्रतिषेधवाचनार्थम् । तेन 'अग्नि-

^१ पूर्वस्य स्वर.

^२ सं. १-१-७.

^३ सं. १-१-११.

^४ सं. १-२-१४.

^५ ,, १-२-२.

^६ ,, १-२-१४.

^७ ,, ४-२-११.

^८ इत्यादिषु.

^९ ,, ६-६-११.

^{१०} ,, १-४-४६.

^{११} पा. १-१-७.

^{१२} ,, १-१-२.

^{१३} ,, १-६-२.

^{१४} सं. १-८-६.

स्ते वाजिन् युङ्क्ते^१, 'यस्मिन्वायुः'^२, 'आशून् हुवे सुयमानूतये'^३
इत्यादौ 'नान्तस्थापरमसवर्णम्' (२१-७) "स्पर्शश्चोष्मपरः"^४
(२१-९) इति प्रतिषेधस्संयोगादेर्न भवति ॥ ४ ॥

परेण चासाह्नितम् ॥ ५ ॥

'परेण' स्वरेण 'असह्नितं' असंयुक्तं च व्यञ्जनं पूर्व-
स्वराङ्गं भवति । यथा—'तत्सवितुः'^५ । ननु तर्हि पूर्वसू-
त्रमनर्थकम् । संयोगादिभूतस्यापि व्यञ्जनस्थानेनैव पूर्वस्वराङ्गत्वसि-
द्धेः । मैवं मंस्थाः । 'मर्यश्रीः'^६ 'अर्वाऽसि'^७ इत्यत्र यवकारयोः
'रेफात् परं च' (१४-४) इति द्वित्वे कृते प्रथमयवकारयोः
'परेण चासाह्नितम्' इत्यनेन पूर्वस्वराङ्गत्वं प्राप्तम् । रेफस्य तु 'ना-
न्तस्थापरमसवर्णम्' (२१-७) इत्यनेन परस्वराङ्गत्वं प्राप्तम् ।
तच्चाशक्यं तथोच्चारणासम्भवात् । अन्यतरबाधे कर्तव्ये सति किं
वा बाध्यमिति सन्देहः । तत्र नियामकत्वेन^८ 'संयोगादि'
(२१-४) सूत्रमुपतिष्ठते ॥ ५ ॥

साह्नितमेव साह्नितम् । ततोऽन्यद्साह्नितम् । यस्य
व्यञ्जनस्य परस्वरस्य च मध्ये व्यञ्जनान्तरमस्ति तच्च पूर्वस्य स्वरं
भजते । 'श्रेष्ठतमाय कर्मणे'^९ । 'अनमीवा अयहमाः'^{१०} । 'ऋक्च

१ सं. ७-५-१९.

२ सं. ५-७-२६.

३ सं. ४-७-१५.

४ असह्नितमिति त्रिभाष्यरत्नपाठः.

५ ,, १-५-६.

६ ,, ४-१-२.

७ ,, १-७-८.

८ निबन्धकत्वेन.

९ ,, १-१-१.

‘इषे त्वा’¹ । अन्तस्था परा यस्मात् तत् ‘अन्तस्थापरम्’ ।
असवर्णमिति किम्? ‘परिचाश्यं चिन्वीत’² ॥ ७ ॥

अन्तस्थापरं तस्या अन्तस्थाया असवर्णं व्यञ्जनं न पूर्वस्य
स्वरं भजते । ‘इषे त्वा’¹ । ‘कृष्यै त्वा’² । ‘धात्रे पुरोडाशम्’³
‘सुह्रोकाधम्’⁴ । पूर्वाङ्गत्वे निपिद्धे उत्सर्गसिद्धं पराङ्गत्वमवतिष्ठते ।
अन्तस्थापरमिति किम्? ‘ऋक्च मे’⁵ असवर्णमिति किम्?
‘सूनर्यसि’⁶ । ‘उर्वश्यसि’⁷ । ‘अथर्वणः’⁸ ॥ ७ ॥

—०—

नासिक्याः ॥ ८ ॥

नासिक्या यमाः परस्वरं भजन्ते । यथा—‘रुक्ममुप दधाति’⁹
‘राज्ञे सूकरः’¹⁰ ॥ ८ ॥

नासिक्या¹¹ वर्णाः आगमत्वेन विधास्यन्ते ते पूर्वस्य स्वरं
न भजन्ते । यथा—‘अग्नियाः’¹² । ‘राज्ञा’¹³ । ‘पर आह्वणारः’¹⁴ ।
‘अस्य प्रत्नाम्’¹⁵ । ‘सर्वं पाप्मानं तरति’¹⁶ । ‘इर्यः परिज्मा’¹⁷ ।
‘रुक्मम्’¹⁸ । ‘रुग्णवत्यर्चा’¹⁹ । ‘ऊर्मिः ककुद्धान्’²⁰ ॥ ८ ॥

¹ सं. ४-३-७.

² सं. ५-४-११.

³ सं. १-८-८.

⁴ ,, १-८-१६.

⁵ ,, ४-७-९.

⁶ ,, १-६-३.

⁷ ,, १-३-७.

⁸ ,, ३-५-११.

⁹ ,, ५-२-७.

¹⁰ ,, ५-५-११.

¹¹ नासिक्या नाम.

¹² ,, २-१-१.

¹³ ,, २-६-२.

¹⁴ सं. ६-६-६.

¹⁵ ,, १-६-५.

¹⁶ ,, ६-३-१२.

¹⁷ ,, ७-१-२०.

¹⁸ ,, ६-२-७.

¹⁹ ,, ६-४-११.

²⁰ ,, १-७-७.

स्पर्शश्चोष्मपर ऊष्मा चेत्परस्य ॥ ९ ॥

पूर्वः चकारो 'नासिक्याः' (२१-८) इत्यनेन समुच्च-
यवाचकः । उत्तरस्तु परस्वराङ्गत्वाकर्षकः । 'ऊष्मपरस्पर्शश्च'
परस्वराङ्गं भवति असौ ऊष्मा परश्चेत् परस्वराङ्गं चेदित्यर्थः ।
'पट्थु सं पद्यन्ते'^१ । 'वपट्थु स्वाहा'^२ । ऊष्मा परश्चेदिति किम् ?
'अक्षण्या व्याधारयति'^३ । ऊष्मा परो यस्मात् असौ ऊष्मपरः ॥९॥

ऊष्मपरः स्पर्शश्च पूर्वस्य स्वरं न भजते, स चेत् पर-
स्याङ्गं भवति 'वृक्षाणां भूयाः सः'^४ । 'तध्सवितुः'^५ । 'राजं-
त्सोम'^६ । स्पर्श इति किम् ? 'पार्श्वे परस्सामानः'^७ । ऊष्म-
पर इति किम् ? 'ऋष्य मे'^८ । ऊष्मा चेत्परस्येति किम् ?
'जगत्स्थाः'^९ । 'यत्स्थावराणाम्'^{१०} ॥ ९ ॥

स्वरितात्संहितायामनुदात्तानां प्रचय उदा- त्तश्रुतिः ॥ १० ॥

स्वरितात् परेषां अनुदात्तानां अनुदात्तयोरनुदात्तस्य वा संहि-
तायां प्रचयः नाम धर्मो भवति । यथा—“अग्ने दुध गह्य
किं शिल् वन्य या ते”^{११} । अनुदात्तानामिति किम् ? “तेऽग्नये

१ सं. ६-४-३.

२ सं. ५-३-१२.

३ सं. ५-२-७.

४ „ २-६-१.

५ „ १-५-६.

६ „ २-३-१४.

७ „ ७-३-१०.

८ „ ४-७-९.

९ „ २-१-११.

१० „ ६-४-२.

११ „ ५-६-९.

प्रवते^{११} । संहितायामिति किम्? “अग्ने । दुध्नः । गह्वः ।
किंशिल । वन्य । या । ते ।”^{१२} उदात्तस्य श्रुतिरिव श्रुतिर्यस्य
असौ, ‘उदात्तश्रुतिः’ इति प्रचयस्वरूपनिरूपणम् । अतो न
पुनरुक्तिशङ्का ॥ १० ॥

षोडशाध्यायान्ते संहिताधिकारो निवृत्त इति संहिताया-
मित्युच्यते । यथेवं ‘व्यञ्जनं स्वराङ्गम्’ (२१-१) इत्यादेः कथ-
मङ्गसंहिताविषयत्वम्? अथताम्-तत्र संहिताधिकाराभावेऽप्यर्था-
त्संहिताविषयत्वं भवत्येव, ‘व्यञ्जनं स्वराङ्गम्’ (२१-१) इति
व्यञ्जनस्य स्वरसन्निधावेवोदात्तादिगुणयोगो न स्यत इति वच-
नात् । अनुदात्त^३ इह व्यञ्जनान्तर्हितोपि^४ कार्यं भजते^५ बहुवचन-
निर्देशसामर्थ्यात् । स च संहितायामेकस्वरिततात्परोऽनुदात्तो
व्यञ्जनान्तर्हितः^६ सम्भवति, न द्वौ बहवौ वा । तदयमर्थः—
संहितायां स्वरिततात्परेणां एकद्विवहूनां अनुदात्तानां व्यञ्जनान्त-
र्हितानामनन्तर्हितानां च प्रचयस्वरात्मको गुणो भवतीति । किं-
रूपोऽसौ गुणः यं प्रचये पश्यसि? स उदात्तश्रुतिरिति द्रुमः
उदात्तवच्छ्रुतिर्यस्य^७ स तयोक्तः । उल्लेखणरहित उदात्तगुण एव
प्रचय इति यावत् । तद्यथा—‘वायवस्थ’^८ । ‘हव्यरक्षस्व’^९
“त ऊपा अभवन्”^{१०} । ‘धनेषु विप्रा अमृता ऋतशाः’^{११} । स्वरि-
तादिति किम्? ‘उत्सन्नयसो वै’^{१२} । अनुदात्तानामिति किम्?
‘यद्यप्यस्यात्’^{१३} । ‘महान् होष यदग्निः’^{१४} ॥ १० ॥

^१ ग. २-४-१.^२ सं. ५-५-९.^३ अनुदात्ता.^४ ता अपि.^५ भजन्ते.^६ अस्मत्संहितायामेकस्वरिततात्परोऽनुदात्ताव्यञ्जनान्तर्हितः.^७ उदात्तस्य श्रुतिरिव श्रुतिर्यस्य.^८ सं. १-१-१.^९ सं. २-१-३.^{१०} सं. ५-२-३.^{११} सं. ४-७-१२.^{१२} सं. ५-३-१.^{१३} सं. २-१-७.

नुदात्तस्वरितपरः^१ ॥ ११ ॥

‘उदात्तपरः’ स्वरितपरो वा अनुदात्तः प्रचयो न भवति । यथा—
 “तयो देवतया”^२ “तदाहुः क जगती”^३ । उदात्तश्च स्वरितश्च
 उदात्तस्वरितौ, तौ परौ यस्मात् सः तथोक्तः ॥ ११ ॥

स्वरितात्परेष्वनुदात्तेषु यस्मात्पर उदात्तस्वरितौ वा भवति
 अनन्तरादेकव्यवेतादनेकव्यवेताद्वा, स प्रचयगुणभाङ्गः भवति ।
 ‘प्रत्युष्टः रक्षः’^४ । ‘अनिशितमोजः’^५ । ‘तस्मादुत्तरतोऽभिप्र-
 यायो जयति’^६ । ‘तावानुस्थः’^७ । ‘शतदायमुक्थ्यम्’^८ । ‘शिवो
 भव वरूथ्यः’^९ । तदेतत्सूत्रद्वयमक्षरसंहितेत्युक्तम् । नन्वेतदपि
 चतुर्दशाध्यायान्ते वक्तव्यं सत्किमिहोत्कर्ष्यते ? तद्वन्म — यदीदं
 सूत्रद्वयं तत्रोच्येत ‘ये चार्चितो माः सभिक्षामुपासते’^{१०} ‘अलो-
 हिताय स्वाहा माः सन्यते स्वाहा’^{११} इत्यत्रानुस्वारगमो न स्यात्,
 माशब्दस्यानुदात्तत्वाभावात् । तथा च—‘प्रचयपूर्वश्च कौण्डि-
 न्यस्य’ (१९-२) इति विक्रमसंज्ञाविधौ प्रचयपूर्वसंज्ञायात् स्वम-
 तत्त्वशङ्का स्यात् । इह तूच्यमाने तस्मिन् यथोक्तविषयेऽप्यनुस्वा-
 रागमस्तिद्वयति, तदा प्रचयत्वाभावात् प्रचयपूर्वस्यानुदात्तस्या-
 सम्भवात् । सूत्रकारस्य मतं तस्य विक्रमसंज्ञा नास्तीति च स्प-
 ष्टमवगम्यते ॥ ११ ॥

^१ नुदात्तस्वरितपर इति त्रिभाष्यरत्नपाठ

^२ स. ४-२-९.

^३ स. २-१-६

^४ स. १-१-६.

^५ स. ४-३-१९.

^६ “ ५-३-५.

^७ “ १-६-९.

^८ “ ३-३-११.

^९ “ १-२-६.

^{१०} “ ४-६-९.

^{११} “ ३-५-१२.

स्पर्शादिनुत्तमादुत्तमपरादानुपूर्व्यान्नासिक्याः ॥

‘उत्तमपरात् अनुत्तमात् स्पर्शात्’ परतः ‘आनुपूर्व्यात्’ यथा-
क्रमं ‘नासिक्याः’ आगमा भवन्ति । प्रथमस्पर्शात् प्रथमनासिक्यः,
द्वितीयात् द्वितीयः । एवमन्यत्रापि । यथा—“तं प्रतथा”^१ ।
“विमथानाः”^२ । “विद्वा ते अग्ने”^३ । “दारूणि दध्मसि”^४ इत्यादि ।
स्पर्शादिति किम्? ‘कल्माषी भवति’^५ । अनुत्तमादिति किम्?
‘सुप्राय सुमिनी’^६ । उत्तमपरादिति किम्? ‘सवदस्सगरस्सुमेकः’^७ ॥

उत्तमव्यतिरिक्तेभ्यः प्रथमादिभ्यः स्पर्शेभ्यः उत्तमपरेभ्यः
परत आनुपूर्व्यात्प्रथमादयो नासिक्या आगमा भवन्ति । यथा—
‘भवं यक्ता’^८, ‘सोमेन त्वाऽऽतनन्मि’^९ इति प्रथमः । ‘प्रन्थि
मभ्रातु’^{१०}, ‘चिमभ्रानाः’^{११} इति द्वितीयः । ‘अग्ने महान्’^{१२}, ‘इर्यः
पत्विज्मा’^{१३} इति तृतीयः । ‘इध्मो वेदिः’^{१४}, ‘वध्नोत्वेव भ्रातृव्यम्’^{१५}
इति चतुर्थः । स्पर्शादिति किम्? ‘कर्मणे चाम्’^{१६} । अनुत्त-
मादिति किम्? ‘मा मेऽघाद्वाभिमत’^{१७} । उत्तमपरादिति किम्?
‘घाक्त आ प्यायताम्’^{१८} । अत्राभिनिधानादुत्तमपरात्परतो नासि-
क्यागमो न भवति । तस्य कार्यान्तरविधौ अविद्यमानवद्भावात्

^१ स. १-४-९.

^२ स. ३-५-४.

^३ स. ४-२-२.

^४ „ ४-१ १०.

^५ „ ५-१-१.

^६ „ ३-१-१३.

^७ „ ६-६-७.

^८ „ १-४-३६.

^९ „ १-१-३.

^{१०} „ १-१-२.

^{११} „ २-५-९.

^{१२} „ ७-१-२०.

^{१३} „ १-५-१०.

^{१४} „ ६-६-९.

^{१५} „ १-१-४.

^{१६} „ ३-२-४.

^{१७} „ १-३-६.

‘प्रजापतिं प्रश्नमैताम्’^१ । ‘अद्मन्मूर्जम्’^२ । ‘विष्णो हव्यम्’^३ ।
 ‘उच्छुष्मा ओषधीनाम्’^४ । ‘इन्द्रः प्र स्रौतु’^५ । ‘स्मो वयम्’^६ ॥१२॥



तान्यमानेके ॥ १३ ॥

तान् नासिक्यान् एके शाखिनः ‘यमान्’ द्रुवते । उक्ता-
 न्येवोदाहरणानि ॥ १३ ॥

तान् स्पर्शेभ्यः परान् नासिक्यान् एके आचार्याः शि-
 क्षाकाराः यमसंज्ञान्प्राहुः । एतेषां नासिक्यानां शिक्षोक्तं सं-
 ज्ञान्तरमिह किमर्थमुच्यते ? तदुक्तस्य कचित्तदभावस्य परिग्रहा-
 र्थम् ॥

तत्र शिक्षा —

वर्गान्तं शपसैस्सार्धमन्तस्थाभिश्च संयुतम् ।
 दृष्ट्वा यमा निवर्तन्ते अत्यन्तं सूक्ष्ममुच्यते^७ ॥
 ऊष्मप्रकृतिकास्पर्शात्पञ्चमः परतो यदि ।
 तत्र नैव यमापत्तिरिष्यते नात्र संशयः ॥ इति ॥

अत्र ‘वर्गान्तं शपसैस्सार्धम्’ इति अभिनिधानप्रयुक्तनासिक्या-
 गमो निवर्त्यते । तत्पुरस्तादुदाहृतम् । ‘वर्गान्तमन्तस्थाभिश्च
 संयुतम्’ इत्यनेन अन्तस्थापरानुत्तमात्प्राज्ञासिक्यागमो निवर्त्यते ।
 ‘असिक्तियस्योपधे’^८ । ‘राज्ञयसि’^९ । ‘अधिपत्न्यसि’^{१०} । ‘अभ्यं

^१ सं. २-५-११.

^२ सं. ४-६-१.

^३ सं. १-१-१.

^४ „ ४-२-६.

^५ „ ३-६-५.

^६ „ २-५-९.

^७ मुपांत.

^८ मा. २-०-४.

^९ „ ४-२-६.

पोपयित्वा स नः^१ । ऊष्मप्रकृतिकस्पर्शः स्पर्शपूर्वस्य शकार-
स्य आदेशभूतः छकारः—‘यच्छमश्रुणः’^२ । ‘आदित्याब्जमश्रुभिः’^३ ॥

हकारान्नणमपरान्नासिक्यम् ॥ १४ ॥

हकारात् इति कर्मणि ल्यब्लोपे पञ्चमी । तस्मात् नणम-
परं हकारमारुह्य नासिक्यं भवति । सानुनासिक्यो^४ हकारः स्या-
दित्यर्थः । ‘अह्नां केतुः’^५ । ‘अपराह्ण’^६ । ‘ब्रह्मवादिनः’^७ ॥ १४ ॥

एक इत्यन्वयः । हकारात्खलु नकारणकारमकारपरत्वात् परतो
नासिक्यागममेके आचार्या उपदिशन्ति । यमसंज्ञावादिभ्योऽन्ये
यममेवेति भावः । शिक्षाकारास्त्वेतं नासिक्यं नेच्छन्ति इत्यनेन
ध्यन्यते । नकारे परतो यथा—‘अपद्युत एवास्मै’^८ । ‘मह्य
जिनोपि’^९ । णकारे यथा—‘प्रति गृह्णातु’^{१०} । ‘अपराह्ण’^{११} । मकारे
यथा—‘ब्रह्मवादिनः’^{१२} । ‘जिह्वं तस्य’^{१३} । नणमपरादिति किम् ?
‘मह्यं नमन्ताम्’^{१४} । नन्वयमागमविधिर्नोपपद्यते, प्रथमानिर्देशा-
भावात् । नैतदस्ति । अस्ति ह्यत्र प्रथमानिर्देशः—‘आनुपूर्व्या-
न्नासिक्याः’ (२१-२२) इति । तेनास्मिन् प्रकरणे आगमविधान-
मुपपद्यते । हकारादिति पञ्चमीनिर्देशाद्वागमविधात्रयोपपद्यते ।
यथा—‘अघोषादूष्मणः परः’ (१४-९) ‘स्पर्शादनुत्तमात्’
(२१-२२) इति । आस्मस्तु सूत्रे द्वितीयानिर्देशः एकेशब्दान्व-

^१ घ. १-१-१४.

^२ सं. २-११.

^३ म. ५-७-१२.

^४ नासिक्यो

^५ ,, २-४-१४.

^६ ,, २-१-२.

^७ सं. १-२-१.

^८ ,, १-६-४.

^९ ,, २-२-२२.

^{१०} ,, १-१-५.

^{११} ,, २-६-११.

^{१२} ,, २-७-१४.

यार्थः । नन्वयं शब्दान्तरादेशः किं न स्यात्? विकारिणोऽनुपदेशात् । सतो हि कार्यिणः कार्येण भवितव्यम् । असति तस्मिन् कस्यादेशस्स्यात्? गुणविधिस्तु नैव घटते । गुणविकारिणो गुणशब्दस्य च प्रथमानिर्देशे हि स भवति । यथा—
 'पूर्वस्वरोऽनुनासिकः' (१५-१) 'समानाक्षराण्यनुनासिकानि' (१५-६) इति । प्रकरणाविरुद्धश्च अत्र गुणविधिरागमाधिकारात् । न च 'स्वरितात्संहितायाम्' (२१-१७) इतिवत् गुणमात्रपर्यवसायिना शब्देन गुणविधिरिहाश्रयितव्यः, नासिक्यशब्दस्य गुणपर्यवसायित्वायोगात् । नासिकायां भवो वर्णो नासिक्यः । भावप्रत्ययान्तत्वे तु न रूपसिद्धिः । 'योपधाङ्गुरूपोत्तमात्' इति युञ्जिधानात् । प्रज्ञादित्वकल्पनायामपि नात्र गुणविधिर्घटते । गुणविकारिण्यष्टानिर्देशाभावात् । तस्मादिह सूत्रशक्त्या वर्णान्तरागमविधिनिश्चयाच्छिक्षायामनुक्तोऽपि पञ्चमो नासिक्योऽस्माकमवश्यमभ्युपगन्तव्यः । हकारस्य मकारान्तस्यापरस्योच्चारणे विशेषः शिक्षायां स्मर्यते—

न चायुं हमसंयोगे नामिकाभ्यां समुत्सृजेत् ।

न घट्टेदुरसाऽत्यन्तं तथा यरल्लेषु च ॥ इति ॥ १४ ॥

रेफोष्मसंयोगे रेफस्वरभक्तिः ॥ १५ ॥

रेफस्योष्मणश्च संयोगे सति तत्रोष्मसंयुक्तो रेफस्वरभक्तिः इति जानीयात् । स्वरभक्तिरिति कीदृशी? स्वरस्य भक्तिः, स्वरभक्तिः । भक्तिः भागः अवयवः एकदेश इति यावत् ।

योऽस्य रेफस्य समानकरणः स्वरः तद्वक्तिः स्यात् । ऋकार-
रश्चास्य जिह्वाग्रकरणत्वेन श्रुत्या^१ च समानधर्मः । एतदुक्तं
भवति—ऋकारस्यावयवो भवतीत्यर्थः—[भवतीति] । सूत्रेणानेन
स्वरभक्तिरेवं विहिता । स्वरभक्तिस्वरूपं तु विस्पष्टं व्याचष्टे-
वररुचिः—‘ऋकारादिरणुमात्रा, रेफोऽर्धमात्रा मध्ये, शेषा स्वरभ-
क्तिरणुमात्रा’ इति । अस्यायमर्थः—

इन्द्रियाविषयो योऽसावणुरित्युच्यते बुधैः ।

चतुर्भिरणुभिर्मात्रापरिमाणमिति स्मृतम् ॥

मात्रिकस्य ऋकारस्यादिरणुमात्रः स्वरभागः, मध्ये रेफः
अर्धमात्रः, अन्तेऽप्यणुमात्रः स्वरभागः । एतत् ऋकारस्वरूपम् ।
अत्र ऋकारमध्यवर्तिनि रेफोऽर्धमात्रे विभज्यमाने सति तौ भागौ
पूर्वोत्तराणुसहितौ प्रत्येकं स्वरभक्तिनामधेयं भजेते । सा च स्वर-
भक्तिरर्धमात्रा । कुत्र का स्वरभक्तिरित्याशङ्क्य शिक्षाकारै-
रुक्तम्—^२

^१ श्रुत्या.

^२ वररुचिः—स्वरस्तावत् किंविनिष्ट इति चेत् ‘पोऽशादितस्स्वराः’
इति स्वरसंज्ञोक्ता । तेषु स्वरेषु ऋकाररेफयोस्तामानस्यानकरणत्वात् ऋकार-
स्वरस्यैव भक्तिः । ऋकारस्तावत् किंविनिष्ट इति चेत् ‘ऋकारत्वरौ
हस्तौ’ इति हस्तत्वात् ‘एकमात्रो भवेध्रस्वः’ इति एकमात्रिक ऋकारः ।
वररुचिर्नैवमुक्तम्—मात्रिकस्य ऋकारस्यादौ स्वरस्याणुमात्रः । रेफस्यार्धमात्रो
मध्ये । अन्ते स्वरस्याणुमात्र इति । अणुमात्र इति किम्—‘इन्द्रियाविष-

शपसेषु स्वरोदयां हकारे व्यनोदयाम् ।

शपसेषु तु विवृतां हकारे संवृतां विदुः ॥ इति ॥

“यो वै श्रद्धाम्”^१ इत्यादौ सूत्रोक्तकमाभावात्^२ न स्वरभक्तिः ।

स्वरभक्त्यन्तरमपि शिक्षायामुक्तम्—

करेणुः कर्विणो चैव हरिणी हरितेति च ।

हंसपदेति विज्ञेया पञ्चैताः स्वरभक्तयः ॥

कीदृश्य एता इति चेत्—

करेणू रहयोयोगे कर्विणी लहकारयोः ।

हरिणी रशसानां च हरिता लशकारयोः ॥

या तु हंसपदा नाम सा तु रेफपकारयोः ।

एवं पञ्चविधा भक्तिमुखरेत्स्वर्गकामुकः ॥

यथा करेणुः—“बर्हिः”^३ । कर्विणी—“मलूहाः”^४ । हरिणी—

यो योऽसावणुरित्युच्यते बुधेः । चतुर्भिरणुभिर्मात्रापरिमाणमिति स्मृतम्” अस्या-
यमर्थः—मात्रिकस्य ऋकारस्यादिरणुमात्रस्वरभागः । मध्ये रेफोऽर्धमात्रः ।
अन्तेऽप्यणुमात्रस्वरभागः । एतदकारस्वरूपम् । अत्र ऋकारमध्यवर्तिनि रेफे
अर्धमात्रे विभज्यमाने सति तां भागौ पूर्वोत्तराणुसहितौ प्रत्येक स्वरभक्तिनाम-
धेयं भजेते । ततो द्वे स्वरभक्ती विद्येते । अर्धमात्राकालस्वरभक्तिः कुल च
तिष्ठतांलाशङ्क्य शिक्षाकारैरेवमुक्तम्—इति कुम्भघोणमुद्रितपुस्तकपाठः.

^१ सं. १-६-८.

^२ सूत्रोक्तक्रमेण.

^३ ,, १-१-२.

^४ सं. २-१-२.

“दृशपूर्णमासौ” । हारिता—“सहस्रबल्लाः”^२ । हंसपदा—“वृ-
षाभ्यः”^३ इत्यादि ॥ १९ ॥

गुणाधिधिरयं, “पूर्वस्वरोऽनुनासिकः” (१९-१). इत्यादि-
वत्पथमनिर्देशात् । न तु वर्णान्तरविधिः, द्वितीयानिर्देशाभावात् ।
रेफस्योष्मणश्च निर्देशक्रमेण संयोगे सति रेफः स्वरभक्तिर्भव-
ति । भज्यत इति भक्तिः, धर्मः । स्वरस्यैव भक्तिर्यस्य स
तथोक्तः । स्वरधर्मो भवतीति यावत् । केनास्य स्वरेण सा-
धर्म्यं विधीयते? योऽस्य सदृशतरः ऋकारः । किमुस्य तत्सा-
धर्म्यम्? मात्रिकत्वं प्रधानता^४ च, ‘वैश्वव्यचसं वरूपाणि’^५ ।
‘परसं नहति’^६ । ‘गार्हपत्यमुप तिष्ठते’^७ । ‘पर्शुर्वेदिः’^८ । असंश्लि-
ष्टोऽत्र^९ रेफ ऊष्मणेति ह्रस्वकालादल्पतरेण कालेन न शक्यते
प्रयोजकम् । न च व्यञ्जनयोर्मध्ये विरामोऽस्ति । अतोऽत्र रेफस्य
मात्रिकत्वमवश्याभ्युपगन्तव्यम् । स्वप्रधानता तु कचिद्वेधेप्यतं,
पूर्वाह्रस्वविधानसामर्थ्यात् । न च स्वरसाधर्म्यविधिर्मात्रिकत्व-
मात्रेण कृतार्था भवति । तथात्ये हि मात्रिकत्वमेव साक्षाद्वि-
धेयमिति स्वरसाधर्म्यमविधेयं स्यात् । तस्मात्स्वरभक्ते रेफस्य
कचित्पूर्वाह्रस्वं कचित्स्वप्रधानतेति द्वयं व्यवस्थितमाश्रीयते ।
तद्विरक्तस्तु शिक्षोक्तः परिगृह्यते । तद्यथा—

स्वरात्परा स्वरभक्तिः स्वप्रधाना प्रकीर्तिता ।

ऋतस्य धूरपदं चेति स्वतन्त्रा भक्तिरिष्यते ॥

^१ सं. २-२-५.

^२ सं. ६-२-१.

^३ सं. ७-२-१०.

^४ स्वप्रधानता.

^५ “४-३-२.

^६ “२-५-७.

^७ सं. १-१-८.

^८ “१-२-४.

^९ संश्लिष्टो,

अत्र पूर्वार्धेन पूर्वस्वरितनिमित्तं स्वरभक्तेः स्वातन्त्र्यमुच्यते ।
 'यद्दर्शपूर्णमासौ' ^१ । 'दशरूपभामा लभेत' ^२ । 'धीतिगिरि हितः' ^३
 'यद्गार्हस्पत्यश्चरः' ^४ । यत्र तु स्वरितः प्रतिगिध्यते 'नोदात्त-
 स्वरितपरः' (१४-३१) इति तत्र निमित्ताभावाग्नैमित्तिकं स्वा-
 तन्त्र्यं न भयति । 'अग्नमिध छलु वै दर्पम्' ^५ । 'यदुद्या शी-
 र्पन्नेव' ^६ । 'यस्सं नहति' ^७ । 'ऋषिर् होता' ^८ । 'स शीर्षेति
 स-शीर्षा' ^९ । 'ऋतस्य धूर्पदम्' ^{१०} इत्यत्र त्वनिमित्तं स्वातन्त्र्य-
 मुच्यते । कचित्स्वरितपूर्वकत्वेऽपि स्वातन्त्र्याभावः शिक्षायां
 स्मर्यते—

स्वारादीर्घात्पदान्तस्थात्स्वरभक्तिस्तु या भवेत् ।

साऽपि ^{११} पूर्वस्वराजं स्यादोपावस्तोर्हविष्मती ॥ इति ॥

एतेन लकारस्याप्युष्मपरस्यैवं स्वरभक्तित्वं प्रदर्शितं वेदितव्यम्
 अध्ययनानुरोधात्, 'हारिता लशकारयोः' 'कर्षिणी लहकारयोः'
 इति शिक्षाचचनाच्च । 'शतचल्लं वि रोह' ^{१२} इति स्वप्रधानः ।
 'सहस्रचल्लं वि वयं दद्वेम' ^{१३} 'आदित्यां मल्लहाम्' ^{१४} इति पूर्वा-
 ङ्गता । मात्रिकत्वं तु समानम् । ये तु रेफलकारयोरत्र ऋकारार्थं
 लृकारार्थं चादेशमिच्छन्ति, तेषां विवृत्तिविरामस्स्यात् । न च
 तत्तुल्यतागुणो विधीयत इति युक्तम्, तद्व्याचक्षब्धाभावात्,
 मात्राहान्योच्चारणेऽनुपपत्तिः ^{१५} प्रसङ्गाच्च ॥ १५ ॥



१ सं. १-६-७.

२ सं. २-१-४.

३ सं. ४-२-७.

४ ,, ५-६-५.

५ ,, ५-४-५.

६ ,, ६-१-७.

७ ,, २-५-७.

८ ,, ४-६-२.

९ ,, ५-५-४.

१० वा. १-२-१.

११ सा तु.

१२ ,, १-१-२.

१३ स्वतन्त्रा.

१४ सं. १-८-१९. १५ मात्रासा(म्यो)मान्योच्चारणानुपपत्ति.

न क्रमे प्रथमपरे प्रथमपरे ॥ १६ ॥

क्रमशब्दो द्वित्वपर्यायः । कथमेतत् ? “मृत्तिर्विक्रमः क्रमः”
(२४-९) इत्यत्र द्वित्वस्यैव क्रमशब्देनाभिधानात् । अत्रापि स
एवार्थ इति निश्चिनुमः । ऊष्मणः क्रमे सति तस्मिन्नुष्मणि प्रथ-
मपरे वा सति न स्वरभक्तिर्भवति । क्रमे यथा—‘दारुण्यम्’^१
‘वर्ष्याभ्यः’^२ ‘वर्षेभिः’^३ ‘एतर्ह्यारूढः’^४ । प्रथमपरे यथा—
‘अदरश्म ज्योतिः’^५ । ‘कार्ण्णी उपानहौ’^६ । ‘वर्षा पर्जन्यः’^७
प्रथमः परो यस्मादसौ प्रथमपरः ॥ ११ ॥

इति त्रिभाष्यरत्ने प्रातिशाख्यविवरणे एकविंशोऽध्यायः.

क्रमो नाम द्वित्यम् । परस्योष्मणो द्वित्वे प्रथमपरे च
तस्मिन् सति ततः पूर्वो रेफस्स्वरधर्मो न भयति । ‘अद-
रश्म ज्योतिः’^५ । ‘दारुण्यं यज्ञम्’^१ । ‘वर्ष्याभ्यस्स्वाहा’^२ । ‘घर्म्म
स्थलम्’^८ । ‘मृदं वर्षेभिः’^३ । ‘यद्वर्षेनदाहुतिः’^९ । इति क्रमः^{१०} ।
‘अनु माण्डु’^{११} ‘वर्षा पर्जन्यः’^७ इति प्रथमपरत्वम्^{१२} ॥

इत्याचार्यगार्ग्यगोपालमिश्रविरचिते वैदिकाभरणाख्ये
प्रातिशाख्यव्याख्याने एकविंशोऽध्यायः.



^१ सं. ३-२-२.

^२ सं. ७-४-१३.

^३ सं. ५-७-११.

^४ „ ५-१-५.

^५ „ ३-२-५.

^६ „ ५-४-४.

^७ „ ७-६-२०.

^८ „ ३-४-८.

^९ „ ५-१-३.

^{१०} इति द्वित्वे.

^{११} „ १-४-४४.

^{१२} इति प्रथमपरे.

अथ द्वाविंशोऽध्यायः.

शब्दः प्रकृतिस्सर्ववर्णानाम् ॥ १ ॥

सर्ववर्णानां शब्दः ध्वनिः प्रकृतिः मूलकारणं भवति । वर्ण-
शब्देन स्वरव्यञ्जनात्मको राशिरुच्यते । सर्वे च ते वर्णाश्च
सर्ववर्णाः तेषां सर्ववर्णानाम् ॥ १ ॥

इदानीं प्रकृत्यादिनिरूपणमुखेन वर्णात्मिकाया वेदधात्वः
प्रयोगो लक्ष्यते—

अनेन वर्णात्मकानां शब्दानामुपादानकारणमुच्यते । अना-
दिनिधनो विभुः एकदशब्दो ब्रह्मव्यपदेशभाक् सर्वेषां वर्णानां
प्रकृतिरुपादानकारणं भवति, स्तिमितधायुरिव तालवृन्तपयना-
नाम्^१ । तेन 'धायुशरीरसमीरणा' (२-२) दीनि पूर्वोक्तानि सर्वाणि^२
कारणानि निमित्तान्येष भवन्ति ॥ १ ॥

तस्य रूपान्यत्वे वर्णान्यत्वम् ॥ २ ॥

प्रातिश्रुत्कस्थानभेदात् तस्य शब्दस्य प्रकृतिभूतस्य, रूपान्यत्वे
सति वर्णान्यत्वं स्यात् । यथा—अ इ उ इत्यादि ॥ २ ॥

तस्य शब्दस्य अनुप्रदानादिभिः^३ कारणैः रूपभेदे जन्य-
माने वर्णभेदः सम्पद्यते । तस्माच्छब्दं प्रयुजानः तत्सामान्य-
विशेषकारणैः पूर्वोक्तैः प्रयुज्यते ॥ २ ॥

^१ तालवृन्तादिवायूनां.

^२ सर्ववर्ण.

^३ अनुप्रदानादिभिः.

तत्र शब्दद्रव्याण्युदाहरिष्यामः ॥३॥

तेषां वर्णानां सर्वत्र संघातप्रयोगे सन्ति शास्त्रमित्युच्यते । तस्य शब्द इति पर्यायनाम । तत्र तस्मिच्छास्त्रे यानि द्रव्याणि भवन्ति, तान्युदाहरिष्यामः । यत् कर्म येन क्रियते, तत्तस्य द्रव्यं साधनमिति यावत् । यथा—वटस्य मृदिति एवं शास्त्रस्य वर्णाः । यानि द्रव्याणि संव्यवहारार्थानि कर्तव्यानि तानि व्याख्यास्यामः । शब्दस्य द्रव्याणि, शब्दद्रव्याणि तानि ॥ ३ ॥

तत्र वर्णविषये संशये सति लक्षणतो निर्णयः कार्यः । लक्षणं च विदितार्थमेव सत्तन्निर्णयाय प्रभवतीति तद्व्याख्यानरूपा परिभाषा प्रस्तूयते—

तत्र वर्णविषये सन्देहनिवर्तकलक्षणोपकारकाणि शब्दरूपाणि साधनानि वर्णयिष्याम इति प्रतिज्ञा ॥ ३ ॥

वर्णकारौ निर्देशकौ ॥ ४ ॥

वर्णशब्दः, कारशब्दश्च निर्देशकौ वाचकौ स्याताम् । यथा—
“अवर्णव्यञ्जनशकुनि” (६-७) इति । “अथ पकारः स-
कारविसर्जनीयौ” (६-१) इति । वर्णश्च कारश्च ‘वर्णकारौ’ ॥४॥

न* वर्णयति—

वर्णशब्दः कारशब्दश्च वर्णानां स्वरूपनिर्देशकौ भवतः ।
वर्णशब्दो यथा—“अवर्ण” (२-२२; ६-३; ७-५; ८-११; ९-९;

१०-३, १९) 'इचर्णः' (२-२३; १०-३, १५; ११-१) इति । कार-
शब्दः—'अकारः' (१-१७, २१, ३३, १३; २-२१, २६; ४-६; ८-
२३; ९-७, १३; ११-१, ९; १५-८; २०-४) 'आकारः' 'फकारः'
(६-३२) 'खकारः' इति । एतच्च रेफादीनां^१ प्रदर्शनम् । "रेफे
जिह्वाग्रमध्येन" (२-४१) 'चंपरः' (५-४, २०) 'शकारश्छकारम्'
(६-३४) 'फचर्गः' (२-३५) 'चचर्गः' (३-३६) इति ॥ ४ ॥

—०—

चापीत्यन्वादेशकौ ॥ ५ ॥

च, अपि इत्येतौ अन्वादेशकौ स्याताम् । पूर्वापेक्षया अ-
न्वादेश इत्युच्यते^२ । यथा—"असदामासिञ्चश्च" (१-३)
"इतिपरोपि" (४-४) ॥ ५ ॥

च, अपि इत्येतौ शब्दौ पूर्वप्रयुक्तस्य शब्दस्यानुकर्षणौ
भवतः । यथा—'चावापृथिवी' (४-१२) 'पूर्वश्च' (४-१३, १६;
९-१७) 'एकव्ययेतोऽपि' (४-११) इति । कचिद्विशेषणनिर्देशोऽपि
विशेष्यमाकर्षति 'आसञ्चसन्देहे' (१-२९) इति । यथा—'जपरो
जकारम्' (९-२३) इत्यादि ॥ ५ ॥

—३—

त्वथैवेति विनिवर्तकाधिकारकावधारकाः ॥

तु, अथ, एव इत्येते शब्दा यथाक्रमेण विनिवर्तकाधिका-
रकावधारकाः भवन्ति । यत्र तुशब्दः श्रूयते, तत्र निवृत्तिः ।

^१ रेफादीनां,

^२ पूर्वापेक्षा अन्वादेशका इत्युच्यन्ते.

यत्र अथशब्दः, तत्राधिकारः । यत्र एवशब्दः तत्रावधारणमिति^१ वेदितव्यम् । यथा—“एफस्तु रस्य” (१-१९) ‘अथ संहितायामेकप्राणभावे’ (५-१) ‘स्पर्श एवैकेषामाचार्याणाम्’ (१४-३) । विशेषेण निवर्तयतीति, ‘विनिवर्तकः’ । अधिकरोतीति ‘अधिकारकः’ । अवधारयतीति ‘अवधारकः’ ॥६॥

तु, अंथे, एव इत्येते शब्दाः यथाक्रमं विनिवर्तकादयो भवन्ति । तुशब्द उक्तार्थसम्बन्धि यत्किम^२व्यर्थान्तरं विनिवर्तयति । अथशब्दः निर्दिष्टमधिकरोति । एवशब्दः निर्दिष्टप्रतियोगिनमर्थमवधारयति । तु—‘एफस्तु रस्य’ (१-१९) । अथ—‘अथ वर्णसमाम्नायः’ (१-१) । एव—‘ऊष्मपर एवैकेषामाचार्याणाम्’ (९-५) ॥ ६ ॥

वेति वैभाषिकः ॥ ७ ॥

‘वा’ इत्येषशब्दो वैभाषिको वैकल्पिको भवति । यथा—“मुखनासिकया वा” (२-५०) ॥७॥

वादाद्दो विभाषाप्रयोजनः विकल्पार्थ इति यावत् । यथा—‘ग्रहणं वा’ (१-२४) ॥ ७ ॥

नेति प्रतिषेधकः ॥ ८ ॥

‘न’ इति शब्दः^३ ‘प्रतिषेधकः’ भवति । यथा ‘न मुपुन्नोऽग्नि’ (१३-१५) इति ॥ ८ ॥

न इतिशब्दः प्रसक्तमर्थं प्रतिषेधति । यथा—‘नावग्रहः’ (४-२) ॥

आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य ॥ १ ॥

“उच्चैरुदात्तः” (१-३८) इत्युक्तं, तदर्थमिदमारभ्यते लोक-
वद्यादृच्छिकोच्चारणप्रतिषेधार्थम् । ‘आयामः’ गात्राणां देह्यन् ।
‘दारुण्यं’ स्वरस्य कठिनता । ‘अणुता खस्य’ गलविवरस्य
संवृतता । एतानि साधनानि^१ शब्दस्य ‘उच्चैःकराणि’ शब्द-
मुच्चैः उदात्तं कुर्वन्तीत्यर्थः । उच्चशब्दमुच्चारयता एतत् कर्त-
व्यमिति विधिः । उच्चैः कुर्वन्तीति ‘उच्चैःकराणि’ ॥ ९ ॥

उत्तरे अध्याये उदात्तादिस्वरस्वरूपानिरूपणार्थं सामवेदप्र-
सिद्धान् कुष्ठप्रथमादीन् सप्त स्वरान् वक्ष्यति । तेषां मध्येमध्यमस्यो-
त्पत्तिस्तावत् ‘धृतः प्रचयः’ (१८-३) इत्युक्ता । इहान्येषां प-
ण्णामुत्पत्तिरुच्यते । तत्रादौ पूर्वेषां त्रयाणां अनेन सूत्रेणोच्य-
ते—आयामो गात्राणामाकर्षणम् । दारुण्यं परुषता ध्वनेः । अ-
णुता संवृतता^२ कण्ठाकाशस्य । एतानि कारणानि^३ शब्दमुच्चैः-
कुर्वन्ति उत्क्षेपणं^४ कुर्वन्ति । तत्रैषामुत्क्षिप्तो^५ द्वितीयाख्यस्स्वरः ।
उत्क्षिप्ततरः प्रथमाख्यः । उत्क्षिप्ततमः कुष्ठाख्यः । एवमेते सू-
त्रप्रदेशे जायन्ते इत्युच्चैश्शब्दवाच्या भवन्ति । अत एवोक्तम्—
‘उच्चैरुदात्तः’ (१-३८) इति ॥ ९ ॥

^१ एतानि नामधेयानि.

^२ विवृतता.

^३ कारणानि.

^४ उत्क्षिप्त.

^५ तत्रैषामीपदुत्क्षिप्तो.

अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैः-
कराणि ॥ १० ॥

“नीचैरनुदात्तः” (१-३९) इत्युक्तम् । ‘अन्ववसर्गः’ गा-
त्राणां विस्तृतता । ‘मार्दवं’ स्वरस्य स्निग्धता । ‘खस्य उ-
रुता’ कण्ठस्य स्थूलता, इत्येतानि साधनानि शब्दस्य नीचैः-
कराणि, शब्दं नीचैरनुदात्तं कुर्वन्तीत्यर्थः । नीचशब्दमुच्चारयता
एतत् कर्तव्यमिति विधिः । नीचैः कुर्वन्तीति ‘नीचैःकराणि’ ॥

अथ धृतात्परेषां त्रयाणां स्वरणामुत्पत्तिमाह—

अन्ववसर्गो^१ गात्राणां संसनम्, मार्दवं ध्वनेः, उरुता वि-
स्तीर्णता कण्ठविचरस्येति, एतानि करणानि शब्दं नीचैः कुर्वन्ति
अवक्षिप्तं कुर्वन्ति । अत्रेपदवक्षिप्तश्चतुर्थोऽप्यस्वरः । अवक्षिप्त-
तरो मन्द्राख्यः । अवक्षिप्ततमोऽतिस्वार्यसंज्ञः । पयमेते ह्रस्व-
यप्रदेशे जायन्त इति नीचैश्च शब्दवाच्या भवन्ति । अत एवोक्तं
‘नीचैरनुदात्तः’ (१-३९) इति ॥ १० ॥

मन्द्रमध्यमताराणि स्थानानि भवन्ति ॥

मन्द्रं, मध्यमं, तारं चेत्येतानि स्थानानि भवन्ति । ‘मन्द्रं’
इति प्रथमम् । मध्यमं इति द्वितीयम् । तारमिति तृ-
तीयम् । एषां स्थानानां प्रयोजनमुत्तरत्र वक्ष्यते ॥ ११ ॥

मन्द्रमध्यमताराख्यानि त्रीणि वाचस्थानानि धृतादीनां स्वराणां स्थानानि भवन्ति । एतेषु प्रयुज्यमानः शब्दः परचेद्य इत्युच्यते^१ प्रयोग इति व्यपदिश्यते ॥ ११ ॥

—०—

तत्रैकविंशतिर्यमाः ॥ १२ ॥

एतानि स्थानानि केषामित्यपेक्षायामाह—

तेषु त्रिषु स्थानेषु 'एकविंशतिः यमाः' स्वरा भवन्ति । तेषां यमानामुत्तरत्र प्रयोजनं वक्ष्यते ॥ १२ ॥

तेषु मन्द्रादिषु वाचस्थानेषु एकविंशतिस्त्वरमेवा भवन्ति । त एतं उत्तराध्याये विवरिष्यन्ते । यद्येवं किमर्थमिहेदं सूत्रद्वयं क्रियते ? उच्यते—“आयामां दारुण्यम्” (२२-९) इत्यादिलक्षणापयोगार्थं ब्रह्मयज्ञार्थं च । ब्रह्मयज्ञस्य वाचक^२प्रयोगविषये उच्येत्स्वमेवेष्यते । न तूपांशुत्वादिरन्तःकरणः । अहो मध्यमे भागे तारस्थानेन ब्रह्मयज्ञः प्रयुज्यते । प्रथमोत्तमयोस्तु भागयोर्मध्यं विनाऽऽसन्नयोरर्थयोर्मध्यमस्थानेन तद्विप्रकृष्टयोरर्थयोर्मन्द्रस्थानेनेति विधेकोऽनुसन्धेयः ॥ १२ ॥

—०—

ऋग्विरामः पदविरामो विवृत्तिविरामस्त-
मानपदविवृत्तिविरामस्त्रिमात्रो द्विमात्र
एकमात्रोऽर्धमात्र इत्यानुपूर्व्येण ॥ १३ ॥

ऋग्विरामादयस्त्रिपात्रादिकाला यथाक्रमं भवन्ति । यथा—
 “उभावाजस्य सातये हुवे वाम्”^१ इत्यृग्विरामः । “इषे त्वा
 ऊर्जे त्वा”^२ इति पदविरामः । ‘स इधानः’^३ ‘त एनम्’^४ ‘ता
 अस्मान्’^५ इति विवृत्तिविरामः । “प्रउगम्”^६ इति समानपदवि-
 वृत्तिविरामः । ऋचि^७ विरामो ‘ऋग्विरामः’ । पदस्य विरामः
 ‘पदविरामः’ । पदद्वयविवृत्तौ विरामः ‘विवृत्तिविरामः’ । शि-
 क्षायामस्य विशेष उक्तः—^८

ह्रस्वादिर्वत्सानुमृतिरन्ते वत्सानुसारिणी ।

पाकवत्युभयह्रस्वा दीर्घमध्या^९ पिपीलिका ॥

मात्रिका वत्सानुमृतिस्तथा वत्सानुसारिणी ।

पादोना स्यात् पाकवती पादमात्रा पिपीलिका ॥ इति .

समानं च तत् पदं च ‘समानपदं’ एकपदमित्यर्थः । समा-
 नपदं विवृत्तिः, समानपदविवृत्तिः, तस्यां विरामः, ‘समानपदवि-

^१ सं. १-१-१४.

^२ सं. १-१-१.

^३ सं. ४-४-४.

^४ „ २-३-११.

^५ „ २-४-४.

^६ „ ४-४-२.

^७ ऋचौ

‘पिपीलिका दीर्घसमं च मध्ये सवर्णता पाकवती पदस्ये ।

इत्थं च वत्सानुमृजस्वमाम्ये त्वयोचि मुख्यस्तु विरामकालः ॥

स्वरसंज्ञे त्वनुस्वारो न पदव्यभुमात्रिः ।

विरामश्च तयोर्मध्ये वर्णोपकाश दीर्घयोः ॥ इति ऋचिचकोऽधिकः पाठः,

दीर्घाभ्या,

वृत्तिविरामः' । तिष्ठो मात्रा यस्यासौ 'त्रिमात्रः' । द्वे मात्रे
यस्यासौ 'द्विमात्रः' । एका मात्रा यस्यासौ 'एकमात्रः' ।
अर्धं मात्रा यस्यासौ 'अर्धमात्रः' ॥ १३ ॥

अथ प्रयोगान्तर्धर्तिनां विरामाणां कालेयत्तामाह—

ऋचो विरामः ऋग्विरामः । स द्विविधः—ऋचोऽन्ते मध्ये
चेति, उभयत्रापि ऋगवयवसमासेर्विद्यमानत्वात् । यथा—'सं न-
ह्ये सुरुतायकम्' इत्यृगन्ते । 'उप चिन्वन्ति वेधसः'^२ इत्यर्ध-
चान्ते । ये त्यतोऽभ्ये अनुचाकमध्यचर्तिनो विरामास्तेषां अध्य-
र्धमात्रः कालदिशक्षायां स्मर्यते—

पदाध्ययनस्थानेषु^३ पदाध्ययनवर्जिताः ।

तेषां विरामाण्युदादान् भजन्ते नात्र संशयः ॥ इति॥

अत्यार्थः—संहिताग्रन्थानुचाकेषु पदविभागसिद्धेत्यवसानस्थाः
संहितास्त्रायसिद्धावसानस्थाः ये शब्दा यजुरन्तप्रतीकान्तग्राहण-
मध्यविरामस्थास्तेषां विरामाः पङ्क्तिर्मात्रापादेस्संमिता भवन्ती-
ति । यजुरन्ते—'अक्त५ रिहाणा वियन्तु वयः'^४ । प्रतीकान्ते—
'अग्निर्मूर्धा भुवः'^५ । ग्राहणमध्ये—'यो यजते तस्य'^६ । पदाध्याये त्व-
नृगन्त^७ प्रग्रहत्परं इतिकरणयोगादृगन्तस्यापि^८ द्विमात्रत्वमेवेष्ट्यते—
'दधावद्वे । पुनः । ते इति'^९ । 'वर्धयमानः । अस्मे इति'^{१०} । क्रमा-

^१ सं. १-१-१०.

^२ सं. १-१-७.

^३ पदसिद्धावसानस्थाः.

^४ ,, १-१-१३.

^५ ,, ४-१-११.

^६ सं ३-५-४.

^७ त्वृगन्त.

^८ इतिकरणयोगादृया द्विमात्रत्व तथा ऋगन्तस्यापि.

^९ सं. १-५-१०.

^{१०} सं. १-७-१०.

ध्याये तु प्रग्रहात्परस्यैवगिरामस्य त्रिमात्रत्वमिष्यते । यथा—‘वेध-
स इति वेधसः । पूष्णस्तानि’^१ । ‘तनूमिति तनूम । ‘अग्नेरनु-
ग्रता’^२ । विभक्तानां पदानां मध्ये विरामः पदविरामः स द्विमात्रः
यथा—“इपे त्या ऊर्जे त्वा”^३ । “द्वे इति । धेनू इति । भौमी
इति”^४ । क्रमाध्यायेऽप्येष विधिः भवत्येव, आवर्त्यमानस्य पदस्य
रूपयोः^५ सन्धानाभावात् अनार्पत्वाविशेषाद्वा^६ ‘इपे त्या । त्वोर्जे ।
ऊर्जे त्वा’^३ । अवग्रहान्तविरामस्य तु शिक्षायां विशेषस्मर्यते—

‘अवग्रहाणामन्ते च विरामो मात्रिकस्मृतः’ इति

यथा—‘उपायच इत्युप-आयचः’^७ । विवृत्तिविराम एकमात्रः ।
एतत् नानापदविवृत्तिविषयं, समानपदविवृत्तिविरामे विशेषवि-
धानात् । ‘कर्मण आ व्यायध्वम्’^८ । ‘अनमीचा अयक्षमाः’^९ । ‘इन्द्रा-
ग्नी आहुचध्वे’^{१०} । ‘इन्द्रयायू इमे सुताः’^{११} । ‘छिनत्ती इति’^{१२} ।
‘त्वी इ इत्यग्रवीत्’^{१३} । ‘प्रत्युष्टा इति प्रति—उष्टाः’^{१४} । ‘सहस्रचल्शा
इति सहस्र-चल्शाः’^{१५} । ‘अच्छिद्रे इति । यहुले इति । उभे इति’^{१६} ।
‘पुरपता ते अस्तु’^{१७} । यत्तु दीर्घद्वयमध्यविवृत्तेः पिपीलिकाख्यापूर्वकं
पादमात्रत्वं स्मर्यते—‘दीर्घमध्या पिपीलिका’ ‘पादमात्रा पिपीलि-
का’ इति, तत्प्रग्रहसन्धिव्यतिरिक्तविषयग । तथा शिक्षायाम्—

न लुते प्रग्रहे चापि सन्धिकार्यं प्रयुज्यते ।

मात्रा लोकादि तत्काला मात्राधिक्यं तथा परे ॥

१ सं. १-१-७.

२ सं. १-१-१०.

३ सं. १-१-१.

४ “ ५-६-२१.

५ उभयोः.

६ शाश्व.

७ “ १-१-१४.

८ म. १-४-४

९ सं. १-३-२.

१० “ २-४-१२.

११ “ १-१-२.

१२ “ ४-१-१.

१३ “ १-२-३.

इति वचनात् । ध्रुतान्तविरामस्य तु पदसन्धावेव मात्रिकत्वमिष्यते,
न तु पदमध्ये । कुतः ? प्रग्रहसमभिव्याहारात्, पदमध्ये सन्धिकार्य-
प्रसक्तं च भावाच्च । यत्तु ह्रस्वद्वयमध्यमाया विवृत्तेः पाकवती-
संज्ञापूर्वकं पादोन्मात्रत्वं स्मर्यते, तदपि नानापदविषयम् । वत्सा-
नुसारिण्यादिसाहचर्यात् । न हि ताः पदमध्ये सम्भवन्ति ।
अनुस्वारवत्यास्तु^१ नानापदविवृत्तेः तत्रत्यानुस्वारस्य च स्वस्वकाले
तच्चतुर्थीशोऽधिक इष्यते—

व्यक्तिमध्यस्थनासिक्ये स्वकालात्^२ पाद इष्यते ।

तत्काला हि तदा^३ व्यक्तिः प्राप्यते नात्र संशयः ॥

इति शिक्षावचनात् ।

पदस्य मध्ये विवृत्तिः समानपदविवृत्तिः । तद्विरामोऽर्धमात्रः ।
'अग्रा३६ पक्षीयाः'^४ । 'प्रउगम'^५ । 'दीक्षितस्य गृहा३६'^६ ।
अनुवाकादीनां समासिषु विरामकालशिक्षायां स्मर्यते^७—

काण्डप्रश्नानुवाकानां समासी काल इष्यते ।

दशाष्टपञ्चमात्रं तु तन्त्राणां च त्रयहं भवेत् ॥ इति ॥

उपान्तानविषये तु चरमवचनान्तोऽयं^८ कालो द्रष्टव्यः । तत्र कोचि-
त्पदवाक्यानुवाकादिसङ्ख्याबोधकशब्दपादात् परमेधैते विराम-
काला इत्याहुः । तदयुक्तम् तथाविधानां शब्दानां पौरुषेयलक्ष-
णरूपतया वेदवाह्यत्वात्, वेदभागसमासिनिमित्तत्वाच्च विरामा-
णाम् ॥ १३ ॥

^१ विवृत्यास्तु.

^४ सं. १-४-२७.

^७ बहुवचनपाठीऽपि.

^२ स्वकालः.

^५ सं. ४-४-२.

^३ तथा.

^६ सं. ६-१-४.

^८ वचनान्तोऽयं.

यद्व्यञ्जनान्तं यदु चापि दीर्घं

संयोगपूर्वं च तथाऽनुनासिकम् ।

एतानि सर्वाणि गुरूणि विद्यात्

शेषाण्यतोऽन्यानि ततो लघूनि ॥ १४ ॥

‘व्यञ्जनान्तं’ ‘यत्’ अक्षरम् । व्यञ्जनमन्ते यस्य तत् ‘व्य-
ञ्जनान्तम्’ । ‘यदु चापि दीर्घं’ अक्षरम् । ‘संयोगपूर्वं च’ यदक्षरं,
संयोगात् पूर्वं ‘संयोगपूर्वं’ । ‘तथा’ ‘अनुनासिकं’ सानुना-
सिकं यदक्षरं उक्तानि ‘एतानि’ ‘सर्वाणि’ ‘अक्षराणि’ ‘गु-
रूणि’ ‘विद्यात्’ जानीयात् । यथा, व्यञ्जनान्तम्—“मातेय
पुत्रम्”^१ । यथा, दीर्घम्—“ते तेऽधिपतयः”^२ । यथा, संयोग-
पूर्वम्—“अश्मा च मे”^३ । यथा, अनुनासिकम्—“विश्वस्ये
स्वाहा”^४ । ‘शेषाण्यतोऽन्यानि’ अत एभ्यो गुरूभ्यः शेषाण्यन्या-
नि अक्षराणि, ‘ततः’ अनन्तरं, ‘लघूनि’ विजानीयात् । शेषा-
णि कानीत्याशङ्क्योत्तरश्लोकेन विवृणोति ॥ १४ ॥

अथ ऋग्विरामपदविरामयोः क्वचित्कालाधिक्यार्थं गुदलघु-
विज्ञानं शिक्षोक्तमुच्यते—

व्यञ्जनं अन्तं विरामापधिभूतं यस्य तत्तथोक्तम् । उ भ-
नर्थकः पादपूरणो वा । च, अपि इत्येतौ निपातौ । संयोगा-

^१ सं. ४-२-१.

^२ सं. ४-४ ११.

^३ सं. ४-७-६.

^४ „ ४-१-११.

त्पूर्वमिति तत्पुरुषः । तथाऽनुनासिकं^१ अनुस्वारात्पूर्वमित्यर्थः ।
यद्व्यञ्जनान्तं यच्च दीर्घमिति वचनव्यक्त्या व्यञ्जनान्तमित्यादीनां
दीर्घेतराक्षरविशेषणत्वमवगम्यते । तच्च ह्रस्वं विज्ञेयम्, शेष^२वि-
पये उत्तरसूत्रे ह्रस्वग्रहणात् । तदयमर्थः—यत् ह्रस्वमक्षरं विरा-
मव्यञ्जनात्संयोगादनुस्वाराच्च पूर्वं यच्च दीर्घं, एतानि सर्वाणि
गुरूणि विद्यात् । व्यञ्जनान्तं यथा—‘उप चिन्वन्ति वेधसः’^३
‘सं नह्ये सुकृताय कम’^४ दीर्घं यथा—‘सा वा पपा’^५ द्वे धेनू भौ-
मी’^६ । ‘सेन्द्रावेचैनौ’^७ । संयोगपूर्वं यथा—‘तत्प्रक्षस्य प्रक्षत्त्वम्’^८
अनुनासिकं^१ यथा—‘सूक्तं सः शाय’^९ । ‘पुरुदं सः सनिम्’^{१०} । यच्च
प्यस्मत्संहितायामनुस्वारात्पूर्वस्य ह्रस्वस्य संयोगपूर्वत्वं नियतम्,
तथाऽपि शिक्षायां सर्ववेदशास्त्राविषयत्वादनुस्वारो व्यञ्जनं वा
स्वरो चेति शौनकादिमते स्वरत्वे संयोगानन्तर्भावात्पृथग्वचनम् ।
यस्मादेतान्यक्षराणि गुरुसंज्ञानि, ततस्तस्मादतोऽन्यानि एतेभ्योऽ-
न्यानि अक्षराणि शेषाणि लघूनि विद्यात् । अत्र शेषाणीति
अतोऽन्यानीति वा अन्यतरेण सिद्धे उभयाभिधानं परमतनिरा-
करणार्थम् । तत्र पादान्तवर्तिनः शेषस्य लघोः वर्णस्य वैकल्पिकं
गुरुत्वमाहुः पिङ्गलाचार्यादयः, तदनेन निवार्यते । तेन ‘सुपत्नी-
रुप सेदिम’^१ । ‘समात्मा तनुवा मम’^२ इत्यादौ पादा^३क्षरं लघ्वेव
भवतीति तद्विरामेषु गुरुत्वनियन्धनं मात्राधिपत्यं न भवति ॥१४॥

— ० —

^१ अनुनास्य.^२ विशेष.^३ सं. १-१-७.^४ सं. १-१-१०.^५ सं. ३-४-३.^६ „ ५-६-२१.^७ „ २-५-४.^८ „ ६-३-१०.^९ „ १-६-१२.^{१०} „ ४-३-४.^{११} पादान्ता.

अव्यञ्जनान्तं यद्ध्रस्वमसंयोगपरं च यत् ।
अननुस्वारसंयुक्तमेतल्लघु निबोधतैतल्लघु नि-
बोधत ॥ १५ ॥

अव्यञ्जनान्तं यत् अक्षरं, यत् च ह्रस्वं, यत् च असंयो-
गपरं, यत् अननुस्वारसंयुक्तं एतत् सर्वमक्षरं 'लघु निबो-
धत' जानीष्वम् । यथा—“मदुदयनाः”^१ इत्यादि । व्यञ्जनमन्ते
यस्य तत् व्यञ्जनान्तं, न व्यञ्जनान्तं 'अव्यञ्जनान्तम्' । संयो-
गः परो यस्मात् तत् संयोगपरं, न संयोगपरं 'असंयोगपरम्' ।
अनुस्वारेण संयुक्तं अनुस्वारसंयुक्तं, न अनुस्वारसंयुक्तं . 'अननु-
स्वारसंयुक्तम्' ॥ १५ ॥

इति त्रिभाष्यरत्ने प्रातिशाख्यविवरणे द्वाविंशोऽध्यायः.

शेषाप्याह—

यद्ध्रस्वमक्षरमव्यञ्जनान्तं भवति स्वयमेव विराभावधिभूतं
यद्य असंयोगपरं न भवति, अनुस्वारपरं च न भवति एतत्सर्वं लघ्विति
निर्वाधतेति आचार्यस्य स्वशिष्याननुशासतो वाक्यम् । विरा-
मस्य यथा—‘प्रिये पूषप्रयुज्महि’^२ । ‘हितेनेव जयामसि’^३ ।
असंयोगपरमननुस्वारसंयुक्तं च यथा—‘भुवनमग्नि’^४ । ‘हरिरसि’^५ ।
यद्यपि शेषाणि लघूनीत्येतावतंच लक्षणेन लक्ष्यं सिद्धयति, तथाऽ-

^१ श्रु. १-१-५.

^२ श्रु. १-१-१४.

^३ श्रु. १-१-१२.

^४ १-४-१६.

पि विस्पष्टार्थं शिक्षायां शेषाण्यपि^१ सङ्गृहीतानीहानुभाव्यन्त^२
इति वेदितव्यम् ॥

गुरुलघुविज्ञानस्य तु प्रयोजनं द्रूमः—

गुर्वक्षरे द्विमात्रत्वं सर्वशास्त्रेषु सुस्फुटम् ।

हस्वे गुरौ तत्सम्पत्तिः परव्यञ्जनकालतः ॥ १ ॥

यत्र हस्वादूनकालं विरामव्यञ्जनं परम् ।

तत्कालशेषस्संयोज्यो विरामे तु ततः परे ॥ २ ॥

विरामस्थाः कटतपविसर्गाश्चेत्पदेष्वतः ।

विरामेषु त्वृगादीनामर्धमात्राऽधिका भवेत् ॥ ३ ॥

एतदर्थं हि भगवानृग्विरामाद्यनन्तरम् ।

गुरुलघ्वक्षरज्ञानं शिक्षोक्तं ग्राह सूत्रकृत ॥ ४ ॥

तत्र ऋग्विरामस्सार्धत्रिमात्रिको भवति । “उप चिन्वन्ति वेध-
सः । पूष्णस्तानि”^३ । ‘विभ्वास्सुक्षितयः पृथक् । अग्ने का-
माय येमिरे । अद्याम तम्’^४ । पदविरामस्सार्धद्विमात्रिकः—
‘यपद्-करोति’^५ । ‘त्रिष्टुप्-त्या’^६ । अनुवाकान्तविरामः सार्ध-
पञ्चमात्रः—‘सप्तदशः स्तोममुदजयत्’^७ । ‘स यन्ता शश्वतीरि-
पः’^८ । प्रश्नान्तविरामस्सार्धाष्टमात्रः—‘तव ज्योतीःस्प्यर्चयः’^९ ।
‘शमु ते तनुवे भुवद’^{१०} । काण्डान्तविरामस्सार्धदशमात्रः—
‘प्रातार्यज्ञे प्रतरां न आयुः’^{११} । तन्त्रान्तविरामः सार्धमात्रव्यह-
कालः—‘योनिस्समुद्रो बन्धुः’^{१२} ॥ १५ ॥

इति गार्ग्यगोपालमिश्रविरचिते वैदिकाभरणारख्ये

प्रातिशाख्यव्याख्याने द्वाविंशोऽध्यायः.



| | | | |
|-------------------------|--------------------------|-------------------------|--------------------------|
| शेषतया. | हानुय भाष्यन्त. | ^३ सं. १-१-७. | ^४ सं. १-३-१४. |
| ^५ सं. १-४-८. | ^६ सं. १-८-१३. | ^७ „ १-८-१९. | ^८ „ १-१-१३. |
| ^९ „ १-३-१४. | ^{१०} „ ५-२-१३. | ^{११} „ ४-५-१५. | ^{१२} „ ७-१-१९. |

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः.

अथ वर्णविशेषोत्पत्तिः ॥ १ ॥

‘अथ’ इत्ययमधिकारः । वर्णानां ‘विशेषोत्पत्तिः’ उच्यते ।
इत्येतदधिकृतं वेदितव्यं, इत् उत्तरं यद्वक्ष्यामः । वर्णानां वि-
शेषो वर्णविशेषः, तस्य उत्पत्तिः, सा तथोक्ता ॥ १ ॥

इदानीं वर्णविशेषोत्पत्त्यादीन्यवशिष्टानि कार्याणि वक्ष्यन्ते-
अथेत्यधिकारः । वर्णविशेषाणामुत्पत्तिरधिकृता वेदितव्या ॥ १ ॥

अनुप्रदानात्संसर्गात् स्थानात्करणविन्ययात् ।
जायते वर्णवैशेष्यं परिमाणाच्च पञ्चमा-
दिति ॥ २ ॥

अनुप्रदानादिभिः पञ्चभिः करणैर्वर्णानां ‘वैशेष्यं’ जायते ।
अकारस्य तावत् ‘अनुप्रदानं’ नादः । ‘संसर्गः’ कण्ठे ।
‘स्थानं’ हनू । ‘करणविन्ययः’ ओष्ठौ । ‘विन्ययः’ नाम वि-
न्यासः । ‘परिमाणं’ मात्राकालः । एवं सर्ववर्णानां बोद्ध-
व्यम् । विशेषस्य भावो वैशेष्यं, वर्णानां वैशेष्यं, ‘वर्णवैशेष्यम्’ ॥ २

अनुप्रदानं नादादि । संसर्गो वायुस्थानसंसर्गोऽभिघाता-
त्मकः । स त्रिविधः—अथःपिण्डघदाक्षिण्डघदूर्णापिण्डवदिति ॥

^१ तस्यायन्यान्यव.

तदुक्तमापिशलाशिक्षायाम्—“स्पर्शयमवर्णकरो वायुः अयःपिण्ड-
वत्स्थानमापीडयति । अन्तस्थावर्णकरो वायुः दाहापेण्डवत् ।
ऊष्मस्वरवर्णकरो वायुरूर्णापिण्डवदिति” । स्थानं हनूमूलादि ।
करणमोष्ठादि । तस्य विन्ययो विविधस्पर्शनं स्पृष्टादि । एते-
भ्यश्चतुर्भ्यो निमित्तेभ्यः वर्णस्य वैशेष्यं असाधारणरूपं जायते ।
विशेष्यत इति विशेषः, तस्य भावो वैशेष्यम् । तथा परीमाण-
रूपात् पञ्चमाश्च करणाद्वर्णवैशेष्यं जायते । परीमाणस्य पृथ-
ग्वचनं स्वराख्यवर्णमात्रविषयत्वस्यापनार्थम् । तेन व्यञ्जनानां
ङकारानुस्वारादीनां कालभेदे वर्णान्यत्वं न भवति । एतेन
द्वितीयाध्यायोक्तानामनुप्रदानादीनां द्वाविंशाध्यायोक्तं रूपान्यत्वं
प्रति कारणतामुपदिशता तस्य रूपान्यत्वे वर्णान्यत्वमित्येतद्वि-
वृतम् ॥ २ ॥

वर्णपृक्तशब्दो वाच उत्पत्तिः ॥ ३ ॥

‘पृक्तः’ मिश्र इत्यर्थः । वर्णमिश्रः ‘शब्दः’ ‘वाचः’
वाक्यस्य, ‘उत्पत्तिः’ उपादानकारणं भवति । वर्णपृक्त इति
किं? दुन्दुभ्यादिशब्दानां वाक्यता मा भूदिति ॥ १ ॥

एवं वर्णोत्पत्तिरुक्ता । इदानीं वाक्योत्पत्तिमाह—

उच्चरितप्रध्वंसिभिः पूर्ववर्णैः पृक्तस्संयुक्तोऽन्त्यवर्णात्मकः
शब्दः पदवाक्यरूपाया वाच उत्पत्तिः । एतदुक्तं भवति—वर्णाः
खलु पदवाक्यरूपस्य शब्दस्य कारणम् । तेषां तूच्चरितप्रध्वंसि-
नां तन्त्यादिवत्सहावस्थानायोगात्, स्मृत्यारूढैः पूर्ववर्णैः सम्पृ-
क्तोऽन्त्यवर्णः पदं वाक्यं भवति ॥ ३ ॥

सप्त वाचस्थानानि भवन्ति ॥ ४ ॥

‘वाचः सप्त स्थानानि भवन्ति’ तानि उत्तरसूत्रे वक्ष्यन्ते ।
यैर्वाक् प्रयुज्यते यस्मिंश्च तिष्ठति तत् स्थानम् । तानि
यथाक्रममुदाहरिष्यामः ॥ ४ ॥

उपांशुध्वाननिमदोपब्दिमन्मन्द्रमध्यमता-
राणि ॥ ५ ॥

‘उपांशु’ इति प्रथमं वाचस्थानम् । ‘ध्वानः’ इति द्वि-
तीयम् । ‘निमदः’ इति तृतीयम् । एवमितराण्यपि नामतः स-
प्तैतानि स्थानानि जानीयात् । उपरितनं सूत्रमारभ्य प्रत्येकमेकं
स्थानानां लक्षणं वक्ष्यते ॥ ५ ॥

इदानीं यज्ञकर्मादिविषयस्य वेदोच्चारणस्य प्रसिद्धयर्थमु-
पांशवादोति शब्दतारतम्यस्थानानि लक्ष्यन्ति—

उपांशुः, ध्वानः, निमदः, उपब्दिमन्, मन्त्रम्, मध्यमम्, तार-
मिति सप्तैतानि वाचः प्रयोगस्य^१ तारतम्यस्थानानि भवन्ति ॥ ५ ॥

—०—

करणवदशब्दममनःप्रयोगशुपांशु ॥ ६ ॥

‘करणवत्’ प्रयत्नवदित्यर्थः । नास्ति शब्दो ध्वनिरस्मिन्
इत्यशब्दम् । मनसा प्रयोगः मनःप्रयोगः नास्ति मनःप्रयोगोऽस्मिन्

इति 'अमनःप्रयोगम्' । वाचस्स्थानमीदृशं 'उपांशु' इत्यु-
पदिश्यते । तत्र करणवदिति तूष्णीम्भावनिवृत्त्यर्थः । अशब्द-
मिति शब्दस्यात्यन्ताल्पतार्थः । अमनःप्रयोगमित्युदात्तादीनां सा-
ङ्गकल्पिक^१प्रतिषेधार्थः ॥ ६ ॥

एतेषां^२मुद्देशः कृतः । इदानीं क्रमेण लक्षणान्युच्यन्ते—

करणवत् करण^३व्यापारसंयुक्तं, अशब्दं शब्दरहितमित्येता-
वत् उपांशुस्थानलक्षणम् । तत्र अशब्दमिति किं परब्राह्मस्य
शब्दस्याभाव उच्यते ? उत स्वब्राह्मस्यापि ? इति संशयस्य
निरासार्थममनःप्रयोगमित्युच्यते । तत्र, "तज्जिव युक्त" न्या-
येन मनःप्रयोगसादृश्यावगमात्स्वयंब्राह्मस्यापि शब्दस्याभाव
इहाभिमत इति गम्यते । करणव्यापारसन्नायेऽपि वायुसंस-
र्गाभावाच्छब्दो नोत्पद्यत इत्यशब्दत्वमुपपद्यते । करणवदित्यनेन
मनःप्रयोगो व्यावर्त्यते । अशब्दमिति ध्यानादीनि ॥ ६ ॥



अक्षरव्यञ्जनानामनुपलब्धिध्वानः ॥ ७ ॥

'अक्षराणि' स्वराः । अक्षराणां व्यञ्जनानां च 'अनुप-
लब्धिः' 'ध्वानः' नाम द्वितीयं वाचस्स्थानम् । उपांशुलक्षणेऽ-
प्यनुपलब्धौ सत्यां पुनर्वचनं शब्दोपलब्धिविविधानार्थम् । अक्षर-
व्यञ्जनानां भेद^४ग्रहणमभिलष्यार्थम्, अत्यन्तानुपलब्धिरित्यर्थः । अ-
न्ये त्वाहुः, अक्षरव्यञ्जनानां विसर्जनीयादीनामनुपलब्धिरिति ॥ ७ ॥

यस्मिन्स्थाने प्रयुञ्जानः शब्दसामान्यमुपलभते अक्षरव्यञ्जनानां विवेकं तु नोपलभते तत् खलु ध्वानसंज्ञं भवति ॥ ७ ॥

उपलब्धिनिमदः ॥ ८ ॥

अक्षरव्यञ्जनानां 'उपलब्धिः' 'निमदः' नाम तृतीयं वाचः स्थानं भवति ॥ ८ ॥

यत्र स्थाने शब्दं प्रयुञ्जानोऽक्षरस्य व्यञ्जनानां विवेकमुपलभते परेण शब्दसामान्येऽप्यनुपलभ्यमाने, तन्निमदसंज्ञं भवति ॥ ८ ॥

सशब्दमुपबिन्दत ॥ ९ ॥

अक्षरव्यञ्जनानां 'सशब्दम्' उपलब्धिः 'उपबिन्दत' नाम चतुर्थं वाचः स्थानं भवति^१ ॥ ९ ॥

सशब्दं परश्राव्य^२शब्दसहितम् । यत्र प्रयुज्यमानशब्दः परैरक्षरव्यञ्जनाविवेकवर्जं श्रूयते,^३ तदुपबिन्दतसंज्ञं भवति ॥ ९ ॥



^१ कण्ठता शब्देन अक्षरव्यञ्जनानां यत्रोपलब्धिर्भवति, शब्दश्च सूक्ष्म उपलभ्यते तत्स्थानमुपबिन्दतमिति चतुर्थं वाचस्स्थानं भवति. ध्वान-निमदयोः अशब्दमुच्यते. इहार्थस्सुकरः. इति पाठान्तरम्.

^२ परप्राग्व.

^३ उपलभ्यते.

उरसि मन्द्रम् ॥ १० ॥

कण्ठे मध्यमम् ॥ ११ ॥

शिरसि तारम् ॥ १२ ॥

यत्र 'उरसि' स्थाने प्रयोग उपलभ्यते, तत् मन्द्रं नाम पञ्चमं वाचस्स्थानम् । यत्र 'कण्ठे' स्थाने प्रयोग उपलभ्यते, तत् मध्यमं नाम पष्ठं वाचस्स्थानम् । यत्र शिरसि स्थाने, प्रयोग उपलभ्यते, तत् 'तारं' नाम सप्तमं वाचस्स्थानम् । एतेष्ववादितश्चतुर्णां यज्ञादिषु प्रयोगः । मन्द्रं प्रातस्सवने प्रयुज्यते । मध्यमं माध्यन्दिने सवने । तारं तृतीयसवने । शिक्षा चैवं वक्ष्यति—

प्रातः पठेन्नित्यमुरस्स्थितेन स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन ।

माध्यन्दिने कण्ठगतेन चैव चक्राहसंकूजितसन्निभेन ॥

तारं तु विद्यात्सवने तृतीये शिरोगतं तच्च सदा प्रयोज्यम् ।

मयूरहंसान्यभृतस्वनानां तुल्येन नादेन शिरस्स्थितेन ॥ १०-१२

यत्र स्थाने प्रयुज्यमानश्चन्द्रः प्रयोक्तुं उरसि तिष्ठन्निच परैरुपलभ्यते अक्षरव्यञ्जनविवेकसंयुक्तं तन्मन्द्रसंज्ञं भवति । एतेनोत्तरसूत्रे व्याख्याते ॥ १० ॥

अत्र निमदादिस्थानीयशब्दो ध्वानादिस्थानीयात् प्रकृष्टश्रुतिर्भवति ॥ ११-१२ ॥



मन्द्रादिषु त्रिषु स्थानेषु सप्तसप्त यमाः ॥

‘त्रिषु मन्द्रादिषु स्थानेषु’ एकैकस्मिन् ‘सप्तसप्त यमाः’ भवन्ति । यमाः स्वरा उदात्तादय इति यावन् । सप्तसप्तेति वीप्सया एकैकस्मिन्निति लभ्यते । के ते यमा इत्याशङ्क्योत्तरसूत्रेणोत्तरमाह ॥ १३ ॥

इदानीमुदात्तादिस्वरस्वरूपनिरूपणार्थं सामवेदप्रसिद्धान् सप्तस्वरास्तावदाह—

मन्द्रमध्यमताराख्येषु त्रिषु याचस्थानेषु प्रत्येकं सप्त स्वर भेदा भवन्ति । तत्र समानस्थानवर्तिनां स्वरभेदानां श्रुतितारतम्यं न विद्यते । अपि तु उत्क्षेपणादिकृतस्वरूपभेद एव ॥ १३ ॥



कुष्टप्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थमन्द्रातिस्वार्याः ॥

कुष्टश्च प्रथमश्च द्वितीयश्च तृतीयश्च चतुर्थश्च मन्द्रश्च अतिस्वार्यश्च ते तयोक्ताः । एते खलु यमा नाम ॥ १४ ॥

तेषां नामान्याह—

कुष्टः, प्रथमः, द्वितीयः, तृतीयः, चतुर्थः, मन्द्रः, अतिस्वार्यः इति तेषां नामधेयानि ॥ १४ ॥



तेषां दीप्तिजोपलब्धिः ॥ १५ ॥

तेषां खलु सप्तयमाना^१ उत्तरोत्तरदीप्तिजा पूर्वपूर्वोपलब्धिः स्यात् ।
तत्कथम् ? अतिस्वार्यदीप्तिजा मन्द्रोपलब्धिः, मन्द्राच्चतुर्थोपलब्धिः ।
चतुर्थात् तृतीयः, तृतीयात् द्वितीयः, द्वितीयात् प्रथमः, प्रथमात्
कुष्ट उपलभ्यते ॥ १५ ॥

तेषां स्वरूपावगतिस्तु कथमिति चेत्तदाह—

तेषां कुष्टादीनां स्वरभेदानां स्वरूपोपलब्धिर्दीप्तिजा स्फूर्ति-
भेदाज्जायते ॥ १६ ॥



द्वितीयप्रथमकुष्टाख्य आहारकस्वराः ।

द्वितीयश्च प्रथमश्च कुष्टश्च ते तथोक्ताः । एते त्रय आह्व-
रकस्वराः स्युः । एषां तैरेव प्रयोगो वेदितव्यः । आहारकाणां
स्वराः 'आहारकस्वराः' ॥ १६ ॥

मन्द्रादयो द्वितीयान्ताश्चत्वारस्तैत्तिरीयकाः ॥

मन्द्रादयश्चत्वारो द्वितीयान्ताः स्वराः मन्द्राच्चतुर्थतृतीयद्वितीयाः,
तैत्तिरीयकाः स्युः ॥ १७ ॥

ननु यद्यप्येषां दीप्तिभेदात्परस्परभेदोपलब्धिर्जायते, तथाऽपि
कीदृशी दीप्तिः कस्योपलब्धिरेतुरित्येतत् न ज्ञायते । किं च
तदवगमेऽप्यस्मच्छायावर्तिनां स्वराणां किमायातमित्यत आह—

आह्वारका उत्क्षेपिण इत्यर्थः । द्वितीयप्रथमक्रुष्टा इति पूर्वोक्तक्रमप्रातिलोम्यनिर्देश उत्क्षेपक्रमतदवधिसंप्रत्ययार्थः । तेन तृतीयाख्यो मध्यमस्वरः । स मध्यम उत्क्षेपिताया अवधिर्भवति^१ । ततश्च तृतीयाख्यान्मध्यमस्वरादायामादिभिरुत्क्षेपकारणैः किञ्चिदुत्क्षिप्तो द्वितीयाख्यस्वरः । उत्क्षिप्ततरः प्रथमाख्यः । उत्क्षिप्ततमः क्रुष्टाख्यः । एतेन चतुर्थादीनां परेषां त्रयाणां स्वराणामवक्षेपित्वमपि दर्शितं भवति । तत्र^२ मध्यमात्तृतीयाख्यात्स्वरात् अन्यवसर्गादिभिरवक्षेपकारणैः किञ्चिदवक्षिप्तः चतुर्थाख्यस्वरः । अवक्षिप्ततरः मन्द्राख्यः । अवक्षिप्ततमः अतिस्वार्याख्यः । तदेवं सामधेदवर्तिनः क्रुष्टादयस्सप्त स्वराः सम्यङ्निरूपिताः । तेषु मन्द्रादयो द्वितीयान्ताश्चत्वारस्वराः प्रतिलोमक्रमेण मन्द्रचतुर्थतृतीयद्वितीयास्तैत्तिरीयका भवन्ति । तित्तिरिणा प्रोक्तं तैत्तिरीयं अस्मच्छाखा तत्र भयास्तैत्तिरितीयकाः । 'धन्वयोपधाबुज्' इति बुज् । यथाक्रममस्मत्स्वाध्यायवर्तिनः अनुदात्तस्वरितप्रचयोदात्ता भवन्तीत्यर्थः ॥ १६-१७ ॥



द्वितीयान्मन्द्रस्तैत्तिरीयाणाम् ॥ १८ ॥

तृतीयचतुर्थावनन्तरम् ॥ १९ ॥

तच्चतुर्थममित्याचक्षते ॥ २० ॥

^१ स मध्यत उत्क्षेप उत्क्षेपिताया अवधिर्भवति । स मध्यमो धृत उत्क्षेपिताया अवक्षेपितायाश्च अवधिर्भवति । इति च पाठान्तरम्.

^२ तथाऽवक्षेपावधिभूतात्.

^३ पा, ४-२-१२१.

तैत्तिरीयाणां द्वितीयात् खलु मन्द्रः जायते । तदनन्तरं तृतीयचतुर्थौ स्याताम् । एतदेव द्वितीयादिस्वरमण्डलं चतुर्थमं इत्याचक्षते । यो द्वितीयः स उदात्तः । यो मन्द्रः सोऽनुदात्तः । यौ तृतीयचतुर्थौ तौ स्वरितप्रचयवित्यर्थः । अनेन सूत्रेण पूर्वोक्तानामेव चतुर्णां स्वराणां क्रमनियमः क्रियते । चतुस्सङ्ख्या तु पूर्वसूत्रेणैवोक्ता । तस्मादत्र चतुर्थममित्येतत् संज्ञाविधानपरमिति प्रतीयते ॥ १८-२० ॥

एवं छन्दोगानां प्रक्रियामभित्य उदात्तादिस्वरस्वरूपं निरूपितम्, इदानीमस्मदीयानां पूर्वाचार्याणां प्रक्रियया निरूप्यते—

‘तैत्तिरीयाणां प्रक्रियया द्वितीयाख्यस्वर उदात्तः’ प्रथमं निरूप्यते—‘उच्चैरुदात्तः’ (१-३८) ‘आयामो दाक्ष्यमणुता खस्ये. त्युच्चैः कराणि शब्दस्य’ (२२-९) इति हि चतुर्णां स्वराणां मुख्यत्वात्स्वरान्तरादिनाश^१कत्वाच्च । यत्राप्यस्य स्वरितादेशः—‘तस्मिन्ननुदात्ते पूर्वं उदात्तस्वरितम्’ (१२-९) इति तत्राप्यसौ न विनश्यति । ‘आदिरस्योदात्तसमः’ (१-४९) इति घचनात् । तथा नित्यस्वरितमप्यसौ विनाशयति, ‘सर्वो नेत्येके’ (१४-३३) इति घचनात् । द्वितीयादिति व्यञ्जोपे पञ्चमी । द्वितीयं निरूप्य मन्द्रो निरूप्यते—‘नीचैरनुदात्तः’ (१-३९) “अन्यवसर्गो मर्दवमुद्यता खस्येति नीचैः कराणि” (२२-१०) शब्दस्य इति उत्क्षेपणनिमित्तोदात्तसंज्ञा । तद्विरुद्धावक्षेपणनिमित्ताऽनुदात्तसंज्ञेति विरोधरूपात्सम्बन्धात् ॥ १८ ॥

तृतीयाख्यः प्रचयश्चतुर्थाख्यस्स्वरितः । ताबुदात्तानुदात्तयो-
निरूपणात्परं निरूप्येते, उभयनिरूप्यत्वात्, उभयकरणरहितः
प्रचयः, उभयकरणसमावेशजन्यस्स्वरित इति । तदुक्तम्—“ धृत-
प्रचय ” (१८-३) इति, ‘समाहारस्स्वरितः’ (१-४०) इति च ।
आयामादीनामन्वचसर्गादीनां च परस्परविरुद्धतया योगपद्यास-
म्भवात् पौर्वापर्येण समाहरणं वेदितव्यम् । अतएवोक्तम्—‘आ-
दिरस्योदात्तसमश्शेषोऽनुदात्तसमः’ (१-४६) इति ॥ १९ ॥

तदेतदुदात्तादिचतुष्टयं पूर्वाचार्याश्चतुर्थमं चतुस्स्वरमित्या-
चक्षते । यद्यपि “ उच्चैस्तरां वा वपदकारः ”^१ इत्यादिशास्त्रात्प्रथम-
स्वरः क्वचित्प्रयुज्यते, तथाऽपि तस्योत्क्षेपित्वाबुदात्तेऽन्तर्भावः,
तथा विक्रमे दृढप्रयत्नतरत्वविधानाद्यद्यप्यतिस्वार्यस्वरः प्रयुज्यते,
तथाऽपि तस्यावक्षेपित्वादनुदात्तेऽन्तर्भाव इति, अत्र स्वरचतुष्ट-
यमेव । एतत्तैत्तिरीया आचक्षते ॥ २० ॥



तस्मिन् द्विमाऽन्तरा वृत्तिः ॥ २१ ॥

द्वौ च तौ यमौ च द्वियमौ द्वियमयोः अन्तरा वृत्तिः मध्य-
वृत्तिः तस्मिन्नुदात्ते भवति, स्वरितत्वं प्रचयत्वं चानुदात्ते भवती-
त्यर्थः । यथा—“तन्नः पर्षत्”^२ । “पर्यवदताम्”^३ । केचिद्-
न्यथा कथयन्ति—तस्मिन्चतुर्थमे स्वरमण्डले द्वियमान्तरा वृत्तिः,
स्वरद्वयस्य मध्ये वर्तमानं स्यात् । तथाहि—

अनुदात्तो ह्रदि ज्ञेयो मूर्धर्युदात्त उदाहृतः ।

स्वरितः कर्णमूलीयः सर्वाङ्गे प्रचयस्मृतः ॥

अस्यायमर्थः—उदात्तानुदात्तयोर्मध्ये स्वरितप्रचययोरन्तरावृत्तिर्भवति । तथा कोहलीये हस्ताविन्याससमयेऽपि स्वरितप्रचययोरन्तरावृत्तिरुपदिश्यते—

उदात्तमाख्याति^१वृषोऽङ्गुलीनां प्रदेशिनीमूलनिविष्टमूर्धा ।

उपान्तमध्ये स्वरितं धृतं च कनिष्ठिकायामनुदात्तमेव^२ ॥ इति ॥

शिक्षावचनमपि चैवं वक्ष्यते—

कनिष्ठिकाऽनामिका च मध्यमा च प्रदेशिनी ।

नीचस्वारधृतोदात्तानङ्गुष्ठाग्रेण निर्दिशेत् ॥

मुख्यमेव व्याख्यानद्वयमेतत् ॥ २१ ॥

यद्येवं स्वरितोऽपि^३ चतुर्थाख्यस्वरतुल्यतयाऽवक्षेपित्वादननुदात्तेऽन्तर्भवतीति स्वरत्रयमेव स्यादित्याशङ्क्याह—

तस्मिन् चतुर्थमे द्वियमा स्वरितरूपा स्वरवृत्तिरन्तरा अन्यरूपा न^४ चतुर्थाख्यस्वररूपेत्यस्माकं प्रक्रिया । चतुर्थाख्यस्वरस्तावदवक्षेपी । स्वरितस्तु द्वियमात्मकः उत्क्षेपावक्षेपाभ्यां कर्णमूले जायते, 'समाहारस्वरितः' (१-४०) इति वचनात्, "स्वरितः कर्णमूलीयः" इति शिक्षावचनात् । तेनोदात्तानु-

^१ उदात्त आख्याति.

^२ मनुदात्त एव.

^३ किं न स्या.

^४ (न) इत्येतदस्ति.

दात्तप्रचयविलक्षणत्वात्स्वरितस्य तदन्तर्भावो नास्तीति युक्तं
चातुस्स्वर्यम् ॥ २१ ॥



तामुपदेक्ष्यामः ॥ २२ ॥

यदेतदाचार्यैश्चतुर्यममित्युक्तं तस्य चतुर्भेदभिन्ना वृत्तिर्नाम 'ता-
मुपदेक्ष्यामः' इत्युच्यते । तामिति तच्छब्देन पूर्वोक्तवृत्तिमात्रम-
नुकुर्यते ॥ २२ ॥

तां स्वरवृत्तिं "क्रमविक्रमसम्पन्नाम्" (२३-२३) इत्यास्मिन्
सूत्रे विधास्यामः । प्रयोगार्थं ह्युदात्तादिस्वरस्वरूपनिरूपणम् ।
अतः प्रयोगविधायकसूत्रे उदात्तादिस्वरवृत्तिर्विधास्यते । न तु
वृथा^१ स्वरवृत्तिरिह वर्णिता, छन्दोगप्रक्रियासिद्धा^२ च ॥ २२ ॥



तच्चतुर्यममित्युक्तम् ॥ २३ ॥

इति अनेन प्रकारेण, 'चतुर्यममित्युक्तम्' । यद्यपि "मन्द्रा-
दयो द्वितीयान्ताः" (२३-१५) इत्यादिसूत्रद्वयेन यमचतुष्टयत्वं^३
सिद्धं तथाऽप्युपसंहारमिषेण मतान्तरनिवृत्त्यर्थमिममर्थं दृढयति । यतः
कारणादेवमन्ये मन्यन्ते, स्वरत्रयमात्रम्—

^१ननु द्विधा. ^२अस्मत्पूर्वाचार्यप्रक्रियासिद्धा इत्यधिकं.

^३यमचतुष्टयं.

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः ।

ह्रस्वो दीर्घः प्लुतं इति कालतो नियमा अचि ॥ इति ॥

सा किमुभयीह विधास्यते? उत्तान्यतरा? द्वितीयेऽपि पक्षे सा कतरेत्यत्राह—

“तच्चतुर्यमामित्याचक्षते” (२३-१९) इति यदुक्तं अस्मत्पूर्वाचार्यप्रक्रियासिद्धं स्वरचतुष्टयं, तदेव विधास्यामः । नोभयम् । नापि छन्दोगप्रक्रियासिद्धमेव । यद्येवं किमर्थं ‘मन्द्रादिषु त्रिषु स्थानेषु’ (२३-१३) इत्यादिना सूत्रचतुष्टयेन छन्दोगप्रक्रियासिद्धं विधान्तरमुपन्यस्तमिति चेत्? तैत्तिरीयप्रक्रियाप्रकटनार्थमेवेति धूमः । यथा—“शास्त्राग्रे चन्द्रः” इति शास्त्राग्रनिर्देशश्चन्द्रप्रकटनार्थः ॥ २३ ॥

—३४०४४—

क्रमविक्रमसम्पन्नामद्भुतामविलम्बिताम् ।

नीचोच्चस्वारसम्पन्नां वदेद्भूतवतीः समां
वदेद्भूतवतीः समामिति ॥२४॥

तैत्तिरीयकाद्वारकमतनिरूपकोऽयं श्लोकः । ‘क्रमविक्रमाम्नां सम्पन्नां’ ‘क्रमः’ नाम द्वित्वं, ‘विक्रमः’ तु “स्वरितयोर्मध्ये यत्र नीचम्” (१९-१) इत्युक्तलक्षणः । ‘अद्भुताम्’ अत्वरितां ‘अविलम्बितां’ अमन्दां, ‘नीचोच्चस्वारसम्पन्नां’ अनुदात्तोदात्तस्वरितसहितां, ‘भूतवतीं’ प्रचयवतीं ‘समां’ उदात्तादिभिर्न्यूनाति-

१ तैत्तिरीयाणां स्वरक्रमनिरूपकोऽयं.

रेकादिदोपरहितां 'वदेत्' ब्रूयात्, वृत्तिमित्यर्थः । वृत्तिमिति कथं लभ्यते ? "तस्मिन् द्वियमान्तरा वृत्तिः" (२३-२१) इति प्रकृतत्वादिति ब्रूमः ॥ २४ ॥

इति त्रिभाष्यरत्ने प्रातिशाख्यविवरणे त्रयोविंशोऽध्यायः.

क्रमः स्वराणामानुपूर्व्यम् । न तु वर्णद्वित्वं, स्वरवृत्त्युपदेशप्रतिष्ठानात् । तच्चैवं रूपम्—उदात्तात्प्रागूर्ध्वं च प्रचयो नास्ति अनुदात्तात्परं प्रचयो नास्ति स्वरितात्पूर्वं प्रचयो नास्ति, स्वरितद्वयानन्तर्यं पूर्वपदस्योदात्तात्परस्वरितो भवति, स्वरितात्परः प्रचयो भवति, प्रचयात्पूर्वं स्वरितः प्रचयो वा भवति, परं त्वनुदात्तः प्रचयो वा भवतीति^१ ।

एतस्मिन्^२ हि क्रमे ज्ञाते स्वराणां वृत्तिरक्षसा ।

अनुमातुं शक्यतेऽतः कचिन्प्रातिघिलाम्बिता^३ ॥

इति क्रमः । विक्रमः प्रागेवोक्तः (१९-१) । क्रमविक्रमाभ्यां सम्पन्नां समग्रां स्वरवृत्तिं वदेत् । अद्भुतां अत्वरितां, अधिलम्बितां अमन्दां, नाचोच्चस्वाराः अनुदात्तोदात्तस्वरिताः यथाविधि प्रयुज्यमानैस्तै-

^१ स्वरितद्वयानन्तर्यं पूर्वः कम्पते । प्रचयात्पूर्वं स्वरितः प्रचयो वा भवति ।

परं तु अनुदात्तः प्रचयो वा भवतीति—"तन्नः पर्यदति" (४-२-५)

"पर्यवदताम्" (१-७-२) इत्यादौ उदात्तयोर्मध्ये पूर्वपदस्योदात्तात्परं स्वरितो भवति । स्वरितात्परं प्रचयो भवति । ततोऽनुदात्तो भवतीति ॥

^२ एकस्मिन्.

^३ प्रयोक्तुं शक्यतेऽस्माभिरद्भुता चाधिलम्बिता,

स्सम्पन्नां, धृतवर्ती प्रशस्तप्रचयस्वरां, समां निम्नोन्नतत्वरहितां,
 एकस्मिन्नेव स्वरे कचिन्निम्नता कचिदुन्नतता चेति वैषम्यं न
 कार्यमित्यर्थः । तदेतत्स्वरचतुष्टयं मानसे उपांशौ^१ च प्रयोगे
 मनसैव प्रयुज्यते, आध्याभावात् । ध्वानादिस्थानीये तु शब्दे
 स्वरूपेण । यत्तु “मन्द्रादिषु त्रिषु स्थानेषु सप्तसप्त यमाः”
 (२३-२१) इत्युक्तं, तत्सामवेदप्रसिद्धचतुसारात् तत्र स्पष्टत्वाच्च । यत्र
 योऽर्थस्स्पष्टस्तत्र हि तद्व्युत्पादनीयमिति ॥ २४ ॥

इत्याचार्यगार्ग्यगोपालमिश्रविरचिते वैदिकाभरणाख्ये
 प्रातिशाख्यव्याख्याने त्रयोविंशोऽध्यायः ॥



अथ चतुर्विंशोऽध्यायः.

अथ चतस्रस्संहिताः ॥ १ ॥

अथ इत्ययमधिकारः । चतस्रः संहिता उच्यन्त इत्येतदधि-
कृतं वेदितव्यं, इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः ॥ १ ॥

“अथ संहितायामेकप्राणभावे” (५-१) इत्यादिना संहि-
ताविषयाणि कार्याणि विहितानि । तास्संहितास्तु कियत्य इति
न ज्ञायन्ते । यद्यपि “अथ वर्णानाम्” (१३-५) इत्यधिकारा-
त्ततःपरं वर्णसंहितेत्येतावदवगम्यते, तथाऽपि संहिताचतुर्विंध्य-
मस्मिन्नं न सिद्ध्यति । (अतः चतस्रस्संहिताः वेदितव्याः) ॥ १ ॥

—+—+—+—

पदसंहिताऽक्षरसंहिता वर्णसंहिताऽङ्ग-
संहिता चेति ॥ २ ॥

पदाक्षरवर्णाङ्गाश्रयाः चतस्रः संहिताः क्रमेण बोद्धव्याः । प-
ञ्चमाध्यायमारभ्य आनवमादेकादशद्वादशौ त्रयोदशस्यादौ सूत्रचतु-
ष्टयं च पदसंहिता । दशमोऽक्षरसंहिता । त्रयोदशचतुर्दशौ षोड-
शश्च वर्णसंहिता । “व्यञ्जनं स्वराङ्गम्” (२१-१) इत्येकविं-
शोऽङ्गसंहिता । एताश्चतस्रः संहिताः । एतेष्वन्यत्र च विहितं

निपिद्धं च कार्यं सर्वसंहितासु कुर्यात् । यत्रार्पग्रहणादिको विशेषो नास्ति ॥ २ ॥

एवमासामुद्देशः कृतः ॥ २ ॥



**नानापदसन्धानसंयोगः पदसङ्हितेत्यभिधी-
यते ॥ ३ ॥**

नानाभूतयोः पदयोः सन्धाने यः संयोगः सा पदसङ्हिता इति अभिधीयते उच्यत इत्यर्थः । यथा—“अग्ने दुध गृह्य किञ्शिल वन्य या ते”^१ । एकार्थयोः सन्धानसंयोगशब्दयोः प्रयोगः सन्धानाधिक्यार्थः^२ । तथा च वैयाकरणा भणन्ति—“परः सन्निकर्षः संहिता”^३ इति ॥ ३ ॥

अथ क्रमेण लक्षणान्याह—

नानापदयोर्निमित्तभूतयोः निमित्तनिमित्तिनोरुभयरूपयोर्वा सन्धानात् यत्संयुक्तरूपं भवति, सा पदसङ्हितेत्युच्यते । निमित्तयोर्व्या—‘तपुश्च मे’^४ । ‘मिथुश्चरन्तम्’^५ । निमित्तनिमित्तिनोर्व्या—‘गृहाणामसमर्त्वं’^६ । ‘स ई मन्द्रासु प्रयसः’^७ । उभयरूपयोर्व्या—‘अथैकमुभे’ (१०-१)—‘नास्येन्द्रियं वीर्यम्’^८ ॥ ३ ॥

— + ✽ + —

^१ सं. ५-५-९.

^२ सन्धानसंयोगयोः प्रयोगः सन्धानाधिक्यार्थः.

^३ पा. १-४-१०९.

^४ सं. ४-७-५.

^५ सं. ४-७-१५.

^६ सं. १-३-८.

^७ ,, ४-१-८.

^८ ,, १-१-९.

यथास्वमक्षरसंहितादीनामप्येवम् ॥ ४ ॥

स्वं स्वमनतिक्रम्य वर्तत इति 'यथास्वम्' क्रियाविशेषणमेवैतत् । एवमक्षरसंहितादीनामपि यथास्वं स्वरूपं निरूपणीयम् । नानाऽक्षरसंयोगोऽक्षरसंहिता । नानावर्णसंयोगो वर्णसंहिता । नानाऽङ्गसंयोगोऽङ्गसंहिता । क्रमेणोदाहरणानि भणामः यथा—“अथाब्रवीत्”^१ । “अधिषवणमसि”^२ । ‘अक्षण्यां व्याधारयति’^३ । केवलस्वरयोः संयोगोऽक्षरसंहिता । एकपदे स्वरव्यञ्जनसंयोगो वर्णसंहिता । एकपदे केवलव्यञ्जनसंयोगोऽङ्गसंहिता । अन्यत्र पदसंहितेत्यवान्तरभेदो विज्ञेयः ॥ ४ ॥

अक्षरसंहितादीनामपि एवं लक्षणानि द्रष्टव्यानि । तत्र तु यथास्वं रचनेन प्रतिसम्बन्धिना सन्धानात् संयुक्तरूपं यज्जायते, तत्तासां रूपम् । तत्र हि व्यवहितश्चाव्यवहितश्च प्रतिसम्बन्धी भवति । यथा—‘उदात्तात्परोऽनुदात्तस्वरितम्’ (१४-२९) इत्यक्षरसंहिता । ‘स इधानः’^४ । ‘स ते लोकाः’^५ । ‘ऋकार्काररूपपूर्वः’ (१३-६) इत्यादिवर्णसंहिता । ‘पितृणां सदनमसि’^६ । ‘ऋभूणां भागोऽसि’^७ । अङ्गसंहिता—‘विभूयसि प्रवाहणः’^८ इत्यादि । अथ किमर्थं वर्णसंहिताया अचान्तरभेदाश्रयणम्? तदुच्यते—‘उदात्तात्परोऽनुदात्तस्वरितम्’ (१४-२९) इत्यत्र यदि वर्णसंहिताऽऽश्रीयेत तदा व्यञ्जनेऽपि स्वरितत्वं स्यात् । ‘या त इषुः’^९ अत्र पूर्वसूत्रविहितं स्वरितत्वं

^१ स. ३-२-११.

^२ सं. १-१-६.

^३ सं. ६-२-७.

^४ ५ ४-४-४.

^५ ५ ५-७-२६.

^६ ५ १-३-१.

^७ ५ ४-३-९.

^८ ५ १-३-३.

^९ ५ ४-६-१.

तकारस्य स्यात् । 'तत्परस्वरम्' (२१-२) इत्येतत्तु स्वरितादेशविषयादन्यत्र साचकाशतया न ह्यङ्गसंहितास्वरितत्वं^१ बाधेत । तथा—'व्युत्त्रितः'^२ इत्यत्र द्वितीयतकारस्य रेफस्य च पराङ्गतया अनुदात्तयोस्सतोः 'स्वरितात्संहितायाम्' (२१-१०) इति प्रचयः स्यात् । न हि अङ्गसंहितया प्रचयो बाध्येत । यस्तु^३ विधेर्निमित्तमेव नासौ बाध्यत इति न्यायात् । तस्मादियमक्षराणामेव संहितेत्युपगन्तव्यम् । यदा—वर्णसंहिताविषयोऽपि स्वरोऽक्षराणामेवेति सिद्धम्, तदा व्यञ्जनानां स्वतन्त्रत्वाभावादनुदात्त्वादिगुणभाग्भिरक्षरैः सह प्रयोगे तत्स्वरव्यवस्थापनाय अङ्गसंहिताऽप्याश्रयितव्येति शुक्तं वर्णसंहितायां त्रैविध्याश्रयणम् । प्रयोजनसद्भावात् । तस्मात्सूक्तं 'अथ चतस्रस्संहिताः'^४ (२४-१) इति ॥ ४ ॥

तदेवं व्याकरणोक्तं प्रकृत्यादिसन्देहप्रध्वंसनं कार्यमिह लक्षितं यत्त्रिविधसमाम्नायमध्यवर्ति भवति । यत्तु सूक्ष्मसन्देहनिरसनं प्रकृतिप्रत्ययविशेषादिकार्यं, तत्सर्वं तत्तदभावधारणीयम् । तत्र चायं ग्रन्थः प्रकृत्योपकारको भवति । एतद्ग्रन्थार्थनिष्णातैर्हि कृत्स्नस्य व्याकरणस्यार्थस्तुगृहीतो भवति । शिक्षागणोपदिष्टं तु-कार्यं नात्र संगृहीतम्, व्याकरणप्रधानत्वात्प्रातिशाक्यस्य । तस्मादत्रास्माभिः—

शिक्षागणोपदिष्टं यत्संहिताग्रन्थगोचरम् ।

कार्यजातमिहानुक्तं तत्समुद्भायतेऽधुना ॥

— ० —

गुरुत्वं लघुता साम्यं ह्रस्वदीर्घप्लुतानि च ।

लोपागमविकाराश्च प्रकृतिर्विक्रमः क्रमः ॥

स्वरितोदात्तनीचत्वं श्वासो नादोऽङ्गमेव च ।

एतत्सर्वं तु विज्ञेयं छन्दोभाषामधीयता ॥ ५ ॥

यत् गुरुत्वाद्यष्टादशविधं, 'एतत् सर्वं', 'छन्दोभाषां' वेद-
रूपां वाचं, 'अधीयता' पठता, 'विज्ञेयं' । अथवा 'छन्दो-
भाषां' वेदलक्षणमित्यर्थः । तुशब्दोऽध्येतृव्यतिरिक्तनिषेधार्थः ।
अनेन तु सर्वथा विज्ञेयमित्यर्थः । गुरुत्वं यथा—"वपदूथ स्वाहा"¹।
लघुता यथा—"अकुरुत"² । साम्यं यथा—स्थानकरणकालादिभि-
रनयोरस्ति तौल्यमिति । ह्रस्वदीर्घप्लुतानि च यथा—"गमयति"³
"वायावेवास्य"⁴ । "अस्तु ही३ इति"⁵ । लोपो यथा—"ई मन्द्रा-
सु प्रयसः"⁶ । आगमो यथा—"त्रपुश्च मे"⁷ । विकारो यथा—
"समिन्द्रणः"⁸ । प्रकृतिर्यथा—"अग्ने दुध गह्य कि३शिल वन्य
या ते"⁹ । "प्रपा असि"¹⁰ । "मिथुनी अमवन्"¹¹ । विक्रमो यथा—
"वोदवे"¹² । क्रमो नाम द्वित्वं यथा—"यद्वे होता"¹³ । स्वरितोदा-
त्तनीचानां भावः 'स्वरितोदात्तनीचत्वं' तद्यथाक्रमं निर्दिश्यते—

¹ सं. ७-३-१२.

² सं. ६-५-८.

³ सं. १-७-३.

⁴ " ६-३-७.

⁵ " ७-१-६.

⁶ " ४-१-८.

⁷ " ४-७-६.

⁸ " १-४-४४.

⁹ " ५-५-१.

¹⁰ " २-५-१३.

¹¹ " ५-३-६.

¹² " १-६-२.

¹³ " ३-३-९.

“न्यञ्चम्”^१ । “गां वाव तो”^२ । “अवदताम्”^३ । “विवृते श्वासः”
 (२-९) इत्युक्तम् । श्वासो यथा—“पूषा ते”^४ । “संवृते कण्ठे
 नादः क्रियते” (२-४) इत्युक्तो नादः यथा—“भागधे भागधाः”^५ ।
 ‘व्यञ्जनञ्चस्वराङ्गम्’ (२१-१) इत्युक्तमङ्गं यथा—“तं मत्स्यः
 प्राबवीत्”^६ । विज्ञेयमिति नित्यविधिः, विपक्षे बाधात् “मन्त्रो
 हेनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह । स वाग्व-
 ज्ञो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुस्वरतोऽपराधात्” इति ॥ ९ ॥

पदक्रमविशेषज्ञो वर्णक्रमविचक्षणः ।

स्वरमात्राविभागज्ञो गच्छेदाचार्यसंसदं गच्छे-
 दाचार्यसंसदमिति ॥ ६ ॥

पदानां क्रमस्तस्य विशेषः तं जानातीति पदक्रमविशेषज्ञः ।
 वर्णानां क्रमः तस्मिन् विचक्षणः निपुणः । स्वराश्च मात्राश्च
 स्वरमात्राः तासां विभागः तं जानातीति स्वरमात्राविभागज्ञः ।
 मात्राशब्देन कालविशेषः कश्चिदुच्यते । सोऽपि चतुरणुक इत्य-
 वादिष्व । एवंविधः पुरुषो गच्छेदाचार्यसंसदं स्थानम् । आचा-
 र्यास्तु न्यासादयः । तेषां ब्रह्मलोको हि स्थानम् । यश्चेदं शास्त्रं
 जानीति सोऽगमाचार्यत्वात् तेषां संसदं ब्रह्मलोकं गच्छति ॥

१ सं. १-१-२.

२ सं. १-३-२.

३ सं. १-१-२.

४ „ २-५-६.

५ „ २-६-१.

तथा च पौराणिका भणन्ति—

गरुडपुराणे—

आहुस्समस्तविद्यानां वेदविद्यामनुत्तमाम् ।

अतस्तद्दातुरस्त्येव लाभस्त्वर्गपिवर्गयोः ॥

विद्यानां च परा विद्या ब्रह्मविद्या समीरिता ।

अतस्तद्दानतो राजन् सर्वदानफलं लभेत् ॥

देवीपुराणे—

वेद एव द्विजातीनां साधनं श्रेयसः परम् ।

ततोऽस्याध्यापनाभ्यासात् परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

तमेव शीलयेत् प्राज्ञः शिष्येभ्यस्तं प्रदापयेत् ।

तदभ्यासप्रदानाभ्यां तत् किं यन्नाधि^१गच्छति ॥

तथा याज्ञवल्क्यः—

यद्दानां तपसां चैव शुभानां दैव^२कर्मणाम् ।

वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः ॥

योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम् ।

स नीयन्नेव शूद्रत्वमाप्नु गच्छति सान्वयः ॥

काशीकाण्डे—

हित्वा श्रुतेरध्ययनं योऽन्यत्पठितुमिच्छति ।

स दोर्भाषेनुमृत्मृज्य आमक्रोदो^३ दुषुषति ॥

वेदमेव सदाऽभ्यस्य तपस्तप्येद्विजोत्तमः ।
श्रुत्यभ्यासो हि विप्रस्य परमं तप उच्यते ॥

महाभारतेऽपि—

यो ब्रूयाच्चापि शिष्येभ्यः धर्म्या ब्राह्मी सरस्वतीम् ।
पृथिवीगोप्रदानाभ्यां स तुल्यफलमश्नुते ॥

विष्णुधर्मोत्तरे—

वेददानादवाप्नोति सर्वयज्ञफलं नरः ।
उपवेदप्रदानेन गन्धर्वैस्सह मोदते ॥

ब्रह्मपुराणे—

न तत्कल्पसहस्रेण गदितुं शक्यते फलम् ।
यद्वेददानादवाप्नोति स्वल्पादपि महामते ॥

भविष्यत्पुराणे—

अपुत्रो लभते पुत्रमधनो लभते धनम् ।
सदाऽध्ययनयुक्तस्तु परे ब्रह्माणि लीयते ॥

वेदस्वरूपमुच्यते—

यजुर्वेदः पिङ्गलाक्षः रुशमध्यो बृहद्रलः ।
बृहत्कपोलः कृष्णाङ्घ्रिः ताम्रः काश्यपगोत्रकः ।

वेदाङ्गान्युच्यन्ते—

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्यौतिषं तथा ।
छन्दसां लक्षणं चेति षडङ्गानि विदुर्बुधाः ॥
अनुपदं चानुपदं *छन्दो भाषासमन्वितम् ।
मीमांसान्यायतर्काश्च उपाङ्गानि विदुर्बुधाः ॥

* “अनूपदं चानुपदं” “अनूपनं चानुपदं” इति च तत्परम् ।

एवं साङ्गोपाङ्गं वेदं गोत्रस्वरूपादीनि विज्ञानन्नर्धोऽयानः पूतो भवति ।
ग्रन्थान्तरे यथा तद्वदिदं शास्त्रं यदृच्छया ।

अमूत्रितेषु स्थानेषु पौरुषेयेषु वर्तते ॥

तथाहि—‘म नक्षत्राय देवाय’^१ । ‘स ईममाद महि कर्म कर्तवे
महामुरुम्’^२ । ‘महि सप्तदशेनावस्युवाताः’^३ । ‘अपि सीद मिथुन्यष्टौ
च’^४ इत्यादौ न वर्तते । ‘सि० हे व्याघ्र उत या पृदाकौ’^५ । ‘द्वादशा-
ग्निष्टोमस्य स्तोत्राणि’^६ । ‘आत्मना परा निष्प्र शुक्रशोचिपा’^७ । ‘अस्मिं-
स्तनुवस्तुहि पिनाकम्’^८ । ‘उश्मसी पोपम्’^९ इत्यादौ तु वर्तते । गच्छे
‘दानार्यस ० सदं इति’ पदवोप्ता शास्त्रपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥ ६ ॥

त्रिलोचनध्यानविशुद्धकोमुदीविनिद्रचेतःकुमुदः कलानिधिः ।

स सोमयार्यो विततान सम्पतं विपश्चितां भाष्यमिदं सुबोधकम् ॥

इति श्रीत्रिभाष्यरत्ने प्रातिशाख्यविवरणे चतुर्विंशोऽध्यायः.

इत्याचार्यगार्ग्यगोपालमिश्रविरचिते वैदिकाभरणाख्ये

प्रातिशाख्यव्याख्याने चतुर्विंशोऽध्यायः.

समाप्तश्चायं ग्रन्थः.



^१ ब्रा. ३-१-३.

^२ ब्रा. २-५-८.

^३ सं. ४-४-१२.

^४ सं. ६-५-८.

^५ „ २-७-७.

^६ „ १-२-२.

^७ „ ६-४-२०.

^८ „ ४-६-१९.

^९ सं. १-२-६.

अशुद्धसंशोधनम्.

| पुटे. | पक्षौ. | अशुद्धम्. | शुद्धम्. |
|-------|--------|-------------|-------------|
| ३७ | १६ | हस्वो | ह्रस्वो |
| " | १७ | हस्वा | ह्रस्वा |
| ५७ | १ | ३५ | ५७ |
| ५९ | " | ३४ | ५९ |
| ६१ | " | ३३ | ६० |
| ६३ | " | ३० | ६२ |
| " | १६ | वोक्तम् । | वोक्तेः । |
| ६५ | १२ | शतरुद्रिय | शतरुद्रीये |
| ७९ | २० | विषरा | विधेरा |
| १२९ | ८ | गृह | गृह |
| " | ९ | पर रूपे | परे रूप |
| " | " | संवत्सरस्य | संवत्सरस्य |
| १३३ | ६-७ | पृपती | पृपती |
| १३६ | १८ | रेजमाने" | रेजमाने" |
| २४१ | २४ | पर तु | परं तु |
| २६० | ८ | आचार्याणाम् | आचार्याणाम् |
| ३०० | ११ | ग इष्टये | ग इष्टये |
| ३०४ | १ | ३३४ | ३०४ |
| ३१६ | १६ | राये- | राये, |
| " | १६ | शाखान्त, | शाखान्त- |
| ३२९ | १ | १२ | १७ |
| ३५५ | ८ | वाणा- | वाण- |
| ४१६ | २ | विशस्य | विशस्य |

नैतिरीयपानिगाङ्ग्यमूत्रसरादमूची.

अ

अं 1-28

अंश 16-29

अंशभुवा 16-29

अंशवः 16-29

अंशाय 16-29

अंशु 16-29

अंशु 16-29

अंशुः 11-10, 16-29

अंशुना 16-29

अंशुभिः 16-29

अंशू 16-29

अंशून् 16-29

अंशोः 16-29

अंशौ 16-29

अंसाभ्यां 16-30

अंसाय 16-30

अंसं 16-30

अंसौ 16-30

अंहः 8-15, 16-29

अंहतिः 11-1, 16-29

अंहसः 8-24, 11-1, 16-29

अंहसा 16-29

अंहोः 16-29

अंहोमुक् 16-29

अः 9-7

अःकारः 1-28

अकः 8-8, 9-22

अकरं 12-7

अकरोत् 4-52

अकार 1-17, 4-6

अकारः 1-21, 1-32, 11-1, 15-8

अकारपरः 9-7

अकारपरे 11-9

अकारपरो 9-13

अकारपूर्वः 9-23

अकारलोपे 20-4

अकारवत् 2-21

अकारादि 1-52

अकारार्ध 2-26

अकुर्व 5-7

अकुर्वत 9-22

अकृणोत् 11-17

अक्ते 4-11

अक्रास्त 16-22

अक्षन् 13-13

अक्षर 23-7, 24-2, 24-1

अक्षरं 20-2

अगन्म 9-22

अगमत् 11-7

अग्नयः 12-8

अग्नयः पप्रयः 12-7

अग्नि 3-9

अग्नि गायत्र्य 4-52

अग्निः 6-5, 11-13, 13-15
 अग्निपरः 11-15
 अग्निर्जिह्वाम् 12-7
 अग्निर्मूर्ध्ना 11-3
 अग्निवेद्यः 9-4
 अग्निवेद्यायनस्य 14-32
 अग्ने 11-10
 अग्नियाय 11-14
 अग्ने 9-22, 11-14
 अघ 11-13
 अघा 3-2
 अघोपः 14-18
 अघोपपरः 9-1, 9 2
 अघोपाः 1-12
 अघोपात् 14-9
 अघोपे 14-10
 अघोपेषु 2-10
 अग्निय 11-17
 अङ्गम् 24-5
 अङ्ग 21-2
 अङ्गानाम् 7-10
 अङ्गिरः 11-17
 अङ्गिरस्यत् 12-7
 अङ्गे 11-17
 अञ्जा 3-8
 अञ्जिद्रे 4-11
 अज्युतः 11-17
 अजासि 16-18
 अजीगः 8-8
 अजाताम् 11-17

अज्यानिम् 11-17
 अणवश्च 13-12
 अणिष्ठाः 13-12
 अणु 17-3
 अणुता 22-9
 अणुमात्राः 19-3
 अतंसयत् 16-13
 अतः 22-14.
 अति 14-8.
 अतिदिचः 8-24.
 अतिद्रुतः 11-17.
 अतियन्ति 11-17.
 अतिव्यक्तम् 17-8
 अतिव्यस्तम् 2-12
 अतिस्वार्याः 23-12
 अते 4-54.
 अत्ता 3-12.
 अत्यंहाः 16-29.
 अत्युपसंहृतम् 2-12.
 अत्र 17-5.
 अत्रस्थ 12-7.
 अत्रा 3-8.
 अथ 1-1, 1-2 इत्यादि.
 अथा 3-10.
 अथापरः 9-21.
 अथो 12-7.
 अदः 12-7.
 अदद्यात् 11-16.
 अदितिः 9-22.
 अदितिदशमं 12-7.

अदुग्धाः 12-7.
 अदुहत् 9-2.
 अद्भिः 11-8.
 अद्य 11-10.
 अद्य पयि 11-13.
 अद्या 3-5, 3-8.
 अद्यानु 12-7.
 अद्रुतान् 23-20.
 अधरांस्सपत्नान् 9-22.
 अधा 3-9.
 अधायि 12-7.
 अधि 1-15.
 अधिकः 17-5.
 अधिकारक 22-6.
 अधिपक्षणे 4-11.
 अधी 3-7.
 अधीयता 24-5.
 अध्यर्धः 2-28.
 अध्यर 11-18.
 अध्यरं विश्वतः 8-32.
 अध्यर्यो 12-8.
 अनङ्गवान् 5-21.
 अनदता 3-12.
 अननुस्वारसंयुक्तम् 22-15.
 अनन्तोदात्ते 16-5.
 अनन्तः 8-8.
 अनन्तरं 23-16.
 अनन्तरः 1-44.
 अनन्तरे 1-11,
 अनन्तीय. 11-17.

अनवर्णपूर्वः 8-16.
 अनाकारः 16-16.
 अनादि 8-10.
 अनादेशे 2-20.
 अनान् 6-14.
 अनिङ्गय 8-13.
 अनिङ्गयान्तः 4-10.
 अनितिपरः 9-20.
 अनिष्टतः 11-4.
 अनी 7-12.
 अनु 11-5, 11-7.
 अनुत्तमः 14-24.
 अनुत्तमात् 21-12.
 अनुदात्त 10-12, 18-2.
 अनुदात्तः 1-39, 3-15, 4-43,
 10-16, 12-10, 14-29, 16-8.
 अनुदात्तपूर्व 20-2.
 अनुदात्तसमः 1-45, 1-46.
 अनुदात्तानां 21-10.
 अनुदात्ते 6-4, 8-9, 12-9.
 अनुनासिकम् 5-26, 5-27, 5-
 28, 10-11, 22-14.
 अनुनासिकः 5-31, 15-1.
 अनुनासिकाः 2-30.
 अनुनासिकानि 15-6.
 अनुनासिके 10-11.
 अनुपलब्धिः 23-7.
 अनुप्रदानम् 2-8.
 अनुप्रदानात् 23-2.

अनुस्वार 1-18, 2-19, 2-30,
17 1.

अनुस्वारः 1-34, 15-3, 21-6.

अनुस्यारे 17-3.

अनू 3-7.

अनूकारात् 4-52.

अनूष्मवति 3-15.

अनृणः 11-17.

अनृते 4-11.

अनेकस्य 1-26.

अन्कारादि 1-53.

अन्त 2-48.

अन्तः 4-3, 7-16, 8-10, 8-13,
8-32, 13-15.

अन्तः 11-13.

अन्तःस्थां 12 7.

अन्तरा 4-20.

अन्तरे 3-40, 9-16.

अन्तर्विकारात् 15-5.

अन्तस्थाः 1-8

अन्तस्थापरं 21-7.

अन्तस्थापरः 5-28.

अन्त्यस्य 1-58.

अन्धः 11-10.

अन्नाय 12-7.

अश्वेषु 11-17.

अन्यः 7-16.

अन्यतरतः 19-1.

अन्यानि 7-16, 22-11.

अन्याभिः 7-16.

अन्येषां 2-33.

अन्येषु 2-11.

अन्ववसर्गः 22-10.

अन्वादेशः 1-58.

अन्वादेशकौ 22-5.

अपः 11-6.

अपरा 11-12.

अपर्णे 2-12.

अपसः 8-24.

अपा 3-12.

अपांनपात् 11-8.

अपि 1-26 इत्यादि.

अदिधामि 12-7.

अपूर्णं 12-7.

अपूर्वं 20-2.

अपृक्त 1-54, 9-16.

अप्येतु 9-22.

अप्रग्रहाः 15-6.

अप्सुयः 11-17.

अयिभ. 8-8.

अद्वताम् 4-52

अभाः 8-8.

अभि 1-15, 11-13.

अभिद्रोहं 12-7.

अभिदायते 24-3.

अभिनिधानः 14-9.

अभिनिहतः 20-4.

अभिनिहते 20-10.

अमिवातु 11-6.

अमी 3-7.

भभ्यार्चतिन् 12-7.

भमत्तं 17-8.

भमनःप्रयोगं 23-6.

भमा 12-7.

भमिन्नान् 9-21.

भमिनन्त 10-14.

भमी 4-12.

भमुञ्चता 3-12.

भमृतान् 9-21.

भम्यकान् 6-14.

भम्यालि 11-17.

भयं 4-23, 9-11.

भयजुः 7-8.

भयन् 7-6.

भयमु 6-2.

भरम् 5-9, 10-8.

भरथाः 2-7.

भरार्ति 11-17.

भरान् 9-21.

भरिष्टाः 12-7.

भर्चन्ति 12-7.

भर्चान् 9-23.

भर्चिः 11-17.

भर्धं 1-41.

अर्धनृतीयमात्रं 18-1

अर्धमात्रः 22-13

अर्धसदृशं 11-19.

अर्पिते 4-11.

अर्यमन् 12-7.

अर्वन्ते 11-17.

अलम्परः 9-22.

अलोपः 11-2.

अलोपात् 13-15,

अल्पतरः 20-12.

अव 1-15.

अवं 9-12.

अवग्रहः 1-49, 3-7, 4-2, 5-10,

5-18, 6-9, 13-18, 16-30.

अवग्रहपूर्वः 6-2, 16-11.

अवता 3 10.

अवद्यात् 11-4.

अवधारकाः 22-6.

अवन्त्वस्मान् 11-4.

अवर्णं 6-7, 7-5.

अवर्णपूर्वः 9-9

अवर्णपूर्वे 10-3.

अवर्णपूर्वी 10-19.

अवसाने 14-15.

अवसितं 21-3.

अवा 3 6.

अवान्तरं 4-52.

अविकृतः 5-39.

अविमान् 9-21.

अविलम्बितं 23-20.

अविष्यन् 11-17.

अवे 4-54.

अव्यक्तम् 17-8.

अव्यञ्जनान्तं 22-15.

अव्ययमाना 12-7.

अशंसन् 16-6.

अशब्दम् 23-8.
 अशिथ्रेत् 11-17.
 अश्मन् 6-14.
 अश्मनः 8-24.
 अड्मा 12-7.
 अद्याम 12-7.
 अश्लोण्या 13-12.
 अश्वसनिः 11-17.
 अश्वस्या 3-8.
 अश्वाश्रुतिः 12-7.
 अश्विना 11-12.
 अश्वेभ्यः 11-14.
 अपादः 11-16.
 असंयोगपरं 22-15.
 असंहितम् 21-5.
 असः 5-16.
 असंख्यानि 1-48.
 असत् 11-13.
 असदां 6-3.
 असंपूर्वः 5-9.
 असवर्ण 21-7.
 असस्थानपरः 14-13.
 असांहितः 4-6.
 असाया 16-31.
 असि 10-13, 12-2.
 असिञ्चन् 6-3.
 असोमपूर्वः 9-21.
 अस्कभायत् 11-17.
 अस्ता 12-7.
 अस्तु 11-17.

अस्थामिः 11-17.
 अस्थूरि 7-2.
 अस्मत्पाशान् 12-7.
 अस्माकं 12-7.
 अस्मान् 11-8.
 अस्मिन् 11-13.
 अस्मिन्यङ्गे 12-7.
 अस्मे 4-9.
 अस्मे घत्त 12-7.
 अस्य 1-46, 11-12.
 अस्य यज्ञस्य 11-17.
 अहः 8-13.
 अहन् 4-42.
 अहनि 11-4.
 अहनी 4-12.
 अहरहः 8-8.
 अहाः 8-13.
 अहोरात्रे 4-11.
 अह्नियाः 11-17.
 अह्ने 4-39, 7-11.

आ

आ 1-15, 4-23, 4-52.
 आकारः 4-40.
 आकार 16-14.
 आकारपूर्वः 9-20.
 आगम 1-23, 24-5.
 आच 9-22.
 आचक्षते 23-20.
 आचार्य 24-6.
 आचार्याः 1-16.

आचार्याणां 5-30, 9-5, 13-3,
 14-3, 14-25.
 आह्नारः 13-12.
 आतांसीत् 16-13.
 आति 14-8.
 आत्रेयः 5-31, 17-8.
 आवाधार 4-22.
 आदिः 1-41, 1-46, 2-26, 16-
 29.
 आदि 2-47, 6-14.
 आवितः 1-2, 1-5,
 आवौ 3-1.
 आद्यन्तवत् 1-55.
 आद्याः 1-7.
 आन् 3-15.
 आनुनासिक्यं 2-52, 17-1.
 आनुपूर्व्यात् 21-12
 आनुपूर्व्येण 1-10, 2-44, 22-13
 आन्मही 4-34.
 आपः 4-25, 11-5.
 आपःपूर्वः 11-8.
 आपूपा 10-18.
 आपृपती 4-15.
 आपो हि 6-2.
 आमिः 6-5.
 आयं. 9-14.
 आयन् 5-21.
 आयजिष्ठः 9-22.
 आयामः 22-7
 आयुः 6-5, 6-18.

आयो 12-8.
 आरं 10-9.
 आरिथा 3-10.
 आर्ध्वन् 5-21.
 आर्षे 9-21, 10-13.
 आर्षं 9-15.
 आवः 8-9.
 आविः 8-24
 आविन्नः 11-15.
 आवृत्परः 8-11.
 आशीः 5-10.
 आसते ये 11-16.
 आसन्नं 1-25.
 आस्तां 4-52.
 आहुती 3-7, 4-15.
 आहारकस्वराः 23-16.

इ

इकारः 2-28.
 इक्ष्णं 1-48.
 इडः 8-24.
 इडावान् 9-21.
 इति 1-15, इत्यादि.
 इतिपरः 8-12.
 इदमे 5-17.
 इडु 5-17.
 इन्द्रः 7-8.
 इन्द्रपूर्वः 11-9.
 इन्द्रा 3-3.
 इन्द्रिया 3-5.
 इन्द्रो मे 9-22.

इमां नः 5-17.
 इमे 4-24.
 इयमेव सा या 11-3.
 इरावती 4-22.
 इव 17-8.
 इवर्णं 10-15, 20-1.
 इवर्णवरे 10-4.
 इवर्णे 2-22.
 इष्टक् 4-14.
 इष्टा 3-6.
 इहा 9-22.

इ

ईम 5-12.
 ईकारः 9-20.
 ईकार 16-14, 4-8.
 ईडेन्यान् 9-22.
 ईयुः 6-5.
 ईत्यथा 3-10.
 ईप् 2-15.

उ

उ 22-11.
 उकारं 8-21.
 उकारः 2-29, 9-16.
 उकार 10-22.
 उकार्योः 20-1.
 उकारो 10-15.
 उक्तं 1-61, 23-19.
 उक्था 3-2.
 उक्ष्मा 3-10.
 उपय 11-3, 9-20.

उख्यस्य 8-22, 10-20, 16-24.
 उगणाश्रुतिः 13-12.
 उग्र 23-20.
 उच्चापरः 5-8.
 उच्चैः 1-38.
 उच्चैःकराणि 22-9.
 उच्चैस्तराम् 1-41.
 उत् 3-15, 5-14, 9-24, 10-21.
 उत्तम 5-31.
 उत्तमं 8-2.
 उत्तमपरः 8-2.
 उत्तमघोरः 14-24.
 उत्तमपरात् 14-11, 21-12.
 उत्तमाः 1-11, 2-30.
 उत्तमेषु 17-1.
 उत्तमोत्तरीयस्य 8-20.
 उत्तरं 17-4.
 उत्तरः 1-30.
 उत्तरस्य 2-29.
 उत्तरान् 2-17.
 उत्तरे 3-1.
 उत्पत्तिः 23-3.
 उद्य 2-47.
 उद्यान् 9-21.
 उदात्तम् 10-10, 12-10, 20-3.
 उदात्तः 1-38, 12-5, 12-9,
 16-30, 18-6.
 उदात्त 14-31, 18-2, 1-1,
 21-11, 21-5.
 उदात्तपूर्वः 20-7.

उदात्तयोः 5-13, 10-16, 19-1,
20-1.

उदात्तवति 10-10.

उदात्तसमः 1-42, 1-16.

उदात्तश्रुतिः 21-10.

उदात्तात् 1-41, 14-29.

उदात्ते 6-14, 8-10, 12-10,
16-5.

उदाहरिष्यामः 22-3.

उदिक्लयेत् 17-8.

उप 1-15, 4-24, 4-42, 11-3.

उपदेक्ष्यामः 23-22.

उपध्मानीय 1-18.

उपध्मानीयाः 14-15.

उपबन्धः 1-59.

उपदिमत् 23-5, 23-9.

उपलब्धिः 23-8, 23-13.

उपसंहरति 2-18, 2-32.

उपसंहारः 2-24, 2-31,

उपसंहृततरे 2-16, 2-18.

उपसंहृततरौ 2-14

उपसर्ग 6-4, 14-8.

उपसर्गपूर्वे 10-9.

उपसर्गः 1-15.

उपस्थे 4-21.

उपांशु 16-29, 23-5, 23-6.

उपोत्तम 11-3.

उप्यमानं 7-3.

उभयोः 4-47.

उभाभ्यां 4-52.

उभे 4-11, 10-1.

उरः 2-3.

उरसि 23-10.

उरसोः 2-2.

उरु 7-2.

उरुता 22-10.

उर्वी 4-20.

उल्लवणं 13-13.

उवर्णपरे 10-5.

उवर्णे 2-24.

उश्मसी 3-13.

उह्यमानः 7-6.

ऊ

ऊ 3-14, 6-2.

ऊकारः 4-5.

ऊकारपूर्वः 9-20.

ऊकाराः 16-14.

ऊङ् 9-22.

ऊण्योः 13-10.

ऊमाघे 10-17, 20-5.

ऊर्ध्वान् 6-14.

ऊर्ध्वे 4-11.

ऊष्म 1-12, 15-1, 17-4.

ऊष्माणः 14-9.

ऊष्मपरः 9-1, 9-5, 13-2, 14-

13, 15-4, 21-9.

ऊष्मसंयोगे 21-15.

ऊष्मा 14-16, 14-18, 21-9.

ऊष्माणं 9-2.

ऊष्माणः 1-9, 2-14,

ऋ

वृक्ष 21-13.

ऋकारः 5-9.

ऋकार 1-31 2-18, 6-8,
13-6.

ऋकारपरे 10-8.

ऋक्स्वामा 3-5.

ऋक्स्वामे 1-11.

ऋजीपि 16-18.

ऋष्ण 13-14.

ऋता 3-2.

ऋतु 6-7, 9-22.

ऋतून् 6-14.

ऋद्ध्यामा 3-10.

ऋषभः 11-16.

ऋषीणां पुत्रः 11-16.

ऋ

ऋकार 2-18, 13-6.

लृ

लृकार 1-31.

लृकारेषु 2-18.

ए

एकं 5-18, 10-1.

एक 1-51, 5-1.

एकपदे 15-4.

एकमात्रः 22-13.

एकयमं 15-9.

एकया 5-19.

एकवर्णः 1-51.

एकविंशतिः 22-12.

एकादशासः 11-16.

एकान्तरः 2-25.

एकार 4-8, 4-40, 11-1.

एकारं 10-4.

एकारः 9-11.

एकारे 2-15, 2-23.

एकारैकारपरे 10-6.

एके 1-47, 14-33, 18-1, 19-3,
21-13.एकेषां 2-19, 2-27, 2-47, 3-
30, 5-39, 8-19, 9-3, 11-
19, 13-3, 14-3, 14-25,
15-2, 15-6.

एतत् 22-15, 24-5.

एतन् 10-14.

एतयोः 10-23.

एतस्मिन् 4-18.

एतानि 22-14.

एतासु 4-20.

एते 4-14.

एतेषु 4-25, 5-21, 8-6.

एनं 7-8.

एनमभि 4-12.

एना 5-17.

एने 4-11.

एकः 1-19.

एमन् 10-14.

एवं 17-8, 24-4.

एवः 10-14.

एव 5-6, 4-14, 9-5, 14-3, 19-
ओष्ठौ 2-14, 2-21.

4, 20-2, 22-6, 24-5.

एव रसेन 4-24.

एवास्मिन् 5-31.

एवोत्तरे 4-11.

एव 5-15.

एषु 2-51.

एष्टः 8-8, 8-18, 10-14.

ऐ

ऐकारं 10-6.

ऐकारः 9-14, 16-24.

ऐकार 2-26.

ऐकारौ 4-8.

ऐक्षवी 4-12.

ऐरयन् 5-21.

ओ

ओकारं 9-7, 10-5, 18-1.

ओकारः 4-6, 9-13.

ओकारपरौ 10-22.

ओकारपूर्वः 11-1.

ओकारे 2-13.

ओकारौकारपरे 10-7.

ओन्नन् 10-14.

ओने 7-10.

ओपधी 3-7.

ओपधीः 5-17.

ओष्ठ 2-12, 2-21, 10-14.

ओष्ठान्ताभ्याम् 2-43.

ओष्ठभ्याम् 2-39.

औ

औकारम् 10-7.

औकारः 9-15.

औकारयोः 2-26.

क

कः 8-9.

क 8-23, 9-4.

ककारः 5-32.

ककारपरः 8-31.

ककुत् 8-4.

कक्षीवान् 9-31.

कण्ठः 2-3.

कण्ठ 2-2.

कण्ठस्थानौ 2-40.

कण्ठे 2-4, 23-10.

कण्व 13-9.

कनीनिके 4-11.

कनीया 16-13.

कपालान् 6-14.

कमु 6-2.

करणम् 2-32, 2-34.

करणतरम् 2-27.

करणमध्यम् 2-15.

करणवत् 23-6.

करणाविन्ययात् 23-2.

करोपरः 8-30.

कर्णका 3-5.

कल्पयन्ती 4-15.

कल्याणी 13-12.
 कवर्गे 2-35.
 कस्मिंश्चित् 18-2.
 काण 13-9.
 काण्डमायनयोः 15-7.
 काण्डमायनस्य 9-1,
 कारोत्तरः 1-16.
 कारौ 22-4.
 कार्ष्णी 4-12.
 काल 1-33.
 किंशिल 16-26.
 किंशिला 16-26.
 कुणपं 13-12.
 कुत्रा 3-10.
 कुवपरः 5-6.
 कुर्यादिष्टिषु 4-52.
 कृणुता 3-10.
 कृणुध्वं सद्ने 4-11.
 कृण्वन् 6-14.
 रुधि 8-26.
 रुधि सुवः 7-2.
 रुधी 3-13.
 रुष्णः 4-38.
 र्केन 7-8.
 र्कोणयः 13-12.
 र्कोण्डिन्य 5-38.
 र्कोण्डिन्यः 17-1.
 र्कोण्डिन्यस्य 18-3, 19-2.
 र्कोहलीपुत्रः 17-2.
 र्कस्यते 16-22.

क्र 8-26.
 क्रतोपूर्वः 12-8.
 क्रम 23-20, 24-6.
 क्रमः 24-5.
 क्रमे 21-16.
 क्रयी 3-13.
 क्रियते 2-4.
 कूरं 4-25.
 कुष्ट 23-12, 23-14.
 कुष्टाः 23-14.
 क्षपरः 9-3.
 क्षामा 3-10.
 क्षेप्रः 20-1.
 क्षेप्र 20-9.

ख

ख 8-23.
 खस्य 22-9, 22-10.
 खि 14-8.

ग

गच्छेत् 24-6.
 गण 13-9.
 गमयतः 4-52.
 गम्येत 1-5.
 गर्भे 4-24, 4-42.
 गर्भः 12-3.
 गाण 13-9.
 गानां 7-10.
 गानि 7-10.
 गाहमानः 12-8.
 गुण 13-9.

गुरुत्वम् 24-5.
 गुरुणि 22-14,
 गृहाम्यग्रे 11-16.
 गोमान् 9-21.
 गौतम 5-38.
 अपरः 12-5.
 ग्री 4-36.
 ग्यानि 7-10.
 ग्रह 9-20.
 ग्रहणं 1-24.
 ग्रहणस्थ 1-22.
 ग्राम 7-2.
 ग्रामी 4-53.

घ

घकारपरे 8-26.
 घर्मासः 11-5.
 घा 3-8.
 घुष्या 3-12.
 घृणीवान् 5-21.
 घोषवन्तरः 8-3, 9-8.
 घोषवत्सु 2-4.
 घोषवान् 1-14.
 ग्री 4-28.

ङ

ङकारः 9-18.
 ङपूर्वः 5-32.

च

च 1-22 इत्यादि.
 चकारं 5-22.
 चक्रमा 3-10.

चक्रे 4-28.
 चक्षुषी 4-12.
 चक्षुण 13-12.
 चतस्रः 1-8, 24-1.
 चतुः 6-13.
 चतुर्थ 5-38.
 चतुर्थः 5-40.
 चतुर्थ 1-11, 23-12, 23-16.
 चतुर्थयोः 14-5.
 चतुर्थी 23-19.
 चतुर्थमं 23-16, 23-19.
 चत्वारः 23-17.
 चन्द्रपरः 5-5.
 चपरः 5-4, 5-20.
 चरा 3-8.
 चरावः 4-38.
 चर्मन् 13-13.
 चर्पन् 13-13.
 चर्पणी 3-7.
 चवर्ग 2-36.
 चिकित्वा 9-21.
 चिती 3-7.
 चित्रा 3-1.
 ची 4-33.
 चुपुणिका. 13-12.
 चृता 3-12.
 चेत् 20-3, 21-9.
 चोत्तमे 4-11.

छ

छ 14-8, 5-22.

छंसिने 16-13.

छकारं 5-34.

छन्दः 2-4-5.

छन्दस्त्वती 4-20.

ज.

जकारं 5-23.

जकार 12-5.

जक्षिवा 16-13.

जगामा 3-10.

जग्निवा 16-13.

जहं 11-16.

जनयथा 3-10.

जनया 8-12.

जनिष्या 8-8.

जन्मनी 4-12.

जपरः 5-23.

जम्भ्यान् 2-17.

जयता 3-10.

जातः 8-32.

जानीयात् 30-2.

जायते 23-2.

जायमानः 12-8.

जिगा 16-13.

जिगामि 16-18.

जिगिवा 16-13.

जिघासि 16-13, 16-18.

जिह्वा 2-20.

जिह्वाग्रं 2-18.

जिह्वाग्रेण 2-37, 2-38.

जिह्वामध्यं 2-23.

जिह्वामध्यान्ताभ्यां 2-17, 2-40.

जिह्वामध्येन 2-36, 2-41.

जिह्वामूलीय 1-18, 14-15.

जिह्वामूलेन 2-35.

जीगिवा 16-13.

जुपाणः 11-16.

जुष्ट 11-8.

जुहुता 3-12.

ज्ञे 4-39.

ज्या 10-13.

ज्याया 16-13.

ज्योतिः 6-13.

ञ

ञकारं 5-24, 5-37.

ट

टं 7-13.

ट 13-15.

टनकारपूर्वः 5-83.

टवर्गः 14-20.

टवर्गपर 13-11.

टवर्गे 2-37.

ठ

ठं 7-14.

ड

डं 13-16.

ढ

ढः 7-14.

ण

ण 21-14.

णकारं 7-1, 13-6.

त

तः 7-13.
 तकारः 5-22, 5-33.
 तकारपरः 6-5, 6-14, 7-15.
 तत् 2-31, 2-32, 2-33, 2-34,
 9-17, 21-2, 23-13, 3-20.
 ततः 15 3, 22-14.
 तत्र 5-3, 22-3, 22-13.
 तत्रा 3 8.
 तथा 22-14
 तनुवौ 4-14.
 तनूयत् 4-52.
 तपता 3-12.
 तपसः 12-8.
 तपसी 4-17.
 तमसः 8-24.
 तरता 3-12.
 तर्हान् 6-14.
 तवर्गपरः 14-20
 तवर्गीयेषु 13-15.
 तवर्गे 2-38.
 तवर्गौ 14-21.
 तस्थिद्या 16-13
 तस्मात् 9-17, 20-4
 तस्मिन् 6-14, 12 9, 23-17.
 तस्य 1-41, 1-49, 2 3, 5-27,
 5-38, 9-2, 14-9, 22-3.
 तस्यामेवं 19-1.
 तां 23-18.
 ताः 2-7, 19-3.

तान् 6-14, 21-13.
 ताभ्यामेव 4-52.
 तारः 23-10.
 ताराणि 22-11, 23-5.
 तालौ 2-22, 2-36, 2-40.
 तावान् 1-35.
 तिष्ठन् 6-14.
 तिष्ठन्ति 5-19.
 तिष्ठा 3 12
 तीव्रतरं 17-1, 17-4.
 तु 1-19, इत्यादि.
 तू 3-11.
 तूणवे 13-12.
 तृ 16-27.
 तृण्णे 4-11.
 तृतीयं 8-3.
 तृतीय 1-11, 23-12, 23-16.
 तृष्टे 4-11.
 ते 4-40, 4-42.
 ते अस्य 4-20.
 ते आचरन्ती 1-20.
 तेन 1-33.
 तेष्वर्थः 11-10.
 तेषां 23-13.
 तैत्तिरीयकाः 23-15.
 तैत्तिरीयाणां 23-17.
 तैरोव्यञ्जनः 20-7.
 तैरोव्यञ्जन 20-12.
 त्रपु 5-4.
 त्रयः 23-11.

त्रयाणां 1-20.

त्रिः 1-36.

त्रि 7-2, 16-25.

त्रिपदप्रभृति 1-61.

त्रिमात्रः 22-13.

त्रिषु 23-11.

त्री 6-2.

त्रीन् 6-14.

त्वः 11-5.

त्वन्तरा 3-8.

त्वष्टः 8-8.

त्वा 3-5.

त्विषी 3-7.

त्वे 4-10.

थ

थ 4-7.

थे 4-10.

द

द 4-7.

दंशुका 16-19.

दंष्ट्राभ्यां परः 16-19.

दंस्तं 16-19.

दंसनाभ्यः 16 19.

दंसोमिः 16-19.

दकारः 5-8.

दक्षिणेना 3-10.

दत्ते 11-5.

ददासि 16-18.

दधानः 12-6.

दधासि 16-18.

दन्तमूलेभ्यः 2-41.

दन्तमूलेषु 2-38, 2-12.

दन्तैः 2-43.

दर्शी 4-12.

दारुण्यं 22-9.

दाश्वा 19-13.

दिवः 8-28.

दीदिवा 16-13.

दीप्तिजां 23-13.

दीया 3-12.

दीर्घं 8-17, 10-2, 22-14.

दीर्घः 1-35.

दीर्घं 24-5.

दीर्घां 3-5.

दीर्घे 1-3.

दुर्यान् 9-21.

ह 16-27.

हढतरः 20-9.

हढप्रयत्नतरः 17-6.

हढे 4-27.

देयता फल्गुनी 4-12.

देवते 4-11.

देवस्त्रिपः 8-24.

देवा 3-2.

देशाय 1-59.

द्यवि 6-2.

द्यावापृथिवी 4-12.

द्रविणा 3-5.

द्राघीया 16-3.

द्रयोः 4-54.

द्वारो 4-38.
 द्विः 1-35,
 द्वितीयं 14-13.
 द्वितीय 1-11, 14-5, 23-14,
 23-16.
 द्वितीयाः 1-12.
 द्वितीयात् 23-16
 द्वितीयान्ताः 23-15.
 द्विमात्रः 22-13.
 द्वियमपरे 19-3.
 द्वियमान्तरा 23-17.
 द्वियमे 19-3.
 द्विवर्ण 9-18, 14-1.
 द्विस्वरे 16-17.
 द्वे 4-19.
 द्वेदे 1-3.
 द्वौ 8-20.
 ध
 ध 8-33.
 धत्ते 4-53.
 धर्मा 3-8.
 धा 10-13.
 धाणिका 13-12
 धाता रातिः 11-3.
 धाम 14-8.
 धामा 3-8.
 धारया 3-5.
 धिपूर्वे 6-11.
 धौ 4-12.
 धोरः 17-5.

धीरासः 11-16.
 धूः 5-10.
 धृतप्रचयः 18-3.
 धृतवती 23-20.
 धृतवते 4-11.
 धुवक्षितिः 11-3.
 ध्वान 23-5.
 ध्वानः 23-7.
 न
 न 1-4, इत्यादि.
 नःपूर्वः 11-13.
 नः पृथिवी 4-19.
 नकारः 5-20, 5-24, 5-26, 7-1,
 9-19, 13-6.
 नकारस्य 15-1, 17-4.
 नकिः 6-5.
 नपरः 4-32.
 नमः 4-45, 8-30.
 नमःपूर्वः 11-14.
 नय 1-2.
 नहति 7-16.
 ना 3-8.
 नादः 2-4, 5-8, 24-5.
 नाना 1-18, 20-3, 24-3.
 नानापदीयं 1-60.
 नाभी 4-12.
 नामधेयानि 20-8.
 नासिका 2-52.
 नासिकास्थानाः 2-19.
 नासिके 2-3.

नासिक्यं 21-14.
 नासिक्याः 2-49, 21-8, 21-12
 नासिक्यानां 1-18.
 निः 6-4, 6-5, 7-2, 8-24, 8-35.
 नि 1-15.
 नितान्तः 16-24.
 नित्यं 1-59, 4-14, 4-39, 4-43,
 4-54, 6-5, 14-6, 16-9,
 16-17.
 नित्यः 20-2.
 नित्ययोः 20-9.
 नित्ये 6-14.
 निबोधत 22-15.
 निमद् 23-5.
 निमद्ः 23-8.
 निमित्तं 1-60.
 निर्देशकौ 22-1.
 नीचं 19-1.
 नीच 23-20.
 नीचत्वं 24-5.
 नीचापूर्वः 5-8.
 नीचैः 1-39.
 नीचैः कराणि 22-10.
 नीचैस्तरां 1-14.
 नु 5-13.
 नुदा 3-8.
 नू 3-14.
 नूनं 7-16.
 नृ 7-9.
 नृत्यन्ति 7-16.

नेमिर्देवान् 6-14.
 नेष्टः 8-8.
 न्यती 4-29.
 प
 पकारपरः 8-23.
 पकारपूर्वः 5-36.
 पचः 11-16.
 पञ्चपञ्च 1-10.
 पञ्चमात् 23-2.
 पञ्चविंशतिः 1-7.
 पणि 13-10.
 पर्णि 13-10.
 पणेत 13-12.
 पत् 4-14.
 पतङ्गान् 9-23.
 पतये 1-27.
 पतिः 8-27.
 पतिम्परः 8-27.
 पतिर्नः 11-16.
 पती 4-35, 8-27.
 पते 8-27, 12-8.
 पत्नी 6-7.
 पत्नीये 8-27.
 पथेपरः 8-25.
 पदं 1-50, 1-51, 15-7.
 पद् 20-6, 22-13, 24-2, 24-3
 24-6.
 पद्ग्रहणेषु 1-50.
 पद्यत् 1-18.
 पदस्थं 20-3.

- पदादयः 16-2.
 पदादिः 16-8.
 पदान्तः 14-28.
 पदान्तयोः 16-14
 पदि 6-2.
 पदे 4-54, 6-4, 8-9, 16-17,
 20-2
 पपरः 4-30.
 पपरे 4-28.
 पपिद्या 16-13.
 पयः पूर्ण 17-8.
 परं 4-52, 14-4.
 परः 1-30, 3-1, 3-3, 4-6, 4-
 18, 4-24, 4-33, 4-38, 4-
 42, 4-44, 4-45, 4-46, 4-
 47, 4-50, 4-52, 5-7, 5-10,
 5-14, 5-17, 10-13, 10-14
 10-16, 10-25, 13-16, 14-
 9, 14-22, 14-29.
 परम 14-8.
 परस्य 21-9.
 परस्वरं 21-2
 पराः 1-8.
 परि 1-15, 7-4, 8-28, 8-34.
 परिमाणात् 23-2.
 परी 3-7, 7-4.
 परे 1-9.
 परेण 21-5.
 पर्यर्गपरः 9-4.
 पर्यर्गे 2-39.
 पा 10-13, 16-2.
 पाणि 13-9. .
 पातं 4-42.
 पाथः 11-16.
 पाथ एषः 14-8.
 पाथा 3-10.
 पापवृत्तः 20-6.
 पादवृत्तयोः 20-12.
 पायुभिः 6-5.
 पारया 3-12.
 पारी 3-7, 7-4.
 पाभ्यं 4-11.
 पितृ 4-7.
 पितः 8-8.
 पितारः 11-16.
 पितृन् 6-14.
 पिन्व 8-25.
 पिद्या 3-8.
 पीपिद्या 16-13.
 पु 16-9, 16-13.
 पुण्य 13-9.
 पुत्परः 8-2c.
 पुनः 8-8, 8-32. .
 पुनरुक्तं 1-61.
 पुवः 11-16.
 पुष्पा 3-5.
 पूती 3-7.
 पूर्ण 4-26.
 पूर्ते 4-11.
 पूर्वे 2-48.

प्रस्था 3-5.
 प्रा 3-5.
 प्राकृतः 6-14, 11-28.
 प्राकृताः 13-14.
 प्राण 5-1.
 प्रातः 8-8.
 प्रातिश्रुत्कानि 2-3.
 प्रातिहतः 20-3.
 प्रातिहतयोः 20-11.
 प्रापूर्वः 7-7.
 प्रो 6-2.
 प्राक्षायणयोः 9-6, 14-17, 18-5
 प्राक्षायणस्य 1-11.
 प्राक्षि 5-34, 9-6, 11-17, 18-5
 प्राक्षेः 14-10.
 प्रुतं 15-7.
 प्रुतः 1-36.
 प्रुत 10-4.
 प्रुतापूर्व 1-4
 प्रुतानि 1'-5.

फ

फणत् 13-12.

व

वस्वेषु 2-18.
 वहुले 4-11.
 वहुस्वरस्य 4-40.
 वाडभीकारस्य 14-13.
 वाण 13-9.
 वाणवान् 9-21.
 विभृतस्त 4-52.

विभृता 3-10.
 बुधिया 10-13.
 बृहस्पति 6-7.
 बोधा 3-8.
 ब्रह्मन् 13-13.
 ब्रह्मज 4-25.
 ब्रुवते 18-1.

भ

भङ्गरा 3-5.
 भजा 3-3.
 भद्रपूर्वः 12-3.
 भरता 3-11.
 भरा 3-12.
 भरिष्यन्ती 4-19.
 भरेमा 3-10.
 भवः 4-52.
 भवता 4-12.
 भवन्ति 2-3, 22-11, 23-4.
 भवा 3-8.
 भागधे 4-11.
 भामितः 12-8.
 भारद्वाजः 17-3.
 भावे 5-1.
 भाषां 24-5.
 भिः 8-14.
 भुजेषु 14-8.
 भूतेपूर्वेषु 14-8.
 भूयान् 2-11.
 भूयांसः 16-13.
 भ्याम्परः 8-14.

अंशने 16-22.

म

मंसते 16-20.

मंस्ये 16-20

मंहिष्ठस्य 16-28.

मः 12-6.

म 4-7.

मकारः 5-12, 5-27.

मकारपरः 8-4.

मकारपूर्वः 5-35.

मकारलोपः 13-1.

मक्षू 3-14.

मणि 13-9.

मधुमान् 9-21.

मध्यमं 23-10.

मध्यम 22-11, 23-5.

मध्यमेन 18-4.

मध्ये 2-6, 19-1.

मनाः 7-9.

मन्द्रं 23-10.

मन्द्रः 23-16.

मन्द्र 22-11, 23-5, 23-12.

मन्द्रादयः 23-15.

मन्द्रादिषु 23-11.

मन्यमानः 12-8.

मपरात् 21-14.

मयानि 7-12.

मर्तः 11-5.

मत्यान् 9-21.

मन्दिम्ल 6-7

मलोपात् 15-1, 17-4.

महान् 9-21.

महापृष्ठे 11-3.

माहि 6-2.

मा 4-42, 10-13, 16-8.

माकिः 6-5.

माचाकीयस्य 10-12.

मातः 8-8.

मात्रा 24-6.

मार्दवं 22-10.

मासः 16-12.

मासां 16-12.

मासि 16-12.

मासु 16-12.

मासे 4-53.

मिथु 5-4.

मिथुनी 4-53, 10-18.

मिथू 3-14.

मीदुः 6-5.

मीपूर्वः 16-9.

मीमांसकानां 5-11.

मुखं 2-3.

मुखनासिक्याः 2-50.

मुञ्च 3-8.

मुष्टी 4-12.

मूर्धनि 2-37.

मृडा 3-8.

मृत्यु 6-7.

मृदुतरः 20-11.

मेघा 3-5.

मेणी 13-12.

मेध्ये 4-11.

मेपूर्वश्च 11-11.

मो 6-2

म्ल 13-14.

य

यं कन्दसी 4-20.

यंसत् 16-20.

यंसन् 16-20.

य 10-15, 10-19, 12-4, 13-3
14-21, 20-1.

यकारं 9-10, 9-20.

यकारभावात् 15-1, 17-4.

यकारे 2-40.

यजासि 16-18.

यजीयान् 9-23.

यज्ञ 4-44.

यत् 2-32, 4-33, 22-14, 22-15.

यत्र 2-31, 2-33, 19-1, 20-2.

यत्रा 3-8.

यथा 1-61.

यथाप्रयोगम् 18-7.

यथामति 17-8.

यथायुक्तात् 5-2.

यथास्वं 24-1.

यदा 4-38.

यदी 3-13.

यमः 12-3

यमाः 22-12, 23-11.

यमान् 9-23, 21-13.

यधकारपरः 5-30.

यवेन 7-6.

यष्टः 8-8.

याज्या 9-20, 11-3.

याज्यासु 3-11.

याज्ये 3-9.

याता 3-10.

यानं 7-6.

यामेन 7-10.

यावत् 1-41.

युक्त्वा 3-8.

युवयोर्यः 11-16.

युष्मान् 6-14.

युष्मानीतः 13-15.

ये अग्रथेताम् 4-20.

येन 2-34.

येना 3-12.

यो रुद्रः 11-16.

र

र 7-11, 13-6, 14-15.

रंस्यते 16-22.

रंहो 16-23.

रक्षा 3-8.

रघोया 16-13

रथः 11-5.

रथन्तरे 4-11.

रथी 3-7.

रश्मीन् 9-23.

रस्य 1-19.

रात्री 3-7.

रापरः 13-4.
 रापूर्वः 16-4.
 रायः 8-29.
 राये 11-9.
 राष्ण 13-14.
 रासः 6-5.
 रि 16-25.
 रुद्र 11-3.
 रुन्धे 4-14.
 रूपयः 7-12.
 रुहेमा 3-10.
 रूपान्यत्वे 22-2.
 रेकं 5-10, 8-6, 8-20, 9-20.
 रेकः 21-15.
 रेक 13-2, 15-1, 17-4, 21-15.
 रेकपरः 5-20, 8-7, 8-16, 14-19.
 रेकपूर्वयोः 14-6.
 रेकयति 6-8.
 रेकात् 14-4.
 रेके 2-41.
 रेवते 4-11.
 रोदसी 4-17.

ल

ल 11-2, 14-21.
 लकारं 5-25.
 लकारः 11-26.
 लकारपूर्वे 14-7.
 लकारे 2-12.
 लघु 22-15.
 लघुता 21-5.

लघूनि 22-14.
 लपरौ 5-25.
 लभावात् 5-31.
 लुप्ते 15-1, 17-8.
 लुप्यते 8-16, 9-1, 9-9, 10-14,
 11-1.
 लुप्येते 10-19, 10-22.
 लृकारौ 1-31.
 लेशः 10-28.
 लोकान् 6-14.
 लोके 3-6, 4-33.
 लोप 24-11.
 लोपः 1-57, 5-11, 12-1.
 लोपिनां 1-23.
 लोपी 1-56.

व

व 12-4.
 वंशं 16-21.
 वंसगः 16-20.
 वंसते 16-20.
 वकारं 20-2.
 वकारः 5-13, 9-16, 10-21.
 वकारपरः 13-3, 14-26.
 वकारपरौ 14-21.
 वकारपूर्वः 14-2.
 वकारभावे 20-1.
 वकारे 2-43.
 वकारौ 10-15, 10-19.
 वचः 12-6.
 वत् 3-3.

पञ्चमस्य रूपे 1-11.
 पञ्च 23-20.
 पञ्च 1-3, 7-6.
 पञ्चदशतिथ्याः 12-8.
 पञ्चरः 3-1.
 पञ्चाभयर्णा 1-12.
 पञ्चुता 3-2.
 पञ्चपञ्च 2-51.
 पञ्चाः 1-10.
 पञ्चाक्या 1-27.
 पञ्चाक्षरः 1-27.
 पञ्चैवा 1-53.
 पञ्चैः 1-16.
 पञ्चै 1-1, 22-1.
 पञ्चैष्टुतः 23-3.
 पञ्चैष्टुतयः 2-7.
 पञ्चैष्टुतोत्पत्तिः 23-1.
 पञ्चैष्टुतोष्ट्यै 23-2.
 पञ्चैष्टुत्य 1-56.
 पञ्चाक्या 1-16.
 पञ्चान् 17-8.
 पञ्चानां 13-3, 22-1.
 पञ्चान्यन्यं 22-2.
 पञ्चि 24-2, 24-6.
 पञ्चाक्षरः 1-20.
 पञ्चैया 3-12.
 पञ्चैयासि 16-18.
 पञ्चैया 3-8.
 पञ्चै 3-8.
 पञ्चैया 3-10.

पञ्चाः 3-5.
 पञ्चिष्टु 11-16.
 पञ्चान् 9-21.
 पञ्चाया 16-13.
 पञ्चुः 8-31.
 पञ्चु 3-7.
 पञ्चः 8-8.
 पञ्चा पञ्चः 11-16.
 पञ्चाः 7-2, 8-8.
 पञ्चा 1-24, 1-44, 1-45, 2-50,
 8-31, 18-7, 19-1, 20-2,
 22-7.
 पाञ्चप्रयोगः 18-4.
 पाञ्चा 7-13.
 पाञ्चः 23-3, 23-4.
 पाञ्चयति 4-52.
 पाञ्चपेय 11-3.
 पाञ्चदशत 13-12.
 पाञ्चिज्ञाय 13-12.
 पाञ्चाः 13-12.
 पञ्चानः पूर्वः 11-5.
 पञ्चा 3-5.
 पाञ्चप्रस्थ 10-23.
 पञ्चान् 3-3.
 पाञ्चु 2-2.
 पाञ्चुः 4-12.
 पाञ्चान् 5-21.
 पाञ्चैकैः 5-36, 18-6.
 पाञ्चैक्योः 9-4.
 पाञ्चा 3-7.

वाससी 4-17.
 वाहनः 7-6.
 वि 1-15, 3-14, 16-25.
 विकर्ष 11-3.
 विकार 1-56.
 विकारस्य 1-28.
 विकाराः 24-5.
 विकारि 1-23.
 विकृतं 1-51.
 विकृते 16-3, 16-15.
 विक्रम 23-20.
 विक्रमः 19-1, 24-5.
 विक्रमयोः 17-6.
 विचक्षणः 24-6.
 विज्ञेयं 24-5.
 विद्वान् 9-21.
 विदुः 6-5.
 विद्वा 3-10.
 विद्यात् 22-14.
 विद्वा 16-13.
 विद्वान् 6-14.
 विधिः 5-2.
 विधृते 4-11.
 विनाशः 1-57.
 विनिवर्तक 22-6.
 विभागः 24-6.
 विभागं 3-1.
 विभू 3-7.
 विरामः 22-13.
 विरूपे 4-11.

विद्यः 8-8.
 विवरणात् 2-52.
 विविशिवा 16-13.
 विविशुः परुः 8-32.
 विवृतं 2-45.
 विवृते 2-5.
 विवृत्ति 22-13.
 विवृत्त्याम् 20-6.
 विशसनेन 16-7.
 विशाखे 4-11.
 विशपङ्कः 24-6.
 विश्वतः 8-24.
 विश्वदेव्या 3-5.
 विश्वा 3-5.
 विपुरुषे 4-11.
 विपू 3-7.
 विसर्जनीय 1-12, 1-18, 14-15.
 विसर्जनीयः 2-48, 8-5.
 विसर्जनीयौ 2-46, 6-1.
 विहव्य 11-3.
 वीङ् 4-38.
 वोणायां 13-12.
 वीयमाणः 13-10.
 वीर्या 3-5.
 वृत्तिः 23-17.
 वृषन् 13-13.
 वृष्णः 11-16.
 वृष्ण्या 3-5.
 वेः 6-5.
 वेणु 13-9.

वैभाषिकः 22-7.
 वैष्णवी 1-12.
 वै सम् 4-14.
 वोचता 3-12.
 व्यचस्यती 4-19.
 व्यञ्जनम् 1-37, 14 1, 21-1.
 व्यञ्जन 3-1, 4-6, 5-14, 6-7.
 व्यञ्जनकालः 17-5.
 व्यञ्जनपरम् 14-1.
 व्यञ्जनपरः 5-37, 1-28.
 व्यञ्जनशेषः 1-14.
 व्यञ्जनानां 1-17, 1-21, 23-7.
 व्यञ्जनानि 1-6.
 व्यञ्जनान्तं 22-14.
 व्यञ्जनान्तहितः 14-30.
 व्यञ्जनोत्तरयोः 14-5.
 व्यवायेषु 13-15.
 व्यवन्तः 1-17, 4-51, 7-5, 13-7.
 व्याहृती 3-7.

श

शंस्ता 16-5.
 श 13-15, 14-26, 16 2.
 शकारम् 5 20.
 शकारः 5-4, 5-34.
 शकुनि 6-7.
 शक्ती 3-7.
 शचक्षुपरः 5-22.
 शची 3-7.
 शत्रू 3-7.
 शब्दः 22 1, 23-3.

शब्द 22-3.
 शब्दस्य 22-3.
 शब्दोत्पत्तिः 2-1.
 शमितः 8-8.
 शरीर 2-2.
 शश्वतः 8-24.
 शसनम् 16-7.
 शास्त्रायन 15-7.
 शार्याते 1-11, 11-16.
 शिशुमारः 16-26.
 शिष्यन् 16-26.
 शिक्षा 3-8.
 शिष्ये 4-11.
 शिरः 2-3.
 शिरसि 23-10.
 शिवे 4-11.
 शीका 3-2.
 शीर्षन् 13-13.
 शुद्धा 3-2.
 शुश्रुवा 16-13.
 शुष्मः 11-16.
 शृङ्गे 4-11.
 शृणुता 3-10.
 शेषः 1-6, 1-42, 1-46, 2-28.
 शेषाणि 22-14.
 शैत्यायनः 17-1, 17-7, 18-2.
 शैत्यायनादीनां 5-10.
 शो 16-2.
 शोणाश्रुतिः 13-12.
 श्येती 10-18.

सकारं 6-14.
 सकारः 5-6, 5-10, 5-14.
 सकार 6-1.
 सकारपराः 16-1.
 सचस्वा 3 ०.
 सजूः 4-25
 सत्रा 3-5.
 सत्त्वा 6-12.
 सदोहविधाने 4-11.
 सधिः 6-5.
 सनि 6-12.
 सनिः 6-12.
 सनीः 6-12.
 सनुतः 8-8.
 सपूर्वः 5-19, 8-22.
 सप्त 23-4, 23-11.
 सप्ताभिः 6-12.
 सप्ते 6-5.
 सभेयः 6-12.
 समं 17-2.
 समग्रग्रहः 8-23.
 समां 3-10.
 समान 1-33, 4-51.
 समानपद 22-13.
 समानपद 13-6.
 समानाक्षराणि 1-2, 15-6
 समानाक्षरे 19-2.
 समानान् 9-23.
 समान्नायः 1-1.
 समाहारः 1-10

समिद्धः 11-16.
 समिन्द्र 7-2.
 समीची 4-31.
 समीरणात् 2-2.
 सयकार 20-2.
 सर्वम् 15-9, 24-5.
 सर्वः 1-17, 9-7, 14-33.
 सर्व 22-1.
 सर्वत्र 2-25, 12-11, 17-2
 सर्ववर्णानां 17-7.
 सर्वाणि 22-14.
 सर्वेषाम् 8-15, 18-7.
 सव 6-10.
 सवने पशुन 6-14.
 सवर्गीयम् 8-2.
 सवर्गीयपरः 11-23.
 सवर्णम् 5-23.
 सवर्ण 14-23.
 सवर्णपरे 10-2.
 सवर्णे 1-3.
 सवितः 8-8.
 सव्यञ्जनः 1-13.
 सशब्दम् 23-9.
 सपकारपरः 5-32.
 ससादा 3-12.
 सख्वा 16-13.
 सस्थानम् 5-27, 5-38, 9-2.
 सस्थानः 2-17, 2-18, 14-9.
 सस्थायि 6-12.
 सदसः 8-23.

स्यः 5-15.
 स्यान् 19-1.
 स्र 16-2.
 स्रादिषु 1-60, 13-1.
 स्त्रियः 12-8.
 स्यधापः 12-8.
 स्यरः 1-13.
 स्यर 2-8, 2-17, 6-13, 4-3.
 21-6.
 स्यरपरः 9-10, 11-16.
 स्यरपरं 11-18, 16-2.
 स्यरपरेषु 12-4.
 स्यरपर्यम् 11-1.
 स्यरभक्तिः 21-6, 21-15.
 स्यरभक्तयोः 2-19.
 स्यरस्थ 17-5.
 स्यराः 1-5.
 स्यराङ्गम् 21-1.
 स्यराणां 2-31.
 स्यरितम् 10-12, 10-16, 12-9,
 14-29.
 स्यरितः 1-40, 12-11, 18-5.
 स्यरितं 10-12, 21-5.
 स्यरितपरः 11-11, 21-11.
 स्यरितयोः 19-1.
 स्यरितान् 21-10.
 स्यरितानां 18-2.
 स्यर्यते 20-1, 20-3.
 स्वा 3-5.
 स्यानामो दिवि 6-2.

स्यात् 17-6, 20-8, 24-20.
 स्यादाहर्नी 3-7.
 स्येना 3-10.
 ह
 ह 1-7, 11-26, 16-2.
 हकारः 1-13, 2-6, 2-9, 2-17,
 5-38, 11-19.
 हकारः 2-16.
 हकारणः 16-27.
 हकारान् 21-11.
 हचतुर्थेषु 2-9.
 हन् 7-11.
 हन् 2-12.
 हन् 2-16, 3-7.
 हन्मूले 2-35.
 हन्तना 3-10.
 हन्यान् 7-3.
 हपरः 12-1.
 हर्त् 17-8.
 हरा 3-12.
 हरी 1-15.
 हयनी 7-11.
 हयिष्मान् 9-21.
 हाः 8-8.
 हारीतस्य 14-18.
 हि 1-11, 16-13.
 हिणुयान् 13-12.
 हिणोति 13-12.
 हि गयस्यान् 9-21.
 हिपरः 4-37.